आत्मनिवेदन

यह जैनतत्त्वमीमांसा का दूसरा संस्करण है। इसे अद्वितीय भाग भी कह सकते हैं। इसमें प्रथम भाग की अपेक्षा विषय की विशदता को ध्यान में रखकर पर्याप्त परिवर्णन किया गया है। साथ ही इसमें प्रथम संस्करण का बहुत कुछ अंश भी गर्भित कर लिया गया है। इसलिए इसे द्वितीय संस्करण भी कहा जा सकता है और विषय के विस्तृत विवेचन की दृष्टि से दूसरा भाग भी कहा जा सकता है।

इसमें अधिकतर अध्यायों के नाम आदि वे ही हैं। मात्र तीसरे और चौथे अध्याय के नामों में परिवर्तन किया गया है। पिछले संस्करण में तीसरे अध्याय का नाम 'निमित्त की स्वीकृति' था, किन्तु इस संस्करण में उसका नाम 'बाह्य साधन मीमांसा' रखा गया है। जैनदर्शन के अनुसार कार्यकाल में अविनाभाव सम्बन्धवश कार्य के प्रति बाह्य साधन की स्वीकृति अवश्य है, पर बाह्य साधन पर का कर्ता होकर पर के कार्य को करता है, इसका निषेध है। जहाँ भी बाह्य साधन को परकार्य का कर्ता या प्रेरक कहा भी गया है, वहाँ अनादि लौकिक रूढ़ि को ध्यान में रखकर ही कहा गया है।

ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय का अभाव होने से जीव का नियम से अवस्थित परिणाम रहता है, इसे आगम स्वीकार करता है, फिर भी जिन कर्मों का क्षयोपशम होता है, ऐसे मतिज्ञानावरण आदि चार, चक्षुदर्शनावरण आदि तीन और पाँच अन्तराय की जो लब्धिकर्मांश संज्ञा है, उनमें से पाँच अन्तराय का तो यह जीव वहाँ अवस्थित वेदक रहता है और चार ज्ञानावरण और तीन दर्शनावरण का अनवस्थित वेदक होता है। इसका अर्थ है कि पाँच अन्तराय कर्मों के क्षयोपशम में तो न्यूनाधिकता नहीं होती, जबकि शेष उक्त सात कर्मों के क्षयोपशम में न्यूनाधिकता होती रहती है। वहाँ परिणाम तो अवस्थित है, फिर भी इन कर्मों के क्षयोपशम में यह विशेषता होती रहती है। सो क्यों? इससे मालूम पड़ता है कि प्रत्येक द्रव्य कर्ता होकर स्वयं अपना कार्य करता

है। अन्य द्रव्य उससे भिन्न द्रव्य के कार्य का कर्ता नहीं होता। यही कार्य के प्रति बाह्य निमित्त की स्वीकृति में जैनदर्शन का हार्द है। जैनदर्शन में पर के प्रति उससे भिन्न पदार्थ में जो निमित्तता स्वीकार की गयी है, वह कहीं ज्ञान के प्रति ज्ञापक निमित्तरूप से स्वीकार की गयी है और कहीं क्रिया के प्रति निमित्त होने से वह कारकरूप में स्वीकार की गयी है। विचार कर देखा जाए तो परमार्थ से अन्य में निमित्तता है ही नहीं, यह तो विवक्षित कार्य का सूचक होने से स्वीकार की गयी है या ज्ञान की अपेक्षा उसका नियत विषय होने से स्वीकार की गयी है। अविनाभाव सम्बन्धवश कार्यकाल में परद्रव्य में निमित्तता को स्वीकार करना अन्य बात है, पर इतने मात्र से उसे जिनागम के अनुसार कर्ता या प्रेरक कारण मानना अन्य बात है। ये दोनों एक नहीं है, दो हैं। जैनदर्शन में निमित्तता अन्य दृष्टि से स्वीकार की गयी है और कर्तृत्व अन्य दृष्टि से स्वीकार किया गया है।

निमित्तता की अपेक्षा भी विचार करने पर, पर में निमित्तता केवल अविनाभाव सम्बन्धवश ही स्वीकार की गयी है, जबकि प्रत्येक द्रव्य में अपने नियत कार्य के प्रति निमित्तता एक द्रव्य प्रत्यासत्ति को लक्ष्य में रखकर अविनाभाव सम्बन्धवश स्वीकार की गयी है। उसमें भी इतना विशेष है कि उपादानरूप निमित्त और कार्य में क्रमभावी अविनाभाव सम्बन्ध स्वीकार किया गया है और बाह्य निमित्त और कार्य में व्यवहार से सहभावी अविनाभाव सम्बन्ध होता है। यहाँ एक द्रव्य पद से न केवल सामान्यरूप वस्तु ली गयी है और न केवल विशेषरूप ही। किन्तु नियत पर्याय से युक्त सामान्यरूप वस्तु ली गयी है। इसीलिए उसे नियत कार्य का परमार्थ से सूचक माना गया है और इसीलिए उसे आगम में निश्चय उपादान या समर्थ कारण नाम से भी अभिहित किया गया है। तथा कार्य से सर्वथा भिन्न वस्तु को बाह्य व्याप्तिवश मात्र निमित्त शब्द से अभिहित किया गया है। हैं दोनों विवक्षित कार्य के प्रति निमित्त ही। इन्हीं सब तथ्यों को प्रकाश में लाने की दृष्टि से हमने तीसरे अध्याय के नाम में परिवर्तन किया गया है और उसके अन्तर्गत इन सब तथ्यों पर विशद प्रकाश डाला गया है।

प्रथम संस्करण में चौथे अध्याय का नाम 'उपादान और निमित्त मीमांसा' है, किन्तु इस संस्करण में उसका नाम 'निश्चय उपादान मीमांसा' कर दिया

गया है। आगे छटे अध्याय का नाम कर्ता-कर्म-मीमांसा है, उसे उससे इस अध्याय को स्वतन्त्र रखने का कारण यह है कि प्रत्येक द्रव्य में निश्चय उपादानता अपने नियत कार्य के अव्यवहित पूर्व समय में ही बनती है, जबकि कर्तापन जिस समय विवक्षित कार्य होता है, उसी समय बनता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए चौथे अध्याय की स्वतन्त्र योजना की गयी है। साथ ही निश्चय उपादान को मानकर भी जो महाशय यह आक्षेप करते हैं कि 'निश्चय उपादान की भूमिका द्रव्य के पहुँचने पर भी यदि बाह्य अनुकूल सामग्री नहीं मिलती है तो विविक्षता कार्य नहीं हो सकता।' सो उनका यह आक्षेप कैसे आगम बाह्य है, यह सिद्ध करने के लिए भी इस अध्याय की स्वतन्त्र योजना की गयी है।

पाँचवें अध्याय का नाम 'उभयनिमित्त मीमांसा' है। सो इस अध्याय को स्वतन्त्र रखने का कारण भी स्पष्ट है। बात यह है कि जो महाशय 'निश्चय उपादान के अनुसार प्रत्येक द्रव्य के कार्यरूप में परिणत होते समय उसके अनुकूल बाह्य सामग्री का योग नियम से बनता ही है।' इस तथ्य को नहीं मानते, उन्हें आगम से इस तथ्य को हृदयंगम कराना मुख्य प्रयोजन समझकर इस अध्याय की स्वतन्त्र योजना की गयी है।

शेष अध्याय पिछले संस्करण के अनुसार ही रखे गये हैं। इतना अवश्य ही ध्यान रखा गया है कि उन अध्यायों में प्ररूपित विषयों के सम्बन्ध में अब तक जो अन्यथा प्ररूपणाऐं दृष्टिगोचर हुईं, इन अध्यायों में युक्ति और आगमपूर्वक उनके सम्यक् प्रकार से निरसन की भी व्यवस्था की गयी है। ऐसा एक भी विषय नहीं है जिस पर जिनागम में प्रकाश न डाला गया हो। मात्र उन सब विषयों को संकलित करके पाठकों के सामने रखने की आवश्यकता थी, उसे इस ग्रन्थ द्वारा पूरा करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें हमारा अपना कुछ भी नहीं है। जिनागम से जो विषय अवलोकन में आये, उन्हें ही यहाँ ग्रन्थरूपी माला में पिरोया गया है। वह भी इसलिए किया गया है कि मोक्षमार्ग में तत्त्वस्पर्श के समय इन सब तथ्यों को हृदयंगम कर लेना आवश्यक है। अन्यथा स्वरूपविपर्यास, कारणविपर्यास और भेदाभेदविपर्यास बना ही रहता है, जिससे अनेक शास्त्रों में पारंगत होकर प्रांजल वक्ता बन जाने पर भी इस

जीव की मोक्षमार्ग में गति होना सम्भव नहीं है।

देखो, जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना चाहता है, उसे यह सर्व प्रथम समझना चाहिए कि यह ग्रन्थ पर–मत खण्डन की दृष्टि से नहीं संकलित किया गया है। इसमें जिन तथ्यों को संकलित किया गया है, वे जैनतत्त्व मीमांसा के प्राणस्वरूप हैं, इसलिए परमत खण्डन में जहाँ प्रायः व्यवहारनय की मुख्यता रहती है, वहाँ इसमें परमार्थ प्ररूपणा को मुख्यता दी गयी है और साथ ही उसका व्यवहार भी दिखलाया गया है। प्रायः जैन संस्थाओं में जो दर्शनशास्त्र का अध्ययन–अध्यापन होता है, वह मुख्यतः नयदृष्टि को गौण करके ही होता है, इसलिए अधिकतर विद्वानों की वासना उसी परिधि में बनी रहने के कारण वे नयदृष्टि से न तो वस्तुस्थिति को हृदयंगम करने का प्रयत्न ही करते हैं और न स्वध्याय प्रेमियों के समक्ष इस तथ्यपूर्ण स्थिति को स्पष्ट करने में भी समर्थ होते हैं। अधिकतर स्वाध्याय–प्रेमियों के चित्त में जो द्विविधा बनी रहती है, उसका मुख्य कारण यही है।

हम इस संस्करण में 'मोक्षमार्ग मीमांसा' अध्याय और लिखना चाहते थे, पर अस्वस्थ वृत्ति के कारण हम ऐसा नहीं कर सके। लगभग चार वर्ष बीत जाने पर भी हम अभी भी पूर्ण स्वस्थ नहीं हो सके हैं। यह तो भगवती जिनवाणी माता का अनुग्रह है, साथ ही स्वधर्म के संस्कारों से हमारा आत्मा ओत–प्रोत है कि अस्वस्थवृत्ति के रहने पर भी हम इस संस्करण को यथासम्भव पूर्ण करने में सफल हुए हैं।

नियम है कि पूर्णरूप से निश्चयस्वरूप होने के पूर्व तक यथासम्भव निश्चयव्यवहार की युति युगपत् बनी रहती है। जहाँ से निश्चयस्वरूप मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है, वहीं से प्रशस्त रागस्वरूप व्यवहार मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। न कोई पहले होता है और न कोई पीछे, दोनों एक साथ प्रादुर्भूत होते हैं। इतना अवश्य है कि निश्चयस्वरूप मोक्षमार्ग के उदय काल में उसके प्रशस्त रागरूप व्यवहार मोक्षमार्ग की चरितार्थता लक्ष्य में न आवे, इस रूप में बनी रहती है। और जब यह जीव अरुचिपूर्वक हठ के बिना व्यवहार मोक्षमार्ग के अनुसार बाह्य क्रियाकाण्ड में प्रवृत्त होता है, तब इसके जीवन में निश्चयस्वरूप मोक्षमार्ग की जागरूकता निरन्तर बनी रहती है। वह दृष्टि से ओझल नहीं होने

पाती। यह इसी से स्पष्ट है कि निश्चय मोक्षमार्ग का अनुसरण व्यवहार मोक्षमार्ग करता है। व्यवहार मोक्षमार्ग का अनुसरण निश्चय मोक्षमार्ग नहीं करता है, क्योंकि जैसे-जैसे निश्चय मोक्षमार्ग से जीवन पुष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे व्यवहार मोक्षमार्ग, निश्चय मोक्षमार्ग का पीछा करना छोड़ता जाता है। हम चाहते थे कि इन तथ्यों को आगम की साक्षीपूर्वक विशदरूप से स्पष्ट किया जाए, पर हम ऐसा नहीं कर सके। फिर भी जैनतत्त्व मीमांसा के विविध अध्यायों द्वारा हमने इस विषय पर भी यथासम्भव प्रकाश डालने का उपक्रम किया ही है। जिज्ञासु धर्मबन्धु इन तथ्यों को ध्यान में रखकर इसका स्वाध्याय करेंगे, ऐसी हमारी अपेक्षा है।

जैनतत्त्वमीमांसा का प्रथम संस्करण सन् १९६० के उत्तरार्ध में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद तत्त्वप्ररूपणा को लक्ष्य कर अनेक उतार-चढ़ाव आये हैं, उनके फलस्वरूप सन् १९६३ के आस-पास एक पक्ष के कृतिपय विद्वानों के विशेष अनुरोधवश श्री ब्रह्मचारी सेठ हीरालालजी पाटनी निवाई और श्री ब्रह्मचारी लाडमलजी जयपुर के आमन्त्रण पर ससंघ श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज की सन्निधि में उभयपक्ष के विद्वानों का एक सम्मेलन बुलाया गया था। यह सम्मेलन खानिया (जयपुर) में लगभग १० दिन चला था। यद्यपि इस विषय में मुझसे अणुमात्र भी परामर्श नहीं किया गया था, फिर भी उभयपक्ष को मान्य कतिपय नियमों के बन जाने से मैं अपने सहयोगी दूसरे विद्वानों के साथ इसमें सम्मिलित हो गया था।

नियमानुसार लिखित चर्चा तीन दौर में पूर्ण होनी थी। उनमें से दो दौर की लिखित चर्चा तो वहीं सम्पन्न कर ली गयी थी। तीसरे दौर की चर्चा परोक्ष में लिखित आदान-प्रदान से सम्पन्न हो सकी। नियम यह था कि लिखित रूप में जो भी सामग्री एक-दूसरे पक्ष को समर्पित की जाएगी, उस पर सम्मेलन के समय अपने-अपने पक्ष के निर्णीत प्रतिनिधि हस्ताक्षर करेंगे और मध्यस्थ के मार्फत वह एक-दूसरे को समर्पित की जाएगी। किन्तु तीसरे दौर की सामग्री समर्पित करते समय उस पक्ष की ओर से इस नियम की पूर्णरूप से उपेक्षा की गयी, क्योंकि उस पक्ष की ओर से जो लिखित सामग्री रजिस्ट्री द्वारा हमें प्राप्त हुई थी, उस पर न तो उस पक्ष के पाँच में से चार प्रतिनिधियों ने अपने हस्ताक्षर

ही किये थे और न ही वह मध्यस्थ की मार्फत ही भेजी गयी थी। उस पर केवल एक प्रतिनिधि ने हस्ताक्षर कर दिये और सीधी हमारे पास भेज दी गयी।

उस पक्ष के प्रतिनिधि विद्वानों द्वारा ऐसा क्यों किया गया, यह तो हम नहीं जानते। फिर भी इस पर से यह निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि उस पक्ष की ओर से तीसरे दौर की जो लिखित सामग्री तैयार की गयी, उसमें उस पक्ष के अन्य चार प्रतिनिधि विद्वान् सहमत नहीं होंगे। यदि सहमत होते तो वे नियमानुसार अवश्य ही हस्ताक्षर करते और साथ ही नियमानुसार मध्यस्थ की मार्फत भिजाते भी। उन प्रतिनिधिस्वरूप चार विद्वानों का हस्ताक्षर न करना अवश्य ही तीसरे दौर की उस पक्ष की ओर से प्रस्तुत की गयी लिखित पूरी सामग्री पर प्रश्न चिह्न लगा देता है। तत्काल इस विषय पर हम और अधिक टिप्पणी नहीं करना चाहते। आवश्यकता पड़ी तो लिखेंगे।

इस प्रकार तीसरे दौर की प्रतिशंका सामग्री के प्राप्त होने पर हमारे सामने अवश्य ही यह सवाल रहा है कि हम इसे स्वीकार कर उसके आधार पर प्रत्युत्तर तैयार करें या नियम विरुद्ध इस लिखित सामग्री के प्राप्त होने से हम उसे वापिस कर दें। अन्त में काफी विचार विनिमय के बाद यही सोचा गया कि भले ही यह लिखित सामग्री नियम विरुद्ध प्राप्त हुई हो, उसके प्रत्युत्तर तैयार करना ही प्रकृत में उपयोगी है। और इस प्रकार प्रत्युत्तर तैयार होने पर नियमानुसार हमारे पक्ष के तीनों प्रतिनिधियों ने उसका वाचन किया तथा वाचन पूरा होने पर तीनों प्रतिनिधि विद्वानों ने हस्ताक्षर किये और मध्यस्थ की मार्फत भिजा दिया गया।

उन नियमों में यह व्यवस्था भी थी कि दोनों ओर की लिखित पूरी सामग्री तैयार होने पर वह दोनों ओर से साधन जुटाकर मुद्रित करा दी जाएगी। किन्तु पर्याप्त लिखा-पढ़ी करने पर भी वह पक्ष छपाने के लिए तैयार नहीं हुआ। इसलिए लाचार होकर यथावत्‌रूप में उसे आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल ग्रन्थमाला से छपाने की व्यवस्था की गयी। हाँ, दोनों पक्ष ने एक-दूसरे के लिए कहीं-कहीं कड़े शब्दों का जो प्रयोग किया गया था, वे निकाल दिये जाएँ यह अनुरोध शान्तस्वभावी निष्ठावान कार्यकर्ता पण्डित श्री माणिकचन्दजी चवरे ने लिखितरूप में किया था। इसकी सूचना दूसरे पक्ष को दी गयी। पर

वह इसके लिए तैयार नहीं हुआ। हमारी ओर से अवश्य ही ऐसे शब्द अलग कर दिये गये और अलग किये हुए शब्दों की सूची उस पक्ष के पास भेज दी गयी। उस पक्ष ने उस पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, इसलिए उसे अन्तिमरूप दे दिया गया। अर्थात् हमारे पक्ष की तीनों दौर की उत्तर-प्रत्युत्तर सामग्री में से कठोर शब्द अलग कर दिये गये।

इस प्रसंग में उस पक्ष के प्रतिनिधि एक वयोवृद्ध विद्वान् के द्वारा किया गया यह आक्षेप सुनने में आया था कि मुद्रण के समय मैंने उसमें फेरफार कर दिया है। किन्तु इस सम्बन्ध में प्रथम तो मेरा यह कहना है कि जिन विद्वान् महोदय ने यह आक्षेप किया है, उन्होंने तीसरे दौर की लिखित प्रतिशंका समाग्री पर स्वयं हस्ताक्षर न कर एक तो उसके उत्तरदायित्व से अपने को बरी रखा है और दूसरी ओर सार्वजनिकरूप से ऐसा भ्रम फैलाने के लिए उपक्रम भी करते रहते हैं, इसका हमें आश्चर्य है।

फिर भी इस आक्षेप के उत्तरस्वरूप सार्वजनिकरूप से यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि दो दौर की जो लिखित सामग्री मध्यस्थ के पास सुरक्षित है, उससे एक बार मिलान करके तो देख लें। वैसे दो दौर की प्रमाणित सामग्री और तीसरे दौर की मध्यस्थ की ओर से प्रमाणित न करायी गयी उन अपनी सामग्री और हमारी ओर की प्रमाणित सामग्री उनके पास सुरक्षित होगी ही, उससे मिलान कर लें। इससे अधिक हम और क्या आग्रह कर सकते हैं। वैसे वे यदि उनके निजी विचारों से सहमत न होनेवाले दूसरे विद्वानों को बदनाम करना ही श्रेयोमार्ग समझते हैं तो उसके लिए हमारे पास कोई इलाज नहीं है। न तो कभी हम ऐसे मार्ग पर चले हैं और न चलेंगे। यह जिनमार्ग नहीं है।

हम सोचते थे कि सार्वजनिकरूप में की गयी इस लिखित तत्त्वचर्चा के बाद वह पक्ष विरोधी मार्ग का परित्याग कर देगा और मिल-जुलकर सम्यक् मोक्षमार्ग की प्ररूपणा में सहयोगी बनेगा। किन्तु लगता है कि तत्त्वचर्चा मात्र एक बहाना था। उस पक्ष का प्रयोजन ही दूसरा है। मालूम पड़ता है कि वह पक्ष नहीं चाहता कि भट्टारक युग से जो बाह्य क्रियाकाण्ड को परमार्थ धर्म या धर्म का परमार्थ साधन मान लिया गया है, जो कि वर्तमान में लोकपूजा का प्रमुख साधन बना हुआ है, उस पर किसी प्रकार की आँच आये। और इसीलिए

समाज को भ्रम में रखने का वह पक्ष उपाय करता रहता है।

यह हम अच्छी तरह से जानते हैं कि लोक की दृष्टि में बाह्य सदाचार की मुख्यता है और इस दृष्टि से वह होनी भी चाहिए। इसका कोई निषेध भी नहीं करता। इतना ही नहीं, इस पर यथासम्भव पूरा ध्यान भी दिया जाता है। इतना अवश्य है कि उपदेश के प्रसंग से यह अवश्य ही बतलाया जाता है कि आत्मधर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, उसके होने पर ही बाह्य प्रवृत्ति सम्यक् कहलाती है। इसलिए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए आत्मकार्य में सावधान होना सर्वोपरि है।

जिनागम चार अनुयोगों में विभक्त है, उनमें प्रतिपादित होनेवाली विषयवस्तु भी अलग-अलग है। चरणानुयोग सम्यग्दृष्टि श्रावक और मुनि का कैसा बाह्य आचार होता है, इसका प्रतिपादन करता है। जबकि अध्यात्मस्वरूप द्रव्यानुयोग अज्ञानभाव से हटकर ज्ञानमार्ग में आने का दिग्दर्शन कराता है। यह इन दोनों अनुयोगों की विषयवस्तु है। जिनमार्ग को समझकर इसी तथ्य को ध्यान में रखकर तत्त्वप्ररूपणा होनी चाहिए। अध्यात्मप्ररूपणा के समय शुद्ध आध्यात्म को समझाया जाना चाहिए। यत: बाह्य क्रियावस्तु ज्ञानमार्ग नहीं है, इसलिए ज्ञानमार्ग की प्ररूपणा में उसका सुतरां निषेध होता जाता है। इस पर से यह फलित करना कि देवपूजा आदि का निषेध किया जा रहा है, मिथ्या है, क्योंकि जब चरणानुयोग की प्ररूपणा हो, तब ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न गृहस्थ या मुनि की कैसी बाह्य मन-वचन-कार्य की प्रवृत्ति होनी चाहिए, इसकी प्रांजलपने प्ररूपणा की जाए। एक अनुयोग की कथनी में दूसरे अनुयोग की कथनी का मिश्रण नहीं किया जाए। साथ ही प्रवचन के समय यह ध्यान रखा जाए कि शास्त्र गद्दी को वीतराग गद्दी समझकर जिस अनुयोग के शास्त्र का स्वाध्याय हो, उसी के आधार से प्रकरण और गाथा-श्लोक आदि को माध्यम बनाकर प्रवचन किया जाए। प्रवचन के समय निन्दा-स्तुतिपरक लौकिक कथा बिल्कुल नहीं की जाए और न ही स्वाध्याय के समय शास्त्र का आधार छोड़कर व्याख्यानबाजी ही की जाए। स्वाध्याय का तात्पर्य भी यही है कि प्ररूपणा के समय जो आधार हमारे सामने हो, उसी पर शास्त्रानुसार विशद विवेचन किया जाए। इसी का नाम ज्ञानविनय है। इस तथ्य पर सर्वोपरि ध्यान रखा जाना चाहिए।

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं कि जैनतत्त्व मीमांसा का प्रथम संस्कार सन् १९६० के उत्तरार्ध में प्रकाशित हुआ था। उसके प्रकाशित होने के बाद साप्ताहिक पत्रों द्वारा तो उसे अपनी टीका का विषय बनाया ही गया। उसके विरोध में अनेक पुस्तकें भी लिखी गयीं। उनमें से कुछ पुस्तकों को मैंने अन्त तक देखा है। उन द्वारा जैनदर्शन की जो गति की गयी है, उससे मैं हैरान हूँ। जैनदर्शन की समस्त तत्त्वप्ररूपणा व्यक्ति स्वातन्त्र्य और स्वावलम्बन के आधार पर हुई है। उसमें निश्चयनय और व्यवहारनय तथा उनके यथासम्भव उत्तर भेदों की लक्षणमीमांसा भी इसी आधार पर की गयी है। उससे प्रत्येक वस्तु अपने यथार्थ स्वातन्त्र्य को कायम रखते हुए कैसे पराश्रित बनती है, या बनी हुई है, इसका स्पष्टत: भान हो जाता है। पराश्रितपने का अर्थ जीव की स्वरूप से पराधीनता नहीं है, किन्तु उसका अर्थ पर की ओर अपने अनादि अज्ञानभाव और रागभाव से झुकाव है। जैनतत्त्वमीमांसा की आलोचना करनेवाले महाशय यदि इस तथ्य को ध्यान में रखकर लिखते तो सम्भव था कि वे अध्यात्म का अपलाप किये बिना ही व्यवहार पक्ष को सम्यक् प्रकार से रखने में समर्थ होते।

किन्तु वे इसे रखने में कैसे असमर्थ रहे, इस तथ्य को इसी से समझा जा सकता है कि उन्होंने अपने लेखन में यह दृष्टिकोण व्यापकरूप से अपना लिया है कि यदि विवक्षित कार्य के पूर्व प्रत्येक वस्तु उसके अव्यवहित पूर्व पर्याय की स्थिति में पहुँच भी जाए, फिर भी उस कार्य के अनुकूल बाह्य सामग्री उपस्थित न हो तो विवक्षित कार्य अपने नियत उपादान के अनुसार न होकर बाह्य सामग्री के आधार पर ही होगा। इससे मालूम पड़ता है कि आगम के अनुसार कार्य-कारण परम्परा में जो क्रमभावी अविनाभाव को स्वीकार किया गया है और इसी आधार पर आगम में जो निश्चय उपादान का सुनिश्चित लक्षण उपलब्ध होता है, वह सब इन महाशयों को मान्य नहीं है। साथ ही व्यवहारनय और उसके उत्तर भेदों के जो लक्षण आगम में दृष्टिगोचर होते हैं, वे भी उन्हें मान्य नहीं हैं, अन्यथा असद्भूतव्यवहारनय और उसके उत्तर भेदों के आगम में जो लक्षण या स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं, उन्हें माध्यम बनाकर ही वे बाह्य निमित्त पक्ष को उपस्थित करते, वे अपने लेखन द्वारा अध्यात्म पक्ष पर किसी प्रकार की आँच न आने देते और न ही नयप्ररूपणा को प्रयोजन के बिना

विविध विकल्पों के चक्कर में ही डालते।

उस ओर से एक इस नये मत को भी प्रस्तुत किया गया है कि केवलज्ञान के अनुसार तो प्रत्येक कार्य अपने-अपने स्वकाल के प्राप्त होने पर नियतक्रम से ही होता है तथा उसकी बाह्याभ्यन्तर साधन सामग्री भी अपने-अपने कार्य अनुसार नियतक्रम से ही प्राप्त होती है। किन्तु श्रुतज्ञान के अनुसार ऐसा नहीं है। हमें नहीं मालूम कि उनके इस मत के समर्थन में उनके इस मत का भीतर से समर्थन करनेवाले और कितने विद्वान हैं।

देखो, सम्यग्ज्ञान का कार्य मात्र जानना है, इसलिए किस समय किन नियत बाह्याभ्यन्तर कारणों के आधार पर कौन कार्य होता है, यह जानना उसका कार्य है। यह कार्य इन कारणों से हो, इन कारणों से नहीं हो, यह व्यवस्था देना उसका कार्य नहीं है। हम पूछते हैं कि जब कार्य-कारण व्यवस्था में सर्वज्ञ कथित आगम के अनुसार अविनाभाव की मुख्यता है, तब प्रत्येक कार्य के अव्यवहित पूर्व पर्याय की स्थिति में प्रत्येक द्रव्य के पहुँचने पर तदनन्तर समय में तदनुसार प्रत्येक कार्य क्यों नहीं होगा, अवश्य होगा। क्या केवलज्ञान के अनुसार यह कहा जाएगा कि अपने-अपने स्वकाल के प्राप्त होने पर ही प्रत्येक कार्य होगा और उसके विरोध में श्रुतज्ञान कहेगा कि नहीं भाई, ऐसा कोई नियम नहीं है। क्या यह जैनतत्त्व की विडम्बना नहीं है।

जैनतत्त्वमीमांसा के लेखन में अल्प क्षयोपशम के कारण यदि कोई त्रुटि रह गयी थी और वे महाशय अपने लेखन द्वारा उस ओर मेरा ध्यान आकर्षित करते तो मैं नम्रता से उनके सामने सिर झुका लेता। किन्तु ऐसा न कर उन्होंने जैनतत्त्वमीमांसा की आलोचना के नाम पर जो जैनदर्शन के मूल पर ही कुठाराघात करना प्रारम्भ कर दिया है, उससे मेरा चित्त उनके प्रति करुणा से भर उठता है। मैं समझ ही नहीं पा रहा हूँ कि सम्यक् नियति के विरोध में ये महाशय और क्या करने जा रहे हैं ? क्या व्यवहारपक्ष के समर्थन का यही एक मार्ग उनके सामने शेष रहा है ? उनकी दृष्टि में जिससे निश्चय (अध्यात्म) पक्ष का खण्डन न हो और तदनुकूल व्यवहार पक्ष का समर्थन हो जाए, ऐसा मार्ग शेष नहीं है जो वे तत्त्व की विडम्बना कर असत् व्यवहार पक्ष के समर्थन में लगे हुए हैं।

हम यह अच्छी तरह से जानते हैं कि जैनतत्त्वमीमांसा का विरोध इसलिए नहीं किया जा रहा है कि उसमें जो तत्त्वप्ररूपणा की गयी है, उसमें किसी प्रकार की खोट है या जैनतत्त्वमीमांसा की रचना जैनतत्त्व के विरुद्ध की गयी है। उनके इस विरोध का कारण चरणानुयोग के विपरीत वर्तमान में प्रचलित बाह्य क्रियाकाण्ड को जैनतत्त्वमीमांसा से समर्थन नहीं मिलना ही है।

हमें देखना यह चाहिए कि सर्व प्रथम अध्यात्म के विरोध में वर्तमान में प्रचलित किस क्रियाकाण्ड के हामी विद्वान थे। वास्तव में उन्हें तत्त्वप्ररूपणा की समीचीनता और असमीचीनता से अणुमात्र भी प्रयोजन नहीं है, उन्हें तो वर्तमान में प्रचलित विवक्षित क्रियाकाण्ड की सुरक्षा चाहिए है। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति का मुख्य साधन आम जनता को बनाया है। विद्वानों तक इस चर्चा को सीमित नहीं रहने दिया है। वे जब अमुक सम्प्रदाय के मन्दिरों में जाते हैं तो उस ढंग से प्रवचन करते हैं और जब दूसरे सम्प्रदाय के मन्दिरों में जाते हैं तो उस ढंग से प्रवचन करते हैं। यही क्या प्रवचन की पुरानी परम्परा है। क्या वीतराग अरहन्त की वाणी में इन परम्पराओं की देशना हुई थी? इसके लिए ये विद्वान आगम परम्परा को नहीं देखना चाहते। कौन परम्परा भट्टारक युगसम्मत है और कौन परम्परा पुरानी है, इसे वे विद्वान यदि समझ लें तो उन्हें न तो अपने पक्ष के समर्थन के लिए आम जनता को मुख बनाना पड़े और न ही अध्यात्म के समर्थन में प्रकाशित साहित्य का निकृष्ट तरीके से बहिष्कार ही करना पड़े और न ही किन्हीं से फतवा दिलाने का षड्यन्त्र ही रचना पड़े। पर वे यह अच्छी तरह से जानते हैं कि आगम सम्मत व्याख्याओं के आधार पर यदि हम चर्चा करेंगे तो हमें सफलता नहीं मिलेगी। इसी से उन्होंने आम जनता के चित्त में द्विविधा उत्पन्न करने का मार्ग अंगीकार किया है। अस्तु,

इस प्रसंग से हम अपने सहयोगी विद्वानों को लक्ष्यकर एक बात का निर्देश अवश्य कर देना चाहते हैं। वह यह कि वे जिनागम के मुख हैं। अत: उन्हें लोकरीति को गौण कर ही आगम के अनुसार समाज का मार्गदर्शन करना चाहिए। भगवान अरहन्तदेव ने अपनी वीतराग वाणी द्वारा वीतराग धर्म का ही उपदेश दिया है। वह आत्मा का विशुद्धस्वरूप है, इसलिए उसके द्वारा

ही परमार्थ की प्राप्ति होना सम्भव है। परमार्थस्वरूप आत्मा की प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है। ज्ञानमार्ग की प्राप्ति का और ज्ञानमार्ग का अनुसरण करनेवाले जीव के लिए क्रम से आगे बढ़कर अरहन्त और सिद्ध अवस्था प्राप्त करने का यदि कोई समर्थ उपाय है तो वह एकमात्र ज्ञानमार्ग पर आरूढ़ होकर स्वभाव से शुद्ध त्रिकाली ज्ञायक आत्मा का अप्रमादभाव से अनुसरण करना ही है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में इस तथ्य को इन शब्दों में हृदयंगम किया जा सकता है कि मोक्षमार्ग की प्रारम्भिक भूमिका में ज्ञानधारा और कर्म (राग) धारा का समुच्चय भले ही बना रहे, किन्तु उसमें इतनी विशेषता है कि ज्ञानधारा स्वयं संवर-निर्जरास्वरूप है, इसलिए वही साक्षात् मोक्ष का उपाय है। और कर्मधारा स्वयं बन्धस्वरूप है, इसलिए उसके द्वारा संसार परिपाटी बने रहने का ही मार्ग प्रशस्त होता है। परमार्थ से न तो वह मोक्षमार्ग है और न ही उसके लक्ष्य से साक्षात् मोक्षमार्ग की प्राप्ति होना सम्भव है।

कुछ महानुभावों की यह धारणा है कि प्रारम्भ में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञानस्वरूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, वह रागभाव की मन्दता से ही होती है। किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव के अपूर्वकरण आदि परिणामों के काल में जो गुणश्रेणि -निर्जरा आदि होती है, वह राग की मन्दता से न होकर करणानुयोग के अनुसार अपूर्णकरण आदि परिणाम विशेष के कारण प्राप्त हुई विशुद्धि के कारण होती है। इन परिणामों का ऐसा ही कुछ माहात्म्य है कि इस जीव के उन विशुद्धिरूप परिणामों के होने में न तो गति बाधक होती है, न लेश्या बाधक होती है और कषाय ही बाधक होती है। इसी से स्पष्ट है कि वे सातिशय परिणाम हैं। उन्हें कषाय की मन्दतारूप कहना अध्यात्म के विरुद्ध तो है ही, करणानुयोग भी इसे स्वीकार नहीं करता। उस समय यह आत्मा अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख हुआ है, इसलिए उसके अव्यक्त भाव से ही मिथ्यात्व की सत्ता शेष है, अत: ऐसे कार्य विशेष के होने में कोई बाधा नहीं आती। यहाँ राग की मुख्यता नहीं है, ज्ञान ने राग से पृथक् होने का कार्य प्रारम्भ कर दिया है। उसी का यह फल है।

इन सब बातों को समझकर हमने जैनतत्त्वमीमांसा के इस दूसरे संस्करण में तत्त्वज्ञान सम्बन्धी सभी तथ्यों को आगम के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न

किया है। हमने इस संस्करण में इस बात का भी पूरा ध्यान रखा है कि इस संस्करण में जो भी लिखा जाए, उसकी आगम से सुनिश्चित पुष्टि होनी चाहिए। हमें इस कार्य को सम्पादन करते समय तज्ज्ञ जिन विद्वानों का वांछित सहयोग मिला है, इसके लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं। साथ ही हम श्री महावीर प्रेस के मालिक श्री बाबूलालजी फागुल्ल को भी स्मरण कर लेना नहीं भूल जाना चाहते हैं, उन्होंने हमारी अस्वस्थ अवस्था को देखकर इसके मुद्रण में हमारी सुविधा का पूरा ध्यान रखकर शीघ्रातिशीघ्र इसके मुद्रण में वांछित सहयोग दिया है।

हमने प्रथम संस्करण के समय जो 'आत्म-निवेदन' में अपने भाव व्यक्त किये थे और आदरणीय श्री जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने प्राक्कथन लिखा था, वे इस संस्करण के प्रकाशन के समय भी उतने ही उपयोगी हैं, जितने उस समय थे। इसलिए यहाँ उन्हें भी यथावत् रूप में दे रहे हैं। आशा है कि विद्वत्समाज हमारे इस स्वल्प प्रयत्न को हृदय से स्वीकार कर जिनमार्ग की प्रभावना में सहायक बनेगा।

विज्ञेषु किमधिकम्।

बी० २।२४९, निर्वाण भवन
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी-५

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
३-८-७९

आत्म-निवेदन

(प्रथम संस्करण से)

लगभग तीन वर्ष पूर्व जबलपुर अधिवेशन के समय अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद ने एक प्रस्ताव पारित कर निश्चय-व्यवहार और निमित्त-उपादान आदि विषयों के सांगोपांग विशद विवेचन को लिए हुए एक निबन्ध लिखे जाने की आवश्यकता प्रतिपादित की थी। पहले तो मेरा इस ओर विशेष ध्यान नहीं गया था, किन्तु इसके कुछ ही दिन बाद जब कलकत्ता निवासी प्रियबन्धु बंशीधरजी शास्त्री, एम०ए० ने मेरा ध्यान इस ओर पुन: पुन: विशेषरूप से आकृष्ट किया, तब अवश्य ही मुझे इस विषय पर विचार करना पड़ा। प्रस्तुत पुस्तक उसी का फल है।

पुस्तक लिखे जाने के बाद अपना कर्तव्य समझकर सर्व प्रथम मैंने इसकी सूचना विद्वत्परिषद को दी। फलस्वरूप मेरे ही नगर बीना इटावा में सब विद्वानों की सम्मति पूर्वक विद्वद्गोष्ठी का जो प्रसिद्ध आयोजन हुआ, उसमें समाज के लगभग ४२ विद्वानों ने और कतिपय प्रमुख त्यागी महानुभावों ने भाग लिया। उनमें से कुछ प्रमुख त्यागी और विद्वानों के नाम इस प्रकार हैं— (१) श्रद्धेय पण्डित बंशीधरजी न्यायालंकार; (२) श्रीमान् ब्रह्मचारी हुकमचन्दजी सलावा; (३) श्रीमान् पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी; (४) श्रीमान् पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी; (५) श्रीमान् पण्डित जीवन्धरजी न्यायतीर्थ, इन्दौर; (६) श्रीमान् पण्डित दयाचन्दजी शास्त्री, सागर; (७) श्रीमान् पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य, वाराणसी; (८) श्रीमान् प्रो० खुशहालचन्दजी, एम०ए०, साहित्याचार्य, वाराणसी; (९) श्रीमान् पण्डित नाथूलालजी संहितासूरि, इन्दौर; (१०) श्रीमान् पण्डित लालबहादुरजी, एम०ए०, साहित्याचार्य, दिल्ली; (११) श्रीमान् पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना; (१२) श्रीमान् पण्डित बालचन्दजी शास्त्री, सोलापुर; (१३) श्रीमान् डॉ० राजकुमारजी, एम०ए०, साहित्याचार्य, आगरा और (१४) श्रीमान् पण्डित अभयचन्द्रजी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य, विदिशा आदि।

विद्वद्गोष्ठी का कार्यक्रम प्रसिद्ध श्रुततिथि श्रुतपंचमी से प्रारम्भ होकर लगभग एक सप्ताह का रखा गया था। उसमें प्रस्तुत पुस्तक के वाचन के साथ

विविध विषयों पर सांगोपांग चर्चा होकर अन्त में विद्वत्परिषद की कार्यकारिणी ने इस सम्बन्ध में सर्व सम्मति से एक प्रस्ताव पारित किया। प्रस्ताव पंडित दयाचन्दजी शास्त्री सागरवालों ने उपस्थित किया था। तथा उसका समर्थन और अनुमोदन श्रीमान् श्री जीवन्धरजी न्यायतीर्थ और ब्रह्मचारी हुकमचन्दजी ने किया था। पूरा प्रस्ताव इन शब्दों में है—

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद के जबलपुर अधिवेशन के प्रस्ताव संख्या २ से प्रेरणा पाकर माननीय पंडित फूलचन्द्रजी शास्त्री वाराणसी ने निमित्त-उपादान आदि विषयों पर शोधपूर्ण स्वतन्त्र पुस्तक लिखी है। शास्त्रीजी की इच्छा थी कि इस पुस्तक पर भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद के द्वारा आयोजित विद्वद्‌गोष्ठी में विचार विनिमय हो। तदनुसार दिगम्बर जैन समाज बीना सागर ने श्रुतपंचमी से ज्येष्ठ शुक्ला १२ (३० मई से ६ जून तक) अपने यहाँ विद्वद्‌गोष्ठी का उत्तम आयोजन किया। दिगम्बर जैन समाज के वर्तमान इतिहास में यह पहला अवसर था जब इतने समय तक ५ घण्टे प्रतिदिन सब विचारों के विद्वानों ने मतभेद होने पर भी महत्त्वपूर्ण विषयों पर गम्भीरता, तत्परता तथा सौहार्दपूर्वक विवेचन दिये और उस अवसर पर अनेक सुझावों का आदान-प्रदान किया गया। यह कार्यकारिणी शास्त्रीजी द्वारा पुस्तक लेखन में किये गये अथक परिश्रम की सराहना करती है।

प्रस्तुत पुस्तक का नाम बहुत कुछ सोच विचारकर और श्रीमान् पंडित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री प्रभृति विद्वानों से सम्मति मिलाकर 'जैनतत्त्व मीमांसा' रखा है, जो उसमें प्रतिपादित विषय के अनुरूप है। इसका 'प्राक्कथन' समाजमान्य प्रसिद्ध विद्वान पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी ने लिखा है। मेरी समझ से अपने प्राक्कथन में उन्होंने बड़े ही व्यवस्थित ढंग से नपे-तुले शब्दों में उन सभी विषयों की चर्चा कर दी है, जिनका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। प्राक्कथन में पण्डितजी ने और भी अनेक विषयों की प्रासंगिक चर्चा की है। प्रसंग से मेरे विषय में भी दो शब्द लिखे हैं। मैं उनका किन शब्दों में आभार मानूँ, यह समझ के बाहर है। पण्डितजी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हुआ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि वस्तुत: मुझसे प्रशंसा के योग्य एक भी गुण नहीं है। दूसरे को बढ़ावा देना इसे उनकी सहज प्रकृति ही कहनी चाहिए। उनकी ओर से हमें प्राय: प्रत्येक कार्य में प्रोत्साहन और सहयोग मिलता आ रहा है। उसका यह भी एक उदाहरण है।

यहाँ इतनी बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि 'अशोक प्रकाशन मन्दिर' इस नाम से प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन का भार मैंने स्वयं वहन किया है। यदि अनुकूलता रही और उचित सहयोग मिल सका तो कविवर बनारसीदासजी, कविवर दौलतरामजी, कविवर भूधरदासजी, कविवर भैया भगवतीदासजी, कविवर भागचन्दजी आदि प्रौढ़ अनुभवी विद्वानों ने अध्यात्म के रहस्य को प्रकाश में लानेवाला जो भी साहित्य लिखा है, उसे संकलित करके योग्य सम्पादन और टिप्पण आदि के साथ इस नाम से प्रकाशित करने का मेरा विचार है। तथा इसी प्रकार का जो भी संस्कृत प्राकृत साहित्य होगा, उसे भी इसी नाम के अन्तर्गत यथावसर प्रकाशित किया जाएगा। इतना अवश्य है कि यह स्वयं कोई संस्था नहीं है और न इसे संस्था का रूप देने का मेरा विचार है, अतएव जिन-जिन महानुभावों के सहयोग से यह साहित्य प्रकाशित होगा, वह प्रकाशित होने के बाद उनके स्वाधीन करता जाऊँगा। अध्यात्म जैनधर्म का प्राण है और ऐसे साहित्य से उसके रहस्य के प्रकाश में आने में सहायता मिलती है तथा साहित्य का यह प्रमुख अंग पूरा होना चाहिए, मात्र इसी पुनीत अभिप्राय से मेरी इसे व्यवस्थित सम्पादन संशोधन के साथ प्रकाशित करने की भावना है, अन्य कोई हेतु नहीं है। तथा इसी भावनावश यह पुस्तक अति स्वल्प मूल्य में सर्व साधारण के लिए सुलभ रहे, इसलिए मैंने इसका मूल्य मात्र १.०० रुपया रखा है। इससे लागत में जो भी कमी होगी, उसकी भविष्य में पूर्ति हो जाने की आशा है।

इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक का प्रारम्भ से लेकर उसके प्रकाशित होने तक का यह संक्षिप्त इतिहास है। इसमें पूर्व में उल्लिखित विद्वान्, त्यागी तथा अन्य प्रगट और अप्रगट जिन-जिन पुण्य पुरुषों का हाथ है, उन सबका मैं आभारी ही नहीं, कृतज्ञ भी हूँ। अब तो यह पुस्तक प्रकाशित होकर सबके समझ आ ही रही है। हमें भरोसा है कि मार्गप्रभावना के लिए प्रवचनभक्ति से प्रेरित होकर किये गये इस मंगल कार्य में अब तक हमें सबका जो उत्साहपूर्ण सहयोग मिला है, उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि ही होगी। मोक्षमार्ग में जो मेरी अनन्य अभिरुचि है, यह उसी का फल है। निश्चय से इसमें मेरा कर्तृत्व नाम को भी नहीं है। इसलिए उसी अभिप्राय से तत्त्व-जिज्ञासु इसे स्वीकार करें।

२/३८, भदैनी, **फूलचन्द्र सिद्धांतशास्त्री**
वाराणसी २०-८-६०

प्राक्कथन

(प्रथम संस्करण से)

जैनधर्म 'जिन' का धर्म है। जिन वे हैं जिन्होंने अपने विकारों पर पुरुषार्थ द्वारा विजय प्राप्त कर निज स्वरूप प्राप्त कर लिया है। जैनधर्म का मुख्य नाम आत्मधर्म है। यह तो आगम, अनुभव और युक्ति से ही सिद्ध है कि संसार में जड़ और चेतन जितने भी पदार्थ हैं, वे सब स्वतन्त्र हैं। जो शरीर संसारी जीव के साथ बाह्य दृष्टि से एक क्षेत्रावगाही हो रहा है, वह भी पृथक् है। वस्तुतः इस सनातन सत्य का बोध न होने से ही यह जीव अपने को भूला हुआ है। उसके दु:ख का निदान भी यही है। यद्यपि यह संसारी जीव दु:ख से मुक्ति चाहता है, परन्तु जब तक आत्मा-अनात्मा का भेदविज्ञान होकर इसे ठीक तरह से अपने आत्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती, तब तक इसका दु:ख से निवृत्त होना असम्भव है। सबसे पहले इसे यह जानना जरूरी है कि मेरे ज्ञान-दर्शनस्वभाव आत्मा से भिन्न अन्य जितने जड़-चेतन पदार्थ हैं, वे पर हैं। उनका परिणमन उनमें होता है और आत्मा का परिणमन आत्मा में होता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को बलात नहीं परिणमा सकता। यद्यपि काकतालीय न्याय से कभी ऐसा प्रसंग उपस्थित हो जाता है कि हम पदार्थ का जैसा परिणमन चाहते हैं और उसके लिए प्रयत्न करते हैं, पदार्थ का वैसा परिणमन होता हुआ देखा जाता है, इसलिए हम मान लेते हैं कि इसे हमने परिणमाया, अन्यथा इसका ऐसा परिणमन न होता। किन्तु यह मानना कोरा भ्रम है और यही भ्रम संसार की जड़ है। अतएव सबसे पहले इस संसारी जीव को अपने आत्मस्वरूप की पहिचान के साथ इसी भ्रम को दूर करना है। इसके दूर होते ही इसके स्वावलम्बन का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। स्वालम्बन का मार्ग कहो या मुक्ति का मार्ग कहो, दोनों कथनों का एक ही अभिप्राय है। अतीत काल में जो तीर्थंकर सन्त महापुरुष हो गये हैं, वे स्वयं इस मार्ग पर चलकर मुक्ति के पात्र तो हुए ही। दूसरे संसारी प्राणियों को भी उन्होंने अपनी चर्या और उपदेश द्वारा इस सन्मार्ग के दर्शन कराये।

यह तो अतीत काल की बात हुई। वर्तमान युग की दृष्टि से यदि विचार करते हैं तो इस युग में भी ऐसे अगणित सन्त महामुनि हो गये हैं जो स्वयं तीर्थंकरों के मार्ग पर चलकर अपने उपदेश द्वारा उसका दर्शन कराते आ रहे हैं। उनमें परम पूज्य कुन्दकुन्द आचार्य प्रमुख हैं। उनके द्वारा प्रणीत समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और नियमसार आदि ग्रन्थ संसार की चालू परिपाटी से भिन्न आत्मस्वरूप का दर्शन कराते हैं। उनके इन उपदेशों से लौकिकजन विचकते हैं। उन्हें ऐसा मालूम पड़ता है कि जिन आधारों पर हम अपना अस्तित्व मानते आ रहे हैं, वे खिसक रहे हैं। उनके खण्डित हो जाने पर हम निराधार हो जावेंगे और हमारे अस्तित्व का लोप हो जावेगा। पर उनका यह भय वृथा है। वास्तविक खतरा तो पर के आश्रय में ही है। उसे तो अनादि काल से उठाते आये। अब तो 'स्व' की भूमिका पर आने की बात है। आत्मा में स्वाधीन सुख का विकास उसी से होगा। यह हम मानते हैं कि इस जीव की अनादि काल से परावलम्बन की वासना बनी हुई है, इसलिए उसे छोड़ने में दुःख होता है। परन्तु स्वाधीन सुख को प्राप्त करने के लिए पराधीनता का त्याग करना ही होगा। स्वाधीन सुख को प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। इस दृष्टि से आचार्य महाराज ने अपने ग्रन्थ में जो तात्त्विक विवेचन किया है, वह जैनधर्म का प्राणभूत है। अन्य समस्त आचार्यों ने जैनधर्म के सिद्धान्तों, आचारों और विचारों के विषय में जो कुछ भी लिखा है, उसकी आधारशिला आचार्य कुन्दकुन्द की तत्त्वप्ररूपणा ही है। इस संसारी जीव को शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि उनके बताये हुए मार्ग पर चलने से ही होगी, इसकी प्राप्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है। इस दृष्टि से यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि इस विषय का सरल सुबोध भाषा में स्पष्टीकरण करने के लिए तथा अन्य अनुयोगों के शास्त्रों में प्रतिपादित विषयों का अध्यात्मशास्त्र के साथ कैसे मेल बैठता है—इस विषय को स्पष्ट करने के लिए एक पुस्तक लिखी जाए। प्रसन्नता की बात है कि भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् का इस ओर ध्यान आकर्षित हुआ और उसने अपने जबलपुर के अधिवेशन में इस आशय का एक प्रस्ताव पारित कर विद्वानों का इस पुनीत कार्य के लिए आह्वान किया।

उक्त आधार पर सिद्धान्तशास्त्र के मर्म वेत्ता श्रीमान् पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसी ने इस ओर ध्यान देकर यह 'जैनतत्त्वमीमांसा' पुस्तक

की रचना की है। पण्डितजी जैन सिद्धान्त के मननीय उच्चकोटि के विद्वानों में गणनीय विद्वान हैं! इन्होंने दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा लिखित मूल सिद्धान्त ग्रन्थ षट्खण्डागम का अनेक वर्षों तक अध्ययन मनन किया है तथा ग्रन्थराज का हिन्दी भाषा में भाषान्तर सम्पादन किया है। अलभ्य दर्शनशास्त्र के योग्य माने जानेवाले ग्रन्थों को और उनकी महान् विस्तृत गम्भीर संस्कृत-प्राकृत टीकाओं को हिन्दी भाषा में सुगम सुबोध शैली में प्रतिपादन करना सरल कार्य नहीं है। इस समय भी इनके द्वारा कषायपाहुड (जयधवला) और मूलाचार के भाषान्तर का कार्य हो रहा है। ऐसे अनुभवी ज्ञानी विद्वान् की लेखनी से लिखा जाकर प्रस्तुत ग्रन्थ जनता के सामने आ रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में १२ अधिकार हैं। उनके नाम ये हैं—(१) विषय प्रवेश, (२) वस्तुस्वभावमीमांसा, (३) निमित्त की स्वीकृति, (४) उपादान-निमित्तकरण मीमांसा, (५) कर्तृकर्ममीमांसा, (६) षट्कारकमीमांसा, (७) क्रमनियमित-पर्यायमीमांसा, (८) सम्यक् नियतिस्वरूपमीमांसा, (९) निश्चय-व्यवहारमीमांसा, (१०) अनेकान्त-स्याद्वादमीमांसा, (११) सर्वज्ञस्वभाव-मीमांसा और (१२) उपादान-निमित्तसंवाद।

प्रत्येक अध्याय में वर्णित विषय अपने में पूर्ण है। विषय प्रतिपादन अनेक उच्चकोटि के आगम, दर्शन, न्याय आदि ग्रन्थों के प्रमाण देकर किया गया है। अनेक महान ग्रन्थों के जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं और उनके आधार से जो तत्त्व फलित किये गये है, वे मेरी श्रद्धानुसार वर्तमान में तत्त्वजिज्ञासुओं के बहुत से उलझे हुए विचारों के सुलझाने में मार्गदर्शन करते हैं। साथ ही अनेक धर्मग्रन्थों में कहाँ किस दृष्टिकोण से तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, इसे समझने में सहायता करते हैं। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ की रचना बहुत ही उपायोगी हुई है।

इस वर्ष बीना इटावा (सागर) की जैन समाज के आमन्त्रण पर विद्वत्परिषद के श्रुतपंचमी के पुण्य अवसर पर विद्वद्गोष्ठी (ज्ञानगोष्ठी) का आयोजन किया था। उसमें एक सप्ताह तक इस पुस्तक का सांगोपांग वाचन हुआ, जिसमें सब विषयों के जानकार प्रौढ़ विद्वानों व त्यागियों ने भाग लिया था। चर्चा होते समय अनेक नगरों के अन्य गणमान्य सज्जन भी उपस्थित रहते थे। प्रसन्नता है कि गोष्ठी के समय दर्शन और न्याय शैली से विविध दृष्टिकोण एक-दूसरे के

सामने आये। उन्हें विद्वानों ने समीप से समझा और उनका परस्पर में आदान-प्रदान किया। परस्पर वात्सल्य की भावना को बढ़ाते हुए वीतराग कथा के रूप में जिस स्नेह और श्रद्धापूर्ण वातावरण में यह गोष्ठी हुई, उसका बड़ा मूल्य है। परस्पर तत्त्वचर्चा का वीतराग प्रतिपादित मार्ग क्या हो सकता है, यह उसका सम्यक् उदाहरण है। हमने अपने जीवन काल में विद्वानों की इस प्रकार की चर्चा कभी न देखी और न सुनी। मैं समझता हूँ कि सैकड़ों वर्ष पूर्व भी कभी ऐसा संगठित धार्मिक चर्चा सम्मेलन हुआ होगा, यह हमारी जानकारी में नहीं आया। सब विद्वानों का योगदान इसका मुख्य कारण रहा है, यह तो है ही; साथ ही इस सम्बन्ध में बीना इटावा (सागर) की जैन समाज की आन्तरिक सद्भावना और सहयोग भी सराहनीय है। उसने आगत सब विद्वानों की सब प्रकार की सुख सुविधा व सम्मान का ध्यान रखते हुए इस महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक धार्मिक कार्य में अपना बहुत बड़ा योगदान दिया है। उक्त कार्य के सुन्दरता और प्रशस्त वातावरण में सम्पन्न होने का यह भी एक कारण है।

पुस्तक वाचन के समय उपादान-निमित्तमीमांसा के प्रसंग से एक बात की ओर पण्डितजी का ध्यान आकर्षित किया गया था। वह यह कि जिस कथन पद्धति की मुख्यता से यह पुस्तक लिखी गयी है, उसे आप अवश्य ही स्पष्ट कर दें। इससे प्रस्तुत ग्रन्थ को समझने में सरलता तो जाएगी ही। साथ ही जिनागम में प्रतिपादित स्वातन्त्र्यमार्ग (मोक्षमार्ग) का रहस्य क्या है, यह समझने में भी सहायता मिलेगी। और यह आवश्यक भी था, क्योंकि जब पण्डितजी पुस्तक का वाचन करते थे, तब चर्चित विषय पर विवाद खड़ा होने पर उनसे विषय को स्पष्ट करने के लिए पृच्छा करनी पड़ती थी और जब वे चर्चित विषय के गर्भ में क्या रहस्य है, वह बतलाते थे, तब अनेक विवाद समाप्त हो जाते थे। प्रसन्नता है कि पण्डितजी ने उक्त सुझाव को मान देकर पुस्तक के प्रारम्भ में एक नया प्रकरण जोड़ दिया है, जिसका नाम 'विषयप्रवेश' है। इस प्रकरण के जोड़ देने से आगम में कहाँ किस दृष्टिकोण से कथन पद्धति स्वीकार की गयी है, यह स्पष्ट होने में पूरी सहायता मिलती है। साथ ही प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय स्पष्ट हो जाता है।

पण्डितजी ने डेढ़ दो वर्ष लगकर अनवरत परिश्रम और एकाग्रतापूर्वक तत्त्व का मनन कर साहित्य सृजन का यह श्लाघनीय कार्य किया है। इस प्रसंग

से हम अन्य विद्वानों का ध्यान भी इस बात की ओर विशेषरूप से आकर्षित करना चाहते हैं कि विद्वान केवल समाज के मुख नहीं हैं। वे आगम के रहस्योद्घाटन के जिम्मेदार हैं। अत: उन्हें, हमारे अमुक वक्तव्य से समाज में कैसी प्रतिक्रिया होती है, वह अनुकूल होती है या प्रतिकूल, यह लक्ष्य में रखना जरूरी नहीं है। यदि उन्हें किसी प्रकार का भय हो भी तो सबसे बड़ा भय आगम का होना चाहिए। विद्वानों का प्रमुख कार्य जिनागम की सेवा है और यह तभी सम्भव है, जब वे समाज के भय से मुक्त होकर सिद्धान्त के रहस्य को उसके सामने रख सकें। कार्य बड़ा है। इस काल में इसका उनके ऊपर उत्तरदायित्व है, इसलिए उन्हें यह कार्य सब प्रकार की मोह-ममता को छोड़कर करना ही चाहिए। समाज का संधारण करना उनका मुख्य कार्य नहीं है। यदि वे दोनों प्रकार के कार्यों का यथास्थान निर्वाह कर सकें तो उत्तम है। पर समाज के संधारण के लिए आगम को गौण करना उत्तम नहीं है। हमें भरोसा है कि विद्वान मेरे इस निवेदन को अपने हृदय में स्थान देंगे और ऐसा मार्ग स्वीकार करेंगे जिससे उनके सद्प्रयत्नस्वरूप आगम का रहस्य और विशदता के साथ प्रकाश में आवे।

संसारी प्राणी के सामने मुख्य प्रश्न दो हैं—प्रथम तो यह कि वह वर्तमान में परतन्त्र क्यों हो रहा है ? क्या वह अपनी कमजोरी के कारण परतन्त्र हो रहा है या कर्मों की बलवत्ता के कारण परतन्त्र हो रहा है। दूसरा प्रश्न है कि वह इस परतन्त्रता से छुटकारा पाकर स्वतन्त्र कैसे होगा। अन्य निमित्तकारण उसे स्वतन्त्र करेंगे या वह निमित्तों की उपेक्षा कर स्वयं पुरुषार्थ द्वारा स्वतन्त्र होगा। ये दो प्रश्न हैं, जिनका जैनदर्शन के सन्दर्भ में उसे उत्तर प्राप्त करना है।

यह तो प्रत्येक विचारक जानता है कि जैनदर्शन में जितने भी जड़-चेतन द्रव्य स्वीकार किये गये हैं, वे सब अपने-अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को लिए हुए प्रतिष्ठित हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को अपना कुछ भी अंश प्रदान करता हो या जिस द्रव्य का जो व्यक्तित्व अनादि काल से प्रतिष्ठित है, उसमें कुछ भी न्यूनाधिकता करता हो, ऐसा नहीं है। ये दो जैनदर्शन के अकाट्य नियम हैं। अत: इनके सन्दर्भ में प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद-व्ययरूप कार्य के सम्बन्ध में विचार करने पर विदित होता है कि जिस द्रव्य में जो भी स्वभाव या विभावरूप कार्य होता है; अन्य कोई द्रव्य उसमें उसे उत्पन्न करता हो और तब उसका वह

स्वभाव-विभावरूप कार्य होता हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि अन्य द्रव्य से उसकी उत्पत्ति मानने पर न तो द्रव्य के परिणमन स्वभाव की ही सिद्धि होती है और न ही 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को अपना कुछ भी अंश प्रदान नहीं करता' इस तथ्य का ही समर्थन किया जा सकता है। अतएव जहाँ तक प्रत्येक द्रव्य के परिणमन स्वभाव का प्रश्न है और जहाँ तक उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का प्रश्न है, वहाँ तक तो यही मानना उचित है कि प्रत्येक द्रव्य में जो उत्पाद-व्ययरूप कार्य होता है, उसमें वह स्वाधीन है। ऐसा मानना परमार्थ सत्य और वस्तुस्वभाव के अनुरूप है। इसमें किसी भी प्रकार की 'ननु, न च' करना प्रत्येक द्रव्य के परिणामस्वभाव और उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व की अवहेलना करना होगा, जो उचित नहीं है, क्योंकि इन तथ्यों की अवहेलना करने पर छह द्रव्यों और उनके भेदों की पूरी व्यवस्था गड़बड़ा जाएगी। फिर भी जैनदर्शन में प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में निमित्तों को स्वीकार किया गया है, सो उसका कारण अन्य है।

बात यह है कि प्रत्येक द्रव्य के अपने-अपने समर्थ उपादान के अनुसार प्रत्येक समय में कार्य होते समय अन्य द्रव्य की पर्याय उसके बलाधान में स्वयं निमित्त होती है। बल का आधान कर कार्य को (अपने परिणमन स्वभाव और स्वतन्त्र व्यक्तित्व के कारण) स्वयं उपादान उत्पन्न करता है। यह कार्य निमित्त का नहीं है। किन्तु कार्य को उत्पन्न करने के लिए उपादान को बल का आधान करता है, उसमें अन्य द्रव्य की पर्याय स्वयं निमित्त हो जाती है, यह वस्तुस्थिति है। इसके रहते हुए भी लोक में निमित्त की मुख्यता से कुछ इस प्रकार के तर्क उपस्थित किये जाते हैं—

१— उपादान हो और निमित्त न हो तो कार्य नहीं होगा।

२— समर्थ उपादान हो और बाधक सामग्री आ जाए तो कार्य नहीं होगा।

३— समर्थ उपादान हो, निमित्त हो, पर बाधक कारण आ जाए तो कार्य नहीं होगा।

ये तीन तर्क हैं। इन पर विचार करने से विदित होता है कि प्रथम दोनों तर्क तीसरे तर्क में ही समाहित हो जाते हैं, अत: तीसरे तर्क पर समुचित विचार करने से शेष दो तर्कों का उत्तर हो ही जाएगा, अत: तीसरे तर्क के आधार से आगे विचार करते हैं—

सर्व प्रथम विचार इस बात का करना है कि जब समर्थ उपादान और लोक में निमित्त के रहते हुए भी कार्य की लोक में कही जानेवाली बाधक सामग्री आ जाती है, तब विवक्षित द्रव्य उसके कारण क्या अपने परिणमन स्वभाव को छोड़ देता है ? यदि कहो कि द्रव्य में परिणमन तो तब भी होता रहता है, वह तो उसका स्वभाव है। उसे वह कैसे छोड़ सकता है—तो हम पूछते हैं कि जिसे आप बाधक सामग्री कहते हो, वह किस कार्य की बाधक मानकर कहते हो ? आप कहोगे कि जो कार्य हम उससे उत्पन्न करना चाहते थे, वह कार्य नहीं हुआ, इसलिए हम ऐसा कहते हैं। तो विचार कीजिये कि वह सामग्री विवक्षित द्रव्य के आगे होनेवाले कार्य की बाधक ठहरो कि आपके संकल्प की ? विचार करने पर विदित होता है कि वस्तुत: वह विवक्षित द्रव्य के कार्य की बाधक तो त्रिकाल में नहीं है। हाँ, आप आगे उस द्रव्य का जैसा परिणमन चाहते थे, वैसा नहीं हुआ, इसलिए आप उसे कार्य की बाधक कहते हो, सो भाई ! यही तो भ्रम है। इसी भ्रम को दूर करना है। वस्तुत: उस समय द्रव्य का परिणमन ही आपके संकल्पानुसार न होकर अपने उपादान के अनुसार होनेवाला था, इसलिए जिसे आप अपने मन से बाधक सामग्री कहते हो, वह उस समय उस प्रकार के परिणमन में निमित्त हो गयी। अत: इन तर्कों के समाधानस्वरूप यही समझना चाहिए कि प्रत्येक समय में कार्य तो अपने उपादान के अनुसार ही होता है और उस समय जो बाह्य सामग्री उपस्थित होती है, वही उसमें निमित्त हो जाती है। निमित्त स्वयं अन्य द्रव्य के किसी कार्य को करता हो, ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ दीपक के प्रकाश में एक मनुष्य पढ़ रहा है। अब विचार कीजिए कि वह मनुष्य स्वयं पढ़ रहा है या दीपक पढ़ा रहा है ? दीपक पढ़ा रहा है, यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर दीपक के रहने तक उसका पढ़ना नहीं रुकना चाहिए। किन्तु हम देखते हैं कि दीपक के सद्भाव में भी कभी वह पढ़ता है और कभी अन्य कार्य भी करने लगता है। इससे मालूम पड़ता है कि दीपक तो निमित्तमात्र है, वस्तुत: वह स्वयं पढ़ता है, दीपक बलात् उसे पढ़ाता नहीं। इस प्रकार जो नियम दीपक के लिए है, वही नियम सब निमित्तों के लिए जान लेना चाहिए। निमित्त चाहे क्रियावान द्रव्य हो और चाहे निष्क्रिय द्रव्य हो, कार्य होगा अपने उपादान के अनुसार ही। अत: निमित्त का विकल्प छोड़कर प्रत्येक संसारी

जीव को अपने उपादान की ही सम्हाल करनी चाहिए। जो संसारी जीव अपने उपादान की सम्हाल करता है, वह अपने मोक्षरूप इष्ट प्रयोजन की सिद्धि में सफल होता है और जो संसारी जीव उपादान की उपेक्षा कर अपने अज्ञान के कारण निमित्तों के मिलाने के विकल्प करता रहता है, वह अज्ञानी हुआ संसार का पात्र बना रहता है।

कार्योत्पत्ति में निमित्तों का स्थान है, इसका निषेध नहीं और इसलिए बाह्यदृष्टि से विवेचन करते समय शास्त्रों में निमित्तों के अनुसार कार्य होता है, यह भी कहा गया है, परन्तु यह सब कथन उपचरित ही जानना चाहिए। व्यवहारनय पराश्रित होने से ऐसे ही कथन को स्वीकार करता है, इसलिए मोक्षमार्ग में उसे गौण कर स्वाधीन सुख के कारणभूत निश्चयनय का आश्रय लेने का उपदेश दिया गया है। संसार अवस्था में निश्चय के साथ जहाँ जो व्यवहार होता है, होओ। पर इस जीव की यदि ऐसी श्रद्धा हो जाए कि जहाँ जो व्यवहार होता है, वह पराश्रित होने से हेय है और निश्चल स्वाश्रित होने से उपादेय है तो ऐसे व्यवहार से उसका बिगाड़ नहीं। बिगाड़ तो व्यवहार को उपादेय मानकर उससे मोक्षकार्य की सिद्धि मानने में है। अत: मोक्षेच्छुक प्रत्येक प्राणी को यही श्रद्धा करनी चाहिए कि मोक्षकार्य की सिद्धि मात्र निश्चय का आश्रय लेने से ही होगी, व्यवहार का आश्रय लेने से त्रिकाल में नहीं होगी। संसारी जीव के स्वाधीन होने का यही प्रशस्त मार्ग है।

यह तो उपादान-निमित्त के आधार पर व्यक्तिस्वातन्त्र्य को प्राप्त करने का क्या मार्ग है, इसकी चर्चा हुई। इसी प्रकार और भी बहुत से विचार हैं, जिनके सम्बन्ध में परमार्थ सत्य क्या है, इसे जानकर ही उसे ग्रहण करना चाहिए। उदाहरणार्थ शास्त्रों में यथास्थान निश्चयनय और व्यवहारनय के आश्रय से कथन किया गया है। उसमें निश्चयनय की अपेक्षा जो कथन किया गया है, वह यथार्थ है क्योंकि निश्चयनय जैसा वस्तु का स्वरूप है, उसका उसी रूप में निरूपण करता है। परन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा जो कथन किया गया है, वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि जैसा वस्तु का स्वरूप है, उसका यह नय अन्यथा निरूपण करता है। जैसे शास्त्रों में कहीं पर प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन लक्षण कार्य का कर्ता है, ऐसा लिखा है और कहीं पर अन्य द्रव्य के कार्य का कर्ता है, ऐसा लिखा है। सो इन उदाहरणों में जहाँ पर प्रत्येक द्रव्य को अपने

परिणमन लक्षण कार्य का कर्ता बतलाया है, वहाँ उस कथन को यथार्थ जानना चाहिए। और जहाँ पर अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के कार्य का कर्ता बतलाया है, उसे उपचरित कथन जानना चाहिए, क्योंकि अन्य द्रव्य के कार्य को अन्य द्रव्य करता नहीं। कारण कि एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य के कार्य के करने का कर्तृत्व धर्म नहीं पाया जाता। फिर भी अन्य द्रव्य निमित्त होता है, इसलिए उस द्रव्य की निमित्तता दिखलाने के लिए उपचार से उसे कर्ता कह दिया जाता है। इसलिए कहाँ यथार्थ कथन है और कहाँ उपचरित कथन है, इसे समझकर ही वस्तु को स्वीकार करना चाहिए।

इसी प्रकार शास्त्रों में कहीं तो उपादान की प्रधानता से सब कार्य अपने-अपने काल में होते हैं, ऐसा लिखा है और कहीं निमित्त को प्रधानता से कार्यों का अनियम बतलाया है, सो यहाँ भी ऐसा समझना चाहिए कि प्रत्येक कार्य का उपादान अनन्तर पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य होता है, अतएव अगले समय में कार्य भी उसी के अनुरूप होगा। कार्य की उत्पत्ति के समय निमित्त उसे अन्यथा नहीं परिणमा सकेगा, इसलिए जो उपादान की अपेक्षा कथन है, वह यथार्थ है, और जो निमित्त की अपेक्षा कथन है, वह अयथार्थ तो नहीं है परन्तु वहाँ पर निमित्त क्या है, यह दिखलाने के लिए वैसा कथन किया गया है। अतएव ऐसे स्थलों पर भी जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो, उसे समझकर वस्तु को स्वीकार करना चाहिए।

इसी प्रकार और भी बहुत से विषय हैं, जिनमें वस्तु का निर्णय करते समय और उनका व्याख्यान करते समय विचार की आवश्यकता है। हमें प्रसन्नता है कि 'जैनतत्त्वमीमांसा' ग्रन्थ में पण्डितजी ने उन सब विषयों का समावेश कर लिया है, जिनमें तत्त्वजिज्ञासुओं की दृष्टि स्पष्ट होने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी बन गयी है। इसकी लेखन शैली सरल, सुस्पष्ट और सुबोध है। पण्डितजी के इस समयोपयोगी सांस्कृतिक, साहित्यिक सेवा की जितनी प्रशंसा की जाए थोड़ी है। हमें विश्वास है कि समाज इससे लाभ उठाकर अपनी ज्ञानवृद्धि करेगी।

जैन शिक्षा संस्था, कटनी **जगन्मोहनलाल शास्त्री**

विषय-सूची

क्रम सं.	विषय	पृष्ठ सं.

जैनतत्त्वमीमांसा

विषय-प्रवेश

करि प्रणाम जिनदेव को मोक्षमार्ग-अनुरूप।
विविध अर्थ-गर्भित महा कहिए तत्त्वस्वरूप॥१॥

है निमित्त उपचार विधि निश्चय है परमार्थ।
तजि[१] व्यवहार निश्चय गहि साधौ सदा निजार्थ॥२॥

इस लोक में ऐसा एक भी प्राणी नहीं है, जो दुःखनिवृत्ति और सुख-प्राप्ति का इच्छुक न हो। यही कारण है कि बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार के धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर अनादि काल से निराकुल लक्षण सुख प्राप्ति के प्रधान साधनभूत मोक्षमार्ग का उपदेश देते आ रहे हैं। मोक्षमार्ग कहो, निराकुल लक्षण सुख की प्राप्ति का मार्ग कहो या आकुलता लक्षण दुःख से निवृत्त होने का मार्ग कहो, इन सबका एक ही अर्थ है। जिस मार्ग का अनुसरण कर यह जीव चतुर्गतिसम्बन्धी दुःख से निवृत्त होता है, वह मोक्षमार्ग है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। मोक्षमार्ग यह विधिगर्भ निषेधपरक वचन है। ऐसा नियम है कि जहाँ विरोधी धर्म का निषेध किया जाता है, वहाँ उसकी प्रतिपक्षभूत विधि स्वयं फलित हो जाती है, अतएव जो दुःखनिवृत्ति का मार्ग है, वही सुखप्राप्ति का मार्ग है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

१. तीर्थंकरों का उपदेश

इस प्रसंग से विचार यह करना है कि तीर्थंकरों का जो उपदेश चारों अनुयोगों में संकलित है, उसे वचन व्यवहार की दृष्टि से कितने भागों में विभक्त किया जा सकता है? आगम की साक्षीपूर्वक विविध

१— गौण करके।

प्रमाणों के प्रकाश में विचार करने पर विदित होता है कि उसे हम मुखरूप से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—उपचरित कथन और अनुपचरित[१] कथन। जिस कथन का प्रतिपाद्य अर्थ तो असत्यार्थ है (जो कहा गया है, पदार्थ वैसा नहीं है)। किन्तु उससे परमार्थभूत अर्थ की प्रसिद्धि होती है, उसे उपचरित कथन कहते हैं और जिस कथन से जो पदार्थ जैसा है, उसकी उसी रूप में प्रसिद्धि होती है, उसे अनुपचरित कथन कहते हैं।

२. कथन के भेदों का स्पष्टीकरण

प्राय: देखा जाता है कि कहाँ किस प्रयोजन से भाषा का प्रयोग किया गया है, इससे अपरिचित जन उपचरित कथन और असत्य कथन में भेद को न समझकर उपचरित कथन असत्य की कोटि में परिगणित न हो जाए, इस भय से उसके अभिधेयार्थ को ही परमार्थभूत मानने की चेष्टा करते हैं। किन्तु वस्तुस्वरूप को ध्यान में रखकर विचार करने पर विदित होता है कि इन दोनों प्रकार के कथनों में मौलिक अन्तर है, क्योंकि जहाँ उपचरित कथन का वाच्यार्थ असत्यार्थ होकर भी (जैसा कहा गया वैसा न होकर भी) वह बाह्य निमित्त, हेतु, साधन, उपाधि, कारण या विशेषण बनकर अपने से भिन्न निश्चयार्थ की प्रसिद्धि करता है, वहाँ असत्य कथन का वाच्यार्थ असद्भूत तो होता ही है (जिस वस्तु को लक्ष्यकर वह वचन बोला गया, वह वस्तु उसरूप तो नहीं ही होती) फिर भी वह वचन उस वस्तु में ही अन्य वस्तु की प्रसिद्धि करता है। इस प्रकार अनुपचरित कथन, उपचरित कथन और असत्य कथन के भेद से कथन तीन प्रकार का हो जाता है। जिनागम में असत्य कथनरूप प्ररूपणा का सर्वथा अभाव होने से प्रयोजनवश दो प्रकार की ही प्ररूपणा पायी जाती है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१— समयसार गाथा २७।

अनुपचरित कथन का उदाहरण—'निश्चयरत्नत्रयरूप से परिणत यह आत्मा स्वयं ही मोक्षमार्ग है' यह अनुपचरित कथन का उदाहरण है। (समयसार, गाथा १६, आत्मख्याति टीका), क्योंकि निश्चयरत्नत्रय परिणत एक आत्मा स्वयं ही साध्य है और निश्चयरत्नत्रय परिणत वही आत्मा स्वयं ही साधन है। समयसार कलश में इसी तथ्य को इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया गया है—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्य-साधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

स्वरूप प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों द्वारा ज्ञानस्वरूप यह आत्मा साध्य-साधकभाव की अपेक्षा दो प्रकार का होने पर भी एक ही नित्य सेवन करनेयोग्य है ॥१५॥

यहाँ एक तो बाह्य व्याप्तिवश उपचरित रत्नत्रय आदि में जो मोक्षमार्गपना स्वीकार किया जाता है, उसमें परमार्थ से मोक्षमार्गपना नहीं होने से उसे मोक्षमार्ग के साधनरूप से नहीं स्वीकार किया गया है। दूसरे निश्चयरत्नत्रय और आत्मा में स्वभाव से अभेद होने के कारण साध्य और साधन में भेद नहीं स्वीकार किया गया है। इसलिए परमार्थ को सूचित करनेवाला होने से उक्त वचन अनुपचरित कथन का उदाहरण है। मोक्ष के इच्छुक पुरुष के लिए निश्चय से ज्ञायकस्वरूप एक आत्मा ही उपादेय है, यह बतलाना इस कथन का मुख्य प्रयोजन है।

उपचरित कथन दो प्रकार का है—उपचरित सद्भूत कथन और उपचरित असद्भूत कथन।

उपचरित सद्भूत कथन का उदाहरण—अनन्त पर्यायों की वर्तना का हेतु होने से एक कालाणु को अनन्त कहना, यह उपचरित सद्भूत कथन का उदाहरण है (तत्त्वार्थ वार्तिक ५-३९), क्योंकि एक कालाणु में अनन्त पर्यायरूप से परिणमन की योग्यता होने से

अथवा एक ही कालाणु क्रम से अनन्त पर्यायरूप से परिणमता है, इसलिए यहाँ एक कालाणु को अनन्त कहा गया है। यहाँ अनन्त पर्यायों का कालाणु से कथंचित् भेद होते हुए भी पर्यायों को ही विशेषण बनाकर कालाणु को अनन्त कहा गया है। एक ही कालाणुक्रम से अनन्त पर्यायरूप से परिणमता है, यह बतलाना इसका मुख्य प्रयोजन है।

उपचरित असद्भूत कथन का उदाहरण—शुभोपयोगरूप व्रत, शील और तप आदि को मोक्षमार्ग कहना, यह उपचरित असद्भूत कथन का उदाहरण है। बृहद् द्रव्यसंग्रह (गाथा ४५ टीका)। यद्यपि शुभोपयोगरूप व्रत, शील और तप आदि में यथार्थ मोक्षमार्गपना असद्भूत है। फिर भी बाह्य व्याप्तिवश उन्हें उपचार से मोक्षमार्ग कहा गया है, इसलिए यह उपचरित असद्भूत कथन का उदाहरण है। यहाँ ज्ञायकस्वभाव आत्मा और उसमें उपयुक्त होने से जो स्वभाव पर्याय उत्पन्न होती है, उन दोनों से शुभोपयोगरूप व्रत, शील और तप आदि कथञ्चित् आश्रयभेद या आलम्बन भेद होने के कारण भिन्न हैं (समयसार गाथा १८१-१८३ आत्मख्याति टीका), फिर भी प्रयोजनवश उन सबमें बुद्धि से अभेद स्वीकार करके शुभोपयोगरूप व्रत, शील और तप आदि में मोक्षमार्गपना कल्पित किया गया है। बाह्य व्याप्तिवश उपचरित मोक्षमार्ग, निश्चयमोक्षमार्ग की प्रसिद्धि करता है, यह बतलाना इस कथन का मुख्य प्रयोजन है।

असत्य कथन का उदाहरण—मन्द प्रकाश में रज्जु को देखकर उसे सर्प कहना असत्य कथन का उदाहरण है, क्योंकि रज्जु यथार्थ में सर्प नहीं है, फिर भी सादृश्य सामान्य के कारण रज्जु में 'यह सर्प है' ऐसा भ्रम हुआ है। यदि रज्जु को देखकर 'सर्प भी इसी प्रकार का होता है' ऐसा ज्ञान होता तो वह अयथार्थ कथन न माना जाता, परन्तु प्रकृत में रज्जु को ही सर्प मान लिया गया है, इसलिए इसे असत्य कथन का उदाहरण स्वीकार किया गया है।

असत्य कथन और उपचरित कथन में क्या अन्तर है, यह उक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है। साथ ही परमागम में अनुपचरित कथन के साथ उपचरित कथन को क्यों स्थान दिया गया है, यह भी उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है।

३. प्रकृत में कतिपय उपयोगी सिद्धान्त—

(१) कथा चार प्रकार की होती है—आक्षेपणी कथा, विक्षेपणी कथा, संवेदनी कथा और निर्वेदनी कथा। इनमें से विक्षेपणी कथा किसे कहते हैं, इसका निर्देश करते हुए बतलाया है कि जिसमें सर्व प्रथम परसमय के द्वारा स्वसमय में दोष बतलाये जाते हैं, अनन्तर परसमय की आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियों का शोधन करके स्वसमय की स्थापना कर छह द्रव्य और नौ पदार्थों का प्ररूपण किया जाता है, उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं। विक्षेपणी कथा के स्वरूप का विचार करने पर विदित होता है कि जैन दर्शन और जैन न्याय का जो भी साहित्य उपलब्ध होता है, उसका मुख्यता से विक्षेपणी कथा में ही अन्तर्भाव होता है, क्योंकि जैनदर्शन और न्याय के ग्रन्थों में सर्व प्रथम अन्य दर्शन के मन्तव्य की स्थापना कर उसका निरसन किया जाता है और ऐसा करते हुए उभयपक्ष मान्य हेतुओं के बल से परसमय के निरसनपूर्वक स्वसमय की स्थापना की जाती है। वहाँ उपादान की विवक्षा न कर जो बाह्य (उपचरित) हेतुओं को मुख्यता दी जाती है, उसका एकमात्र यही कारण है।

(२) शेष तीन प्रकार की कथाओं में स्वसमय की प्ररूपणा की मुख्यता होते हुए भी उनमें जो यहाँ-वहाँ परसापेक्ष कथन की बहुलता दिखलायी देती है, सो उसका यह आशय नहीं है कि धर्म या धर्मी किसी का भी स्वरूप परसापेक्ष होता है। इतना अवश्य है कि कर्ता और कर्म में अविनाभाव होने के कारण जिस प्रकार यह व्यवहार किया जाता है कि यह इसका कर्ता है और यह इसका कर्म है या

प्रमाण और प्रमेय में अविनाभाव होने के कारण जिस प्रकार यह व्यवहार किया जाता है कि यह इसका ज्ञापक है और यह इसका ज्ञाप्य है, उसी प्रकार धर्म और धर्मी में भी अविनाभाव होने के कारण यह व्यवहार किया जाता है कि यह इसका धर्मी है और यह इसका धर्म है (अष्टसहस्त्री, पृष्ट २३३)। इतना अवश्य है कि स्वभाव से अभेद होने पर भी जहाँ एक सत्ताक वस्तु में धर्म और धर्मी का भेद विवक्षित होता है, वहाँ सद्भूतव्यवहार होता है और जहाँ स्वतन्त्र सत्ताक दो द्रव्यों में धर्म-धर्मीपना और कर्ता-कर्मपना आदि का अभाव होते हुए भी प्रयोजन विशेषवश किसी भी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, वहाँ असद्भूतव्यवहार होता है और असद्भूतव्यवहार का ही दूसरा नाम उपचार है (आलापद्धति)।

(३) प्रत्येक द्रव्य स्वभाव से नित्यानित्यस्वरूप है। अपने अन्वय स्वभाव के कारण वह नित्य है और व्यतिरेक स्वभाव के कारण वह अनित्य है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य परिणामी-नित्य सिद्ध होता है। यह उसका स्वभाव है, इसलिए नित्य रहते हुए भी वह स्वयं परिणमन करता है, इसके लिए वह परिणमन करानेवाले दूसरे द्रव्य की अपेक्षा नहीं करता (समयसार, आत्मख्याति टीका, गाथा ११६-१२०; अष्टसहस्त्री, पृष्ठ ११२)। इससे स्पष्ट है कि जितना भी परसापेक्ष कथन आगम में उपलब्ध होता है, उसे उपचरित ही समझना चाहिए।

(४) जीव क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं। इसी प्रकार अजीव भी क्रम नियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि जिस प्रकार सुवर्ण का अपने कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य पाया जाता है; उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का अपने-अपने परिणामों के साथ तादात्म्य पाया जाता है। इस प्रकार जीव का अपने

परिणामों के साथ उत्पन्न होते हुए भी अजीव के साथ कार्य-कारण भाव नहीं सिद्ध होता है, क्योंकि सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है। और उसके सिद्ध नहीं होने पर अजीव (ज्ञानावरणादि कर्म) जीव का कर्म है, यह नहीं सिद्ध होता और इसके सिद्ध नहीं होने पर कर्ता-कर्म की परसापेक्ष सिद्धि नहीं होती। अत: जीव अजीव का कर्ता है, यह नहीं सिद्ध होता है, इसलिए जीव पर के परिणामों का अकर्ता है, यह सिद्ध होता है। (समयसार, ३०८-३११, आत्मख्याति टीका)। यह परमार्थ से वस्तु व्यवस्था है। इसे साक्षी कर विचार करने पर विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें स्वभाव से परसापेक्ष नहीं होती, इसलिए एक के कार्य आदि का दूसरे को कर्ता आदि मानना लौकिक विकल्प ही है, जो असद्भूत होने से उपचरित ही है।

(५) जो जिसके बाद होता है, उसे कारण कहते हैं और जो होता है, उसे कार्य कहते हैं (तत्त्वार्थश्लोक, पृष्ठ १५१)। अविनाभाववश सूचित होनेवाला यह कारण-कार्यभाव का निर्दोष लक्षण है। नयदृष्टि से इसका विचार करने पर विदित होता है कि यह इसका कार्य है और यह इसका कारण है, इस प्रकार दो में सम्बन्ध को स्थापित करनेवाला जो भी विकल्प होता है, वह संकल्प प्रधान नैगमनय का विषय होने से उपचरित ही है। यह संग्रहनय का विषय तो हो नहीं सकता, क्योंकि संग्रहनय मुख्यरूप से अभेद को विषय करता है। व्यवहारनय का भी विषय नहीं हो सकता, क्योंकि व्यवहारनय मुख्यरूप से द्रव्य आदि भेद को विषय करता है। दो में सम्बन्ध स्थापित करना इन नयों का विषय नहीं हो सकता। ऋजुसूत्रनय एक समयवर्ती वर्तमान पर्याय को ही विषय करता है, इसलिए इस नय की अपेक्षा उत्पाद और विनाश दोनों ही निर्हेतुक सिद्ध होते हैं। इस नय में उत्पाद्य-उत्पादकभाव विशेषण-विशेष्यभाव, ग्राह्य-ग्राहकभाव और वाच्य-वाचकभाव आदि कुछ भी सिद्ध नहीं होते (जय धवला,

पृष्ठ २००-२११)। ये सब संकल्पप्रधान नैगमनय में ही घटित होते हैं।

४. निश्चय-व्यवहार का स्वरूप निर्देश—

ये कतिपय आगम प्रमाण हैं। इनको लक्ष्य में रखकर अपनी सुबोध भाषा में पण्डितप्रवर टोडरमलजी निश्चय और व्यवहार का स्वरूप निर्देश करते हुए मोक्षमार्गप्रकाशक में लिखते हैं—

वहाँ जिन आगम में निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है। उनमें यथार्थ का नाम निश्चय है, उपचार का नाम व्यवहार है।

[अध्याय ७, पृष्ठ १९३]

व्यवहार अभूतार्थ है, सत्यस्वरूप का निरूपण नहीं करता; किसी अपेक्षा उपचार से अन्यथा निरूपण करता है। तथा शुद्धनय जो निश्चय है, वह भूतार्थ है, जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा निरूपण करता है। इस प्रकार इन दोनों का स्वरूप तो विरुद्धतासहित है।

एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप को निरूपण करना, सो निश्चयनय है; उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप निरूपण करना, सो व्यवहार है। जैसे मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा निरूपित किया जाए, सो निश्चय और घृतसंयोग से उपचार से उसी को घृत का घड़ा कहा जाए, सो व्यवहार। ऐसे ही अन्यत्र जानना। *[अध्याय ७, पृष्ठ २४९]*

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है। सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, इसलिए उसका त्याग करना। तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है। सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिए उसका श्रद्धान करना। *[अध्याय ७, पृष्ठ २५१]*

जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है,

उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे ऐसे हैं नहीं, निमित्तादि अपेक्षा उपचार किया है' ऐसा जानना। इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। तथा दोनों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'ऐसे भी हैं, ऐसे भी हैं' इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है। *[अध्याय ७, पृष्ठ २५१]*

उक्त प्रमाणों के प्रकाश में यह पण्डितप्रवर टोडरमलजी का वक्तव्य है। इससे स्पष्ट है कि जिन आगम में वचन व्यवहार की दृष्टि से यथावस्थित वस्तुस्वरूप का निर्णय करने के लिए दो प्रकार का कथन उपलब्ध होता है। इनकी संक्षेप में मीमांसा हम पहले ही कर आये हैं। फिर भी जो मनीषी उपचरित कथन को भी अनुपचरित कथन के समान यथार्थ मानने का आग्रह करते हैं, उनके उस अभिप्राय का निरसन करने के लिए यहाँ उपचरित कथन के कतिपय उदाहरण उपस्थित कर, वे उपचरित क्यों हैं, इसकी अलग से मीमांसा करेंगे।

५. उपचरित कथन के कतिपय उदाहरण—

१) एक द्रव्य अपनी विवक्षित पर्याय द्वारा दूसरे द्रव्य के कार्य का कर्ता है और दूसरे द्रव्य की वह पर्याय उसका कर्म है।

२) अन्य द्रव्य अपने से भिन्न दूसरे द्रव्य को परिणमाता है या उसमें अतिशय उत्पन्न करता है।

३) अन्य द्रव्य की विवक्षित पर्याय अन्य द्रव्य की विवक्षित पर्याय के होने में हेतु है, उसके बिना वह कार्य नहीं होता।

४) व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म में साध्य-साधकभाव है अर्थात् व्यवहारधर्म की आराधना करने से निश्चयधर्म की उत्पत्ति होती है।

५) शरीर मेरा है, तथा देश, धन और पुत्रादि मेरे हैं आदि।

ये उपचरित कथन के कतिपय उदाहरण हैं। जैसा कि हम पहले निर्देश कर आये हैं, इनका केवल जैनदर्शन और न्याय के ग्रन्थों में ही

नहीं, चारों अनुयोगों के ग्रन्थों में भी बहुलता से कथन किया गया है। जो प्रमुखता से अध्यात्म का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ हैं, उनमें भी जहाँ प्रयोजन विशेषवश उपचार कथन की मुख्यता से प्रतिपादन करना इष्ट रहा है, वहाँ भी यह पद्धति स्वीकार की गयी है। (समयसार, गाथा २७, ४६ आदि तथा उनकी आत्मख्याति टीका), इसलिए इस प्रकार के कथन को चारों अनुयोगों के शास्त्रों में स्थान नहीं मिला है, यह तो कहा नहीं जा सकता। फिर भी यह कथन उपचरित क्यों है, इसकी विशदरूप से यहाँ मीमांसा करनी है।

६. उक्त उदाहरण उपचरित वचन हैं इसका खुलासा—

यह द्रव्यगत स्वभाव है कि किसी कार्य की उत्पत्ति में उपादान मुख्य (अनुपचरित) हेतु होता है और अन्य द्रव्य की विवक्षित पर्याय प्रति विशिष्ट काल प्रत्यासत्तिवश व्यवहार (उपचरित) हेतु[१] होता है[२]। इस तथ्य को दृष्टिपथ में रखकर जिसने अपनी बुद्धि में यह निर्णय किया है कि जो उपादानस्वरूप वस्तु है, अपने कार्यकाल में वही कर्ता है और वही कर्म है, क्योंकि वस्तुपने की अपेक्षा वे एक हैं[३]। अतएव उसका वैसा निर्णय करना परमार्थरूप है। कारण कि जीवादि प्रत्येक द्रव्य में छह कारक शक्तियाँ तादात्म्यरूप से सदाकाल विद्यमान रहती हैं। अत: उनके आधार से उस-उस द्रव्य में कर्तृत्व आदि की अपने ही आश्रय से सिद्धि होती है। फिर भी विशिष्ट काल प्रत्यासत्ति-मूलक बाह्य व्याप्तिवश दो द्रव्यों की विवक्षित पर्यायों में व्यवहार से कर्ता, करण आदिरूप से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। यह देखकर अनादिरूढ़ लोक व्यवहारवश पृथक् सत्ता के दो द्रव्यों में कर्ता-कर्म आदिरूप व्यवहार किया जाता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द समयप्राभृत में कहते हैं—

१— पञ्चास्तिकाय गाथा ८९ तथा ९६ की टीका। २— स्वयंभूस्तोत्र।

३— समयसार, कलश ५१।

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

जीव के निमित्त होने पर बन्ध के परिणाम को देखकर जीव ने कर्म किया, यह उपचार मात्र से कहा जाता है ॥१०५॥

इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए उक्त गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

इहु खलु पौद्गलिककर्मण: स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परणमनान्निमित्तीभूते सति सम्पद्यमानत्वात्पौद्गलिकं कर्मात्मनाकृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पराणां परेषामस्ति विकल्प:। स तूपचार एव न तु परमार्थ: ॥१०५॥

इस लोक में आत्मा निश्चयत: स्वभाव से पुद्गल कर्म का निमित्तभूत नहीं है तो भी अनादिकालीन अज्ञानवश उसके निमित्तभूत अज्ञानभावरूप परिणमन करने से पुद्गलकर्म का निमित्तरूप होनेपर पुद्गलकर्म की उत्पत्ति होती है, इसलिए आत्मा ने कर्म को किया, ऐसा विकल्प उन जीवों के होता है, जो निर्विकल्प विज्ञानघन से भ्रष्ट होकर विकल्पपरायण हो रहे हैं। परन्तु वह विकल्प उपचार ही है अर्थात् उपचरित अर्थ को ही विषय करनेवाला है।

यह आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है। किन्तु उन्होंने इसे उपचरित क्यों कहा, इसका कोई हेतु तो होना ही चाहिए, अत: इसी का यहाँ पर साङ्गोपाङ्ग नयदृष्टि से विचार करते हैं—

परमागम में बाह्य व्याप्तिवश लौकिक व्यवहार को स्वीकार कर असद्भूतव्यवहारनय का लक्षण करते हुए लिखा है कि जो अन्य द्रव्य के गुण-धर्मों को अन्य द्रव्य के कहता है, वह असद्भूतव्यवहारनय है। नयचक्र में कहा भी है —

अण्णेसिं अण्णगुणो भणइ असब्भूद्.............. ॥२२३॥

अन्य के गुणधर्म को अन्य का असद्भूतव्यवहारनय कहता है।

इसी को विशदरूप से स्पष्ट करते हुए आलापद्धति में भी बतलाया है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः।

अन्यत्र प्रसिद्ध हुए धर्म का अन्य में समारोप करना असद्भूत-व्यवहार है।

इसके मुख्य दो भेद हैं—उपचरित असद्भूतव्यवहारनय और अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय। बृहद्द्रव्यसंग्रह में 'पुग्गल कम्मादीणं कत्ता' इस गाथा के व्याख्यान के प्रसंग के उदाहरणपूर्वक इन नयों का खुलासा करते हुए लिखा है—

मनोवचनकायव्यापारक्रियारहितनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन्नुपचरितासद्भूतव्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणां, 'आदि' शब्देनौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्तियोग्य-पुद्गलपिण्डरूपनोकर्मणां तथैवोपचरितासद्भूतव्यवहारेण बहिर्विषय-घटपटादीनां च कर्ता भवति।

मन, वचन और काय के व्यापार से होनेवाली क्रिया से रहित ऐसा जो निज शुद्धात्त्मतत्त्व, उसकी भावना से रहित हुआ यह जीव अनुपचरित असद्भूतव्यवहार की अपेक्षा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का, आदि शब्द से औदारिक, वैक्रियिक और आहारकरूप तीन शरीर और आहार आदि छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल पिण्डरूप नोकर्मों का तथा उपचरित असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा बाह्य विषय घट-पट आदि का कर्ता होता है।

उक्त कथन का तात्पर्य है कि परमार्थ से कर्म, नोकर्म और घट-पट आदि का जीव कर्ता हो और वे उसके कर्म हों, ऐसा नहीं है परन्तु जैसा कि नयचक्र और आलापद्धति में बतलाया है, उसके अनुसार एक द्रव्य के गुणधर्मों को दूसरे द्रव्य का कहनेवाला जो उपचरित या

अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय है, उस अपेक्षा से यहाँ पर जीव को पुद्गलकर्मों, नोकर्मों और घट-पट का कर्ता कहा गया है तथा पुद्गलकर्म, नोकर्म और घट-पट आदि उसके कर्म कहे गये हैं।

इससे स्पष्ट है कि जहाँ शास्त्रों में भिन्न कर्तृ-कर्म आदिरूप व्यवहार किया गया है, वहाँ उसे उपचरित अर्थात् प्रयोजन विशेष से कल्पित ही जानना चाहिए, क्योंकि किसी एक द्रव्य के कर्तृत्व और कर्मत्व आदि छह कारक धर्मों का दूसरे द्रव्य में अत्यन्त अभाव है और यह ठीक भी है, क्योंकि जबकि एक द्रव्य की विवक्षित पर्याय अन्य द्रव्य की विवक्षित पर्याय में बाह्य निमित्त है, यह कथन ही व्यवहारनय का विषय है।[१] तब भिन्न कर्तृ-कर्म आदिरूप व्यवहार को वास्तविक कैसे माना जा सकता है ? तात्पर्य यह है कि जहाँ दो द्रव्यों की विवक्षित पर्यायों में कर्ता-कर्म आदिरूप व्यवहार करते हैं, वहाँ जिसमें अन्य द्रव्य के कर्तृत्व आदि धर्मों का उपचार किया गया है, वह स्वतन्त्र द्रव्य हैं और जिसमें अन्य द्रव्य के कर्मत्व आदि धर्मों का उपचार किया गया है, वह स्वतन्त्र द्रव्य है, उन दोनों द्रव्यों का परस्पर तादात्म्यसम्बन्ध न होने से व्याप्य-व्यापकभाव भी नहीं है तथा उनमें एक-दूसरे के कर्तृत्व और कर्मत्व आदिरूप धर्म भी नहीं उपलब्ध होते। फिर भी प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर लोकानुरोधवश उनमें यह इसका कर्ता है और यह इसका कर्म है इत्यादिरूप व्यवहार होता हुआ देखा जाता है। इससे विदित होता है कि शास्त्रों में ऐसे व्यवहार को जो असद्भूतव्यवहारनय का विषय कहा है, वह ठीक ही कहा है। स्पष्ट है कि यह व्यवहार उपचरित ही है, परमार्थभूत नहीं। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में स्पष्ट करते हुए श्री आचार्य देवसेन भी अपने श्रुत-भवनदीपक नयचक्र में 'वबहारोऽभूयत्थो' इत्यादि गाथाओं के व्याख्यान के प्रसंग से क्या कहते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िए—

१— व्यवहारनयस्थापितौ उदासीनौ। पञ्चास्तिकाय, गाथा ८९ टीका। व्यवहारेण गति-स्थित्यवगाहनरूपेण। पंचास्तिकाय, गाथा ९६ टीका।

उपनयोपजनितो व्यवहारः प्रमाण-नय-निक्षेपात्मा। भेदोपचाराभ्यां वस्तु व्यवहरतीति व्यवहारः। कथमुपनयस्तस्य जनक इति चेत्? सद्भूतो भेदोत्पादकत्वात् असद्भूतस्तु उपचारोत्पादकत्वात् उपचरितासद्भूतस्तु उपचारादपि उपचारोत्पादकत्वात्। योऽसौ भेदोपचारलक्षणोऽर्थः सोऽपरमार्थः। ...अतएव व्यवहारोऽपरमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थः।

प्रमाण, नय और निक्षेपात्मक जितना भी व्यवहार है, वह सब उपनय से उपजनित है। भेद द्वारा और उपचार द्वारा वस्तु व्यवहृत की जाती है, इसलिए इसकी व्यवहार संज्ञा है।

शङ्का—इस व्यवहार का उपनय जनक है यह कैसे?

समाधान—भेद का उत्पादक सद्भूतव्यवहार है, उपचार का उत्पादक असद्भूतव्यवहार है और उपचार से भी उपचार का उत्पादक उपचरित असद्भूतव्यवहार है। और जो यह भेद लक्षणवाला तथा उपचार लक्षणवाला अर्थ है, वह अपरमार्थ है। ....अतः व्यवहार अपरमार्थ का प्रतिपादक होने से अपरमार्थरूप है। तात्पर्य यह है कि यावन्मात्र व्यवहार विकल्प का विषय है, परमार्थस्वरूप नहीं।

यह आचार्य देवसेन का कथन है। इस द्वारा इन्होंने जबकि एक अखण्ड द्रव्य में गुण-गुणी आदि के आश्रय से होनेवाले सद्भूतव्यवहार को ही अपरमार्थभूत बतलाया है—ऐसी अवस्था में दो द्रव्यों के आश्रय से कर्ता-कर्म आदिरूप जो उपचरित और अनुपचरित असद्भूतव्यवहार होता है, उसे परमार्थभूत कैसे माना जा सकता है? अर्थात् नहीं माना जा सकता है, यह स्पष्ट ही है।

यहाँ पर कोई शंका करता है कि यदि भिन्न कर्तृ-कर्म आदिरूप व्यवहार उपचरित ही है, तो शास्त्रों में उसका निर्देश क्यों किया गया है? समाधान यह है कि उपचरित कथन द्वारा अनुपचरित अर्थ की प्रसिद्धि होती है, इस प्रयोजन को ध्यान में रखकर शास्त्रों में इसका

कथन किया गया है। नयचक्र में कहा भी है—

तह उपयारो जाणह साहणहेऊ अणुवयारे ॥२८८॥

उसी प्रकार अनुपचार की सिद्धि का हेतु उपचार को जानो ॥२८८॥

इसी तथ्य की पुष्टि अनगारधर्मामृत के इस वचन से भी होती है—

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक ॥१-१०२॥

जिस द्वारा निश्चय की सिद्धि के लिए वस्तु कर्ता आदि साधे जाते हैं, वह व्यवहार कहलाता है तथा जिस द्वारा वस्तु से अभिन्न कर्ता आदि की प्रतिपत्ति होती है, वह निश्चय है ॥१-१०२॥

यहाँ पर ऐसा समझना चाहिए कि जो वचन स्वयं असत्यार्थ होकर भी इष्टार्थ की सिद्धि करता है, वह आगम में और लोकव्यवहार में असत्य नहीं माना जाता। उदाहरणस्वरूप 'चन्द्रमुखी' शब्द को लीजिए। यह शब्द ऐसी नारी के लिए प्रयुक्त होता है, जिसका मुख मनोज्ञ और आभायुक्त होता है। यह इष्टार्थ है। 'चन्द्रमुखी' शब्द से इस अर्थ का ज्ञान हो जाता है, इसलिए लोक-व्यवहार में ऐसा वचन प्रयोग होता है तथा इसी अभिप्राय से साहित्य में भी इसे स्थान दिया गया है। परन्तु इसके स्थान में यदि कोई इस शब्द के अभिधेयार्थ को ग्रहण कर यह मानने लगे कि अमुक स्त्री का मुख चन्द्रमा ही है तो वह असत्य ही माना जाएगा, क्योंकि किसी भी स्त्री का मुख न तो कभी चन्द्रमा हुआ है और न हो सकता है।

यह एक उदाहरण है। प्रकृत में इस विषय को और भी स्पष्टरूप से समझने के लिए हम भारतीय साहित्य में विशेषत: अलंकार शास्त्र में लोकनुरोधवश विविध वचनप्रयोगों को ध्यान में रखकर निर्दिष्ट की गई तीन वृत्तियों की ओर विचारकों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे। वे तीन वृत्तियाँ हैं—अमिधा, लक्षणा और व्यञ्जना।

माना कि शास्त्रों में ऐसे वचनप्रयोग उपलब्ध होते हैं, जहाँ मात्र अभिधेयार्थ की मुख्यता होती है। जैसे 'जो चेतनालक्षण भावप्राण से जीता है, वह जीव' इस वचन द्वारा जो कहा गया, जीव नामक पदार्थ ठीक वैसा ही है, अन्यथा नहीं है, इसलिए यह वचन मात्र अभिधेयार्थ का कथन करनेवाला होने से यथार्थ है। परन्तु इसके साथ शास्त्रों में ऐसे वचन भी बहुलता से उपलब्ध होते हैं, जिनमें अभिधेयार्थ की मुख्यता न होकर लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की ही मुख्यता रहती है। इसे ठीक तरह से समझने के लिए उदाहरणस्वरूप 'गङ्गायां घोषः, मञ्चाः क्रोशन्ति, धनुर्धावति' ये वचन प्रयोग लिए जा सकते हैं। 'गङ्गायां घोषः' इसका अभिधेयार्थ है—गंगा की धार में घोष, लक्ष्यार्थ है—गंगा के निकटवर्ती प्रदेश में घोष और व्यंग्यार्थ है—गंगा के निकट शीतल वावरण में घोष। 'मंचाः क्रोशन्ति' का अभिधेयार्थ है—मंच चिल्लाते हैं, लक्ष्यार्थ है—मंच पर बैठे हुए पुरुष चिल्लाते हैं। तथा 'धनुर्धावति' का अभिधेयार्थ है—धनुष दौड़ता है और लक्ष्यार्थ है—धनुष युक्त पुरुष दौड़ता है।[१] इस प्रकार एक-एक शब्द प्रयोग के ये क्रमशः तीन और दो-दो अर्थ हैं। परन्तु उनमें से प्रकृत में इन शब्द प्रयोगों का अभिधेयार्थ ग्राह्य नहीं है, क्योंकि न तो गंगा की धार में घोष का होना ही सम्भव है और न ही मञ्च का चिल्लाना या धनुष का दौड़ना ही सम्भव है। फिर भी व्यवहार में ऐसे वचन प्रयोग होते हुए देखे जाते हैं, अतएव साहित्य में भी इन्हें स्थान दिया गया है। फलस्वरूप जहाँ भी ऐसे वचन-प्रयोग उपलब्ध हों, वहाँ उनका अभिधेयार्थ न लेकर लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ ही लेना चाहिए। यही बात प्रकृत में भी जाननी चाहिए।

१— लक्षणा दो प्रकार की होती है—रूढ़िमूला और प्रयोजनवती। रूढ़िमूला लक्षणा में कोई प्रयोजन व्यंग्य नहीं होता। किन्तु प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन व्यंग्य अवश्य रहता है। यहाँ जो तीन उदाहरण दिए हैं, उनमें से गङ्गायां घोषः, यह प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण है तथा शेष दो उदाहरण रूढ़िमूला लक्षणा के हैं। यहाँ पर अन्तिम दो उदाहरणों का व्यंग्यार्थ नहीं दिया, उसका यही कारण है।

इसमें सन्देह नहीं कि आगम में व्यवहारनय की अपेक्षा एक द्रव्य को विवक्षित पर्याय की अपेक्षा दूसरे द्रव्य के परिणामस्वरूप कार्य का कर्ता आदि कहा गया है। परन्तु वहाँ पर वह कथन अभिधेयार्थ को ध्यान में रखकर किया गया है या लक्ष्यार्थ को ध्यान में रखकर किया गया है, इसे समझकर ही इष्टार्थ का निर्णय करना चाहिए।

प्रकृत में ऐसे कथन द्वारा निश्चयार्थ की सिद्धि की जाती है, क्योंकि वह वास्तविक है। यदि इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर उक्त प्रकार का वचन प्रयोग किया जाता है तो उसका अभिधेयार्थ असत्य होने पर भी लोक व्यवहार में लक्ष्यार्थ (इष्टार्थ) की दृष्टि से वह असत्य नहीं माना जाता। साथ ही आचार्य कुन्दकुन्द ने समयप्राभृत में जो '**जह ण वि सक्कमणज्जो**' इत्यादि सूत्रगाथा निबद्ध की है, वह भी इस गर्भित अर्थ को सूचित करने के लिए ही निबद्ध की है। उसमें कहा गया है कि जिस प्रकार अनार्य पुरुष को अनार्य भाषा के बिना किसी भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण करने के लिए कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है ॥८॥

इसके भावार्थ में पण्डितप्रवर जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं— लोक शुद्धनय को तो जानते ही नहीं हैं, क्योंकि शुद्धनय का विषय अभेद एकरूप वस्तु है तथा अशुद्धनय को ही जानते हैं, क्योंकि इसका विषय भेदरूप अनेक प्रकार है, इसलिए व्यवहार के द्वारा ही शुद्धनयरूप परमार्थ को समझ सकते हैं। इस कारण व्यवहारनय को परमार्थ का कहनेवाला जान उसका उपदेश किया जाता है। यहाँ पर ऐसा (प्रयोजन) न समझना कि व्यवहार का आलम्बन कराते हैं, बल्कि यहाँ तो व्यवहार का आलम्बन छुड़ाके परमार्थ को पहुँचाते हैं, ऐसा (प्रयोजन) जानना ॥८॥

आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने यह सूत्रवचन मुख्यतया भेदव्यवहार को लक्ष्य में रखकर निबद्ध किया है। उपचार व्यवहार के विषय में

भी इसी प्रकार समझना चाहिए। आशय यह है कि परमागम में जितना भी भेद व्यवहार और उपचार व्यवहार का निरूपण हुआ है, वह सब परमार्थ की सिद्धिरूप प्रयोजन को ध्यान में रखकर ही किया गया है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

इस प्रकार एक द्रव्य की विवक्षित पर्याय दूसरे द्रव्य की विवक्षित पर्याय का कर्ता आदि है और वह पर्याय उसका कर्म आदि है, यह सब कथन परमार्थभूत अर्थ का प्रतिपादक न होकर उपचरित क्यों है, इसकी संक्षेप में मीमांसा की। इसी न्याय से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को परिणमाता है, या अतिशय उत्पन्न करता है, आदि इस प्रकार का जितना भी कथन शास्त्रों में उपलब्ध होता है,[१] उसे भी उपचरित ही जानना चाहिए, क्योंकि कोई भी वस्तु जब द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमित नहीं हो सकती, तब वह अन्य वस्तु को कैसे परिणमा सकती है[१] आदि, कभी नहीं परिणमा सकती है, इसलिए सिद्ध हुआ कि जब परभाव किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता, ऐसी अवस्था में उक्त प्रकार का जितना भी वचन बोला जाता है, उसे उपचरित ही जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि परमागम में यह कथन, अपने क्रिया परिणाम द्वारा ही प्रत्येक द्रव्य अपने कार्य को उत्पन्न करता है, इसकी सिद्धि करने के लिए ही किया गया है, इसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। विशेष खुलासा हम आगे के प्रकरणों में करनेवाले हैं ही।

इस प्रकार एक द्रव्य की विवक्षित पर्याय दूसरे द्रव्य की विवक्षित पर्याय का कर्ता आदि है या उसे परिणमाता है या उसमें अतिशय उत्पन्न करता है, यह कथन परमार्थभूत न होकर उपचरित कैसे है, इसकी संक्षेप में मीमांसा की। साथ ही परमागम में जो इस प्रकार का कथन उपलब्ध होता है, वह भी परमार्थभूत अर्थ की प्रसिद्धि करनेरूप प्रयोजन को ध्यान में रखकर ही किया गया है, इसका भी प्रसंग से विचार किया।

१— समयसार, गाथा १०३, आत्मख्याति टीका।

'व्यवहारधर्म साधन और निश्चयधर्म साध्य' इसको भी उक्त प्रकार से व्यवहार कथन जानना चाहिए, क्योंकि परमागम में जहाँ भी इसे साधनरूप से स्वीकार किया गया है, वहाँ बाह्य व्याप्तिवश व्यवहारधर्म को साधन कहा गया है, क्योंकि अहिंसा, सत्य आदि व्यवहाररूप प्रवृत्ति करने मात्र से यदि परमार्थ धर्म की उत्पत्ति होना मान लिया जाए तो आगम में जो द्रव्यलिंग का कथन दृष्टिगोचर होता है, वह नहीं बन सकता। यत: आगम में द्रव्यलिंग और भावलिंग के भेद से जो दो प्रकार के लिंग बतलाये हैं, वे तभी बन सकते हैं, जब अहिंसा, सत्य आदि व्यवहाररूप मन, वचन और काय की प्रवृत्ति करते-करते निश्चयधर्म की प्राप्ति हो जाती है, अपनी इस अज्ञानमूलक मान्यता का परित्याग कर दिया जाए।[१] इससे सिद्ध है कि आगम में जहाँ भी परमार्थ धर्म की प्रसिद्धि का व्यवहार हेतु जानकर व्यवहारधर्म में साधनपने का व्यवहार किया गया है, इसके लिए १५२ से १५६ तक की गाथाओं पर तथा समयसार कलश १०५ से लेकर ११० तक के कलशों पर दृष्टिपात्र कीजिये।

अब 'शरीर मेरा, धन-स्त्री-पुत्रादि मेरे, देश मेरा इत्यादिरूप से जितना भी व्यवहार होता है, वह उपचरित कैसे है, इसका विचार करते हैं। यह तो आगम, गुरु उपदेश, युक्ति और स्वानुभवप्रत्यक्ष से ही सिद्ध है कि स्वत:सिद्ध, अनादि-अनन्त, विशदज्योति, सदा प्रकाशमान 'अहम् पद वाच्य' ज्ञायकस्वरूप यह आत्मा नामक पदार्थ स्वतन्त्र द्रव्य है और धन, शरीर, स्त्री-पुत्रादि पदार्थ स्वतन्त्र द्रव्य हैं, फिर भी इन धन आदि पदार्थों को विशेषण बनाकर किसी को धनवाला आदि कहना, उसे भी पूर्वोक्त उपचरित कथन के समान उपचरित ही जानना चाहिए। इस प्रकार शरीर मेरा, धन मेरा, स्त्री-पुत्रादि मेरे, देश मेरा इत्यादि रूप से जितना भी कथन उपलब्ध होता है, वह भी उपचरित क्यों है, इसकी संक्षेप में मीमांसा की।

१— समयसार कलश २४३।

६. नयप्ररूपणा

अब प्रसंग से उपचरित कथन पर विस्तृत प्रकाश डालने के लिए नैगमादि कतिपय नयों का विषय किस प्रकार उपचरित है, इसकी संक्षेप में मीमांसा करते हैं—यह तो सुविदित सत्य है कि आगम में नैगमादिनयों की परिगणना सम्यक्नयों में की गयी है, इसलिए शंका होती है कि जो इनका विषय है, वह परमार्थभूत है, इसलिए इनकी परिगणना सम्यक्नयों में की गयी है या इसका कोई अन्य कारण है। समाधान यह है कि जो इनका विषय है, उसे दृष्टि में रखकर ये सम्यक्नय नहीं कहे गए हैं, किन्तु इन द्वारा भूतार्थ की प्रसिद्धि होती है, इसलिए ये सम्यक्नय कहे गए हैं।

इन नयों में प्रथम नैगमनय है। यह संकल्पप्रधान नय है। इसके भावी, वर्तमान और अतीत नैगम ऐसे तीन भेद हैं[१]। जो अनिष्पन्न अर्थ को निष्पन्न के समान कहता है, वह भावी नैगम है। जैसे प्रस्थ बनाने के लिए लायी गयी लकड़ी को प्रस्थ कहना। यहाँ संकल्प द्वारा लकड़ी में प्रस्थ का उपचार किया गया है। वर्तमान में प्रारम्भ की गयी क्रिया को देखकर उसे निष्पन्न कहना, यह वर्तमान नैगम है। जैसे पकते हुए चावल को देखकर चावल पक गया कहना। यहाँ संकल्प द्वारा पकते हुए चावल में 'चावल पक गया' ऐसा उपचार किया गया है। जो कार्य हो चुका, उसका वर्तमान में आरोप कर कथन करना, यह भूत नैगमनय है। जैसे आज भगवान महावीर का निर्वाण दिन है, यह कहना। यहाँ अतीत काल का वर्तमान काल में संकल्प द्वारा उपचार किया गया है। इसी प्रकार नैगमनय के अन्य जितने भी भेद किए जाते हैं, वे सब उपचार द्वारा ही अर्थ को विषय करते हैं। इसलिए नैगमनय का विषय उपचरित होने से इसकी परिगणना उपचरित नयों में ही होती है।[१]

१— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय १, सूत्र ३३ टीका।

संग्रहनय के दो भेद हैं—पर संग्रह और अपर संग्रह। उनमें से सर्व प्रथम पर संग्रह के विषय महासत्ता की दृष्टि से विचार कीजिए। यह तो प्रत्येक आगमाभ्यासी जानता है कि जैनदर्शन में स्वचतुष्टयरूप स्वरूपसत्ता के सिवाय ऐसी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, जो सब द्रव्यों और उनके गुण-पर्यायों में व्याप्त होकर तात्त्विकी एकता स्थापित करती हो। फिर भी अभिप्राय विशेषवश अर्थात् लोक में जितने भी द्रव्य, गुण और पर्याय हैं, वे सब पृथक्-पृथक् होकर भी स्वरूप से सत् है, इस लक्ष्य को स्पष्ट करने के लिए जैनदर्शन में सादृश्य सामान्यरूप महासत्ता को कल्पित किया गया है। इस द्वारा यह बतलाया गया है कि यदि कोई अद्वैतवादी कल्पित युक्तियों द्वारा जड़-चेतन सब पदार्थों में एकता स्थापित करना चाहता है तो वह उपचरित महासत्ता को स्वीकार करके उसके द्वारा ही ऐसा कर सकता है। परमार्थभूत स्वरूपास्तित्व के द्वारा नहीं। इस प्रकार इस नय के विषय पर विचार करने से विदित होता है कि जो इस नय का कथन है, वह है तो उपचरित है ही, पर उससे फलितार्थरूप में सबके स्वरूपास्तित्व की ही प्रसिद्धि होती है, इसलिए इसे आगम में स्थान मिला हुआ है। अपर संग्रह और स्थूल ऋजुसूत्रनय का विषय क्यों उपचरित है, इसका भी इसी दृष्टि से ऊहापोह कर लेना चाहिए, क्योंकि ये नय भी विवक्षावश अनेक में एकत्व की स्थापना कर अपने विषय को स्वीकार करते हैं।

व्यवहारनय विवक्षित धर्मों द्वारा भेद करके ही जीवादि द्रव्यों को स्वीकार करता है, इसलिए अध्यात्म में इसकी भी उपचरित नयों में परिगणना होती है।

अब शेष रहे ऋजुसूत्र आदि चार पर्यायार्थिकनय; सो इनका अन्तर्भाव सद्भूतव्यवहारनय में होता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में स्वभाव से अभेद होने पर भी इनमें पर्यायाश्रित और शब्दाश्रित भेद

कल्पना मुख्य है। पण्डितप्रवर आशाधरजी सद्भूतव्यवहारनय के लक्षण का निर्देश करते हुए अनगारधर्मामृत, अध्याय १, श्लोक १०४ की स्वरचित टीका में लिखते हैं—

तत्र सद्भूतः स्यात्। किंरूपः ? भिदुपचारो भेदकल्पना। कस्यां सत्याम् ? अभिधायामपि अभेदेऽपि।

इस प्रकार विचार करने पर विदित होता है कि परमागम में प्रतिपादित इन सातों नयों का अन्तर्भाव यथासम्भव सद्भूतव्यवहारनय में और असद्भूतव्यवहारनय में होने से ये उपचरित अर्थ को ही विषय करते हैं। फिर भी इन द्वारा अनुपचरित अर्थ की प्रसिद्धि होती है, इसलिए उन्हें परमागम में सम्यक्नयरूप से स्वीकार किया गया है। प्रकृत में 'भिदुपचारः' का अर्थ पण्डितप्रवर आशाधरजी ने 'भेदकल्पना' किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपचार और कल्पना इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए नयचक्र में यह गाथा आयी है—

णिच्छय-ववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वांण।
णिच्छयसाहणहेउं पज्जय-दव्वत्थियं मुणह ॥१८२॥

सब नयों के मूल भेद निश्चयनय और व्यवहारनय हैं। पर्यायार्थिकनय और द्रव्यार्थिकनय को निश्चय की सिद्धि का हेतु जानो ॥१८२॥

यहाँ पर्यायार्थिकनय से ऋजुसूत्र आदि और द्रव्यार्थिकनय से नैगमादिनय लिए गए हैं।

यह उपचरित कथन की सर्वांग मीमांसा है। अब इस दृष्टि से एकमात्र यह प्रश्न यहाँ विचार करने के लिए शेष रहता है कि शास्त्रों में अखण्डस्वरूप एक वस्तु में भेद करने को भी भेद उपचार कहा गया है।

इस तथ्य की पुष्टि हम अनगारधर्मामृत का एक प्रमाण उपस्थित कर ही आये हैं। नयचक्र के इस वचन से भी इसकी पुष्टि होती है। यथा—

जो चिय जीवसहावे णिच्छयदो होइ सव्ववत्थूणं।
सो चिय भेदुवयारा जाण फुडं होइ ववहारो ॥२३८॥

निश्चयनय से सब जीवों का जो जीव-स्वभाव है, भेदोपचार द्वारा वह भी व्यवहार है, ऐसा स्पष्ट मानो ॥२३८॥

सो ऐसा क्यों? समाधान यह है कि अनन्त धर्मस्वरूप अखण्ड एक वस्तु में विकल्प द्वारा भेद करने को भेद-उपचार कहा गया है।[१] इसलिए **प्रश्न** होता है कि प्रत्येक द्रव्य में 'यह ज्ञान है, दर्शन है, सुख है अथवा रूप है, रस है, गन्ध है, स्पर्श है इत्यादिरूप से जो गुण-पर्यायभेद परिलक्षित होता है, वह क्या वास्तविक नहीं है और यदि वास्तविक नहीं है तो प्रत्येक द्रव्य को भेदाभेदस्वभाव क्यों माना गया है? और यदि वास्तविक है तो भेदकथन को उपचरित नहीं मानना चाहिए। एक ओर तो गुण-पर्याय भेद को वास्तविक कहो और दूसरी ओर उसे उपचरित भी मानो, ये दोनों बातें एक साथ नहीं बन सकती?

समाधान यह है कि प्रत्येक द्रव्य वास्तव में अनन्त धर्मात्मक एक अखण्ड वस्तु है, परन्तु जिन्हें इसकी खबर नहीं, ऐसे जीवों को उसके वास्तविक स्वरूप को समझाने के लिए अभेद स्वरूप उस वस्तु में बुद्धि द्वारा धर्मों की अपेक्षा भेद उपजाकर ऐसा कथन किया जाता है कि जिसमें ज्ञान है, दर्शन है और चारित्र है, वह आत्मा है या जिसमें रूप है, रस है, गन्ध है और स्पर्श है, वह पुद्गल है आदि[२]। इससे विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्य वास्तव में अभेदस्वरूप होते हुए भी प्रयोजनविशेष आदि को लक्ष्य में रखकर ही उसमें भेद

१— समयसार, गाथा ७।

२— समयसार, गाथा ७, आत्मख्याति टीका।

कल्पना की जाती है और इसीलिए व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को ध्यान में रखकर उसे परमागम में भेदाभेदस्वभाव कहा गया है, केवल परमार्थ को लक्ष्य में रखकर नहीं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्त्री में ये कारिकाऐं आयी हैं—

द्रव्य-पर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभेदतः॥७१॥

संज्ञा-संख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा॥७२॥

द्रव्य और पर्यायों में अव्यतिरेक होने से उनमें ऐक्य अर्थात् अभेद है, उनमें जो भेद लक्षित होता है, वह परिणामविशेष, शक्ति-मान-शक्तिभेद, संज्ञाविशेष, संख्याविशेष, स्वलक्षणविशेष और प्रयोजनविशेष आदि की अपेक्षा ही लक्षित होता है। द्रव्य और पर्याय में यह नानात्व सर्वथा नहीं है।

यह भेदरूप उपचार की संक्षेप में मीमांसा है। यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि जितने भी अध्यवसानभाव हैं, वे सब छोड़नेयोग्य हैं, इस कथन का आशय यह है कि सद्भूत और असद्भूत जितना भी व्यवहार है, वह सब छोड़नेयोग्य है, अर्थात् मोक्षमार्ग में आरूढ़ होने के लिए उनके आश्रय से प्रवृत्ति करना उचित नहीं है।[१] आशय यह है कि यह जीव अनादि काल से असद्भूतव्यवहार और सद्भूतव्यवहार (भेद-उपचार) को मुख्य मानकर पराश्रित होने के साथ पर्यायमूढ़ बना चला आ रहा है, जिससे वह संसार का पात्र बना हुआ है। किन्तु यह संसार दुःखमयी और राग, द्वेष, मोह से व्याप्त है—ऐसा समझकर उससे निवृत्त होने के लिए सद्भूत और असद्भूत दोनों प्रकार के उपचार को गौण करने के साथ अभेदस्वरूप अखण्ड अपने आत्मा पर दृष्टि स्थिर कर तन्मय हो स्वसमयरूप से प्रवृत्त होना आवश्यक है, क्योंकि वह वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है। शुद्ध चैतन्य का

१— समयसार, गाथा १५०, कलश १०९, ११०।

प्रकाश इसी का दूसरा नाम है।[१] तभी वह राग-द्वेष-अज्ञानमय संसार परिपाटी से मुक्त हो परमानन्द स्वरूप अपने आत्मा का भोक्ता हो सकेगा। मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होने के लिए वर्तमान में इस जीव का यह मुख्य प्रयोजन है। यही कारण कि इस प्रयोजन को ध्यान में रखकर परमागम में मोक्षेच्छुक जीव को सभी प्रकार के व्यवहार से परावृत्त कराने का उपदेश दिया जाता है।[२]

यद्यपि सद्भूतव्यवहार से असद्भूतव्यवहार में मौलिक अन्तर है। सद्भूतव्यवहार जहाँ धर्मी से धर्मों का प्रयोजनादिवश भेद स्वीकार करके प्रवृत्त होता है, वहाँ असद्भूतव्यवहार विवक्षित वस्तु से भिन्न वस्तु में कर्ता कारक आदि का आरोप करने से स्वीकार किया जाता है। इसलिए इन दोनों की एक कोटि में परिगणना नहीं की जा सकती। प्रकृत में एक को सद्भूतव्यवहार और दूसरे को असद्भूतव्यवहार कहने का कारण भी यही है। इतना अवश्य है कि मोक्षमार्ग में ये दोनों प्रकार के व्यवहार आश्रय करने योग्य नहीं है। चिन्मूर्ति एक अखण्ड ज्ञायकस्वरूप आत्मा पर दृष्टि स्थापित करने के लिए जहाँ सद्भूतव्यवहार आश्रय करने योग्य नहीं है, वहाँ पराश्रित बुद्धि से परावृत होकर जीवन में स्वाश्रितपने की प्रसिद्धि करने के लिए असद्भूतव्यवहार आश्रय करने योग्य नहीं है।

इस प्रकार आगम में उपचरित कथन कितने प्रकार से किया गया है और वह कहाँ किस आशय से किया गया है, इसका सम्यक् विचार कर अब अनुपचरित कथन की संक्षेप में मीमांसा करते हैं—

७. अनुपचरित कथन का विस्तृत विचार

(१) यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणामी-नित्य है। इसलिए वह अपने नित्य स्वभाव को न छोड़ते हुए अपने इस परिणमनस्वभाव के कारण ही परिणमनकर पूर्व-पूर्व पर्याय के

१— प्रवचनसार, गाथा ८, ज्ञा०त०प्र० टी०।

२— समयसार कलश १७३।

व्ययपूर्वक उत्तर-उत्तर पर्याय को प्राप्त करता है। अन्य कोई परिणमन करावे, तब वह परिणमन करे, अन्यथा न करे - ऐसी वस्तु व्यवस्था नहीं है।[१] कार्य-कारणपरम्परा में यह सिद्धान्त परमार्थभूत अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला है। इससे परमार्थ को लक्ष्य में रखकर ये तथ्य फलित होते हैं —

१. यह जीव अपने ही कारण से स्वयं संसारी बना हुआ है और अपने ही कारण से मुक्त होता है, इसलिए यथार्थरूप से कार्य-कारणभाव एक ही द्रव्य में घटित होता है। नयचक्र में कहा भी है—

बंधे-च[२] मोक्खहेउ अण्णो ववहारदो य णायण्णो।
णिच्छयदो पुण जीवो भणियो खलु सवदरसीहिं ॥२३७॥

व्यवहार से (असद्भूतव्यवहार से) बन्ध और मोक्ष का हेतु अन्य पदार्थ को जानना चाहिए। किन्तु निश्चय से (परमार्थ से) यह जीव स्वयं ही बन्ध का हेतु है और यही जीव स्वयं ही मोक्ष का हेतु है, ऐसा सर्वदर्शी 'जिन' ने कहा है।

हरिवंशपुराण में इसी अर्थ को इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमष्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥५२-५८॥

यह जीव स्वयं ही कर्म को करता है, स्वयं ही उसके फल को भोगता है, स्वयं ही संसार में भ्रमण करता है और स्वयं ही उससे मुक्त होता है।

आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु का परिणाम परनिरपेक्ष ही होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए जयधवला, पुस्तक ७, पृष्ठ ११७ में यह वचन उपलब्ध होता है —

१— समयसार गाथा ११६ से १२५, आत्मख्याति टीका।

२— 'बंधेय इति पाठ:' भा० ज्ञा०। इस पाठ के अनुसार 'व्यवहार से बन्ध के समान मोक्ष का हेतु अन्य को जानना चाहिए' ऐसा होता है। आशय दोनों का एक ही है।

बज्झकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो।

प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद-व्ययरूप जितने भी कार्य होते हैं, वे सब बाह्य कारण निरपेक्ष ही होते हैं।

२- जो स्वयं कार्यरूप परिणमता है, वह कर्ता है, उसका जो परिणाम होता है, वह कर्म है। करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण भी वही स्वयं है।[1] इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में स्वयं षट्कारकरूप से अवस्थित है।

३- प्रत्येक द्रव्य की अपनी प्रत्येक समय की पर्याय अपने उपादान के अनुसार स्वयं (पर की अपेक्षा किए बिना) अपने परिणमन स्वभाव के होने से क्रमनियमित ही होती है।[2] बाह्य उपाधि स्वयं (पर की अपेक्षा किए बिना) व्यवहार हेतु है, इसलिए वह स्वयं या अन्य किसी के द्वारा आगे-पीछे की जा सके, ऐसा नहीं है। वह बाह्य हेतुवश आगे-पीछे की जा सकती है, ऐसा जो कहते हैं, वह उनका विकल्पमात्र है।

४. प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। इसमें उसके गुण और पर्याय भी उसी प्रकार स्वतन्त्र हैं, यह कथन आ ही जाता है। इसलिए विवक्षित किसी एक द्रव्य का या उसके गुणों और पर्यायों का अन्य द्रव्य या उसके गुणों और पर्यायों के साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। समयसार कलश में कहा भी है—

नास्ति सर्वोऽपि परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृ-कर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥२००॥

यह परमार्थ सत्य है। इसलिए एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ जो संयोगसम्बन्ध, संश्लेशसम्बन्ध या आधार-आधेयभाव आदि कल्पित किया जाता है, उसे अपरमार्थभूत ही जानना चाहिए। इस

१— प्रवचनसार, ज्ञा०न०प्र० टी०।
२— समयसार कलश १६८।

विषय को स्पष्ट करने के लिए कटोरी में रखा हुआ घी लीजिए। हम पूछते हैं कि उस घी का परमार्थभूत आधार क्या है—कटोरी है या घी? आप कहोगे कि घी के समान कटोरी भी है, तो हम पूछते हैं कि कटोरी को ओंधा करने पर वह गिर क्यों जाता है? 'जो जिसका वास्तविक आधार होता है, उसका वह कभी भी त्याग नहीं करता।' इस सिद्धान्त के अनुसार यदि कटोरी भी घी का वास्तविक आधार है, तो उसे कटोरी को कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए। परन्तु कटोरी के ओंधा करने पर वह कटोरी को छोड़ ही देता है। इससे मालूम पड़ता है कि कटोरी घी का वास्तविक आधार नहीं है। उसका वास्तविक आधार तो घी ही है, क्योंकि वह उसे कभी भी नहीं छोड़ता। व्यवहार से वह चाहे कटोरी में रहे, चाहे भूमि पर रहे या चाहे उड़कर हवा में कण-कण होकर बिखर जाए, वह रहेगा घी ही।[१] (यहाँ पर यह दृष्टान्त घी रूप पर्याय को द्रव्य मानकर दिया है, इसलिए घी रूप पर्याय के बदलने पर वह बदल जाता है, यह कथन प्रकृत में लागू नहीं होता।) यह एक उदाहरण है। इसी प्रकार प्रयोजनवश कल्पित किये गए जितने भी सम्बन्ध हैं, उन सबके विषय में इसी दृष्टिकोण से विचार कर लेना चाहिए। स्पष्ट है कि माने गये सम्बन्धों में एकमात्र तादात्म्यसम्बन्ध ही परमार्थभूत है। इसके सिवा बाह्य संयोग आदि की दृष्टि से अन्य जितने भी सम्बन्ध कल्पित किये जाते हैं, उन्हें उपचरित अतएव अपरमार्थभूत ही जानना चाहिए। बहुत से मनीषी यह मानकर कि इससे व्यवहार का लोप हो जाएगा, ऐसे कल्पित सम्बन्धों को परमार्थभूत मानने की चेष्टा करते हैं। परन्तु यह उनकी सबसे बड़ी भूल है, क्योंकि इस भूल के सुधरने से यदि उनके व्यवहार का लोप होकर परमार्थ की प्राप्ति होती है तो अच्छा ही है। ऐसे व्यवहार का लोप भला किसे इष्ट नहीं होगा। इस संसारी जीव को स्वयं निश्चयस्वरूप बनने के लिए अपने में अनादि काल

१— सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५, सूत्र १२।

से चले आ रहे इस अज्ञानमूलक व्यवहार का ही तो लोप करना है। उसे और करना ही क्या है। वास्तव में देखा जाए तो यह उसका परम (सम्यक्) पुरुषार्थ है, इसलिए व्यवहार का लोप हो जाएगा, इस भ्रान्तिवश परमार्थ को भूलकर व्यवहार को ही परमार्थरूप समझने की चेष्टा करना उचित नहीं है।

५. जीव की संसार और मुक्त अवस्था है और वह वास्तविक है, इसमें सन्देह नहीं।[१] पर इस आधार से कर्म और आत्मा के अन्योन्यावगाहरूप सम्बन्ध को परमार्थभूत मानना उचित नहीं है। जीव का संसार उसी की पर्याय में है और मुक्ति भी उसी की पर्याय में है। ये वास्तविक हैं और कर्म तथा आत्मा का अन्योन्यावगाहरूप सम्बन्ध[२] उपचरित है। स्वयं अन्योन्यावगाहरूप सम्बन्ध यह शब्द ही जीव और कर्म के पृथक्-पृथक् होने का ख्यापन करता है। इसीलिए यथार्थ अर्थ का ख्यापन करते हुए शास्त्रकारों ने यह वचन कहा है कि जिस समय आत्मा रागादिवश शुभभावरूप से परिणत होता है, उस समय वह स्वयं शुभ है, जिस समय अशुभभावरूप से परिणत होता है, उस समय वह स्वयं अशुभ है और जिस समय स्वाश्रित शुद्धभावरूप से परिणत होता है, उस समय वह स्वयं शुद्ध है।[३] यह कथन एक ही द्रव्य के आश्रय से किया गया है, अपने से सर्वथा भिन्न द्रव्य के आश्रय से नहीं, इसलिए परमार्थभूत है और कर्मों के कारण जीव शुभ या अशुभ होता है और कर्मों का अभाव होने पर शुद्ध होता है, यह कथन पर के आश्रय से किया गया होने से अपरमार्थभूत पराश्रित व्यवहारनय का विषय है।[४] क्योंकि जब ये दोनों द्रव्य स्वतन्त्र हैं और एक द्रव्य के गुण धर्म का दूसरे द्रव्य में

१— हरिवंश, अध्याय ५२, श्लोक ५८।

२— समयसार, गाथा ७३, आत्मख्याति टीका।

३— प्रवचनसार, गाथा ९, ज्ञा०त०प्र०टी०।

४— पराश्रितो व्यवहारनयः समयसार गाथा २७२, आत्मख्याति टीका।

संक्रमण होता नहीं, तब एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का कारणरूप धर्म और दूसरे द्रव्य में उसका कर्मरूप धर्म कैसे रह सकता है, अर्थात् नहीं रह सकता।[१] यह कथन थोड़ा सूक्ष्म तो है, परन्तु वस्तुस्थिति यही है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए हम तत्त्वार्थसूत्र का एक वचन उद्धृत करना चाहेंगे। तत्त्वार्थसूत्र के १०वें अध्याय के प्रारम्भ में केवलज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है, इसका निर्देश करते हुए कहा है—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्॥१०-१॥

मोहनीय कर्म के क्षय से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षय से केवलज्ञान होता है॥१०-१॥

यहाँ पर केवलज्ञान की उत्पत्ति का बाह्य हेतु क्या है, इनका निर्देश करते हुए बतलाया है कि वह मोहनीय कर्म के क्षय के बाद ज्ञानावरणादि तीन कर्मों के क्षय से होता है। यहाँ पर क्षय का अर्थ प्रध्वंसाभाव है, अत्यन्ताभाव नहीं, क्योंकि किसी भी द्रव्य का पर्यायरूप से ही व्यय होता है, द्रव्यरूप से नहीं। अब विचार कीजिए कि ज्ञानावरणादिरूप जो कर्मपर्याय है, उसके नाश से उसकी अकर्मरूप उत्तर पर्याय प्रकट होगी कि जीव की केवलज्ञान पर्याय प्रगट होगी। एक बात और है, वह यह कि जिस समय स्वाश्रित केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है, उस समय तो ज्ञानावरणादि कर्मों का अभाव ही है, इसलिए यह प्रश्न होता है कि यहाँ ज्ञानावरणादि कर्मों के अभावरूप क्षय से कौनसा अभाव लिया गया है—भावान्तर स्वभाव अभाव लिया गया है या सर्वथा अभाव लिया गया हैं?

यदि कहो कि यहाँ पर अभाव से सर्वथा अभाव नहीं लिया गया है, किन्तु भावान्तर स्वभावरूप अभाव लिया गया है, तो हम पूछते हैं कि वह भावान्तर स्वभावरूप अभाव क्या वस्तु है? इसका नाम निर्देश करना चाहिए। यदि कहो कि यहाँ पर भावान्तर स्वभाव

१— प्रवचनसार, गाथा १६, ज्ञा०त०प्र०टी०।

अभाव से ज्ञानावरणादि कर्मों की अकर्मरूप उत्तर पर्याय ली गई है तो हम पूछते हैं कि यह आप किस आधार से कहते हैं ? उक्त सूत्र से तो यह अर्थ फलित होता नहीं। स्पष्ट है कि यहाँ पर जीव की केवलज्ञान पर्याय प्रगट होने का जो मूल हेतु उपादानकारणरूप से परिणत स्वयं आत्मा है, उसे तो गौण कर दिया गया है और जो ज्ञान की मतिज्ञान आदि पर्यायों का उपचरित हेतु था, उसके अभाव को हेतु बनाकर उसकी मुख्यता से यह कथन किया गया है। यहाँ दिखलाना तो यह है कि जब केवलज्ञान अपने स्वभाव के लक्ष्य से प्रगट होता है, तब ज्ञानावरणादि कर्मरूप उपचरित हेतु का सर्वथा अभाव रहता है। क्योंकि निमित्त का अभाव होने पर नैमित्तिक का अभाव होता ही है, परन्तु इसे (अभाव को) बाह्य हेतु बनाकर यों कहा गया है कि ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान प्रगट होता है। यह व्याख्यान की शैली है, जिसके शास्त्रों में पद-पद पर दर्शन होते हैं।[१] परन्तु यथार्थ बात को समझे बिना इसे ही कोई यथार्थ मानने लगे तो उसे क्या कहा जाए ? यह तो हम मानते हैं कि व्यवहार की मुख्यता से कथन करनेवाले जितने भी शास्त्र हैं, उनमें प्राय: उपादान को गौण करके कहीं बाह्य निमित्त की मुख्यता से कथन किया गया है, कहीं लौकिक व्यवहार की मुख्यता से कथन किया गया है, और कहीं अन्य प्रकार से कथन किया गया है। पर ऐसे कथन का प्रयोजन क्या है, इसे तो समझे नहीं और उसे ही यथार्थ कथन मानकर श्रद्धान करने लगे तो उसकी इस श्रद्धा को यथार्थ कहना कहाँ तक उचित होगा, इसका विचक्षण पुरुष स्वयं विचार करें। वास्तव में बाह्य वस्तु उपचरित हेतु होता है, मुख्य हेतु नहीं। मुख्य हेतु तो सर्वत्र अपना उपादान ही होता है, क्योंकि वास्तव में कार्य की उत्पत्ति उसी के अनुसार होती है। फिर भी वह बाह्य वस्तु

१— द्ध गतिमनन्तचतुष्टयं प्रयान्ति प्राप्नुवन्ति लोकाग्रमिति। मूला० समय० अधिकार, गाथा १०, टीका।

(उपचरित हेतु) होने से उस द्वारा सुगमता से इष्टार्थ का ज्ञान हो जाता है, इसलिए आगम में बहुलता से उसकी मुख्यता से कथन किया गया है। इसलिए जहाँ जिस दृष्टिकोण से कथन किया गया हो, उसे समझकर ही तत्त्व का निर्णय करना चाहिए।

ये उपचरित और अनुपचरित कथन के कुछ उदाहरण हैं, जो गौण-मुख्यभाव से यथा प्रयोजन शास्त्रों में स्वीकार किये गये हैं। उदाहरणार्थ जो दर्शनशास्त्र के ग्रन्थ हैं, उनकी रचना का प्रयोजन ही भिन्न है, इसलिए वहाँ पर मोक्षमार्ग की दृष्टि से स्वसमय के प्रतिपादन की मुख्यता न होकर परसमय के निरसनपूर्वक स्वसमय की स्थापना करना उनका मुख्य प्रयोजन है। फलस्वरूप उनमें कहीं तो उपचरित अर्थ की मुख्यता से कथन किया गया है, कहीं अनुपचरित अर्थ की मुख्यता से कथन किया गया है और कहीं उपचरित और अनुपचरित दोनों अर्थों की मुख्यता से कथन किया गया है। किन्तु साक्षात् मोक्षमार्ग की दृष्टि से स्वसमय का विवेचन करनेवाले जो अध्यात्मशास्त्र के ग्रन्थ हैं, उनकी स्थिति इनसे भिन्न है।[१] यदि विचार कर देखा जाए तो इनकी रचना का प्रयोजन ही जुदा है। इन द्वारा प्रत्येक जीव को अपनी उस शक्ति का ज्ञान कराया गया है, जो उसकी संसार और मुक्त अवस्था का मुख्य हेतु है, क्योंकि जब तक इस जीव को अपनी निज शक्ति का ठीक तरह से ज्ञान नहीं होता और विकल्पों तथा मन-वचन-काय की प्रवृत्ति द्वारा बाह्य द्रव्यादि के जोड़-तोड़ में लगा रहता है तो तब तब उसका संसार बन्धन से मुक्त होना तो दूर रहा, वह मोक्षमार्ग का पात्र भी नहीं बन सकता। अत: इन शास्त्रों में हेयोपादेय का ज्ञान कराने के लिए उपचरित कथन को और भेदरूप व्यवहार को गौण करके अनुपचरित और अभेदरूप (निश्चय) कथन को मुख्यता दी गयी है और उस द्वारा निश्चयस्वरूप आत्मा का ज्ञान कराते हुए

१— सर्वस्यागमस्य स्वसमय-परसमयानाञ्च सारभूतं समयसाराख्यमधिकारम्......। मूलाचार समयसार अधिकार की प्रारम्भ की उत्थानिका।

एकमात्र उसी का आश्रय लेने का उपदेश दिया गया है।

यह तो सुनिश्चित बात है कि जितना भी व्यवहार है, वह पराश्रित होने से हेय है, क्योंकि यह जीव अनादि काल से अपने स्वरूप की सम्हाल किये बिना राग, द्वेष, मोह द्वारा पर का आश्रय लिए हुए है, अतएव संसार का पात्र बना हुआ है। अब इसे जिसमें पराश्रयपने का लेश भी नहीं है, ऐसे अपने स्वाश्रयपने को अपनी श्रद्धा, ज्ञान और चर्या के द्वारा अपने में ही प्रगट करना है, तभी वह अध्यात्मवृत्त होकर मोक्ष का पात्र बन सकेगा। यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में ऐसे जीव का चारित्र की अपेक्षा से पराश्रयपना सर्वथा छूट जाता हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि उसमें से पराश्रयपने की अन्तिम परिसमाप्ति विकल्पज्ञान के निवृत्त होने पर ही होती है। फिर भी सर्व प्रथम यह जीव अपनी श्रद्धा द्वारा पराश्रयपने से मुक्त होता है। उसके बाद वह चर्या का रूप लेकर विकल्प ज्ञान से निवृत्त होता हुआ क्रमश: निर्विकल्प समाधिदशा में परिणत हो जाता है। जीव की यह स्वाश्रय वृत्ति अपनी श्रद्धा, ज्ञान और चर्या में किस प्रकार उदित होती है। इसका निर्देश करते हुए छहढ़ाला में कहा भी है —

जिन परम पैनी सुबधि छैनी डार अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तैं निज भाव को न्यारा किया॥
निजमांहि निज के हित निजकरि आपको आपे गह्यौ।
गुण-गुणी ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय मझार कछु भेद र रह्यौ॥

इस छन्द में सर्व प्रथम उत्तम बुद्धिरूपी पैनी छैनी के द्वारा अन्तर को भेदकर वर्णादिक और रागादिक से निज भाव (ज्ञायकस्वभाव आत्मा) को जुदा करने की प्रक्रियापूर्वक, निज भाव को अपने में ही अपने द्वारा अपने लिए ग्रहण कर 'यह गुण है, यह गुणी है, यह ज्ञाता है, यह ज्ञान है और यह ज्ञेय है' इत्यादि विकल्पों से निवृत्त होने का जो उपदेश दिया गया है, सो इस कथन द्वारा भी उसी स्वाश्रयपने का

निर्देश किया गया है, जिसका हम पूर्व में उल्लेख कर आये हैं। इस द्वारा बतलाया गया है कि सर्व प्रथम इस जीव को यह जान लेना आवश्यक है कि वर्णादिक का आश्रयभूत पुद्गलद्रव्य भिन्न है और ज्ञायकस्वभाव आत्मा भिन्न है। किन्तु उसका इतना जानना तभी परिपूर्ण समझा जाएगा, जब उसकी व्यवहार से पर को निमित्त कर होनेवाले रागादिभावों में भी परतत्त्व बुद्धि हो जाएगी, इसलिए इस जीव के ये रागादिक भाव ज्ञायकस्वभाव आत्मा से भिन्न हैं, यह जान लेना भी आवश्यक है। अब समझो कि किसी जीव ने यह जान भी लिया कि मेरा ज्ञायकस्वभाव आत्मा इन वर्णादिक से और रागादिक भावों से भिन्न है तो भी उसका इतना जानना पर्याप्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि जब तक इस जीव की बुद्धि बनी रहती है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति पर से होती है, तब तक उसके जीवन में पर के आश्रय का ही बल बना रहने से उसने पराश्रय वृत्तियों को त्याग दिया, यह नहीं कहा जा सकता। अतएव प्रकृत में यही समझना चाहिए कि जो वर्णादिक और रागदिक से अपने ज्ञायकस्वभाव आत्मा को भिन्न जानता है, वह यह भी जानता है कि प्रत्येक द्रव्य की प्रति समय की पर्याय पर से उत्पन्न न होकर अपने उपादान के अनुसार स्वयं ही उत्पन्न होती है। यद्यपि यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि जबकि प्रत्येक द्रव्य की प्रति समय की पर्याय पर से उत्पन्न न होकर अपने उपादान के अनुसार स्वयं ही उत्पन्न होती है, तब रागदिभाव पर के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, यह क्यों कहा जाता है? समाधान यह है कि रागादि भावों की उत्पत्ति होती तो अपने उपादान के अनुसार स्वयं ही, अन्य से त्रिकाल में उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि अन्य द्रव्य में तद्भिन्न अन्य द्रव्य के कार्य करने की शक्ति ही नहीं पायी जाती। फिर भी रागादिभाव पर के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, यह पर की ओर झुकावरूप दोष जताने के लिए ही कहा जाता है। वे पर से उत्पन्न होते हैं, इसलिए नहीं। स्व-पर की एकत्वबुद्धिरूप मिथ्या

मान्यता के कारण ही यह जीव संसारी हो रहा है। जीव और देह में एकत्वबुद्धि का मुख्य कारण भी यही है। इस जीव को सर्व प्रथम इस मिथ्या मान्यता का ही त्याग करना है। इसके त्याग होते ही वह जिनेश्वर का लघुनन्दन बन जाता है, जिसके फलस्वरूप उसकी आगे की स्वातन्त्र्य मार्ग की प्रक्रिया सुगम हो जाती है। अतएव व्यवहारनय की मुख्यता से कथन करनेवाले शास्त्रों की कथनशैली से अध्यात्मशास्त्रों की कथनशैली में जो दृष्टि भेद है, उसे समझकर ही प्रत्येक मुमुक्षु को उनका व्याख्यान करना चाहिए। लोक में जितने प्रकार के उपदेश पाये जाते हैं, उनकी स्वमत के अनुसार किस प्रकार संगति बिठलायी जा सकती है, यह दिखलाना जैनदर्शन का मुख्य प्रयोजन है, इसलिए इसमें कौन उपचरित कथन है और कौन अनुपचरित कथन है, ऐसा भेद किये बिना यथासम्भव दोनों को स्वीकार किया जाता है। किन्तु अध्यात्मशास्त्र के कथन का मुख्य प्रयोजन जीव को स्व-पर का विवेक कराते हुए संसार बन्धन से छुड़ाने का साक्षात् उपाय बतलाना है, इसलिए इसमें उपचरित कथन को गौण करके अनुपचरित कथन को ही मुख्यता दी गयी है। इस प्रकार तीर्थङ्करों का समग्र वाङ्मय उपचरित कथन और अनुपचरित कथन इन दो भागों में कैसे विभाजित है, इसकी विषय-प्रवेश की दृष्टि से संक्षेप में मीमांसा की।

●

वस्तुस्वभावमीमांसा

उपजे विनशे थिर रहे एक काल त्रयरूप।
विधि-निषेध वस्तु यों बरते सहज स्वरूप॥

जीवन संशोधन में तत्त्वनिष्ठा का जितना महत्त्व है, कर्ता-कर्म मीमांसा का उससे कम महत्त्व नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भूतार्थरूप से अवस्थित जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहकर जीवा-जीवाधिकार के बाद कर्तृकर्म-अधिकार लिखा है, इसका कारण यही है तथा आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में 'सदसतोः' इत्यादि सूत्र की व्याख्या करते हुए मिथ्यादृष्टि के स्वरूपविपर्यास और भेदाभेदविपर्यास के समान कारणविपर्यास होता है, यह उल्लेख इसी अभिप्राय से किया है।

यह तो मानी हुई बात है कि विश्व में जितने भी दर्शन प्रचलित हैं, उन सबने तत्त्वव्यवस्था के साथ कार्यकारण का जो क्रम स्वीकार किया है, उसमें पर्याप्त मतभेद है। प्रकृत में प्रत्येक दर्शन के आधार से उनकी मीमांसा नहीं करनी है। वह इस पुस्तक का विषय भी नहीं है। यहाँ तो मात्र जैनदर्शन के आधार से विचार करना है। तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य का लक्षण सत् करके उसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वभाव बतलाया गया है। गुण अन्वयस्वभाव होने से ध्रौव्य के अविनाभावी हैं और पर्याय व्यक्तिरेकस्वभाव होने से उत्पाद और व्यय के अविनाभावी हैं, इसलिए प्रकारान्तर से वहाँ पर द्रव्य को गुण-पर्यायवाला भी कहा गया है। चाहे द्रव्य को गुण-पर्यायवाला कहो और चाहे सत् अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव कहो, दोनों कथनों का अभिप्राय एक ही है।

यों तो अपने-अपने विशेष लक्षण के अनुसार जाति की अपेक्षा

सब द्रव्य छह हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। उसमें भी जीवद्रव्य अनन्तानन्त हैं, पुद्गलद्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं, धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य एक-एक हैं तथा कालद्रव्य असंख्यात हैं। फिर भी द्रव्य के इन सब भेद-प्रभेदों में द्रव्य का पूर्वोक्त एक लक्षण घटित हो जाने से वे सब एक द्रव्य शब्द द्वारा अभिहित किये जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि लोक में अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता को लिए हुए चेतन और जड़ जितने भी पदार्थ हैं, वे सब अन्वयरूप शक्ति की अपेक्षा ध्रौव्यस्वभाववाले होकर भी, पर्याय की अपेक्षा प्रति समय स्वयं उत्पन्न होते हैं और स्वयं विनाश को प्राप्त होते हैं। कर्म ने जीव को बाँधा है या जीव स्वयं कर्म से बन्ध को प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार कर्म जीव को क्रोधादिरूप से परिणमाता है या जीव स्वयं क्रोधादिरूप से परिणमन करता है। इन दोनों पक्षों में कौन-सा पक्ष जैनधर्म में तत्त्वरूप से ग्राह्य है, इस विषय की आचार्य कुन्दकुन्द ने समयप्राभृत में स्वयं मीमांसा की है। उनका कहना है कि जीवद्रव्य यदि स्वयं कर्म से नहीं बँधा है और स्वयं क्रोधादिरूप से परिणमन नहीं करता है तो वह अपरिणामी ठहरता है और इस प्रकार उसके अपरिणामी हो जाने पर एक तो संसार का अभाव प्राप्त होता है, दूसरे सांख्यमत का प्रसंग आता है। यह कहना कि जीव स्वयं तो अपरिणामी है, परन्तु उसे क्रोधादिभावरूप से क्रोधादि कर्म परिणत करा देते हैं, उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जीव को स्वयं परिणमनस्वभाववाला नहीं मानने पर क्रोधादि कर्म उसे क्रोधादिभावरूप से कैसे परिणमा सकते हैं? अर्थात् नहीं परिणमा सकते। यदि इस दोष को परिहार करने के लिए जीव को स्वयं परिणमनशील माना जाता है तो क्रोधादि कर्म, जीव को क्रोधादिभावरूप से परिणमाते हैं, यह कहना तो मिथ्या ठहरता ही है। साथ ही इस पर से यही फलित होता है कि जब यह जीव स्वयं क्रोधरूप से परिणमन करता है, तब वह स्वयं क्रोध है, जब स्वयं मानरूप से परिणमन करता है, तब वह स्वयं मान है, जब स्वयं मायारूप से परिणमन करता है, तब वह स्वयं माया है और

जब स्वयं लोभरूप से परिणमन करता है, तब वह स्वयं लोभ है।[१] आचार्य कुन्दकुन्द ने यह मीमांसा केवल जीव के आश्रय से ही नहीं की है। कर्मवर्गणायें ज्ञानावरणादि कर्मरूप से कैसे परिणमन करती हैं, इसकी मीमांसा करते हुए भी उन्होंने इसका मुख्य कारण परिणामस्वभाव को ही बतलाया है।[२] एक द्रव्य अन्य द्रव्य को क्यों नहीं परिणमा सकता, इसके कारण का निर्देश करते हुए वे इसी समयाप्राभृत में कहते हैं—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं॥१०३॥

जो जिस द्रव्य या गुण में अनादि काल से वर्त रहा है, उसे छोड़कर वह अन्य द्रव्य या गुण में कभी भी संक्रमित नहीं होता। वह जब अन्य द्रव्य या गुण में संक्रमित नहीं होता तो वह उसे कैसे परिणमा सकता है, अर्थात् नहीं परिणमा सकता॥१०३॥

तात्पर्य यह है कि लोक में जितने भी कार्य होते हैं, वे सब अपने उपादान के अनुसार स्वयं ही होते हैं। यह नहीं हो सकता कि उपादान तो घट का हो और उससे पट की निष्पत्ति हो जावे। यदि घट के उपादान से पट की उत्पत्ति होने लगे तो लोक में न तो पदार्थों की ही व्यवस्था बन सकेगी और न उनसे जायमान कार्यों की ही। 'गणेश प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' जैसी स्थिति उत्पन्न हो जावेगी।

जिसे जैनदर्शन में उपादानकारण कहते हैं, उसे नैयायिकदर्शन में समवायीकारण कहा है। यद्यपि नैयायिकदर्शन के अनुसार जड़-चेतन प्रत्येक कार्य का मुख्य कर्ता इच्छावान, प्रयत्नवान और ज्ञानवान सचेतन पदार्थ ही हो सकता है, समवायीकारण नहीं। उसमें भी वह सचेतन पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसे प्रत्येक समय में जायमान सब

१— समयप्राभृत, गाथा ११६ से १२० तक।
२— समयप्राभृत, गाथा १२० से १२४ तक।

कार्यों के अदृष्टादि कारकसाकल्य का पूरा ज्ञान हो। इसीलिए उस दर्शन में सब कार्यों के कर्तारूप से इच्छावान, प्रयत्नवान और ज्ञानवान ईश्वर की स्वतन्त्ररूप से स्थापना की गयी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस दर्शन में सब कार्यों के कर्तारूप से ईश्वर पर इतना बल दिया गया है, वह दर्शन ही जब कार्योत्पत्ति में समवायी कारणों के सद्भाव को स्वीकार करता है। अर्थात् अपने-अपने समवायीकारणों से समवेत होकर ही जब वह घटादि कार्यों की उत्पत्ति मानता है, ऐसी अवस्था में अन्य कार्य के उपादान के अनुसार अन्य कार्य की उत्पत्ति हो जाए, यह मान्यता तो त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है। यही कारण है आचार्य कुन्दकुन्द ने परमार्थ से जहाँ भी किसी कार्य का कारण की दृष्टि से विचार किया है, वहाँ उन्होंने उसके कारणरूप से उपादान कारण को ही प्रमुखता दी है। वह कार्य चाहे संसारी आत्मा का शुद्धि सम्बन्धी हो और चाहे घट-पटादिरूप अन्य कार्य हो, परमार्थ से होगा वह अपने उपादान के अनुसार स्वयं ही; यह उनके कथन का आशय है। जैनदर्शन में प्रत्येक द्रव्य को परिणामस्वभावी मानने की सार्थकता भी इसी में हैं।

प्रश्न यह है कि जब प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है तो वह प्रत्येक समय में बदलकर अन्य-अन्य क्यों नहीं हो जाता, क्योंकि प्रथम समय में जो द्रव्य है, वह जब दूसरे समय में बदल गया तो उसे प्रथम समयवाला मानना कैसे संगत हो सकता है? इसलिए या तो यह कहना चाहिए कि कोई भी द्रव्य परिणमनशील नहीं हैं या यह मानना चाहिए कि जो प्रथम समय में द्रव्य है, वह दूसरे समय में नहीं रहता, उस समय में अन्य द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे समय में जो द्रव्य है, वह तीसरे समय में नहीं रहता, क्योंकि उस समय में अन्य नवीन द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। यह क्रम इसी प्रकार अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। प्रश्न मार्मिक है, जैनदर्शन इसकी महत्ता को स्वीकार करता

है। तथापि इसकी महत्ता तभी तक है, तब तक जैनदर्शन में स्वीकार किये गये 'सत्' के स्वरूप निर्देश पर ध्यान नहीं दिया जाता। वहाँ यदि 'सत्' को केवल परिणामस्वभावी माना गया होता तो यह आपत्ति अनिवार्य होती। किन्तु वहाँ 'सत्' को केवल परिणामस्वभावी न मानकर यह स्पष्ट कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने अन्वयरूप धर्म के कारण ध्रुवस्वभाव है तथा उत्पाद-व्ययरूप धर्म के कारण परिणामस्वभावी है। इसलिए 'सत्' को केवल परिणामस्वभावी मानकर जो आपत्ति दी जाती है, वह प्रकृत में लागू नहीं होती। हम 'सत्' के इस स्वरूप पर तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार पहले ही प्रकाश डाल आये हैं। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार में क्या कहते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िए —

समवेद खलु दव्वं संभव-ठिदि-णाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कहि चेव समए तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं॥१०॥

द्रव्य एक ही समय में उत्पत्ति, स्थिति और व्ययसंज्ञावाली पर्यायों से समवेत है अर्थात् तादात्म्य को लिए हुए है, इसलिए द्रव्य नियम से उन तीनमय है॥१०॥

इसी विषय का विशेष खुलासा करते हुए वे पुनः कहते हैं —

पादुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं॥११॥

द्रव्य की अन्य पर्याय उत्पन्न होती है और अन्य पर्याय व्यय को प्राप्त होती है, तो भी द्रव्य स्वयं न तो नष्ट ही हुआ है और न उत्पन्न ही हुआ है॥११॥

यद्यपि यह कथन थोड़ा विलक्षण प्रतीत होता है कि द्रव्य स्वयं उत्पन्न और विनष्ट न होकर भी अन्य पर्यायरूप से कैसे उत्पन्न होता है और तद्भिन्न अन्य पर्यायरूप से कैसे व्यय को प्राप्त होता है। किन्तु इसमें विलक्षणता की कोई बात नहीं है। स्वामी समन्तभद्र ने

इसके महत्त्व को अनुभव किया था। वे आप्तीमांसा में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत्॥५७॥

हे भगवन! आपके दर्शन में सत् अपने सामान्य स्वभाव की अपेक्षा न तो उत्पन्न होता है और न अन्वय धर्म की अपेक्षा व्यय को ही प्राप्त होता है, फिर भी उसका उत्पाद और व्यय होता है, सो यह पर्याय की अपेक्षा ही जानना चाहिए, इसलिए सत् एक ही वस्तु में उत्पादादि तीनरूप है, यह सिद्ध होता है॥५७॥

आगे उसी आप्तमीमासा में उन्होंने दो उदाहरण देकर इस विषय का स्पष्टीकरण भी किया है। प्रथम उदाहरण द्वारा वे कहते हैं—

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्॥५९॥

घट का इच्छुक एक मनुष्य सुवर्ण की घट पर्याय का नाश होने पर दुःखी होता है, मुकुट का इच्छुक दूसरा मनुष्य सुवर्ण की घट पर्याय का व्यय होकर मुकुट पर्याय की उत्पत्ति होने पर हर्षित होता है और मात्र सुवर्ण का इच्छुक तीसरा मनुष्य घट पर्याय का नाश और मुकुट पर्याय की उत्पत्ति होने पर न तो दुःखी होता है और न हर्षित ही होता है, किन्तु माध्यस्थ रहता है। इन तीन मनुष्यों के ये तीन कार्य अहेतुक नहीं हो सकते। इससे सिद्ध है कि सुवर्ण की घट पर्याय का नाश और मुकुट पर्याय की उत्पत्ति होने पर भी सुवर्ण का न तो नाश होता है और न उत्पाद ही, सुवर्ण अपनी घट, मुकुट आदि प्रत्येक अवस्था में सुवर्ण ही बना रहता है॥५९॥

दूसरे उदाहरण द्वारा इसी विषय को स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं—

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मातत्त्वं त्रयात्कम्॥६०॥

जिसने दूध पीने का व्रत लिया है, वह दही नहीं खाता, जिसने दही खाने का व्रत लिया है, वह दूध नहीं पीता और जिसने गोरस सेवन नहीं करने का व्रत लिया है, वह दूध और दही दोनों का सेवन नहीं करता। इससे सिद्ध है कि तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनमय है॥६०॥

आशय यह है कि गोरस में दूध और दही दोनों गर्भित हैं, इसलिए प्रत्येक तत्त्व (द्रव्य) द्रव्यदृष्टि से ध्रौव्यस्वरूप है, किन्तु दूध और दही इन दोनों में भेद है, क्योंकि दूधरूप पर्याय का व्यय होने पर ही दही की उत्पत्ति होती है, इसलिए विदित होता है कि वही तत्त्व पर्यायदृष्टि से उत्पाद और व्ययस्वरूप भी है।

सर्वार्थसिद्धि में इस विषय का और भी विशदरूप से स्पष्टीकरण किया गया है। उसमें आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—

चेतनस्याचेतनस्य द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत उभयनिमित्तवशात्[१] भावान्तरावाप्लि-रुत्पादनमुत्पादः, मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्। तथा पूर्वभावविगमनं व्ययः। यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतेः। अनादिपरिणा-मिकस्वभावेन व्ययोत्पादाभावाद् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुधः। ध्रुवस्य भाव कर्म बा ध्रौव्यम्। यथा मृत्पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयः। तैरुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यैर्युक्तं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्।

[तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३०]

अपनी-अपनी जाति को न छोड़ते हुए चेतन और अचेतनद्रव्य

१— यहाँ पर निमित्त शब्द व्यवहार और निश्चय उभय कारणवाची है। तद्नुसार निमित्त शब्द से बाह्य निमित्त और निश्चय उपादान दोनों का ग्रहण हुआ है। तात्पर्य यह है कि अपने-अपने निश्चय उपादान के अनुसार कार्य की स्वयं उत्पत्ति में अज्ञानी जीव अपने प्रयत्न द्वारा या अन्य द्रव्य अपनी क्रिया द्वारा या उसके बिना ही निमित्त होता है। इसलिए टीका में उभय निमित्त के वश से उत्पन्न होना ऐसा कहा है।

की उभय निमित्त के वश से अन्य पर्याय का उत्पन्न होना उत्पाद है। जैसे मिट्टी के पिण्ड का घट पर्यायरूप से उत्पन्न होना उत्पाद है। उन्हीं कारणों से पूर्व पर्याय का प्रध्वंस होना व्यय है। जैसे घट की उत्पत्ति होने पर पिण्डरूप आकृति नाश होना व्यय है। तथा अनादि काल से चले आ रहे अपने पारिणामिकस्वभावरूप से तत्त्व का न व्यय होता है और न उत्पाद होता है, किन्तु वह स्थिर रहता है। इसी का नाम ध्रुव है। ध्रुव का भाव या कर्म ध्रौव्य है। तात्पर्य यह है कि पिण्ड और घटादि अवस्थाओं में मिट्टी अन्वयरूप से तदवस्थ रहती है, इसलिए जिस प्रकार एक ही मिट्टी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वभाव है, उसी प्रकार इन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमय सत् है।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चेतन और अचेतन अपने-अपने व्यक्तित्वस्वरूप जितने भी द्रव्य हैं, उनका प्रत्येक समय में अर्थ और व्यञ्जनपर्यायरूप से जो भी परिणमन होता है, वह अन्य किसी तद्भिन्न द्रव्य की सहायता से उत्पन्न हुआ कार्य न होकर[१] उसकी अपनी स्वयं हुई विशेषता है तथा पर्यायरूप से स्वयं परिणमन करते हुए भी जो वह अपने अनादिकालीन पारिणामिकस्वभावरूप से स्थिर अर्थात् तदवस्थ रहता है, उसका वह पारिणामिकस्वभाव न तो उत्पन्न ही होता और न व्यय को ही प्राप्त होता है, अतएव सदा अपने त्रैकालिक एक स्वभावरूप से तदवस्थ रहना यह भी उसकी अपनी विशेषता है। इन दोनों विशेषताओं का समुच्चयरूप (तादात्म्यभाव से मिलित स्वभावरूप) द्रव्य या सत् है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

१— एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को नहीं परिणमाता है, अन्यथा प्रत्येक द्रव्य का ध्रुवस्वभाव से अवस्थित रहते हुए भी परिणमन करना उसका अपना स्वभाव है, यह नहीं सिद्ध होता। और इसीलिए सर्वत्र जिनागम में द्रव्य का आत्मभूत लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप कहा गया है। सर्वत्र जिनागम में कार्य की उत्पत्ति में बाह्य निमित्त का कथन बाह्य व्याप्तिवश किया गया है। कार्य की उत्पत्ति में वह परमार्थ से सहायक होता है, इसलिए नहीं। विशेष स्पष्टीकरण आगे करनेवाले हैं ही।

लोक में जो यह सद्रूप से अवस्थित द्रव्य है, वह सामान्य से एक प्रकार का होकर भी उत्तर भेदों की अपेक्षा मूल में दो प्रकार का है—जीव और अजीव। उसमें भी अजीव के पाँच भेद हैं—पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव अपनी-अपनी स्वरूप सत्ता की अपेक्षा अनन्त हैं। पुद्‌गलद्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं। धर्म, अधर्म, और आकाशद्रव्य एक-एक हैं तथा कालद्रव्य लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, उनमें से प्रत्येक प्रदेश पर पृथक्-पृथक् एक-एक अवस्थित होने के कारण असंख्यात हैं। इस प्रकार जो ये छह द्रव्य हैं, उनके समुच्चय का नाम लोक है। '**लोक्यन्ते यस्मिन् षट् द्रव्याणि इति लोकः**' जिसमें छह द्रव्य अवलोकित किये जाते हैं, उसका नाम लोक है, ऐसी उसकी व्युत्पत्ति है। यह लोक अकृत्रिम, अनादि-अनिधन और स्वभावनिष्पन्न है।

यहाँ पर यह जितना द्रव्य विस्तार कहा गया है, वह सब अस्तित्व स्वरूप होने से सत्ता शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है और इसीलिए सत्ता के स्वरूप का निर्देश करते हुए पञ्चास्तिकाय में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का॥७॥

सत्ता अस्तित्व का दूसरा नाम है। यह न तो सर्वथा नित्य है और न ही सर्वथा क्षणिक है, क्योंकि यदि वस्तुमात्र को सर्वथा नित्य स्वीकार कर लिया जाए तो उसमें क्रम से होनेवाली पर्यायों का अभाव होने से जो प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, वह नहीं बन सकता और यदि उसे सर्वथा क्षणिक स्वीकार कर लिया जाए तो उसमें 'यह वही है', ऐसे प्रत्यभिज्ञान का अभाव होने से एक सन्तानपने का अभाव प्राप्त होता है।

प्रत्येक वस्तु को अनेकान्तस्वरूप सिद्ध करते हुए वस्तु को

सर्वथा नित्यस्वरूप या सर्वथा क्षणिकस्वरूप स्वीकार करने पर जो दोष आता है, उसे स्पष्ट करते हुए स्वामि-कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामी कार्तिकेय लिखते हैं—

परिणामेण विहीणं णिच्चं दव्वं विणस्सदे णेय।
णो उप्पज्जेदि सया एवं कज्जं कहं कुणदि॥२२७॥

परिणाम से रहित नित्य द्रव्य न तो कभी नष्ट हो सकता है और न कभी उत्पन्न हो सकता है, ऐसी अवस्था में वह कार्य कैसे कर सकता है॥२२७॥

पज्जयमित्तं तच्चं विणस्सरं खणे खणे वि अण्णण्णं।
अण्णइदव्वविहीणं ण य कज्जं किं पि साहेदि॥१२८॥

क्षण-क्षण में अन्य-अन्य होनेवाला विनश्वर तत्त्व अन्वयी द्रव्य के बिना कुछ भी कार्य नहीं कर सकता॥२२८॥

इतने विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु न हो तो सर्वथा नित्य है और न ही सर्वथा क्षणिक है, किन्तु नित्य-अनित्यस्वरूप है। यही कारण है कि प्रकृत में सत्ता को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप स्वीकार किया गया है। आशय यह है कि सब पदार्थों में व्याप्त जो यह सत्ता है, वह प्रत्यभिज्ञान के कारणभूत किसी स्वरूप से ध्रुव है और क्रमवर्ती किन्हीं दो स्वरूपों से नष्ट होती और उत्पन्न होती है, इसलिए एक ही समय में एक साथ तीन अंशोंवाली अवस्था को धारण करती है। यत: भाव और भाववान् में कथञ्चित् अभेद होता है, अत: वह एक है, क्योंकि वह त्रिलक्षणवाले समस्त वस्तुजात में अनुस्यूत है।

यहाँ पर प्रत्येक समय मे प्रत्येक वस्तु को त्रिलक्षणस्वरूप बतलाया है, इस पर यह प्रश्न होता है कि जो वस्तु जिस समय उत्पादस्वरूप है, उसी समय वह व्ययस्वरूप कैसे हो सकती है? समाधान यह है कि पूर्व पर्याय का त्याग व्यय का लक्षण है और

उत्तरस्वरूप (पर्याय) की अवाप्ति उत्पाद का लक्षण है, इसलिए इन दोनों में इन लक्षण भेद होने से भेद अवश्य है। इसी तथ्य को विद्यानन्दस्वामी ने अष्टसहस्री में इन शब्दों में व्यक्त किया है—

कार्योत्पादस्य स्वरूपलाभलक्षणत्वात् कारणविनाशस्य च स्वभावप्रच्युति-लक्षणत्वात्तयोर्भिन्नलक्षणसम्उन्धित्वसिद्धेः। *पृष्ठ २१०*

कार्य की उत्पत्ति का लक्षणस्वरूप का लाभ है और कारण (निश्चय उपादान) का लक्षण स्वभाव का त्याग है, इसलिए इन दोनों का भिन्न-भिन्न लक्षण यह सिद्ध होता है। पृष्ठ २१०।

तथापि पूर्वोक्त प्रकार से उत्पाद और व्यय इन दोनों में समय भेद नहीं है, क्योंकि घट पर्याय का व्यय ही कलापरूप पर्याय का उत्पाद है, इसलिए इन दोनों का एक समय है तथा जिस समय निश्चय उपादानकारण का व्यय और कार्य का उत्पाद है, उसी समय तदवस्थरूप से द्रव्य का उन दोनों में अन्वय है, इसलिए सत्ता या द्रव्य प्रत्येक समय में त्रिलक्षणवाली है, यह सिद्ध होता है।

यतः यह सत्ता लोक और अलोक सहित समस्त पदार्थों में व्याप्त है, अतः सर्व पदार्थ स्थित है, क्योंकि सत्ता के कारण ही सब पदार्थों में 'सत्' ऐसे कथन की और 'सत्' ऐसे ज्ञान की उपलब्धि होती है।

यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि सत्ता दो प्रकार की है—एक सादृश्यमूलक सामान्य सत्ता और दूसरी व्यतिरेकमूलक स्वरूप सत्ता। परमाणु से लेकर आकाश तक जितने भी अपने-अपने व्यक्तित्व को लिए हुए स्वतन्त्र द्रव्य हैं, उनका वह स्वरूप है, अतः वह परमार्थभूत है। किन्तु सामान्य सत्ता स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है, मात्र स्वरूपसत्ता को लक्ष्य कर वह कल्पित की गयी है। यही कारण है कि प्रकृत में सब पदार्थों में 'सत्' ऐसा कथन और 'सत्' ऐसा ज्ञान होने से व्यवहार से उसे स्वीकार किया गया है।

तथा वह सत्ता सविश्वरूप है, क्योंकि वह समस्त विश्व के रूपों सहित अर्थात् त्रिलक्षणवाले स्वभावों के साथ सदा काल विद्यमान रहती है, क्योंकि विश्व के समस्त पदार्थों में त्रिलक्षणरूप स्वभाव का कभी भी अभाव नहीं होता।

तथा वह अनन्त पर्यायस्वरूप है, क्योंकि वह त्रिलक्षणस्वरूप अनन्त द्रव्य-पर्यायस्वरूप व्यक्तियों के द्वारा परिगम्यमान है। यहाँ पर त्रिलक्षण के अन्तर्गत ध्रौव्य पद से समस्त द्रव्य अभिहित किये गये हैं और उत्पाद-व्यय शब्द से उनकी पर्यायें अभिहित की गयी हैं।

यद्यपि सामान्य सत्ता ऐसी है, तथापि वह प्रतिपक्ष सहित है। सत्ता का प्रतिपक्ष असत्ता है, त्रिलक्षणा का अत्रिलक्षणा प्रतिपक्ष है, एक का अनेकपना प्रतिपक्ष है, सर्व पदार्थ स्थिता का एक पदार्थ स्थितत्त्व प्रतिपक्ष है, सविश्वरूपा का एकरूपत्व प्रतिपक्ष है, अनन्त पर्यायों का एक पर्यायत्व प्रतिपक्ष है।

सत्ता दो प्रकार की है—महासत्ता और अवान्तरसत्ता। उनमें से सर्व पदार्थ-व्यापिनी सादृश्य अस्तित्त्व का सूचन करनेवाली महासत्ता का पहले ही कथन कर आये हैं। यहाँ जो उसकी प्रतिपक्ष असत्ता कही गई है, वही अवान्तरसत्ता है। वही प्रत्येक वस्तुएँ रहकर उसके स्वरूपास्तित्व को सूचित करती है। यहाँ पर महासत्ता, अवान्तर -सत्तारूप से असत्ता है और अवान्तरसत्ता, महासत्तारूप से असत्ता है, इसलिए महासत्ता की अवान्तरसत्ता प्रतिपक्ष है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप होने से सत्ता त्रिलक्षणा है, यह पहले ही लिख आये हैं। सत्ता इस स्वभाववाली होकर वह प्रतिपक्ष सहित है। त्रिलक्षणा सत्ता का प्रतिपक्ष अत्रिलक्षणा है, क्योंकि जिस स्वरूप से उत्पाद है, उसका (अत्रिलक्षणा सत्ता का) उस स्वरूप से उत्पाद ही लक्षण है, जिस स्वरूप से व्यय है, उसका उस स्वरूप से व्यय

ही लक्षण है और जिस स्वरूप से ध्रौव्य है, उसका उस स्वरूप से ध्रौव्य ही लक्षण है। तात्पर्य यह है कि उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य परस्पर अनुस्यूत होकर भी कथञ्चित् भिन्न हैं, इसलिए स्वरूप की अपेक्षा इन तीनों में से प्रत्येक के त्रिलक्षणपने का अभाव होने से त्रिलक्षणस्वरूप सत्ता का अत्रिलक्षणस्वरूप सत्ता प्रतिपक्ष है।

वह एक है, यह पहले ही स्पष्ट कर आये हैं। इस प्रकार सत्ता एक होकर भी अनेक है, क्योंकि जो एक वस्तु की स्वरूपसत्ता है, वह अन्य वस्तु की स्वरूपसत्ता नहीं है। इस प्रकार महासत्ता की अपेक्षा एक पद के द्वारा व्यवहृत की जानेवाली सत्ता की व्यक्तिनिष्ठ स्वरूप की अपेक्षा अवान्तरसत्ता अनेक है। महासत्ता की अपेक्षा सत्ता सर्व पदार्थस्थित है, इसका स्पष्टीकरण हम पहले कर आये हैं। इस प्रकार सत्ता सर्व पदार्थस्थित होकर भी वह एक पदार्थस्थित भी है, क्योंकि प्रतिनियत पदार्थस्थित सत्ताओं के द्वारा ही पदार्थों का प्रतिनियम होता है, इसलिए सर्व-पदार्थ-स्थित सत्ता का एक-पदार्थस्थित सत्ता प्रतिपक्ष है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आगम में सादृश्य सामान्य को ध्यान में रखकर ही महासत्ता स्वीकार की गयी है, स्वरूपसत्ता तो वस्तुभूत ही है।

सविश्वरूप सत्ता की प्रतिपक्ष एकरूप सत्ता है, क्योंकि प्रतिनियत एकरूप सत्ताओं के द्वारा ही वस्तुओं का प्रतिनियत एकरूपपना दृष्टिगोचर होता है। इसलिए सविश्वरूप सत्ता का प्रतिनियत एकरूप सत्ता प्रतिपक्ष है।

अनन्त पर्यायस्वरूप सत्ता का प्रतिनियत एक पर्यायस्वरूप सत्ता प्रतिपक्ष है, क्योंकि प्रत्येक पर्याय के प्रतिनियत अनन्त सत्ताओं के द्वारा ही अनन्त पर्यायस्वरूप वह (सत्ता) परिलक्षित होती है, इसलिए अनन्त पर्यायस्वरूप सत्ता का एक पर्यायस्वरूप सत्ता प्रतिपक्ष है।

इस प्रकार जैनदर्शन में स्वरूपसत्ता की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य के आत्मभूत स्वतन्त्र स्वरूप को किस प्रकार से स्वीकार किया गया है और महासत्ता को किस प्रकार कल्पित कर उसकी स्थापना की गयी है और यही कारण है कि आगम में द्रव्य का लक्षण सत् करके उसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप स्वीकार किया गया है। ●

बाह्यकारण-मीमांसा

उपादान निज गुण जहाँ तहँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परवान विधि विरला बूझे कोय॥

[भैया भगवतीदासजी]

१. उपोद्धात

पिछले प्रकरण में युक्ति और आगम से चेतन और अचेतन प्रत्येक द्रव्य का पर्यायरूप से उत्पन्न होना और व्यय को प्राप्त होना तथा परम पारिणामिकस्वभावमय अन्वयरूप से स्वयं उत्पाद और व्यय की अपेक्षा किये बिना ध्रुव (एकरूप) रहना उसका स्वभाव है, वह अन्य किसी का कार्य नहीं है। आगम में छह द्रव्यों से व्याप्त इस लोक को अकृत्रिम और अनादिनिधन कहने का तथा उनसे उत्पाद-व्ययरूप कार्यों (पर्यायों) के कर्तारूप से ईश्वर के निषेध करने का तात्पर्य भी यही है।

इतना विशेष है कि एक वस्तु अन्य वस्तु के कार्य का परमार्थ से कारण कभी नहीं है, यह उपलक्षण वचन है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु के प्रति परमार्थ से कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण कुछ भी नहीं है, दूसरी विशेषता यह है कि जगत के कर्तारूप से ईश्वर की सत्ता तो है ही नहीं, जीवादि वस्तुओं की सत्ता अवश्य है। इसलिए उन पर दूसरों के कार्यों के प्रति असद्भूतव्यवहार लागू हो जाता है।

इसलिए यह प्रश्न होता है कि क्या यह एकान्त है कि जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने अन्वयरूप स्वभाव के कारण ध्रुव है, वह अन्य किसी का कार्य नहीं है, इसी प्रकार उत्पाद-व्ययरूप से

परिणमन करना उसका अपना स्वभाव होने से मात्र वह अपने इस परिणमन स्वभाव के कारण ही उत्पाद–व्ययरूप से परिणमन करता है या उसे अपने इस परिणमनरूप कार्य में अन्य किसी की सहायता अपेक्षित रहती है। प्रश्न मार्मिक है। आगम में इसका दो दृष्टियों से विचार किया गया है—द्रव्यदृष्टि से और पर्यायदृष्टि से। द्रव्यदृष्टि में नैगमनय मुख्य है, क्योंकि कार्य–कारणभाव का ऊहापोह मुख्यतया इसी नय का विषय है। तथा पर्यायार्थिकनय में ऋजुसूत्रनय मुख्य है, क्योंकि यह नय दो में कारण–कार्यरूप या अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार नहीं करता। इस नय की अपेक्षा उत्पाद और व्यय दोनों ही निर्हेतुक होते हैं। जयधवला, पुस्तक १, पृष्ठ २०६–२०७ में व्यय निर्हेतुक कैसे है, इसका निर्देश करते हुए लिखा है—

अस्य नयस्य निर्हेतुकः विनाशः। तद्यथा—न तावत्प्रसज्यरूपः परतः उत्पद्यते, कारकप्रतिषेधे व्यापृतात्परस्मात् घटाभावविरोधात्। न पर्युदासो व्यतिरिक्त उत्पद्यते, ततो व्यतिरिक्तघटोत्पत्तावर्पितघटस्य विनाशविरोधात्। नाव्यतिरिक्तः, उत्पन्नस्योत्पत्ति-विरोधाद्। ततो निर्हेतुको विनाश इति सिद्धम्।

इस नय (ऋजुसूत्रनय) की दृष्टि में विनाश निर्हेतुक होता है। यथा—व्यय का अर्थ यदि प्रसज्यरूप अभाव लिया जाता है तो उसकी उत्पत्ति पर से मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रसज्यरूप अभाव में कारक के प्रतिषेध में अर्थात् 'करोति' क्रिया के निषेध में ही निषेधपरक नञ् का व्यापार होने से घट का अभाव मानने में विरोध आता है। अर्थात् व्यय का अर्थ प्रसज्यरूप अभाव मानने पर 'मुद्गर घट का अभाव करता है' इसका अर्थ होता है 'मुद्गर घट को नहीं करता है।' इसलिए प्रकृत में व्यय का अर्थ प्रसज्यरूप अभाव तो हो नहीं सकता। यदि कहा जाए कि व्यय का अर्थ पर्युदासरूप अभाव लिया गया है तो प्रश्न है कि इस प्रकार का अभाव पर से भिन्न उत्पन्न होता है कि अभिन्न? भिन्न तो उत्पन्न होता नहीं है, क्योंकि पर्युदासरूप

अभाव से भिन्न घट की उत्पत्ति होने पर विवक्षित धट का मुद्गर से विनाश मानने पर विरोध आता है। तात्पर्य यह है कि पर्युदास अभावरूप व्यय की उत्पत्ति घट से भिन्न मानने पर घट का विनाश नहीं हो सकता है। यदि कहा जाए कि पर्युदास अभावरूप व्यय घट से अभिन्न होता है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो उत्पन्न हो चुका है, उसकी पुनः उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। अर्थात् जब पर्युदास अभावरूप व्यय घट से अभिन्न है, तब घट और पर्युदास अभावरूप व्यय दोनों एक वस्तु हुए और ऐसा होने से पर्युदास अभावरूप व्यय की उत्पत्ति और घट की उत्पत्ति एक वस्तु हुई। ऐसी अवस्था में पर्युदास अभावरूप व्यय की उत्पत्ति मानने पर प्रकारान्तर से घट की उत्पत्ति सिद्ध हुई, क्योंकि दोनों एक वस्तु हैं। किन्तु घट तो पहले ही उत्पन्न हो चुका है, अतः उत्पन्न की पुनः उत्पत्ति मानने में विरोध आता है, इसलिए ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में विनाश निर्हेतक है, यह सिद्ध होता है।

इस नय की दृष्टि में जिस प्रकार विनाश निर्हेतुक सिद्ध होता है, उसी प्रकार उत्पाद भी निर्हेतुक होता है, यह भी स्पष्ट है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए इसी परमागम के पृष्ठ २०८-२०९ पर स्पष्ट किया है। यथा—

उत्पादोऽपि निर्हेतुकः। तद्यथा—नोत्पद्यमान उत्पादयति, द्वितीयक्षणे त्रिभुवनाभावप्रसंगात्। नोत्पन्न उत्पादयति, क्षणिक-पक्षक्षतेः। न विनष्टं उत्पादयति, अभावाद्-भावोत्पत्तिविरोधात्। न पूर्वविनाशोत्तरोत्पादयोः समानकालतापि कार्यकारणभावसमर्थिका। तद्यया—नातीतार्थाभावत उत्पद्यते, भावाभावयोः कार्यकारणभाव-विरोधात्। न तद्भावात्, स्वकाल एव तस्योत्पत्तिप्रसंगात्। किंच, पूर्वक्षणसत्ता यतः समानसन्तानोत्तरार्थसत्त्वविरोधिनी ततो न सा तदुत्पादिका, विरुद्धयोः सत्तयोरुत्पाद्योत्पादक-भावविरोधात्। ततो निर्हेतुक उत्पादक इति सिद्धम्।

इस नय की दृष्टि में उत्पाद भी निर्हेतुक होता है। यथा—जो उत्पन्न हो रहा है, वह तो उत्पन्न करता नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर दूसरे क्षण में तीनों लोकों के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। अर्थात् जो उत्पन्न हो रहा है, वह यदि उसी क्षण में अपने कार्यभूत दूसरे क्षण को उत्पन्न करने लगे तो इसका मतलब यह हुआ कि दूसरा क्षण भी प्रथम क्षण में उत्पन्न हो जाएगा। इसी प्रकार प्रथम क्षण में ही उत्पन्न होता हुआ, वह दूसरा क्षण भी अपने कार्यभूत तीसरे क्षण को भी प्रथम क्षण में उत्पन्न कर देगा और इसी न्याय से आगे के सब क्षणों की प्रथम समय में ही उत्पत्ति हो जाएगी और इस प्रकार प्रथम क्षण में ही सबकी उत्पत्ति हो जाने पर दूसरे क्षण में सबका अभाव हो जाएगा और इस प्रकार दूसरे क्षण में तीनों लोकों के सब पदार्थों के विनाश का प्रसंग प्राप्त हो जाएगा। जो उत्पन्न हो चुका है, वह उत्पन्न करना है, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर क्षणिक पक्ष की क्षति प्राप्त होती है। कारण कि प्रथम समय में वह स्वयं उत्पन्न हुआ और दूसरे क्षण में उसने कार्य को उत्पन्न किया और इसलिए उसे कम से कम दो समय तक तो ठहरना ही होगा। किन्तु ऋजुसूत्रनय किसी वस्तु के दो क्षण तक रहना स्वीकार करना नहीं, अत: जो उत्पन्न हो चुका है, वह उत्पन्न करता है, यह पक्ष भी ठीक नहीं। यदि कहा जाए कि जो नाश को प्राप्त हो गया है, वह उत्पन्न करता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। तथा पूर्व क्षण का विनाश और उत्तर क्षण का उत्पाद, इन दोनों की समानकालता से भी कार्य-कारणभाव का समर्थन नहीं बन सकता। यथा—अतीत पदार्थ के अभाव से तो नवीन पदार्थ उत्पन्न होता नहीं है, क्योंकि भाव और अभाव में कार्य-कारणभाव मानने में विरोध आता है। अतीत पदार्थ के सद्भाव से नवीन पदार्थ उत्पन्न होता है, यह कहना भी ठीक नहीं

है, क्योंकि ऐसा मानने पर अतीत पदार्थ के सद्भाव काल में ही नवीन पदार्थ की उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होता है। दूसरे, चूँकि पूर्व क्षण की सत्ता अपनी सन्तान में होनेवाले उत्तर अर्थ-क्षण की सत्ता की विरोधिनी है, इसलिए पूर्व क्षण की सत्ता उत्तर क्षण की सत्ता की उत्पादक नहीं हो सकती, क्योंकि विरुद्ध दो सत्ताओं में परस्पर उत्पाद्य-उत्पादकभाव के मानने में विरोध आता है, अतएव ऋजुसूत्र की दृष्टि में उत्पाद भी निर्हेतुक होता है, यह सिद्ध होता है।

समग्र कथन तात्पर्य यह है कि ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में पर्याय स्वतन्त्र है, वह अपने काल में स्वयं है। वह किसी द्रव्य या योग्यता के अधीन नहीं है। यह नय द्रव्य या योग्यता की उपेक्षा कर मात्र अपने विषय को ही स्वीकार करता है। परसापेक्ष कथन इस नय का विषय नहीं है, वह द्रव्यार्थिकनय या नैगमनय का विषय है, क्योंकि नैगमनय एक तो संकल्प प्रधान नय है, वह सत्-असत् दोनों को विषय करता है। दूसरे वह गौण-मुख्यभाव से द्रव्य और पर्याय दोनों को विषय करता है, मुख्यतः उसका विषय उपचार है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए जयधवला, पुस्तक १, पृष्ठ २०१ में आचार्य वीरसेन क्या कहते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िये—

यदस्ति न तद् द्वयमतिलंघ्य वर्तत इति नैकं गमो नैगमः। शब्द-शील-कर्म-कार्य-कारणाधाराधेय-सहचार-मान-मेयोन्मेय-भूत-भविष्यद्वर्तमानादिकमाश्रित्यो-पचारविषयः।

जो है, वह दोनों को छोड़कर नहीं वर्तता, इसलिए जो केवल एक को ही प्राप्त नहीं होता है, किन्तु गौण-मुख्यभाव से दोनों को ग्रहण करता है, वह नैगमनय है। शब्द, शील, कर्म, कार्य-कारण, आधार-आधेय, सहचार, मान-मेय, उन्मेय, भूत-भविष्यत्-वर्तमान आदिक के आश्रय से होनेवाला उपचार नैगमनय का विषय है।

यद्यपि अध्यात्म में व्यवहार को अनेक प्रकार का स्वीकार किया गया है। उनमें से उपचार की परिगणना व्यवहारनय में की गयी है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए नयचक्र में यह वचन आया है—

जं वि य दव्वसहावं उवयारं तं पि ववहारं॥

गाथा ६५, पृष्ठ ३४

जो उपचाररूप द्रव्य का स्वभाव है, वह भी व्यवहार है।

इस प्रकार संक्षेपरूप में किये गये इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कार्य-कारणभाव का कथन मुख्यतया नैगमनय (व्यवहारनय) का विषय है। अब आगे विशदरूप से इसका विवेचन किया जाता है—

२. कारणसामान्य का लक्षण

प्रत्येक द्रव्य की प्रति समय अपने परिणमशील स्वभाव के कारण जो उत्पाद-व्ययरूप अवस्था होती है, उसी की लोक में कार्य संज्ञा है। इसी को जिनागम में पर्याय शब्द द्वारा व्यवहृत किया गया है। वह पर्याय दो प्रकार की है—स्वभावपर्याय और विभावपर्याय। इन दोनों प्रकार की पर्यायों का निर्देश करते हुए नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव लिखते हैं—

पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो॥१४॥

पर्याय दो प्रकार की है—स्वपरसापेक्ष और निरपेक्ष अर्थात् पर-निरपेक्ष या स्वसापेक्ष॥१४॥

इस सूत्रगाथा में विभाव पर्याय को स्व-परसापेक्ष और स्वभावपर्याय को निरपेक्ष अर्थात् परनिरपेक्ष या स्वसापेक्ष कहा गया है। इसका मतलब है कि प्रति समय विभावरूप जो भी पर्याय होती है, उसके होते समय नियम से उपाधिरूप से अलग-अलग बाह्य

और आभ्यन्तर सामग्री की समग्रता पायी जाती है, किन्तु स्वभाव पर्याय के होने में बाह्य सामग्री के रहते हुए भी केवल आभ्यन्तर सामग्री ही प्रयोजनीय मानी गयी है, इसलिए यहाँ प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में सामग्रीरूप से कारण का विचार करना आवश्यक है। उसमें भी आभ्यन्तर सामग्री का विचार तो हम आगे निश्चय उपादान –कारण मीमांसा, इस प्रकरण में करेंगे। यहाँ मात्र बाह्य कारणों का विचार करते हुए सर्व प्रथम उसके लक्षण पर दृष्टिपात कर लेना चाहते हैं। कारण का सामान्य लक्षण है —

यद्यस्मिन् सत्येव भवति नासति तत् तस्य कारणमिति।

धवला पुस्तक १२, पृष्ठ २८९।

जो जिसके होने पर ही होता है, नहीं होने पर नहीं होता, वह उसका कारण कहलाता है।

इसका अर्थ है कि कारण और कार्य में अविनाभाव सम्बन्ध नियम से होता है, तभी उनमें कार्य–कारणपना घटित होता है। चाहे बाह्य साधन हो और चाहे अन्तरंग साधन हो। कार्य के साथ इन दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध अवश्य पाया जाता है। सामान्य कारण का यह लक्षण दोनों प्रकार के कारणों में घटित होता है।

३. बाह्य कारण का लक्षण

आगम में जिस प्रकार निश्चय उपादानकारण का सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, उस प्रकार बाह्य कारण का स्वतन्त्र लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होता। इतना अवश्य है कि ऊहापोह के द्वारा इसके स्वरूप पर प्रकाश पड़ जाता है। तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में शंका–समाधान करते हुए लिखा है —

सहकारिकाणेन कार्यस्य कथं यत् स्यात्, एकद्रव्यप्रत्यासत्तेर –भावादिति चेत् ? कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः। यदनन्तरं हि

यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारि कारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्॥१५१॥

शंका—सहकारी कारण के साथ कार्य का कार्य-कारणभाव कैसे हो सकता है, क्योंकि सहकारी कारण भिन्न द्रव्य है और कार्यरूप से परिणत द्रव्य उससे भिन्न द्रव्य है, इन दोनों में एक द्रव्यप्रत्यासत्ति का अभाव है?

समाधान—इन दोनों द्रव्यों में कालप्रत्यासत्ति विशेष होने से कार्य-कारणभाव की सिद्धि हो जाती है। यह प्रतीत सिद्ध है कि जिसके अनन्तर जो नियम से होता है, वह सहकारी कारण है, दूसरा कार्य है।

यहाँ सहकारी कारण और कार्य में कालप्रत्यासत्ति होने पर ही उनमें कार्य-कारणभाव स्वीकार किया गया है। इसकी पुष्टि परीक्षामुख से भी होती है।

बौद्ध मानते हैं कि रात्रि में सोते समय का ज्ञान प्रातःकाल के ज्ञान का कारण है और भावी मरण पूर्व में हुए अरिष्टों का कारण है। किन्तु उनका यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। इस कथन की पुष्टि परीक्षामुख के इन सूत्रों और उनकी प्रमेयरत्नमाला टीका से होती है। यथा—

भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम्॥३, ५९॥

तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम्॥३६०॥

हि शब्दो यस्मादर्थे। यस्मात्तस्य कारणस्य भावे कार्यस्य भावित्वं तद्भाव-भावित्वम्। तच्च तद् व्यापाराश्रितम्। तस्मान्न प्रकृतयोः कार्य-कारणभाव इत्यर्थः। अयमर्थः—अन्वय-व्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्य-कारणभावः। तौ च कार्यं प्रति कारणव्यापार-

सव्यपेक्षावेवोत्पद्येते कुलालस्येव कलशं प्रति। न चातिव्यवहितेषु तद्व्यापाराश्रितत्वम्।

भावी मरण की अतीत अरिष्ट के प्रति तथा अतीत जागृत् बोध की उद्‌बोध के प्रति कारणता नहीं है ॥३, ५९॥

क्योंकि कारण के होने पर कार्य का होना कारण के व्यापार के आश्रित है ॥३, ६०॥

सूत्र में 'हि' शब्द 'क्योंकि' के अर्थ में आया है। क्योंकि कारण के होने पर कार्य का होना कारण के व्यापार के आश्रित है, इसलिए भावी मरण और अतीत अरिष्ट के मध्य तथा अतीत जागृत् बोध और उद्‌बोध के मध्य कारण-कार्यभाव नहीं है। तात्पर्य यह है कि सर्वत्र कार्य-कारणभाव अन्वय-व्यतिरेक से जाना जाता है। और वे दोनों कार्य के प्रति कारण के व्यापार की अपेक्षा से ही घटित होते हैं। जैसे कि कुम्भकार के व्यापार की कलश कार्य के होने में अपेक्षा रहती है। किन्तु जिनमें काल का अति व्यवधान होता है, उन पदार्थों में परस्पर कारण के व्यापार का आश्रितपना नहीं पाया जाता। अतएव उनमें कार्य-कारणभाव नहीं सिद्ध होता।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य कारण में कारणता बाह्य व्याप्ति के आधार पर कालप्रयासत्तिरूप ही स्वीकार की गयी है।

४. शंका-समाधान

शंका—बुद्धिमान व्यक्ति अरिष्ट और करतल रेखा आदि के आधार पर आगे होनेवाली घटनाओं का निर्णय कर लेते हैं, अतः इनमें अपने-अपने कार्यों के प्रति कारणता स्वीकार करने में क्या आपत्ति है?

समाधान—बुद्धिमान् व्यक्ति अरिष्ट और करतल रेखा आदि से आगे होनेवाली घटनाओं का जो अनुमान कर लेते हैं, उसके वे

ज्ञापक निमित्त हैं, आगे होनेवाली घटनाओं के कारक निमित्त नहीं।

शंका—आगम में वेदनाभिभव आदि को नारकियों में भी सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का कारण कहा है। परन्तु जिस समय नारकी वेदना से अभिभूत होते हैं, उसी समय उनके सम्यग्दर्शन होने का कोई नियम तो है नहीं, क्योंकि सब नारकियों में वेदनाभिभव के साथ सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होने का अन्वय-व्यतिरेक नहीं देखा जाता। इसलिए अन्य जिस पदार्थ की दूसरे पदार्थरूप कार्य साथ कालप्रत्यासति हो, वही उसका बाह्य कारण है, अन्य नहीं—यह कहना उचित नहीं है ?

समाधान—धवला पुस्तक ६, पृष्ठ ४२३ में इस प्रश्न का समाधान इन शब्दों में किया है—

ण वेयणासामण्णं सम्मत्तुपत्तीए कारणं, किंतु जेसिमेसा वेयणा एदम्हादो मिच्छत्तादो इमादो असंजमादो (वा) उप्पण्णेति उवजोगो जादो, तेसिं चेव वेयणा सम्मत्तुपत्तीए कारणं, णावरजीवाणं वेयणा, तत्थ एवंविहउवजोगाभावा।

वेदना सामान्य सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण नहीं है। किन्तु जिन नारकियों के ऐसा ज्ञान होता है कि यह वेदना इस मिथ्यात्वरूप परिणति के कारण उत्पन्न हुई है या यह वेदना इस असंयमरूप परिणति के कारण उत्पन्न हुई है, उन्हीं नारकियों की वेदना, सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का कारण है, अन्य नारकी जीवों के नहीं, क्योंकि उनमें इस प्रकार के उपयोग का अभाव है।

आशय यह है कि प्रकृत में वेदना यद्यपि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का साक्षात् कारक निमित्त तो नहीं है, वह तो 'किस कारण से मैं नारकी होकर इस प्रकार की वेदना का पात्र बना' इस प्रकार के ज्ञान का ज्ञापक निमित्त ही। फिर भी ऐसा ज्ञान होने पर कालान्तर में

उसके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना सम्भव है, इसलिए यहाँ पर वेदना को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का बाह्य निमित्त कहा है। यहाँ ज्ञापक निमित्त में कारक-निमित्तपने का उपचार किया गया है, यह उक्त कथन का आशय है।

शंका—ज्ञापक निमित्त और कारण निमित्त में क्या अन्तर है।

समाधान—जो इन्द्रिय और मन के समान ज्ञान की उत्पत्ति का निमित्त न होकर आलोक आदि के समान ज्ञान का मात्र ज्ञेय हो, उसे ज्ञापक निमित्त कहते हैं और जो पदार्थों की परिणामलक्षण और परिस्पन्द लक्षण क्रिया का निमित्त हो, उसे कारक निमित्त कहते हैं। यही इन दोनों में अन्तर है।

आगम में भौम, अन्तरिक्ष आदि आठ महानिमित्त कहे गये हैं, सो उनके विषय में भी इसी न्याय से विचार कर लेना चाहिए। तीर्थङ्कर की माता के तीर्थङ्कर होनेवाले बालक के गर्भ में आने के पूर्व उनके भावी जीवन के सूचक जो १६ स्वप्न होते हैं, सो उनके विषय में भी इसी न्याय से विचार कर लेना चाहिए। इतनी विशेषता है कि उस समय तीर्थङ्कर माता के जो प्रशस्त कर्म का उदय-उदीरणा होती है, उसके वे कारक निमित्त हैं। करणानुयोग में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भव को जो बाह्य निमित्त कहा गया है, उसका आशय भी यही है। देखो, कर्मकाण्ड, गाथा ६९ से गाथा ८६ तक।

५. बाह्य पदार्थ में निमित्तता किस नय से कब और क्यों?

जब यह नियम है कि प्रत्येक वस्तु स्व का उपादान और अपने में पर का अपोहन (त्याग) करके रहती है, यही प्रत्येक वस्तु का वस्तुत्व है। जब यह भी नियम है कि प्रत्येक वस्तु का वस्तुत्व अपना-अपना अर्थक्रियाकारीपना है। और जब वस्तु को अनेकान्तस्वरूप स्वीकार करते हुए आगम यह भी उद्घोष करता है

कि प्रत्येक वस्तु स्वरूप आदि चार की अपेक्षा सत् ही है और पररूप आदि चार की अपेक्षा असत् ही है। यदि इसे स्वीकार न किया जाए तो प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्र व्यवस्था ही नहीं बन सकती। आगम में, इस सिद्धान्त को स्वीकार करने का भी यही कारण है कि जिस द्रव्य या गुण में जो है, वह अन्य द्रव्य या गुण में संक्रमित नहीं होता, अतः परमार्थ से अन्य-अन्य को परिणमाता है, यह त्रिकाल में नहीं बन सकता। ऐसा न्याय भी है कि जो शक्ति जिसमें नहीं हो उसे दूसरा त्रिकाल में पैदा करने में समर्थ नहीं है। *(समयसार, गाथा १०३ टीका)*

यह वस्तुस्थिति है, इसीलिए समग्र जिनागम दृढ़ता के साथ यह स्वीकार करता है कि परमार्थ से दो द्रव्यों और उनके गुण-पर्यायों में परमार्थ से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है, चाहे वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो या ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध आदि कोई सम्बन्ध क्यों न हो। सभी द्रव्य और उनके गुण-पर्याय अपने-अपने स्वरूप में निमग्न और स्वतन्त्र हैं। विश्व में यही मात्र एक ऐसा दर्शन है, जो परमार्थ से ऐसी वस्तु व्यवस्था के आधार से सभी की वास्तविक स्वतन्त्रता का उद्घोष करता है। समयसार में इसी तथ्य को ध्यान में रखकर यह कलश उपलब्ध होता है—

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यत्मतत्त्वयोः।
कर्तृ-कर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥२००॥

परद्रव्य और आत्मतत्त्व में सभी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, तब फिर उनमें परस्पर कर्ता-कर्म सम्बन्ध भी नहीं बनता, इसलिए आत्मा परद्रव्य का कर्ता कैसे हो सकता है ॥२००॥

यह वस्तुस्थिति है। इसके ऐसा होने पर भी जिनागम में नैगमनय या असद्भूत-व्यवहारनय से प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर बाह्य निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध आदि सभी प्रकार के जो भी सम्बन्ध

स्वीकार किये गये हैं, वे किस नय से स्वीकार किये गये हैं, इसकी यहाँ विस्तार से मीमांसा करनी है—

सर्व प्रथम प्रश्न यह है कि जो जिस वस्तु या गुण में नहीं है, उसे उसका स्वीकार ही क्यों किया गया? समाधान यह है कि जो जिस वस्तु या गुण में न भी हो, परन्तु यदि प्रयोजन विशेष से वह उसकी सिद्धि करता है अर्थात् उसकी सिद्धि का हेतु होता है तो लोक में व्यवहार से वह उसका माना जाता है। जैसे 'यह घोड़ा किसका है' ऐसी जिज्ञासा होने पर लोक में यह स्वीकार किया जाता है 'यह घोड़ा राजा का है।' यहाँ पर यदि स्वामी सम्बन्ध की अपेक्षा विचार किया जाए तो वास्तव में घोड़ा राजा आदि अन्य किसी का नहीं है, घोड़ा स्वयं का है, राजा आदि अन्य किसी का नहीं। प्रयोजनवश केवल लौकिक व्यवहार के चलाने के लिए यह कहा जाता है कि यह घोड़ा राजा का है। अन्य लौकिक सम्बन्धों के साथ दो पदार्थों में निमित्त -नैमित्तिक सम्बन्ध के विषय में भी इसी न्याय से विचार कर लेना चाहिए।

इतना विशेष है कि जिन पदार्थों का द्रव्यरूप से अस्तित्व हो, वे सद्भूतरूप से किसी न किसी ज्ञान के विषय अवश्य होते हैं, अतः उन्हीं में प्रयोजन विशेष से ऐसा व्यवहार किया जाता है। जिनका अस्तित्व ही न हो, उनमें ऐसा व्यवहार नहीं किया जा सकता है। जैसे जबकि बन्ध्या के पुत्र होता ही नहीं, इसलिए यह पुत्र बन्ध्या का है, ऐसा व्यवहार लौकिक दृष्टि से भी स्वीकार नहीं किया जाता है।

परमार्थ के प्रति उपेक्षा रखनेवाले या उससे अनभिज्ञ कुछ विद्वानों का कहना है कि व्यवहारनय सम्यग्ज्ञान का एक भेद है, इसलिए इसके द्वारा जो भी जाना जाता है, उस सबको वास्तविक ही मानना चाहिए। उन मनीषियों का यह ऐसा कहना है जो स्वाध्याय प्रेमियों

को केवल भ्रम में रखने के अभिप्राय से ही कहा जाता है। जबकि जैनदर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार ही एक वस्तु के गुणधर्म दूसरी वस्तु में पाये ही नहीं जाते तो जो नय इसके निषेधपूर्वक केवल अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर एक वस्तु के कार्य की निमित्तता अन्य वस्तु में प्रयोजन विशेष से स्वीकार करता है तो इसमें उस नय के सम्यग्ज्ञान होने में बाधा ही कहाँ आती है। जयधवला, पृष्ठ २७०-२७१ के इस वचन से भी इसका समर्थन होता है—

होदु पिंडे घडस्स अत्थित्तं, सत्त-पमेयत्त-पोग्गलत्त-णिच्चेयणत्त -मट्टिय-सहावत्तादिसरूवेण, ण दंडादिसु घडो अत्थि, तत्थ तब्भावाणुवलंभादो त्ति? ण, तत्थ वि पमेयत्तादिसरूवेण तदत्थित्तुवलंभादो।

शंका— पिण्ड में सत्त्व, प्रमेयत्व, पुद्गलत्व, अचेतनत्व और मिट्टी स्वभाव आदि रूप से घट का सद्भाव भले ही पाया जाओ, परन्तु दण्डादिक में घट का सद्भाव नहीं है, क्योंकि दण्डादिक में तद्भावलक्षण सामान्य अर्थात् ऊर्ध्वता सामान्य या मिट्टी स्वभाव नहीं पाया जाता?

समाधान— नहीं, क्योंकि दण्डादिक अर्थात् दण्ड, चीवर, चक्र और पुरुषप्रयत्न आदि में भी प्रमेयत्व आदि रूप से घट का अस्तित्व पाया जाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक वस्तु के कार्य की कारणता स्वरूप से दूसरी वस्तु में नहीं ही पायी जाती, केवल सादृश्य सामान्य के आधार पर उन दोनों या दो से अधिक वस्तुओं में अभेद करके कारणता आरोपित की जाती है, जो वास्तविक न होकर मात्र उपचरित होती है। और इसीलिए इसे उपचरित या अनुपचरित असद्भूत-व्यवहारनय का विषय बतलाया गया है और इसीलिए आलाप-

पद्धति में असद्भूतव्यवहारनय का यह लक्षण दृष्टिगोचर होता है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एवं उपचारः।

किसी अन्य वस्तु में प्रसिद्ध हुए धर्म का अन्य वस्तु में समारोप करना असद्भूतव्यवहार है तथा असद्भूतव्यवहार का ही दूसरा नाम उपचार है।

हम पहले असद्भूतव्यवहारनय को नैगमनय में गर्भित कर आये हैं, क्योंकि नैगमनय संकल्प प्रधाननय होने से संकल्प द्वारा जो जिसमें नहीं है, सादृश्य सामान्य के आधार पर उसे भी उसमें स्वीकार कर लेता है। हमारे इस कथन की पुष्टि जयधवला, पृष्ठ २७० के इस वचन से भी होती है—

जं मणुस्सं पडुच्च कोहो समुप्पण्णो सो तत्तो पुधभूदो संतो कथं कोहो? होंत एसो दोसो जदि संगहादिणया अवलंबिदा, किंतु णइगमणओ जइवसहारिएण जेणावलंबिदो तेण ण एस दोसो। तत्थ कथं ण दोसो? कारणम्मि णिलीण-कज्जब्भुवगमादो।

शंका—जिस मनुष्य को अवलम्बन कर क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह मनुष्य उससे पृथक् होता हुआ क्रोध कैसे कहला सकता है?

समाधान—यदि यहाँ पर संग्रह आदि नयों का अवलम्बन लिया होता तो यह दोष होता, किन्तु यतिवृषभ आचार्य ने चूँकि यहाँ पर नैगमनय का अवलम्बन लिया है, इसलिए यह कोई दोष नहीं है।

शंका—नैगमनय का अवलम्बन लेने पर दोष कैसे नहीं है?

समाधान—क्योंकि नैगमनय की अपेक्षा कारण में कार्य का सद्भाव स्वीकार किया गया है, इसलिए दोष नहीं है।

इसी तथ्य का समर्थन धवला, पुस्तक १२, पृष्ठ २८० के इस

वचन से भी होता है—

सव्वस्स कज्जकलावस्स कारणादो अभेदो सत्तादीहिंतो त्ति णए अवलंबिज्जमाणे कारणादो कज्जमभिण्णं, कज्जादो कारणं पि।

सभी कार्यकलाप का सत्त्वादिक की अपेक्षा कारण से अभेद है, इस प्रकार इस नय का अवलम्बन करने पर कारण से कार्य अभिन्न है तथा कार्य से कारण भी अभिन्न है, यह स्वीकार किया गया है।

यह कथन नैगमनय का है। इसको मुख्यता से अध्यात्म में सद्भूतव्यवहारनय के साथ असद्भूतव्यवहारनय कहा गया है। इसकी पुष्टि इस वचन से भी होती है —

वस्त्रस्थानीय आत्मा लोध्रादिद्रव्यस्थानीय मोह-राग-द्वेषैः कषायितो रंजितः परिणतो मंजीष्टस्थानीयकर्मपुद्गलैः संश्लिष्टः सन् भेदेऽप्यभेदोपचारलक्षनेनासद्-भूतव्यवहारेण बन्ध इत्याभिधीयते।

—प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति।

लोध्र आदि द्रव्य स्थानीय मोह, राग और द्वेष से कषायित अर्थात् रंजित हुआ वस्त्र स्थानीय आत्मा मजीठ स्थनीय कर्मपुद्गलों से संश्लिष्ट होता हुआ, असद्भूतव्यवहारनय से बन्ध कहा जाता है।

यही कारण कि आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने समयसार कलश १०७ में तथा आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५, सूत्र १२ में ऐसे व्यवहार को क्रम से विकल्प और कल्पना कहा है। तथा आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने यह विकल्प उपचरित है, यह भी स्वीकार किया है।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह तो भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य पदार्थ में निमित्तता क्यों स्वीकार की गयी है। यहाँ इतना विशेष जान लेना चाहिए कि व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है, अन्वय-व्यतिरेक के सिद्धान्त के आधार पर कालप्रत्यासति देखकर जब एक द्रव्य की पर्याय को कार्य कहा गया हो तो दूसरे द्रव्य की उस समय

की पर्याय को कारण कहा जाता है। कहीं-कहीं यह व्यवहार दोनों तरफ से भी देखा जाता है। जैसे किसी मनुष्य के एक ग्राम से दूसरे ग्राम पहुँचने के बाद एक पूछता है कि आप कैसे आये, वह उत्तर देता है—साइकिल से आये हैं। कालान्तर में दूसरा पूछता है—यह साइकिल कौन लाया—वह उत्तर देना है—'मैं लाया हूँ।' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक की कारणता या कार्यता दूसरे में तथा दूसरे की कारणता या कार्यता पहले में स्वरूप से नहीं है, यह केवल व्यवहार है। जिनागम में जहाँ भी इस प्रकार की कारणता या कार्यता स्वीकार की गयी है, वह केवल असद्भूतव्यवहार से ही स्वीकार की गयी है।

अब देखना यह है कि बाह्य पदार्थ में इस प्रकार की व्यवहार हेतुता दूसरे पदार्थ के कार्य होने के पहले मानी जाए या बाद में मानी जाए या जिस समय कार्य हो रहा है, उसी समय मानी जाए। समाधान यह है कि दो द्रव्यों की पर्यायों में काल व्यवधान से व्यवहार से कार्य-कारणभाव नहीं हो सकता, इसका विचार हम पहले ही कर आये हैं। साथ ही तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृष्ठ १५१) का एक प्रमाण उपस्थित कर यह भी सिद्ध कर आये हैं कि जिन दो द्रव्यों की पर्यायों में व्यवहार से निमित्त-नैमित्तिकता घटित की जाती है, उनमें बाह्य व्याप्ति के आधार पर काल-प्रत्यासत्ति अवश्य होनी चाहिए। अब आगे इस विषय की पुष्टि में हम और भी आगम प्रमाण दे देना चाहते हैं। द्रव्यसंग्रह में कहा है—

(क) दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ॥२७॥

मुनि निश्चय-व्यवहार दोनों ही प्रकार के मोक्षमार्ग को नियम से ध्यान में प्राप्त करते हैं ॥४७॥

जिस समय यह आसन्न भव्य जीव स्वभाव-सन्मुख होकर

विकल्प की भूमिका से निवृत्त होकर निर्विकल्प भूमिका को प्राप्त होकर निश्चयरत्नत्रयरूप से परिणत होता है, उसी समय बाह्य मन-वचन-कायपूर्वक हुई बाह्य प्रवृत्ति में मोक्षमार्ग का व्यवहार होता है। और तभी व्यवहारमोक्षमार्ग साधक अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग की सिद्धि का हेतु और निश्चयमोक्षमार्ग साध्य, यह व्यवहार किया जाता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

(ख) अध्यात्म में सर्वत्र मुनि शब्द ज्ञानी के अर्थ में आया है। इसकी पुष्टि समयसार गाथा १५१ के इस वचन से होती है—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥१५१॥

परमार्थ, समय, शुद्ध, केवली, मुनि और ज्ञानी ये एकार्थवाचक शब्द हैं, इसलिए जो मुनि अर्थात् ज्ञानी स्वभाव में स्थित हैं, वे नियम से मोक्ष को प्राप्त होते हैं॥१५१॥ इस वचन के अनुसार चतुर्थ गुणस्थानवाला भी ज्ञानी है।

इस कथन के अनुसार चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सभी भव्य जीव निश्चयमोक्षमार्ग प्राप्त होते समय ही व्यवहार मोक्षमार्गी कहलाने के अधिकारी होते हैं, इसके पहले नहीं।

शंका—निश्चयसम्यग्दर्शन आदिरूप निश्चयमोक्षमार्ग की प्राप्ति के समय जब प्रशस्त मन-वचन-काय की प्रवृतिरूप व्यवहारमोक्षमार्ग होता ही नहीं, तब उस समय उसको निश्चयमोक्षमार्ग की सिद्धि का हेतु कैसे माना जा सकता है?

समाधान—जिस समय यह जीव निश्चयसम्यग्दर्शन आदि को प्राप्त होता है, उसी समय उसके मिथ्यात्व के अभाव के साथ अनन्तानुबन्धी कषायों का यथासम्भव अभाव होने से ऐसा प्रशस्त राग ही नियम से पाया जाता है, जिसमें मोक्षमार्गपने का व्यवहार

किया जाता है। यही कारण है कि परमागम में एक ही समय में ऐसे व्यवहारमोक्षमार्ग को साधन—सिद्धि का हेतु और निश्चयमोक्षमार्ग को साध्य कहा गया है। परमागम में दो में साध्य-साधकभाव का व्यवहार इसी दृष्टि से किया गया है। बाह्य पदार्थ में कारकपने का व्यवहार भी इसी आधार पर किया जाता है, क्योंकि जिन दो पदार्थों में उपचार से भी निमित्त-नैमित्तिव्यापार न हो और कारक व्यवहार बन जाए, ऐसा नहीं है। परमार्थ से साध्य-साधकभाव एक पदार्थ में कैसे बनता है, इसके लिए यह कलश दृष्टव्य है—

एस ज्ञावघनो नित्यमात्मा सिद्धिभीप्सुभिः।
साध्य-साधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्॥१५॥

यह ज्ञानघन आत्मा यद्यपि सद्‌भूतव्यवहारनय—साध्य-साधक के भेद से दो प्रकार का है, पर परमार्थ से वही साध्य और वही साधन; इस प्रकार एक ही प्रकार का है। इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को इसी एक आत्मा की उपासना करनी चाहिए॥१५॥ शुभभाव और स्वभाव पर्याय में साध्य-साधकभाव असद्‌भूतव्यवहारनय से स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार प्रसंग से व्यवहार-निश्चय साध्य-साधकभाव का खुलासा करने के साथ अब दो पदार्थों में यह निमित्त-नैमित्तिकभाव कब होता है, इसके समर्थन में कुछ और प्रमाण दे देना चाहते हैं—

(१) संसार की भूमिका में संसारी जीव अपने परिणामस्वभाव के कारण जिस समय विवक्षित भाव को प्राप्त होता है, उसी समय उस भाव में निमित्त व्यवहार के योग्य विवक्षित कर्म का उदय-उदीरणा पायी जाती है और इसलिए यह व्यवहार किया जाता है कि इस कर्म के उदय-उदीरणा से यह भाव हुआ। जैसे जिस समय क्रोध कर्म का उदय-उदीरणा होती है, उसी समय क्रोध पर्याय पायी

जाती है। इसी प्रकार सर्वत्र कर्म के उदय-उदीरणा के साथ जीव के औदयिकभावों की प्राप्ति जाननी चाहिए।

(२) औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षयिकभावों के सम्बन्ध में भी यही नियम लागू होता है।

शङ्का—परमागम में विवक्षित कर्म का क्षय एक समय पहले स्वीकार किया गया है और क्षायिकभाव उससे अव्यवहित अनन्तर समय में स्वीकार किया गया है। जैसे १४ वें गुणस्थान के अन्तिम समय में चारों अघातियाकर्मों का क्षय स्वीकार किया गया है, किन्तु सिद्ध पर्याय की प्राप्ति उससे अव्यवहित अनन्तर समय में स्वीकार की गई है, सो क्यों?

समाधान—ऐसे स्थल पर सद्भाव में ही अभाव का उपचार कर यह कथन किया गया है, क्योंकि चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में चारों अघातिया कर्मों की यथासम्भव प्रकृतियों का सत्त्व व उदय पाया जाता है। यत: यह सत्त्व और उदय और आगे की पर्याय में नहीं है, इसलिए वहीं उनमें क्षय व्यवहार कर लिया गया है।

(३) प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव अपने सम्यग्दर्शन काल में कम से कम एक समय और अधिक छह आवलि काल शेष रहने पर यदि संक्लेश परिणाम की बहुलता के कारण नीचे गिरता है तो नियम से सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है। यहाँ जिस समय सासादन गुणस्थान की प्राप्ति है, उसी समय अनन्तानुबन्धी चारों में से किसी एक प्रकृति की उदय-उदीरणा है, ऐसा परमागम स्वीकार करता है। इन दोनों में कालभेद नहीं है।

(४) द्विणुक आदि पुद्गलबन्ध में भी '**द्व्यधिकादिगुणानां तु**' सिद्धान्त के अनुसार दोनों के मध्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के स्वीकार में समय भेद नहीं स्वीकार किया गया है।

ये कुछ आगमिक प्रमाण हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि व्यवहार से स्वीकार किये गये निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में समय भेद नहीं स्वीकार किया जा सकता है। और इसी आधार पर बौद्धों के द्वारा अनुमान प्रमाण में कारण हेतु का निषेध करने पर उसका परीक्षामुख आदि न्याय ग्रन्थों में व्यवहार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में समय भेद का निषेध करने के साथ अनुमान प्रमाण में कारण हेतु का दृढ़ता से समर्थन किया गया है। देखो, परीक्षामुख, अध्याय ३, सूत्र ५६ से लेकर ५९ तक।

इस प्रकार एक द्रव्य के कार्य की दूसरे द्रव्य में व्यवहार हेतुता कब बनती है, इसका संक्षेप में विचार किया।

अब एक द्रव्य के कार्य की व्यवहार हेतुता दूसरे द्रव्य में क्यों अर्थात् किस प्रयोजन से की गयी है, इसका विचार करते हैं—

(१) प्रश्न यह है कि जब एक द्रव्य के कार्य की कारणता दूसरे द्रव्य में परमार्थ से नहीं ही पायी जाती तो ऐसा स्वीकार ही क्यों किया गया? समाधान यह है कि लोक में या परमागम में सद्भूत या असद्भूत जितना भी व्यवहार स्वीकार किया गया है, वह परमार्थ की सिद्धि का हेतु होने से ही स्वीकार किया गया है। इसी तथ्य का समर्थन नयचक्र के इस वचन से होता है —

णिच्छय-ववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ पज्जय-दव्वत्थियं मुणह॥१८२॥

सब नयों के मूल भेद दो हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। उनमें से नैगमादि द्रव्यार्थिकनय और ऋजुसूत्र आदि पर्यायार्थिकनय निश्चयनय अर्थात् निश्चयनय के विषयभूत परमार्थस्वरूप अर्थ की सिद्धि के हेतु जानो॥१८२॥

(२) समयसार जैसे अध्यात्म प्रधान ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र

व्यवहारनय और उसके विषयभूत अर्थ की प्ररूपणा की गयी है, पर वह क्यों की गयी है और उसे परमार्थस्वरूप मानने पर क्या आपत्ति आती है, इसका भी वहाँ विशदरूप से स्पष्टीकरण किया गया है। जब व्यवहार अभूतार्थ है तो मात्र परमार्थ का ही कथन करना चाहिए —ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥८॥

जैसे अनार्य पुरुष को अनार्य भाषा बोले बिना परमार्थ को हृदयंगम कराना अशक्य है, वैसे ही व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है ॥८॥

इस सूत्र गाथा में उस प्रयोजन का निर्देश किया गया है, जिसको ध्यान में रखकर परमागम में सद्भूत और असद्भूतव्यवहार को स्वीकार किया गया है। किन्तु जो मनीषी प्रयोजन विशेष से स्वीकार किये गये व्यवहार को ही परमार्थ मानकर उसका समर्थन करते हैं, उनका वैसा करना कैसे सदोष है, इसकी विशेष चर्चा आचार्यदेव ने समयसार सूत्र गाथा ८५ और ९९ में विशेषरूप से की है। गाथा ८५ में वे कहते हैं।

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियावदिरित्तो पसजदि सो जिणावमदं ॥८५॥

यदि आत्मा इस पुद्गल कर्म को करे और उसी को भोगे तो वह अपने आत्मा और पुद्गल दोनों की दो क्रियाओं का परमार्थ से कर्ता हो जाने के कारण दोनों क्रियाओं से उसका अभेद मानना पड़ता है, जो जिनदेव को सम्मत नहीं है ॥८५॥

इस आपत्ति को आचार्यदेव ने ९९ वीं सूत्र गाथा में इन शब्दों में व्यक्त किया है—

जदि सा परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवादि कत्ता॥९५॥

यदि आत्मा परद्रव्यों को अर्थात् परद्रव्यों के कार्यों को करे तो वह नियम से परद्रव्यमय हो जाए। यत: वह परद्रव्यमय नहीं होता, अत: वह उनका कर्ता नहीं है।

शंका—आचार्यदेव ने तो समयसार, गाथा ८०-८१ में दो द्रव्यों के मध्य निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध नहीं किया, मात्र कर्ता-कर्म भाव का ही निषेध किया है, निमित्त -नैमित्तिक भाव का नहीं?

समाधान—कर्तानिमित्त, कारणनिमित्त, अधिकरणनिमित्त इत्यादि रूप से प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर व्यवहार से पर में निमित्तता अवश्य स्वीकार की है, पर वह परमार्थस्वरूप नहीं है, इसे भी उन्होंने आगे स्वीकार कर लिया है। इसलिए निश्चित होता है कि जिस प्रकार दो द्रव्यों में परमार्थ से कर्ता-कर्म आदि रूप कथन नहीं बन सकता, उसी प्रकार दो द्रव्यों में परमार्थ से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। अत: यावन्मात्र व्यवहार परमागम में व्यवहारनय से ही स्वीकार किया गया है, ऐसा समझना चाहिए।

(३) निश्चय की सिद्धि का हेतु होने से व्यवहार कहा गया है, इसका समर्थन चरणानुयोग से भी होता है। मूलाचार मूलगुणाधिकार गाथा ३ की टीका के इस वचन द्वारा उक्त कथन का समर्थन होता है। यथा —

व्रतशब्दोऽपि सावद्यानिवृत्तौ मोक्षावप्तिनिमित्ताचरणे वर्तते।

व्रत शब्द भी सावद्य की निवृत्ति के साथ मोक्ष की प्राप्ति के निमित्त रूप आचरण में व्यवहृत होता है।

यहाँ पर निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक प्रशस्त मन-वचन-काय की प्रवृत्तिरूप आचरण में व्रत व्यवहार मोक्ष का निमित्त मानकर किया

गया है। किन्तु यह आचरण किस नय से स्वीकार किया गया है, इसका विचार बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ की टीका से हो जाता है। वहाँ कहा है—

तत्र योऽसौ बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपचरितासद्भुत-व्यवहारेण। पृष्ठ १९३।

वहाँ यह जो पञ्चेन्द्रियों के विषयादि का परित्यागरूप चारित्र है, वह उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से स्वीकार किया गया है।

इस समग्र कथन का यह तात्पर्य है कि आगम में जितना भी भेद व्यवहार या उपचार व्यवहार स्वीकार किया गया है, वह व्यवहारनय से मात्र प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर ही स्वीकार किया गया है और इसीलिए समयसार गाथा १२ की आत्मख्याति टीका में 'परिज्ञायमानः तदात्वे प्रयोजववान्' (जिस समय यह जीव भेदरूप से वस्तु को जानता है या उपचार व्यवहार किया जाता है, उस समय जाना हुआ यह व्यवहार प्रयोजनवान् है) इस कथन द्वारा व्यवहार को मात्र प्रयोजनवान् बतलाकर उसका समर्थन किया गया है।

इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिक आदि व्यवहार किस नय से, कब और क्यों स्वीकार किया गया है, इसका विचार किया।

६. बाह्य कारण के दो भेदों का विचार

बाह्य कारण के दो भेद हैं—प्रयोग और विस्रसा। आगम में निमित्त, कर्ता, प्रेरक, उत्पादक, बन्धक, परिणामक, उपकारक, सहायक आधार -निमित्त, आश्रयनिमित्त और उदासीननिमित्त आदि इन शब्दों का व्यवहार यत्र-तत्र वाक्यों में हुआ है, उनका अन्तर्भाव उक्त दोनों भेदों में होता है। जहाँ अज्ञानी जीव का योगप्रवृत्ति और विकल्प निमित्त होता है, वहाँ प्रयोग-निमित्त व्यवहार होता है और जहाँ स्वभाव परिणत जीव तथा पुद्गलादि द्रव्य निमित्त होते हैं, वहाँ विस्रसानिमित्त

व्यवहार होता है। पञ्चास्तिकाय समय टीका से यही ज्ञात होता है—

यथा हि गतिपरिणतः प्रभञ्जनो वैजयन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते न तथा धर्मः। स खलु निष्क्रियत्वान् न कदाचिदपि गतिपरिणाममेव आपद्यते। कुतोऽस्य सहकारित्वेन परेषां गतिपरिणामस्य हेतुकर्तृत्वम्। किन्तु सलिलमिव मत्स्यानां जीवपुद्‌गलानामाश्रयकारणमात्रत्वेनोदासीन एवासौ गतेः प्रसरो भवति॥ गाथा 88॥

जैसे गतिपरिणति वायु पताकाओं के गतिपरिणाम का हेतु कर्ता देखा जाता है, वैसे धर्मद्रव्य हेतुकर्ता नहीं देखा जाता, क्योंकि वह परमार्थ से परिस्पन्द लक्षण क्रिया से रहित होने के कारण कभी भी गतिक्रिया को ही नहीं प्राप्त होता है, इसलिए वह सहकारी कारणरूप से दूसरों की गति क्रिया का हेतुकर्ता कैसे हो सकता है? किन्तु मछलियों के लिए जल के समान जीव-पुद्‌गलों का आश्रय कारणमात्र होने से वह (धर्मद्रव्य) गति का उदासीन ही प्रसर है।

यहाँ इस उदाहरण में प्रभंजन पद से वायुकायिक जीव लिए गये हैं। अतः यह प्रयोग निमित्त का उदाहरण है। जहाँ पुद्‌गलद्रव्य की पर्याय ली गयी हो, वहाँ यह पुद्‌गलद्रव्य की पर्याय की अपेक्षा विस्रसानिमित्त का उदाहरण होता है, क्योंकि जीव की स्वभाव पर्याय योग और विकल्प से रहित होती है। तथा शेष द्रव्य जड़ हैं। इनमें ज्ञान भी नहीं, बल भी नहीं। जीव का त्रिकाली स्वभाव न किसी का कारण है और न कार्य है। इतना विशेष है कि जीव की स्वभाव पर्याय में प्रेरक, बन्धक, परिणामक, उत्पादकरूप व्यवहार नहीं होगा। समयसार में कहा है—

भावो जदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता।
ण कुणदि अत्ता किंचि वि मुत्ता अण्णं सगं भावं॥५९॥

जीवभाव यदि कर्मकृत हो तो जीव द्रव्यकर्म का कर्ता ठहरता

है। परन्तु यह कैसे हो सकता है, क्योंकि जीव अपने भावों को छोड़कर अन्य किसी को नहीं करता है ॥५९ ॥

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यों के कार्य को त्रिकाल में करने में समर्थ नहीं है।

शंका—इस वचन द्वारा आचार्यदेव ने दो द्रव्यों में मात्र कर्ता-कर्म भाव का ही निषेध किया है, इससे निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध कहाँ होता है? अत: एक द्रव्य की दूसरे द्रव्यों के कार्य में सहायकता, उपकारकता तथा बलाधान निमित्तता आदि यथार्थ माननी चाहिए। अन्यथा आगम में जो स्व-परसापेक्ष परिणमन माने गये हैं, वे घटित नहीं होते। इससे स्पष्ट है कि स्व-परसापेक्ष परिणमनों में प्रत्येक स्व-परसापेक्ष परिणमन के लिए स्व के समान पर की भी अपेक्षा होती है और तभी उसे स्वपरसापेक्ष परिणमन कहना संगत प्रतीत होता है। इसलिए परमागम में बाह्य निमित्तों के कथन को निरर्थक न मानकर कार्यकारी ही मानना चाहिए?

समाधान—यहाँ सर्व प्रथम देखना यह है कि परमागम में उक्त कार्यों के प्रति बाह्य निमित्तों को किस नय से स्वीकार किया गया है, इसका स्पष्टीकरण पञ्चास्तिकाय, गाथा ८९ और समयसार व्याख्या से भले प्रकार हो जाता है। यथा —

विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ॥८९ ॥

जिनका गमन होता है, उन्हीं का पुनः ठहरना होता है, क्योंकि वे पदार्थ अपने परिणामों से ही गमन और स्थिति करते हैं ॥८९ ॥

......धर्मः किल न जीव-पुद्गलानां कदाचिद् गतिहेतुत्व-मभ्यस्यति, न कदाचिद् स्थितिहेतुत्वमधर्मः। तौ हि परेषां गति-स्थित्योर्यदि मुख्यहेतू स्यातां तदा येषां गतिस्तेषां गतिरेव न स्थितिः,

येषां स्थितिस्तेषां स्थितिरेव न गतिः। तत एकेषामपि गतिस्थिति-दर्शनादनुमीयते न तौ तयोर्मुख्यहेतू। किन्तु व्यवहारनयव्यवस्थापितौ उदासीनौ। कथमेवं गति-स्थितिमतां पदार्थानां गति-स्थिती भवतः इति चेत्? सर्वे हि गति-स्थितिमन्तः पदार्थाः स्वपरिणामैरेव निश्चयेन गति-स्थिती कुर्वन्तीति।

धर्मद्रव्य कदाचित् वास्तव में जीव और पुद्गलों की गति में हेतु होने का अभ्यास नहीं करता, और अधर्मद्रव्य कदाचित् स्थिति में हेतु होने का अभ्यास नहीं करता, क्योंकि वे दोनों यदि दूसरों की गति और स्थिति के मुख्य हेतु होवें, तब जिनकी गति हो, उनकी गति ही होती रहे स्थिति न हो और जिनकी स्थिति हो, उनकी स्थिति ही बनी रहे, गति न हो। यतः एक-एक करके उन जीवों और पुद्गलों की गति और स्थिति देखी जाती है—अतः अनुमान होता है कि वे धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य व्यवहारनय से स्थापित किये गये उदासीन हेतु हैं।

शंका—यदि ऐसा है तो गति और स्थिति करनेवाले पदार्थों की गति और स्थिति कैसे होती है?

समाधान—क्योंकि सभी गति और स्थिति करनेवाले पदार्थ निश्चय से देखा जाए तो अपने परिणामों से ही गति और स्थिति करते हैं॥८९॥

इस कथन से ये तथ्य फलित होते हैं —

(१) अज्ञानी के जो योग और विकल्परूप क्रिया होती है, उससे रहित होने के कारण नित्यरूप से जिन धर्मादिक चार द्रव्यों को आगम में स्वीकार किया गया है, उनमें मात्र उदासीनपने से विस्रसा हेतु होने का ही व्यवहार घटित होता है।

(२) उक्त टीका में यह तो स्वीकार किया ही गया है कि गति और स्थिति करनेवाले पदार्थों की गति और स्थिति निश्चय से अपने-अपने गमनक्रियारूप और ठहरनेरूप परिणाम करने से ही होती है,

तब इससे क्या यह सुतरां फलित नहीं हो जाता कि लोक में स्व-परसापेक्ष जितने भी कार्य स्वीकार किये गये हैं, वे भी सब परमार्थ से स्वयं अपने-अपने परिणाम के ही मुख्य कर्ता हैं। अवश्य फलित हो जाता है।

(३) यदि इन दोनों धर्म और अधर्म द्रव्यों की मुख्य हेतु में परिगणना की जाती है और यह स्वीकार किया जाता है कि ये दोनों द्रव्य जीवों और पुद्गलों की गमनक्रिया और स्थितिक्रिया के मुख्य कारण हैं। तो ऐसा मानने पर एक तो अन्तर्व्याप्ति के बल पर इन दोनों के जीव और पुद्गलमय प्राप्त होने का प्रसंग आता है और ऐसी अवस्था में ये दोनों क्रम से अपने गतिहेतुत्व और स्थितिहेतुत्व गुणों के कारण सदा ही जिनकी गति होगी, उनकी गति ही करते रहेंगे और जो स्थित होंगे, उनकी सदा स्थिति ही बनाये रखेंगे। यदि कहा जाये कि हम इनको जीवों और पुद्गलों की गति और स्थिति का वास्तविक कारण नहीं मानते, हमने तो इन्हें मुख्यरूप से बाह्य निमित्त स्वीकार किया है तो यत: ये नित्य स्वीकार किये गये हैं, अत: व्यवहार निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी ये जिनकी गति होगी, उनकी गति में सदा बाह्य निमित्त होते रहेंगे और जिनकी स्थिति होगी उनकी स्थिति में भी ये सदा बाह्य निमित्त होते रहेंगे, यही दोष आता है, जिसे टाला नहीं जा सकता।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सिद्धों के समान नित्य स्वीकार किये गये हैं, इसलिए ये गति और स्थिति के उपादान निमित्त तो हो ही नहीं सकते, बाह्य प्रयोग निमित्त भी नहीं हो सकते है। इसलिए ये दोनों द्रव्य मात्र बाह्य उदासीन निमित्तरूप से स्वीकार किये गये हैं। आकाशद्रव्य और कालद्रव्य के सम्बन्ध में भी इसी दृष्टि से समझ लेना चाहिए।

अब मुख्यत: उन व्यवहार निमित्तों के विषय में विचार करना

है, जिन्हें लोक में और आगम में परिणामक, उत्पादक आदि निमित्तरूप से स्वीकार किया गया है। यद्यपि आगम में व्यवहार हेतुओं के विषय में कर्तानिमित्त, प्रेरक निमित्त, उत्पादकनिमित्त परिणामकनिमित्त इत्यादि शब्दों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। अत: यदि आगम में अज्ञानी जीव के योग और विकल्प के अर्थ में इनका प्रयोग हुआ तो इनका प्रयोगकर्ता निमित्त में अन्तर्भाव होता है और पुद्‌गलों के लिए हुआ है तो विस्रसानिमित्तों में अन्तर्भाव होता है। व्यवहार से प्रयोग निमित्त के अर्थ में समयसार, गाथा ८४ की आत्मख्याति टीका यह वक्तव्य दृष्टव्य है। यथा—

बहिर्व्याप्य-व्यापकभावेन कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाण:.... कुलाल: कलशं करोति..... इति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावद्व्यवहार:।

बाह्य व्याप्य-व्यापक भाव से कलश की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार करनेवाला कुम्भकार कलश को करता है, ऐसा लोगों को अनादि काल से रूढ़ व्यवहार चला आ रहा है।

यहाँ सर्व प्रथम सादृश्य सामान्य के आधार पर बाह्य व्याप्ति को स्वीकार करके कुम्भकार और मिट्टी द्रव्य को एक स्वीकार किया गया है और व्यवहार से कुम्भकार के घट उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार को देखकर उसमें मिट्टी के व्यापार करने को स्वीकार किया गया है, तब जाकर लौकिक लोग अनादि काल से इस जाति का व्यवहार करते आ रहे हैं कि कुम्भकार घट बनाता है, वह खदान से मिट्टी लाता है आदि। यह प्रयोगनिमित्ति का उदाहरण है।

फिर भी जो मनीषी अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष, तर्क और अनुभव की दुहाई देकर जीवों और पुद्‌गलों को व्यवहार से कहे जानेवाले उत्पादक, कर्ता आदि निमित्त को मुख्य कर्ता के स्थान पर बिठलाकर यह लिखते और कहते हुए नहीं थकते कि कार्य से अव्यवहित पूर्व

समयवर्ती उपादान में कार्य करने के सन्मुख अनेक उपादान शक्तियाँ होती हैं, इसलिए जब जैसे बाह्य निमित्त मिलते हैं, उन्हीं के अनुसार कार्य होता है, तो उनका ऐसा लिखना और कहना कैसे भ्रान्त है, इस तथ्य का उक्त उल्लेखों से विशदरूप से ज्ञान हो जाता है।

प्रकृत में पुद्गलरूप कर्म के विस्रसा निमितत्त्व के विषय में तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय ५, सूत्र २० का यह वचन दृष्टव्य है—

अत्रोपग्रहवचनं सद्वेद्यादिकर्मणां सुखाद्युत्पत्तौ निमित्तमात्रत्वे-नानुग्राहकत्वप्रतिपत्त्यर्थम्, परिणामकारणं जीवः, तस्यैव तथ्यपरिणामात्।

यहाँ सूत्र में जो उपग्रह वचन आया है, वह सुखादि की उत्पत्ति में सातावेदनीय आदि कर्मों के निमित्त मात्र होने से अनुग्राहकपने की प्रतिपत्ति के लिए आया है, वस्तुतः सुखादिरूप परिणाम का यथार्थ कारण तो जीव ही है, क्योंकि उसी के सुखादिरूप परिणाम होता है।

इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कर्मोदय को जो करण -निमित्त या अनुग्राहक, उपकारक आदि कहा जाता है, वह उसके व्यवहार से निमित्तमात्र होने से ही कहा जाता है, परमार्थ से तो कर्मोदय के काल में जीव के जितने भी कार्य होते हैं, उन्हें जीव ही अपने उस-उस समय के निश्चय उपादान के अनुसार परिणमन स्वभाव के कारण ही करता है।

इसी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ १५१ में जो यह वचन आया है—

तदेवं व्यवहारनयसामाश्रयणे कार्य-कारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोगसमवायादिवत् प्रतीतसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः, सर्वथाप्यनवद्यत्वात्। संग्रहर्जुसूत्रसमाश्रयणे तु न कदाचित् कश्चित् सम्बन्धः अन्यत्र कल्पनामात्रात् इति सर्वम-विरुद्धम्।

इसलिए इस प्रकार व्यवहारनय का आश्रय करने पर कार्य-

कारणभावरूप दो द्रव्यों में स्थित सम्बन्ध संयोगसम्बन्ध और समवायसम्बन्ध के समान प्रतीतिसिद्ध होने से परमार्थस्वरूप ही है, किन्तु कल्पनारोपित नहीं है, क्योंकि यह सभी प्रकार से अनवद्य है। संग्रहनय और ऋजुसूत्र का आश्रय करने पर तो किसी का अन्य के साथ कल्पनामात्र को छोड़कर कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार सब कथन विरोध रहित है।

वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है, किन्तु बौद्ध पर्यायमात्र वस्तु को मानते हैं। वस्तु सामान्यात्मक भी होती है, इसे सत्त्व, प्रमेयत्व आदि धर्मों के आधार पर वे स्वीकार ही नहीं करते। उन्हीं को लक्ष्यकर आचार्य विद्यानन्द ने उक्त उत्तर दिया है। संग्रहनय वस्तु को मात्र सामान्यमात्र स्वीकार करता है और ऋजुसूत्रनय मात्र पर्यायमात्र स्वीकार करता है। किन्तु नैगमनय गौणमुख्यभाव से सामान्य और विशेष दोनों को स्वीकार कर दो द्रव्यों के संयोग सम्बन्ध को और एक द्रव्य में सामान्य-विशेष की अपेक्षा समवाय सम्बन्ध-तादात्म्य सम्बन्ध को भी स्वीकार करता है। इसलिए यहाँ पर व्यवहारनय नैगमनय से दो द्रव्यों में किये गये कार्य-कारणभाव को प्रयोजन विशेष की अपेक्षा प्रतीतिसिद्ध होने से परमार्थस्वरूप बतलाया गया है। फिर भी वह काल्पनिक है, यह बात संग्रहनय और ऋजुसूत्रनय से स्पष्ट की गयी है।

इसी प्रकार अष्टसहस्री में जो यह वचन आया है —

तदसामर्थ्यमखंडयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात्? तत्त्खण्डने वा स्वभावहानिः, अव्यतिरेकात्॥ पृष्ठ १०५॥

नित्य शब्द की सामार्थ्य का खण्डन नहीं करता हुआ सहकारी कारण अकिंचित्कर कैसे नहीं हो जाता, अर्थात् अवश्य हो जाता है। यदि मीमांसक कहे कि सहकारी कारण नित्य शब्द की सामर्थ्य का

खण्डन कर देता है, तो उसके नित्य स्वभाव की हानि का प्रसंग आता है, क्योंकि नित्य शब्द की सामर्थ्य उससे अभिन्न है।

मीमांसक शब्द को सर्वथा नित्य मानकर उसकी व्यंजना (अभिव्यक्ति) ध्वनिरूप सहकारी कारण से मानता है। उसी को लक्ष्यकर उक्त वचन आया है। मीमांसक से उसकी मान्यता को ध्यान में रखकर यह पृच्छा की गयी है कि ध्वनि के द्वारा जब शब्द की व्यंजना होती है, तब शब्द से सर्वथा अभिन्न उस ध्वनि से शब्द के नित्य स्वभाव का (सामर्थ्य का) खण्डन होता है या नहीं? यदि मीमांसक कहे कि ध्वनि से सर्वथा नित्य शब्द की सामर्थ्य का खण्डन नहीं होता है तो यह आपत्ति दी गयी है कि तब सहकारी कारण की व्यर्थता सिद्ध होती है—यह अकिंचित्कर हो जाता है। यदि वह कहे कि इससे सर्वथा नित्य शब्द की सामर्थ्य का खण्डन हो जाता है तो उसने शब्दों को जो सर्वथा नित्य माना है, उसके उस स्वभाव की हानि का प्रसंग आता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य विद्यानन्द ने उक्त कथन द्वारा मीमांसक की मान्यतानुसार दोनों तरफ से उसे जकड़कर उसकी मान्यता का ही खण्डन किया है। किन्तु दुर्भाग्य है कि ऐसे भी व्यवहाराभासी हैं जो इस उद्धरण का दुरुपयोग अपने व्यक्तिगत अभिमत के समर्थन में करते हैं। अस्तु।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आगम में प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर व्यवहार से चाहे प्रयोगरूप निमित्त स्वीकार किया गया हो या विस्रसा निमित्त; हैं दोनों ही अपने से भिन्न द्रव्य की कार्य की उत्पत्ति के समय उस द्रव्य की क्रिया करने की अपेक्षा अकिंचित्कर ही। इनमें जो व्यवहार से कारणता स्वीकार की गयी है, वह केवल अन्वयव्यतिरेक को देखकर कालप्रत्यासत्तिवश प्रत्येक समय में प्रत्येक द्रव्य किस पर्याय को कर रहा है, इस निश्चय की सिद्धि करने के लिए ही स्वीकार की गयी है।

परमार्थ से एक द्रव्य कारण रूप से दूसरे द्रव्य का कार्य करने में कुछ भी समर्थ नहीं है—वह अकिंचित्कर है, इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य पूज्यपाद ने इष्टोपदेश में यह वचन कहा है—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥३५॥

अज्ञ पुरुष विज्ञपने को प्राप्त नहीं होता और विज्ञ पुरुष अज्ञपने को प्राप्त नहीं होता। अन्य पदार्थ (व्यवहार से) दूसरे द्रव्य के कार्य में ऐसे ही निमित्तमात्र हैं, जैसे गति क्रिया का निमित्त धर्मद्रव्य होता है।

तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय १, सूत्र २० के भाष्य में यह वचन आया है —

यथा मृदः स्वयमन्तर्भवनघटपरिणामाभिमुख्ये दण्ड-चक्र-पौरुषेयप्रयत्नादिनिमित्तमात्रं भवति।

जैसे मिट्टी के स्वयं (स्वभाव से) घट होनेरूप परिणाम के सन्मुख होने पर दण्ड, चक्र और पौरुषेय प्रयत्न निमित्तमात्र होता है। सो उससे भी उक्त तथ्य का ही समर्थन होता है।

इस प्रकार परमागम में व्यवहार से जो प्रयोग निमित्त और विस्रसा निमित्त, इन दो प्रकार के हेतुओं का कथन किया गया है, वह किस दृष्टि से किया गया है, इसका यहाँ विचार किया।

शंका—जयधवला, भाग १, पृष्ठ २६१ आदि में प्रत्यय कषाय और समुत्पत्तिकषाय में जो भेद किया गया है, सो क्यों?

समाधान—यतिवृषभ आचार्य ने स्वयं इन दोनों में अन्तर का खुलासा किया है। उसका आशय यह है कि यतः कर्मोदय को निमित्तकर कषाय होती है, अतः कर्मोदय का नाम प्रत्यय कषाय है और अन्य मनुष्य तथा लकड़ी आदि को निमित्त कर जो कषाय उत्पन्न

होती है, उन मनुष्य तथा लकड़ी आदि को समुत्पत्ति कषाय कहते हैं। इन दोनों का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य वीरसेन लिखते हैं—

जीवादो अभिण्णो होदूण जो कसाए समुप्पादेदि सो पच्चओ णाम, भिण्णो होदूण जो समुप्पादेदि सो समुप्पत्तिओ त्ति दोण्हं भेदुवलंभादो।

जो जीव से अभिन्न होकर कषाय को उत्पन्न करता है, वह प्रत्यय कषाय है और जो जीव से भिन्न होकर कषाय को उत्पन्न करता है, वह समुत्पत्तिकषाय है।

इस कथन से असद्भूतव्यवहारनय के जो अनुपचरित और उपचरित ये भेद किये गये हैं, उनका ज्ञान हो जाता है।

शंका—कर्मोदय को जीव से अभिन्न कैसे माना जाए?

समाधान—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ ४३० में इस शंका का समाधान करते हुए कहा है—

जीव-कर्मणोबन्धः कथमिति चेत्? परस्परं प्रदेशानुप्रवेशान्न त्वेकपरिणामात् तयोरेकन्द्रव्यानुपपतेः। 'चेतनाचेतनावेतौ बन्धं प्रत्येकतां गतौ' इति वचनात्तयोरेकत्वपरिणामहेतुः बन्धोऽस्तीति चेत्, न, उपसरतस्तयोरेकत्ववचनात् भिन्नौ लक्षणतोऽत्यन्तमिति द्रव्यभेदामिधानात्।

शंका—जीव और कर्म का बन्ध कैसे होता है?

समाधान—जीव और कर्म के प्रदेशों के परस्पर अनुप्रवेश से बन्ध होता है, किन्तु इनके एकरूप परिणमन से बन्ध नहीं होता, क्योंकि जीव और कर्म एक द्रव्य नहीं है।

शंका—इनमें से 'जीव चेतन और कर्मपुद्गल अचेतन है, वे दोनों बन्ध की अपेक्षा एकपने को प्राप्त हैं' इस वचन के अनुसार बन्ध को उन दोनों के एकरूप परिणमन का हेतु मानने में क्या आपत्ति है?

समाधान—नहीं, क्योंकि वे दोनों एक-दूसरे का उपसरण करते हैं, इसलिए उन दोनों का एकपना स्वीकार किया गया है। लक्षण की अपेक्षा वे दोनों अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि आगम में इसी आधार पर द्रव्यों में भेद का कथन किया गया है।

स्पष्ट है कि परमागम में जो बन्ध को उपचरित कहा गया है, सो वह इसी आधार पर कहा गया है।

तत्त्वार्थवार्तिक में जो प्रयोग और विस्रसा ये शब्द आये हैं। उनमें से अध्याय ५, सूत्र २२ में इनका यह अर्थ किया गया है —

तत्र प्रयोगः पुद्गलविकारस्तदनपेक्षा विक्रिया विस्रसा।

वहाँ पुद्गल का विकार प्रयोग कहलाता है और उसकी अपेक्षा के बिना होनेवाली विक्रिया का नाम विस्रसा है। अर्थात् पुद्गल विकार की अपेक्षा किये बिना जो विक्रिया (परिणाम) होती है, उसका नाम विस्रसा है।

आगे इनका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

तत्र परिणामो द्विविधः—अनादिरादिमांश्च। अनादिर्लोक-संस्थानमन्दराकारादिः। आदिमान् प्रयोग जो वैस्रसिकश्च। तत्र चेतनस्य द्रव्यस्यौपशमकादिर्भावः कर्मोपशमाद्यपेक्षोऽपौरुषेयत्वात् वैस्रसिक इत्युच्यते। ज्ञान-शील-भावनादिलक्षणः आचार्यादिपुरुष-प्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगजः। अचेतनस्य च मृदादेः घट-संस्थानादि-परिणामः कुलालादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगजः। इन्द्रधनुरादि-नानापरिणामो वैस्रसिकः।

वहाँ परिणाम दो प्रकार का है—अनादि और आदिमान्। लोक संस्थान और मन्दराकारादि अनादि परिणाम है। आदिमान् परिणाम दो प्रकार है—प्रयोगज और वैस्रसिक। वहाँ चेतन द्रव्य के औपशमादिक भावकर्मों के उपशम आदि की अपेक्षा से होकर भी अपौरुषेय होने से वैस्रसिक ऐसा कहा जाता है। ज्ञान, शील और भावना आदि

लक्षणवाला परिणाम आचार्यादि पुरुषों के प्रयोग के निमित्त से होता है, इसलिए प्रयोगज है। तथा अचेतन मिट्टी का घट संस्थान आदि परिणाम कुलालादि पुरुषों के प्रयोग के निमित्त से होता है, इसलिए प्रयोगज है। इन्द्र–धनुष आदि नाना परिणाम वैस्रसिक हैं।

आगे अध्याय ५, सूत्र २४ में बन्ध के प्रसंग से लिखा है —

विस्रसा विधिविपर्यये निपातः ॥११॥ प्रयोगः पुरुषकाय–वाङ्–मनःसंयोगलक्षणः ॥१२॥

पौरुषेय परिणाम की अपेक्षा का नाम विधि है और उससे विपरीत अर्थ में विस्रसा निपातन सिद्ध जानना चाहिए। तथा पुरुष के काय, वचन और मन के संयोग का नाम प्रयोग है। जिस बन्ध में प्रयोग निमित्त हो, उससे प्रयोगागिक बन्ध लिया गया है तथा अजीव बन्ध में लाख–लकड़ी आदि का बन्ध लिया गया है।

इस प्रकार तत्त्वार्थवार्तिक में प्रयोग के दो लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि सूत्र २२ में प्रयोग का लक्षण लिखने के बाद जो उदाहरण दिये गये हैं, उनसे तो सूत्र २४ में दिया गया प्रयोग का लक्षण ही फलित होता है। फिर भी यह सवाल बना ही रहता है कि सूत्र २२ में पुद्गल विकार को प्रयोग क्यों कहा ? जब इस सवाल पर गहराई से विचार करते हैं तो सूत्र २२ में दिये गये उदाहरणों से ही उसका समाधान हो जाता है। वहाँ सादि वैस्रसिक जीव परिणामों से औपशमिक आदि भाव लिए गये हैं। लिखा है कि ये भाव कर्मों के उपशमादि की अपेक्षा से होकर भी अपौरुषेय होने से वैस्रसिक हैं। इन्हें अपौरुषेय तो इसलिए कहा, क्योंकि इनकी उत्पत्ति में पुरुष के काय, वचन और मन के प्रयोग की अपेक्षा नहीं होती। और सूत्र २२ में प्रयोग के लक्षण के अनुसार इन्हें प्रायोगिक इसलिए नहीं कहा, क्योंकि कर्मों का उपशम आदि पुद्गल का विकार होने पर भी वे उन भावों की उत्पत्ति के कारण निमित्त नही हैं, कर्मोदय के अभाव में

या उनका क्षय हो जाने पर जीव के सम्यग्दर्शनादि परिणामों के अनुकूल आत्मपुरुषार्थ करने पर वे स्वकाल में स्वयं ही उत्पन्न हुए हैं। आगम में काललब्धि की मुख्यता से इनका कथन इसीलिए किया गया है।

इस कथन से यह फलित हुआ है कि करणानुयोग के अनुसार जिन्हें औपशमिक आदि भाव कहा जाता है, वास्तव में जीव के स्वभाव ही हैं और उनकी उत्पत्ति में लौकिक पुरुषार्थ, जिसे आचार्यदेव ने अष्टशती में **(पुरुषार्थः पुन इहचेष्टितं दृष्टम्)** इह चेष्टा कहा है, उसकी अणुमात्र भी अपेक्षा नहीं पड़ती। वह तो मन, वचन और काय की प्रवृत्तिपूर्वक होनेवाले मानसिक विकल्पों से मुक्त होकर अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव में उपयोग द्वारा लीनता प्राप्त करने पर ही होता है। यह जीव का उक्त लौकिक पुरुषार्थ से भिन्न अलौकिक पुरुषार्थ है। यतः इन औपशमिक आदि भावों के होने में जीव का यह लौकिक पुरुषार्थ कार्यकारी नहीं है, इसीलिए उन्हें अपौरुषेय कहकर विस्रसा कहा है। तात्पर्य यह है कि इन औपशमिक आदि भावों की उत्पत्ति के न तो कर्मों की उपशमादिरूप अवस्था करण निमित्त हैं और न ही इनकी उत्पत्ति जीवों के प्रशस्त मन, वचन और काय के व्यापार परक व्रत-नियमादिरूप लौकिक पुरुषार्थ से ही होती है। जीव के जितने भी स्वभाव भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी उत्पत्ति का मार्ग ही जुदा है। अध्यात्म उसी मार्ग का प्रतिपादन करता है। इसकी पुष्टि में तत्त्वार्थवार्त्तिक, अध्याय १, सूत्र २ का यह कथन भी दृष्टव्य है—

कर्माभिधायित्वेऽप्यदोष इति चेत्? न, मोक्षकारणत्वेन स्वपरिणामस्य विक्षितत्त्वात्॥१०॥ स्य-परनिमित्तत्वादुत्पादस्येति चेत्? न, उपकरणमात्रत्वात्॥११॥ आत्मपरिणामादेव तद्रसघातात्॥१२॥ अहेयत्वात् स्वधर्मस्य॥१३॥ प्रधानत्वात्॥१४॥ प्रत्यासत्तेः॥१४॥

शंका—मोक्ष का कारण सम्यक्त्व नामक द्रव्यकर्म को कहने पर भी कोई दोष नहीं है।

समाधान—नहीं, क्योंकि मोक्ष के कारणरूप से आत्मा का परिणाम ही विवक्षित है। सम्यक्त्व नामक द्रव्यकर्म पुद्गलद्रव्य की पर्याय है, इसलिए मोक्ष के कारणरूप से वह विवक्षित नहीं है।

शंका—सम्यक्त्व की उत्पत्ति स्व और पर (सम्यक्त्च कर्म) दोनों के निमित्त से होती है, इसलिए सम्यक्त्व नामक द्रव्यकर्म को भी मोक्ष का कारण मानना चाहिए।

समाधान—नहीं, क्योंकि बाह्य साधन उपकरणमात्र है।

दूसरे सम्यक्त्व आदि आत्मपरिणामों से सम्यक्त्व कर्म का उत्तरोत्तर रसघात ही होता है, (२) तीसरे आत्मा का यह सम्यक्त्व परिणाम त्यागा नहीं जाता, क्योंकि उसके होने पर ही आत्मा सम्यग्दर्शन पर्यायरूप से परिणमन करता है, इसलिए अहेय है। परन्तु सम्यक्त्व नामक कर्म पुद्गल हेय है, क्योंकि उसके बिना ही क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। (३) चौथे आत्मा का सम्यग्दर्शन परिणाम प्रधान है, क्योंकि भीतर उसके होने पर बाह्य सम्यक्त्व नामक द्रव्यकर्म बाह्य निमित्तमात्र है, अतः अप्रधान है। (४) पाँचवें आत्मा का परिणाम सम्यग्दर्शन प्रत्यासत्तिवश मोक्ष का कारण है,क्योंकि उसकी तादात्म्यभाव से उत्पत्ति होती है। किन्तु सम्यक्त्व नामक द्रव्यकर्म विप्रकृष्टतर है, वह तादात्म्यरूप से परिणमन नहीं करता। इसलिए अहेय होने से, प्रधान होने से और प्रत्यासन्न होने से सम्यग्दर्शन नामक आत्मपरिणाम ही मोक्ष का कारण होना युक्त है, सम्यक्त्व नामक द्रव्यकर्म नहीं।

७. पर्यायों की द्विविधता

परमागम में दो प्रकार की ही पर्यायें स्वीकार की गयी हैं।

(१) स्वसापेक्ष स्वभाव पर्याय, (२) स्व-परसापेक्ष स्वभाव पर्याय और (३) स्व-परसापेक्ष विभाव पर्याय, इस तरह तीन प्रकार की नहीं। वस्तुत: स्वसापेक्ष स्वभाव पर्याय से स्व-परसापेक्ष स्वभाव पर्याय पृथक् नहीं है, दोनों एक ही हैं, क्योंकि जितनी भी स्वभाव पर्यायें होती हैं, वे स्व के लक्ष्य से अपने परिणाम द्वारा तन्मय होने पर ही उत्पन्न होती हैं, इसलिए उन्हें आगम में परनिरपेक्ष या स्वसापेक्ष ही स्वीकार किया गया है। अनन्तर पूर्व दिये गये तत्त्वार्थ भाष्य के उक्त वचन से ही इसकी पुष्टि हो जाती है। इस विषय में प्रवचनसार का यह सूत्र वचन भी दृष्टव्य है—

सुह परिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणियमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये॥१८१॥

अन्य द्रव्य को लक्ष्यकर जो शुभ परिणाम होता है, उसका नाम पुण्य है और अशुभ परिणाम का नाम पाप है। किन्तु जो परिणाम अन्य को लक्ष्य कर नहीं होता, उसे परमागम में दु:ख के क्षय का कारण कहा गया है॥१८१॥

परद्रव्य प्रवृत्त शुभाशुभ का नाम पुण्य-पाप है, ये दोनों जीव के अशुद्ध परिणाम हैं। परद्रव्य प्रवृत्तपने की अपेक्षा इनमें कोई भेद नहीं है। इन्हीं परिणामों का नाम स्व-परसापेक्ष पर्याय है। इस भूमिका में रहनेवाला जीव भी अशुद्ध कहा जाता है। तथा स्वद्रव्य प्रवृत्त परिणाम का नाम धर्म है। इस भूमिका में स्थित जीव नियम से अपने काल में मोक्ष का पात्र होता है। इस अपेक्षा जीव शुद्ध कहा जाता है। इसी की स्वसापेक्ष या परनिरपेक्ष परिणाम संज्ञा है।

इस तथ्य को स्पष्टरूप से समझने के लिए समयसार का यह सूत्र वचन भी दृष्टव्य है—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ॥१६९॥

जीव को शुद्धरूप से-परनिरपेक्ष अकेले एकरूप से अनुभव करनेवाला जीव शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। तथा जीव को अशुद्धरूप से परसापेक्ष संयुक्तरूप से अनुभवनेवाला जीव संसारीरूप से अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है।

इस प्रकार निश्चित होता है कि जीव और पुद्गलद्रव्य की केवल स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय ये दो ही पर्यायें होती हैं। तथा धर्मादि अन्य चार द्रव्यों की एकमात्र स्वभाव पर्याय ही होती है। उसी को सर्वार्थसिद्धि आदि परमागम में उत्पाद की अपेक्षा स्वप्रत्यय उत्पाद कहा गया है। यह षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वप्रत्यय उत्पाद अकेले अगुरुलघुगुण का ही न होकर सभी गुणों का होता है। वहाँ 'अनन्तानां अगुरुलघु-गुणानां' का अर्थ अनन्त अविभागप्रतिच्छेद है, न कि अगुरुलघुगुण के अनन्त अविभाग परिच्छेदरूप अर्थ विवक्षित है। वहाँ धर्मादिक तीन द्रव्यों का प्रकरण है। इसलिए उनकी स्वप्रत्यय स्वभाव पर्याय कैसे होती है, यह समझाया गया है। साथ ही उस पर्याय पर आश्रय निमित्तरूप व्यवहार कैसे घटित होता है, यह भी वहाँ स्पष्ट किया गया है। इससे स्पष्ट है कि इस या इसी प्रकार के दूसरे आगमिक आधार पर जो स्वभाव पर्याय के स्वप्रत्यय या परनिरपेक्ष स्वभाव पर्याय और स्व-परप्रत्यय स्वभाव पर्याय ऐसे दो भेद करते हैं, उनकी वैसी चेष्टा आगम विरुद्ध है। आशय यह है कि सभी स्वभाव पर्यायों में चाहे वे अगुरुलघुगुण की ही क्यों न हों, व्यवहार से आश्रय निमित्त अवश्य होते हैं, उनके कर्तानिमित्त और करणनिमित्त नहीं होते, इसलिए उनकी परनिरपेक्ष या स्वसापेक्ष संज्ञा है। साथ ही उक्त कथन से यह भी समझ लेना चाहिए कि जो जीव स्वभाव-सन्मुख या स्वभावलीन होता है, उसकी शुद्ध संज्ञा है और जो जीव स्वभाव को गौण कर या उसको न समझकर पर में राग -द्वेष-मोह करता है, उसकी अशुद्ध संज्ञा है। इसी आधार पर प्रत्येक

जीव क्रम से मुक्त और संसारी बनता है। इस दृष्टि से किस निश्चय उपादान की भूमिका में आकर इसने इस अवस्था को प्राप्त किया है, यह मुख्य नहीं हैं; मुख्य उसका झुकाव है कि उसका झुकाव स्वभाव की ओर है या राग पूर्वक पर की ओर। जब विभाव या स्वभाव की ओर झुकाव रहता है, तब निश्चय उपादान भी उनके अनुकूल रहता है, ऐसा ही अन्वय-व्यतिरेक है।

शंका—जैसे मिट्टी में जिस प्रकार कुम्भ निर्माण का कर्तृत्व विद्यमान है, उसी प्रकार कुम्भकार व्यक्ति में भी कुम्भ निर्माण का कर्तृत्व विद्यमान है। फरक यह है कि मिट्टी कुम्भरूप परिणत होती है और कुम्भकार कुम्भरूप परिणत होने में सहायक होता है।

समाधान—मिट्टी कुम्भ की स्वरूप से कर्ता है, कुम्भकार स्वरूप से कर्ता नहीं है, क्योंकि कुम्भकार में कुम्भ कार्य के कर्तृत्वगुण का अत्यन्त अभाव है। मात्र उसमें प्रयोजनवश कर्तृत्व का उपचार किया जाता है। अतएव मिट्टी कुम्भरूप केवल परिणत ही नहीं होती, किन्तु परिणमन करती है। कुम्भकार मिट्टी के घट कार्य का वास्तव में सहायक नहीं होता है; सहायक होता है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है और ऐसे व्यवहार का कारण कुम्भकार का योग और विकल्प है।

शंका—पहले आपने शुद्ध आत्मा का अर्थ अकेला परनिरपेक्ष एकरूप किया है, सो इसे और अधिक स्पष्ट कीजिए?

समाधान—समयसार, गाथा ३८ की आत्मख्याति टीका में शुद्ध शब्द का अर्थ करते हुए बतलाया है —

नर-नारकादिजीवविशेषजीवपुण्यपापास्त्रवसंवरनिर्जराबन्ध-मोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णज्ञायकस्वभाव-भावेनात्यन्तविवक्तत्वाच्छुद्धः।

मैं, नर-नारकादि जीव विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्त्रव,

संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षरूप व्यावहारिक नौ तत्त्वों से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा अत्यन्त भिन्न हूँ, इसलिए शुद्ध हूँ।

मोक्षमार्गी के लिए एकमात्र स्वत:सिद्ध, अनादि-अनन्त, नित्य उद्योतस्वरूप और विशद ज्ञान-दर्शन ज्योतिस्वरूप एक ज्ञायकभाव ही अनुभवने योग्य है, इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए शुद्ध शब्द का उक्त अर्थ किया गया है।

कर्ता-कर्मभाव के विकल्प से मुक्त करने की दृष्टि से शुद्ध शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए गाथा ७३ आत्मख्याति टीका में आचार्यदेव कहते हैं—

समस्तकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः।

कर्ता-कर्म आदि समस्त कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार को प्राप्त निर्मल अनुभूति मात्र होने से मैं शुद्ध हूँ।

उक्त समग्र कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मोक्षमार्गी के लिए न तो पर्यायाश्रित विकल्प ही मुक्ति प्राप्ति का यथार्थ साधन है और न ही कर्ता-कर्म आदिरूप कारक विकल्प ही मुक्ति प्राप्ति का यथार्थ साधन है। इस प्रकार समस्त विकल्पों से मुक्त होकर जो मात्र अखण्ड एक ज्ञायकस्वरूप आत्मा को अनुभवता है, वही यथार्थ में मोक्षमार्गी होकर संसार से मुक्त होता हुआ परमात्मस्वरूप अवस्था का अधिकारी होकर स्वात्मोत्थ अनन्त सुख का भोक्ता बनता है, इसके सिवाय पराश्रित अन्य जितने उपाय हैं, वे सब परमार्थ से संसार तत्त्व को ही बढ़ानेवाले हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर वीतराग सर्वज्ञदेव ने अपनी दिव्यध्वनि द्वारा जिस मार्ग को दर्शाया, उसे स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वयंभू-स्तोत्र में क्या कहते हैं, यही उन्हीं के शब्दों में पढ़िए—

यद्वस्तु बाह्यं गुण-दोषसूतेर्निमित्तमाभ्यन्तरमूलहेतोः।
अध्यात्मवृत्तस्य तदंगभूतमाभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते॥५९॥

जिस गुण-दोष की उत्पत्ति का अभ्यन्तर (निश्चय उपादानरूप आत्मा) मूल हेतु है, उस कार्य का जो वस्तु निमित्तमात्र है, अध्यात्मवृत्त—मोक्ष के साधक मोक्षमार्गी की दृष्टि में वह गौण है, क्योंकि वे जिनेन्द्रदेव आपके शासन के अनुसार मोक्षमार्ग निश्चयनय प्रधान होने से उस मोक्षमार्गी की दृष्टि में अभ्यन्तर हेतु ही पर्याप्त है ॥५९॥

और इसीलिए प्रवचनसार, गाथा १६ की तत्त्वप्रदीपिका टीका में स्वयंभू पद की व्याख्या करते हुए आचार्यदेव अमृतचन्द्र लिखते हैं—

अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकसम्बन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्णणतया परतन्त्रैर्भूयते।

इसलिए निश्चय से आत्मा का पर के साथ कारक सम्बन्ध नहीं है, जिससे कि ये जीव शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए सामग्री का अनुसन्धान करने के प्रयोजन से परतन्त्र होते हैं।

स्पष्ट है कि व्यवहार से आगम में प्रतिपादित कार्य-कारण परम्परा से अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर कालप्रत्यासत्तिवश बाह्य कारण की स्वीकृति होने पर भी, जिससे परमार्थस्वरूप कार्य-कारण परम्परा की यथार्थता में बाधा न आये, इसी पद्धति से उसका कथन करना परमागम में व्यवहार से स्वीकार किया गया है। विज्ञेषु किमधिकम्।

●

निश्चय-उपादान-मीमांसा

उपादान विधि-निरवचन है निमित्त उपदेश।
वसै जु जैसे देश में धरै सु तैसे भेष॥

[पण्डित प्रवर बनारसीदासजी]

पिछले प्रकरण में हम बाह्य निमित्तकारण की सांगोपांग विवेचना कर आये हैं। यह तो निर्विवाद सत्य है कि बाह्य निमित्तकारण ऐसे ही उपकरणमात्र है, जैसे राजा की पहिचान के बाह्य साधन छत्र, चमर और विशिष्ट सिंहासन आदि होते हैं। या भागते हुए चोर के पीछे उसको गिरफ्त में लेने के लिए भागते हुए पुलिस के सिपाही आदि होते हैं। इसलिए यह प्रश्न होता है कि स्वयं प्रत्येक द्रव्य की प्रतिसमय जो पर्याय होती है, वह पृथक्-पृथक् या एक सदृश कैसे होती है। उनके वैसा होने के स्वयं वस्तुनिष्ठ अन्तरंग कोई कारण हैं या केवल बाह्य निमित्तकारण के अनुसार ही वे होती हैं। यदि केवल बाह्य निमित्तों के अनुसार वस्तुओं की प्रत्येक पर्याय की उत्पत्ति मानी जाए तो प्रत्येक वस्तु को स्वरूव से ही परतन्त्र मानने का प्रसंग उपस्थित होता है। और ऐसी अवस्था में जीवों की स्वाश्रित बन्ध-मोक्षव्यवस्था, परमाणुओं, धर्मादि चार द्रव्यों की स्वभाव पर्यायें तथा अभव्यों और दूरांदूर भव्यों का निरन्तर संसारी बना रहना नहीं बन सकता। इसलिए प्रत्येक द्रव्य में उसके अपने-अपने स्वभाव आदि के कारणस्वरूपी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए, जिसके कारण प्रत्येक समय का उत्पाद-व्यय स्वयं होता है। प्रत्येक समय के पृथक्-पृथक् जो वस्तुनिष्ठ कारण हैं, उनकी ही आगम में निश्चय उपादान संज्ञा स्वीकार की गयी है।

१. प्रकृत विषय का स्पष्टीकरण

प्रकृत में इस विषय को स्पष्ट करने के लिए हम सर्व प्रथम घट का उदाहरण लेते हैं। घट मिट्टी की पर्याय है, क्योंकि घट में मिट्टी का अन्वय देखा जाता है। इसलिए घट का उपादान मिट्टी कही जाती है। परन्तु यदि केवल मिट्टी से ही घट बनने लगे तो मिट्टी के बाद घट की ही उत्पत्ति होनी चाहिए। मिट्टी और घट के बीच में जो पिण्ड, स्थान, कोश और कुशूल आदिरूप विविध सूक्ष्म और स्थूल पर्यायें होती हैं, वे नहीं होनी चाहिए। माना कि ये सब पर्यायें मिट्टीमय हैं। परन्तु जो मिट्टी खान से आती है, वह पूर्वोक्त अन्य पर्यायों को प्राप्त हुए बिना घट पर्यायरूप से परिणत नहीं हो सकती। इससे मालूम पड़ता है कि केवल मिट्टी को घट का उपादानकारण कहना द्रव्यार्थिकनय का कथन है। वस्तुत: घट की उत्पत्ति अमुक पर्याय विशिष्ट मिट्टी से होती है; जिस अवस्था में मिट्टी खान से आती है, उस अवस्था विशिष्ट मिट्टी से नहीं। अतएव इस अपेक्षा से घट का निश्चय उपादानकारण विवक्षित अवस्था विशिष्ट मिट्टी ही होती है, अन्य अवस्था विशिष्ट मिट्टी नहीं।[१]

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए दूसरा उदाहरण हम जीव का ले सकते हैं। मुक्त अवस्था जीव की स्वाश्रित पर्याय है, क्योंकि मुक्त अवस्था में जीव का अन्वय देखा जाता है। इसलिए द्रव्यार्थिकनय से मुक्त अवस्था का उपादानकारण जीव कहा जाता है। परन्तु यदि केवल जीव से मुक्त अवस्था उत्पन्न होने लगे तो निगोदिया जीव को भी उस पर्याय के बाद मुक्त अवस्था उत्पन्न हो जानी चाहिए। निगोद अवस्था

१— इसके लिए देखो अष्टसहस्री, श्लोक १० की टीका। यहाँ पर व्यवहारनय (द्रव्यार्थिकनय) से मिट्टी को घट का उपादान कहा है, ऋजुसूत्रनय से पूर्व पर्याय को घट का उपादान कहा है तथा प्रमाण से पूर्व पर्यायविशिष्ट मिट्टी को घट का उपादान कहा है।

और मुक्त अवस्था के बीच में जो दूसरी अनेक पर्यायें दृष्टिगोचर होती हैं, वे नहीं होनी चाहिए। माना कि इन दोनों अवस्थाओं के बीच कम या अधिक जो दूसरी पर्यायें होती हैं, वे सब जीवमय हैं। परन्तु जो जीव निगोद से निकलता है, वह पूर्वोक्त संसार की अन्य पर्यायों को प्राप्त हुए बिना मुक्त अवस्था को नहीं प्राप्त होता। इससे मालूम पड़ता है कि केवल जीव को मुक्त अवस्था का उपदानकारण कहना द्रव्यार्थिकनय का वक्तव्य है। वस्तुतः मुक्त अवस्था की उत्पत्ति अन्तिम क्षणवर्ती अयोगिकेवली अवस्था विशिष्ट जीव से ही होती है। इसके पूर्व क्रम से सयोगिकेवली, क्षीणकषाय, सूक्ष्मसाम्पराय, अनिवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अप्रमत्तसंयत आदि अवस्था गर्भ प्रचुर अवस्थाएँ नियम से होती हैं। अप्रमत्तसंयत अवस्था के पूर्व कौन-कौन अवस्थाएँ हों, इनका नाना जीवों की अपेक्षा एक नियम नहीं है। अपने-अपने निश्चय उपादान के अनुसार दूसरी-दूसरी अवस्थाएँ यथासम्भव होती हैं। जिस प्रकार सब पुद्गल घट नहीं बनते, उसी प्रकार यह भी नियम है कि सब जीव इन अवस्थाओं को प्राप्त नहीं होते। जो निकट भव्य हैं, वे ही अपने-अपने निश्चय उपादान के अनुसार यथासमय इन अवस्थाओं को प्राप्त कर मुक्त होते हैं। इतना स्पष्ट है कि मुक्त होने के अनन्तर पूर्व अयोगी अवस्था नियम से होती है। अतएव निश्चय उपादानकारण और कार्य के ये लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

२. निश्चय उपादान का स्वरूप

नियतपूर्वक्षणवर्तित्वं कारणलक्षणम्। नियतोत्तरक्षणवर्तित्वं कार्यलक्षणम्। *अष्टसहस्री टिप्पण, पृष्ठ २११।*

नियत पूर्व समय में रहना कारण का लक्षण है और नियत उत्तर क्षण में रहना कार्य का लक्षण है।

यद्यपि इसमें जो नियत पूर्व समय में स्थित है, उसे कारण और

जो नियत उत्तर समय में स्थित है, उसे कार्य कहा गया है, पर इससे निश्चय उपादानकारण और उसके कार्य का सम्यक् बोध नहीं होता, क्योंकि नियत पूर्व समय में द्रव्य और पर्याय दोनों अवस्थित रहते हैं, इसलिए इतने लक्षण से कौन किसका निश्चय उपादानकारण है और किस निश्चय उपादान का कौन कार्य है, यह बोध नहीं होता। फिर भी उक्त कथन से निश्चय उपादानकारण और कार्य में एक समय पूर्व और बाद में होने का नियम है, यह बोध तो हो ही जाता है। निश्चय उपादानकारण का अव्यभिचारी लक्षण क्या है, इसका स्पष्ट उल्लेख अष्टसहस्री (पृष्ठ २१०) में एक श्लोक उद्धृत करके किया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

त्यक्तात्यक्तात्मरूप यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम्॥

जो द्रव्य तीनों कालों में अपने रूप को छोड़ता हुआ और नहीं छोड़ता हुआ, पूर्वरूप से और अपूर्वरूप से वर्त रहा है, वह उपादानकारण है – ऐसा जानना चाहिए।

यहाँ पर द्रव्य को उपादान कहा गया है। उसके विशेषणों पर ध्यान देने से विदित होता है कि द्रव्य का न तो केवल सामान्य अंश उपादान होता है और न केवल विशेष अंश उपादान होता है। किन्तु सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य ही निश्चय उपादान होता है। द्रव्य के केवल सामान्य अंश को और केवल विशेष अंश को उपादान मानने में जो आपत्तियाँ आती हैं, उनका निर्देश स्वयं आचार्य विद्यानन्द ने एक दूसरा श्लोक उद्धृत करके कर दिया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

यत् स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा।
तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा॥

जो अपने स्वरूप को छोड़ता ही है, केवल वह (पर्याय) और

जो अपने स्वरूप को सर्वथा नहीं छोड़ता केवल वह (सामान्य) अर्थ (कार्य) का उपादान नहीं होता। जैसे क्षणिक और शाश्वत।

यद्यपि सर्वथा क्षणिक और सर्वथा शाश्वत कोई पदार्थ नहीं है। परन्तु जो लोग पदार्थ को सर्वथा क्षणिक मानते हैं, उनके यहाँ जैसे सर्वथा क्षणिक पदार्थ कार्य का उपादान नहीं हो सकता और जो लोग पदार्थ को सर्वथा शाश्वत मानते हैं, उनके यहाँ जैसे सर्वथा शाश्वत पदार्थ कार्य का उपादान नहीं हो सकता, उसी प्रकार द्रव्य का केवल सामान्य अंश कार्य का उपादान नहीं होता और न केवल विशेष अंश कार्य का उपादान होता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए स्वामी कार्तिकेय स्वरचित द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं :—

जं वत्थु अणेयतं तं चिय कज्जं करेई णियमेण।
बहुधम्मजुदं अत्थं कज्जकरं दीसए लोए॥२२५॥

जो वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, वही नियम से कार्यकारी होती है, क्योंकि बहुत धर्मों से युक्त अर्थ ही लोक में कार्यकारी देखा जाता है॥२२५॥

एयंतं पुण दव्वं कज्जं ण करेदि लेसमित्तं पि।
जं पुण ण कीरदि कज्जं तं वुच्चदि केरिसं दव्वं॥२२६॥

किन्तु एकान्तरूप द्रव्य लेशमात्र भी कार्य करने में समर्थ नहीं होता और जब वह कार्य नहीं कर सकता तो उसे द्रव्य कैसे कहा जा सकता है, अर्थात् नहीं कहा जा सकता॥२२६॥

आगे एकान्तस्वरूप द्रव्य या पर्याय कार्यकारी कैसे नहीं होता इसका समर्थन करते हुए वे कहते हैं :—

परिणामेण विहीणं णिच्चं दव्वं विणस्सदे णेव।
णो उप्पज्जदि य सदा एवं कज्जं कहं कुणइ॥२२७॥

पज्जयमित्तं तच्चं खणे खणे वि अण्णण्णं।
अण्णइदव्वविहीणं ण य कज्जं किं पि साहेदि ॥२२८ ॥

अपने परिणाम से हीन नित्य द्रव्य सर्वदा न तो विनाश को ही प्राप्त होता है और न उत्पन्न ही होता है, इसलिए वह कार्य को कैसे कर सकता है। तथा पर्यायमात्र तत्त्व क्षण-क्षण में अन्य-अन्य होता रहता है, इसलिए अन्वयी द्रव्य से रहित वह किसी भी कार्य को नहीं साध सकता ॥२२७-२२८ ॥

इसलिए स्वामी कार्तिकेय ने फलितार्थरूप में उपादानकारण और कार्य का जो लक्षण किया है, वह इस प्रकार है :—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥२३० ॥

अनन्तर पूर्व परिणाम से युक्त द्रव्य, कारणरूप से प्रवर्तित होता है और अनन्तर उत्तर परिणाम से युक्त वही द्रव्य, नियम से कार्य होता है ॥२३० ॥

स्वामी विद्यानन्द ने भी उपादानकारण और कार्य का क्या स्वरूप है, इसका बहुत ही संक्षेप में समाधान कर दिया है। वे श्लोक ५८ की अष्टसहस्री टीका में कहते हैं :—

उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षयः कार्योत्पाद एव, हेतोर्नियमात्।

उपादान का पूर्वाकार से क्षय कार्य का उत्पाद ही है, क्योंकि ये दोनों एक हेतु से होते हैं—ऐसा नियम है।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो अनन्तर पूर्व पर्यायविशिष्ट द्रव्य है, उसकी उपादान संज्ञा है और जो अनन्तर उत्तर पर्यायविशिष्ट द्रव्य है, उसकी कार्य संज्ञा है। उपादान-उपादेय का यह व्यवहार अनादि काल से इसी प्रकार चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए हम पहले एक उदाहरण घट कार्य का दे आये हैं। उससे स्पष्ट है कि खान से प्राप्त हुई मिट्टी से यदि घट बनेगा तो उसे क्रम से उन पर्यायों में जाना होगा जिनका निर्देश हम पूर्व में कर आये हैं। व्यवहारनय से कितना ही चतुर व्यवहार हेतुरूप से उपस्थित कुम्हार क्यों न हो, वह खान की मिट्टी से घट पर्याय तक की निष्पत्ति का जो क्रम है, उसमें परिवर्तन नहीं कर सकता। खान से लाई गयी मिट्टी जैसे-जैसे एक-एक पर्यायरूप से निष्पन्न होती जाती है, तद्नुकूल कुम्हार के हस्तपादादि का क्रिया व्यापार भी बदलता जाता है और उसी क्रम से मिट्टी के आश्रित विकल्पात्मक उपयोग में भी परिवर्तन होता जाता है। अन्त में मिट्टी में से घट पर्याय की निष्पत्ति इसी क्रम से होती है और जब मिट्टी में से घट पर्याय की निष्पत्ति हो जाती है, तो कुम्हार का व्यवहार से तदाश्रित योग-उपयोगरूप क्रिया व्यापार भी रुक जाता है। एक द्रव्याश्रित उपादान-उपादेयसम्बन्ध के साथ बाह्य द्रव्याश्रित निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध की यह व्यवस्था है जो अनादि काल से यथासम्भव इसी क्रम से एक साथ चली आ रही है और अनन्त काल तक इसी क्रम से चलती रहेगी।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार सर्वत्र एक ओर से नहीं होता, किन्तु कहीं-कहीं दोनों ओर से भी होता है। उदाहरणस्वरूप जब घट कार्य की मुख्यता होती है, तब विवक्षित योग और उपयोग से युक्त कुम्हार उसका व्यवहार हेतु कहा जाता है और घट कार्य नैमित्तिक कहा जाता है। किन्तु जब कुम्हार का विवक्षित योग और उपयोगरूप क्रिया व्यापार किस बाह्य निमित्त से हुआ इसका विचार किया जाता है, तो जो मिट्टी घट पर्यायरूप से परिणत हो रही है, वह उसका बाह्य निमित्त कहा जाएगा और विवक्षित योग-उपयोगविविष्ट कुम्हार उसका नैमित्तिक

कहा जाएगा। अनुभव में तो यह बात आती ही है, आगम से भी इसका समर्थन होता है। ऐसा नियम है कि जिस उपशम सम्यग्दृष्टि के उपशम सम्यक्त्व के काल में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवलि काल शेष रहता है, उसके अनन्तानुबन्धी चतुष्क में से किसी एक प्रकृति की उदीरणा होने पर सासादन गुणस्थान की प्राप्ति होती है। अब एक ऐसा उपशमसम्यग्दृष्टि जीव लीजिए जिसने अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना की है। ऐसे जीव को द्वितीय गुणस्थान की प्राप्ति तब हो सकती है, जब अनन्तानुबन्धी चतुष्क का सत्त्व होकर उसमें से किसी एक प्रकृति की उदीरणा हो और अनन्तानुबन्धी चतुष्क का सत्त्व और उसमें से किसी एक प्रकृति की उदीरणा तब हो सकती है, जब उसे सासादन गुण की प्राप्ति हो। स्पष्ट है कि यहाँ पर सासादन गुण की प्राप्ति का निमित्त अनन्तानुबन्धी की उदीरणा है और उसके सत्त्व के साथ उदीरणा का निमित्त सासादन गुण है। फिर भी ऐसे जीव को सासादन गुण की प्राप्ति किस निमित्त से होती है, इतना दिखलाना प्रयोजन रहने से यह कहा जाता है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्क में से किसी एक प्रकृति की उदीरणा के निमित्त से होती है। इस विषय को और भी स्पष्टरूप से समझने के लिए द्व्यगुणक का उदाहरण पर्याप्त है, क्योंकि द्व्यणुक के दोनों परमाणु अपनी-अपनी बन्धपर्याय की उत्पत्ति के प्रति उपादान होकर भी परस्पर दोनों में व्यवहार से निमित्त-नैमित्तिकभाव भी है। इतना अवश्य है कि यहाँ पर है, यह वैस्रसिक बन्ध का ही उदाहरण, क्योंकि इसमें पुरुष प्रयोग निमित्त नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना चाहिए।

यह निमित्त-नैमित्तिकव्यवहार की व्यवस्था है। इसके रहते हुए भी कितने ही व्यवहाराभासी व्यवहार हेतु के अनुसार कार्य की उत्पत्ति माननेवाले महानुभाव निश्चय उपादानकारण के वास्तविक रहस्य को न स्वीकार कर ऐसी शंका करते हैं कि खान से लायी गयी

मिट्टी से यदि घट की उत्पत्ति होगी तो उसमें क्रम से ही होगी, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु खान से लायी गयी अमुक मिट्टी घट का निश्चय उपादान होगा और अमुक मिट्टी सकोरा का निश्चय उपादान होगा, यह मिट्टी पर निर्भर न होकर कुम्हार पर निर्भर है। कुम्हार जिस मिट्टी से घट बनाना चाहता है, उससे घट बनता है और जिससे सकोरा बनाना चाहता है, उससे सकोरा बनता है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि कार्य की उत्पत्ति अपने निश्चय उपादान से होकर भी वह बाह्य निमित्त के अनुसार ही होती है। इतना ही नहीं, यदि कोई विशिष्ट घट बनवाना होता है, तो उसके लिए विशिष्ट कुम्हार की शरण लेनी पड़ती है। यदि ऐसा हो कि केवल अमुक प्रकार की मिट्टी से ही विशिष्ट घट बन जाए, उसमें कुम्हार की विशेषता को ध्यान में रखने की आवश्यकता न पड़े तो फिर मात्र योग्य मिट्टी का ही संग्रह किया जाना चाहिए, विशिष्ट कारीगर की ओर ध्यान देने की क्या आवश्यकता? यत: लोक में योग्य उपादान सामग्री के समान योग्य कारीगर का भी विचार किया जाता है और ऐसा योग मिल जाने पर कार्य भी विशिष्ट होता है। इससे मालूम पडता है कि कार्य की उत्पत्ति अपने निश्चय उपादान से होकर भी वह बाह्य निमित्त के अनुसार ही होती है। तात्पर्य यह है कि किस समय किस द्रव्य की क्या पर्याय हो, यह निश्चय उपादान पर निर्भर न होकर बाह्य निमित्त के आधीन है। वास्तव में व्यवहार हेतु की सार्थकता इसी में है, अन्यथा कार्यमात्र में व्यवहार हेतु को स्वीकार करना कोई मायने नहीं रखता।

यह एक प्रश्न है जो दो द्रव्यों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध और एक द्रव्याश्रित उपादान-उपादेय सम्बन्ध के वास्तविक रहस्य को न स्वीकार कर व्यवहाराभासी महाशय उपस्थित किया करते हैं। यद्यपि इस प्रश्न का समाधान पहिले हम जो निश्चय उपादानकारण का

स्वरूप दे आये हैं, उससे ही हो जाता है, क्योंकि उससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कार्य से अनन्तर पूर्व समय में जैसा उपादान होगा, अनन्तर उत्तर क्षण में उसी प्रकार का कार्य होगा। व्यवहार हेतु उसे अन्यथा नहीं परिणमा सकता।

इसीलिए निश्चय उपादान के साथ व्यवहार हेतु की मर्यादा का कथन करते हुए अष्टसहस्त्री, पृष्ठ २१० का वह वचन दृष्टव्य है—

असाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तिपूर्वाकारभावविशेषप्रत्यासत्तिरेव च निबन्धनमुपादानत्वस्य स्वोपादेयं परिणामं प्रति निश्चीयते।

असाधारण द्रव्य प्रत्यासित्त और पूर्वोकाररूप भावविशेष प्रत्यासत्ति ही अपने उपादेयरूप परिणाम के प्रति उपादानपनेरूप से कारण है, ऐसा निश्चित होता है।

प्रत्येक कार्य के प्रति यथासम्भव व्यवहार हेतु किस प्रयोजन से स्वीकार किया गया है, यह बात तो अन्य हैं। प्रश्न यह है कि नियत पूर्वाकार परिणत द्रव्य नियत उत्तराकार परिणत द्रव्य का निश्चय उपादान है या नहीं? परमागम में इस तथ्य पर बारीकी से विचार करते हुए यह दृढ़ता के साथ स्पष्ट किया गया है कि अव्यवहित नियत पूर्व पर्याय से परिणत द्रव्य जैसा होगा, उससे अव्यवहित उत्तर काल में वही कार्य होगा। कोई भी व्यवहार हेतु उसे नियत कार्य से अन्यथा नहीं परिणाम सकता। और इसीलिए आप्तमीमांसा के **दोषावरणयोर्हानिः** इसमें प्रयुक्त द्विवचन का समर्थन करते हुए आचार्य विद्यानन्द अष्टसहस्त्री में कहते हैं—

तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च।

अतः जीव में अज्ञानादि दोष का हेतु आवरण कर्म और जीव का अव्यवहित पूर्व समयवाला अपना परिणाम है।

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि नियत कार्य का नियत उपादान नियम से होता है। ऐसा नहीं है कि निश्चय उपादान अन्य

हो और कार्य व्यवहार हेतु के बल पर अन्य हो जाए। जो व्यवहाराभासी ऐसा मानते हैं, वे मात्र ऐसे कथन द्वारा परमागम का ही अपलाप करते हैं। यद्यपि वे अपने इस मत के समर्थन में आगम की दुहाई देते हैं, पर आगम में उनके इस मत का समर्थन करनेवाला एक भी उल्लेख नहीं उपलब्ध होता। किन्तु उनके इस मत के विरुद्ध ही पूरा जिनागम पाया जाता है। और इसीलिए स्वामी कार्तिकेय ने द्वादशानुप्रेक्षा में यह घोषणा की है —

णव-णवकज्जविसेसा तीसु वि कालेसु होंति वत्थूणं।
एक्केक्कम्मि य समये पुव्वुत्तरभावमासेज्ज॥२२९॥

वस्तुओं में तीनों ही कालों में प्रति समय पूर्व और उत्तर परिणाम की अपेक्षा नये-नये कार्य विशेष होते हैं।

इसी उल्लेख द्वारा आचार्य ने तीनों कालों में जितने कार्य, उतने ही उनके निश्चय उपादानकारण, इस तथ्य को स्पष्ट किया है। इसी को प्रत्येक द्रव्य का स्वकाल भी कहते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रति समय के प्रत्येक कार्य का निश्चय उपादान सुनिश्चित है। इस सुनिश्चित व्यवस्था का अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष, तर्क और अनुभव के आधार पर अपलाप करना एक द्रव्याश्रित कार्य-कारण भाव को ही मटियामेट करना है। मैं तो इसे आगम की अवहेलना करनेरूप सबसे बड़ा अपराध मानता हूँ। व्यवहार का समर्थन करना और बात है, परन्तु उसके समर्थन करने के लिए परमार्थ का अपलाप नहीं किया जाता। वह कैसा श्रुतज्ञान है, जो निश्चय उपादानरूप परमार्थ का अपलाप कर मात्र व्यवहार की स्थापना करता है। नैगमनय का बहुत बड़ा पेट है, पर उसकी एक मर्यादा है। जिससे अजीर्ण हो जाए, ऐसी नैगमनय की प्ररूपणा किस काम की। जहाँ भी नैगमनय से व्यवहार हेतु की पुष्टि की गयी है, वहाँ इन दृष्टियों को सामने रखकर ही व्यवहार हेतु की पुष्टि की गयी है—

(१) सर्वत्र आचार्यों ने एक द्रव्याश्रित अन्तर्व्याप्ति को ही मुख्यरूप से स्वीकार किया है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य अपने नित्य स्वभाव के समान परिणामस्वभावी भी है, इसलिए वह अन्य की सहायता के बिना स्वयं अपने परिणाम को करता है और वह ऐसे ही परिणाम को करता है, जैसा उसका निश्चय उपादान होता है। ऐसी ही इन दोनों में एक द्रव्याश्रित अन्तर्व्याप्ति है। वस्तुतः देखा जाए तो उस परिणाम को निश्चय उपादान भी नहीं करता है, क्योंकि उसका ध्वंस होकर ही कार्य की उत्पत्ति होती है। और बारीकी से देखा जाए तो द्रव्य का नित्य स्वभाव तो स्वयं अपरिणामी है और जिस समय कार्य हुआ, उस समय अव्यवहित पूर्व पर्याय स्वभाव का ध्वंस हो गया है, तो भी कार्य तो होता ही है, इसलिए यह निश्चित होता है कि विवक्षित कार्य अपने काल में स्वयं है। बात इतनी है कि निश्चय उपादान के अनुसार स्वयं कार्य की मर्यादा बनती है। अतः यह एक द्रव्याश्रित कथन है, इसलिए सद्भूतव्यवहारनय से निश्चय उपादान-उपादेय भाव स्वीकार किया गया है। तथा परिणामी तथा परिणाम में अभेद स्वीकार कर द्रव्य को अपने परिणाम का कर्ता कहा गया है।

(२) अब रही असद्भूतव्यवहारनय से कार्य कारण की बात, सो इस लोक के षट्द्रव्यमयी होने के कारण प्रत्येक द्रव्य की प्रति समय की पर्यायों को अन्य किस द्रव्य की पर्याय के साथ बाह्य व्याप्ति (व्यवहार व्याप्ति) पूर्वक काल प्रत्यासत्ति बनती है, इस तथ्य को ध्यान में रखकर विवक्षित कार्य का सूचक होने से इन दोनों के मध्य असद्भूतव्यवहारनय से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कल्पित किया गया है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्द क्या कहते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िए —

कथंचित्सत एव सामग्रीसन्निपातिनः स्वभावातिशयोत्पत्तेः सुवर्णस्यैव केपूरादिसंस्थानवत्। सुवर्ण कि सुवर्णत्वादिद्रव्यादेशात्

सदेव केयूरादिसंस्थानपर्यायादेशाच्चासदिति तथापरिणमन-शक्तिलक्षणायाः प्रतिविशिष्टन्तः सामग्र्याः सुवर्णकारव्यापारादि-लक्षणायाश्च बहिःसामग्र्या सन्निपाते केयूरादिसंस्थानात्मनोत्पद्यते। ततः सदसदात्मकेमेवार्थकृत्। —*अष्टसहस्री पृ० 150।*

कथंचित् सत् के ही सामग्री के सन्निपात होने पर सुवर्ण के केयूरादि संस्थान के समान स्वभावातिशय की उत्पत्ति होती है। जो सुवर्णत्व आदि द्रव्यार्थिकनय से सत् ही है और केयूरादि संस्थानरूप पर्यायार्थिकनय से असत् है, वह उस प्रकार के परिणमनरूप शक्ति लक्षणवाली प्रति-विशिष्ट अन्त:सामग्री का और सुवर्णकार के व्यापारादि लक्षण बहि:सामग्री का सन्निपात होने पर केयूर आदि संस्थानरूप से उत्पन्न होता है। इसलिए सिद्ध होता है कि सद्सदात्मक वस्तु ही अर्थ क्रियाकारी होती है।

इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कार्य में प्रतिविशिष्ट अन्त: सामग्री और बहि:सामग्री उसी प्रकार की होती है, जैसा कार्य होता है। प्रत्येक कार्य के प्रति निश्चय उपादान की अन्तर्व्याप्ति और व्यवहार साधन की बहि:व्याप्ति स्वीकार करने का आशय भी यही है। ऐसा ही निश्चय-व्यवहार का योग है। जो महाशय इन्द्रियप्रत्यक्ष, तर्क और अनुभव के आधार पर उसकी अन्यथा प्ररूपणा करते हैं, उनके उन इन्द्रिय प्रत्यक्ष आदि को सम्यक् श्रुतज्ञान तो नहीं कहा जा सकता।

इतने कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि अव्यहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य का नाम कारण है और अव्यवहित उत्तर पर्याययुक्त द्रव्य का नाम उसका कार्य है और इसलिए स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में निश्चय उपादान-उपादेय का यह लक्षण दृष्टिगोचर होता है —

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणाजुदं तं चिय कज्जं हणे णियमा॥२२२॥

नियम से अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त कारणरूप है और अव्यवहित उत्तर पर्याययुक्त द्रव्य कार्यरूप है ॥२२२॥

प्रत्येक कार्य का निश्चय उपादान एक ही है

इस प्रकार परमागम से निश्चय उपादान का लक्षण सुनिश्चित होने पर, जो महाशय इन्द्रिय प्रत्यक्ष, तर्क और अनुभव के आधार पर जोर-शोर से यह कहते हुए नहीं थकते कि अव्यवहित पूर्व समयवर्ती द्रव्य उपादान होते हुए भी उससे अव्यहित उत्तरकाल में कौन कार्य होगा, यह निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह अनेक योग्यताओंवाला होता है, इसलिए जब जैसा निमित्त मिलता है, तब उसी प्रकार का कार्य होता है, अतएव कार्य का नियामक निश्चय उपादान न होकर बाह्य निमित्त को ही मानना चाहिए। किन्तु उनका यह कथन कैसे आगम विरुद्ध है। इसे स्पष्टरूप से समझने के लिए आचार्य विद्यानन्द के त० श्लोक वा०पृ० ६५ के इस कथन पर भी दृष्टिपात कीजिए —

तेनायोगिजिनस्यान्त्यक्षणवर्ति प्रकीर्तितम्।
रत्नत्रयमशेषाधविधातकारणं ध्रवुम् ॥४७॥
ततो नाऽन्योऽस्ति मोक्षस्य साक्षान्मार्गो विशेषतः।
पूर्वावधारणं येन न व्यवस्थामियर्ति नः ॥४८॥

इसलिए अयोगीजिन का अन्त्यक्षणवर्ती रत्नत्रय नियम से समस्त अघातिकर्मों का क्षय करनेवाला कहा गया है ॥४७॥ इसलिए परमार्थ से मोक्ष का अन्य कोई साक्षात् मार्ग नहीं है, अत: हमने रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है, इस प्रकार जो पूर्वावधारण किया है, वह अव्यवस्थित न होकर व्यवस्थित ही है ॥४८॥

इसी तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुए वे इसी परमागम के पृष्ठ ६४ पर क्या करते हैं, इस पर भी दृष्टिपात कीजिए —

निश्चयनयात्तूभयावधारणमपीष्टमेव, अनन्तरसमयनिर्वाण-जननसमर्थानामेव सद्दर्शनादीनां मोक्षमार्गत्वोपपत्तेः।

निश्चयनय से तो दोनों ओर से अवधारण करना भी हमें इष्ट है, क्योंकि अव्यवहित उत्तर समय में निर्वाण को पैदा करने में समर्थ सम्यग्दर्शनादिक के ही मोक्षमार्गपना बनता है।

यहाँ पर निश्चयनय की अपेक्षा सम्यग्दर्शनादि ही मोक्षमार्ग है या सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग ही है। इस प्रकार अवधारण करके उस एकान्त को स्वीकार किया गया है, जिसे आजकल कुछ लोग सर्वथा एकान्त कहकर उसका निषेध करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र के इस वचन से भी इसी तथ्य को समर्थन होता है —

ततो नान्यत्वत्मं निर्वाणस्येत्यवधार्यते। *प्रवचनसार, गाथा ८२।*

इसलिए निर्वाण का एकमात्र रत्नत्रय को छोड़कर कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

शंका—चौथे आदि गुणस्थान के सम्यग्दर्शनादि को तो फिर मोक्षमार्ग क्यों कहा जाता है?

समाधान—सद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है, क्योंकि निश्चय उपादान उसी की संज्ञा है, जिसके बाद उसी के सदृश कार्य हो।

इसी तथ्य को स्पष्टरूप से समझने के लिए यह वचन दृष्टव्य है—

न हि द्व्यादिसिद्धक्षणैः सहायोगिकेवलिचरमसयमवर्तिनो रत्नत्रयस्य कार्यकारणभावो विचारयितुमुपक्रान्तो येन तत्र तस्या-सामर्थ्यं प्रसज्यते। किं तर्हि? प्रथमसिद्धक्षणेन सह, तत्र च तत्समर्थमेवेत्यसच्चोद्यमेतत्। कथमन्यथाग्निः प्रथमधूमक्षणमुपजन-यन्नपि तत्र समर्थः स्यात्, धूमक्षणजनितद्वितीयादिधूमक्षणोत्पादे तस्यासमर्थत्वेन प्रथमधूमक्षणोत्पादनेऽप्यसामर्थ्यप्रसक्तेः। तथा च न किंचित् कस्यचित् समर्थं कारणम्। न चासमर्थात् कारणादुत्पत्तिरिति

क्वेयं वराकी तिष्ठेत् कार्य-कारणता। कालान्तरस्थायिनोऽग्नेः स्वकारणादुत्पन्नो कालान्तरस्थायी स्कन्ध एक एवेनि स तस्य कारणं प्रतीयते, तथा व्यवहारात्, अन्यथा तद्भावात् इति चेत्? तर्हि सयोगि -केवलिरत्नत्रयमयोगिकेवलिचरमसमयपर्यन्तमेकमेव तदनन्तर - भाविनः सिद्धत्वपर्यायस्यानन्तरस्यैकस्य कारणमित्यायातम्, तच्च नानिष्टम्, व्यवहारनयावरोधतस्तथेष्टत्वात्। निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणमयोगिचरमसमयवर्ति रत्नत्रयमिति निरवद्यमेतत्तत्त्वविदामाभासते।

तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक, पृष्ठ ७१।

द्वितीय आदि सिद्धक्षणों के साथ अयोगिकेवली के अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रय का कार्य-कारण भाव विचार करने के लिए प्रस्तुत नहीं है, जिससे कि वहाँ उक्त सिद्धक्षणों के साथ उक्त रत्नत्रय की असामर्थ्य का प्रसंग प्राप्त होवे।

शंका—तो क्या है?

समाधान—प्रथम सिद्धक्षण के साथ उक्त रत्नत्रय का कार्य-कारण भाव प्रस्तुत है और वहाँ पर वह समर्थ ही है, इसलिए इस विषय में शंका करना व्यर्थ है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाए तो अग्नि प्रथम धूमक्षण को उत्पन्न करती हुई भी उस कार्य के करने में समर्थ कैसे होवे, क्योंकि धूमक्षणों से उत्पन्न हुए द्वितीयादि धूमक्षणों के उत्पाद में असमर्थ होने से प्रथम धूमक्षण की उत्पत्ति में भी असामर्थ्य का प्रसंग प्राप्त होता है और ऐसी अवस्था में कोई किसी का समर्थ कारण नहीं ठहरेगा। और असमर्थ कारण से कार्य की उत्पत्ति होती नहीं। इस प्रकार यह विचारी कार्यकारणता कहाँ ठहरेगी।

शंका—कालान्तर स्थायी अग्निरूप अपने कारण से उत्पन्न हुआ कालान्तर स्थायी धूमरूप स्कन्ध एक ही है, इसलिए वह उसका कारण प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा व्यवहार है, अन्यथा ऐसे व्यवहार का अभाव प्राप्त होता है?

समाधान— यदि ऐसा है तो सयोगिकेवली का रत्नत्रय अयोगि-केवली के अन्तिम समय तक एक ही है, इसलिए वह तदनन्तरभावी एक सिद्ध पर्याय का कारण है, ऐसा प्राप्त हुआ और वह हमें अनिष्ट नहीं है, क्योंकि व्यवहारनय के अनुरोध से वह हमें इष्ट है। किन्तु निश्चयनय का आश्रय करने पर तो जिसके अनन्तर मोक्ष की उत्पत्ति होती है, वही अयोगिकेवली का अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रय मोक्ष का मुख्य कारण है, यह तत्त्वज्ञों को निर्दोष प्रतीत होता है।

इस उद्धरण से जिन तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है, वे ये हैं —

(१) निश्चयनय से उपादानकारण उसी का संज्ञा है, जिसके अव्यहित उत्तर समय में तदनुरूप निश्चित कार्य होता है। इसकी पुष्टि इस वचन से भी होती है —

उपादानसदृशं कार्य भवति। *—परमात्मप्रकाश, पृष्ठ १५१ टीका।*

उपादान के सदृश कार्य होता है।

(२) इसी निश्चय उपादान की समर्थ कारण संज्ञा है, इसकी पुष्टि इस वचन से भी होती है—

विवक्षितस्वकार्यकरणे अन्त्यक्षणप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णम्।

— तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक, पृष्ठ ७०

विवक्षित अपने कार्य के करने में अन्त्यक्षण प्राप्तपने का नाम ही सम्पूर्ण है।

(३) निश्चय उपादान के पूर्व उसको व्यवहार उपादान कहते हैं। जैसे सयोगिकेवली के रत्नत्रय को या इससे पूर्व के रत्नत्रय को मोक्ष का उपादानकारण कहना, यह व्यवहार उपादान है। यह समर्थ उपादान तो नहीं है, फिर भी इसमें मोक्ष प्राप्ति के कारणरूपी केवल द्रव्य योग्यता विद्यमान है, इसलिए इसमें मोक्ष प्राप्ति की कारणता नैगमनय से स्वीकार कर यह मोक्ष का कारण है, ऐसा व्यवहार स्वीकार किया गया है।

३. कार्य का नियामक निश्चय उपादान ही

यहाँ तक हमने निश्चय उपादान का स्वरूप क्या है, यह बतलाया। अब आगे इसका विचार करना है कि परमार्थ से कार्य का नियामक निश्चय उपादान को माना जाए या असद्भूतव्यवहारनय के विषयभूत व्यवहार हेतु को। साधारणतः यह शंका उन व्यवहार हेतुओं को लक्ष्य कर व्यवहारीजनों के द्वारा उठायी गयी है, जिन्हें वे प्रेरक निमित्त कारण कहते है। आगम में कुछ ऐसे वचन भी मिलते हैं, जिनसे इस शंका को बल मिलता है। उदाहरणार्थ कर्मकाण्ड में कहा गया है —

विसवेयण-रत्तक्खय-भय-सत्थग्गहण-संकिलेसेहिं।
उस्साहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊँ ॥५७॥

विषजन्य वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, संक्लेश, उच्छ्वास-निरोध और आहारनिरोध से आयु का क्षय हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि उक्त कारणों का समागम होने पर आयु के क्षयपूर्वक जो मरण होता है, उसकी अकाल या कदलीघात मरण संज्ञा है ॥५७॥

इसी बात का समर्थन परमात्मप्रकाश के इस दोहे से भी होता है—

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ।
भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥१-६६॥

आत्मा पंगु के समान है। आत्मा न जाता है और न आता है। तीनों लोकों में इस जीव को विधि ही ले जाता है और विधि ही ले आता है ॥१-६६॥

करणानुयोग में कर्म की जो उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा, ये चार अवस्थाओं का उल्लेख आया है, उससे भी उन्हें लगता है कि जिन कार्यों में प्रेरक निमित्तों की मुख्यता देखी जाती है, उनमें प्रेरक निमित्तों को ही नियामक माना जाना चाहिए।

स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार गाथा १०० में कुम्भादि कार्यों के प्रति कुम्भकार के विकल्प ज्ञान और हस्तादि की क्रिया को

उत्पादक कहा है तथा आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने इनको निमित्तकर्ता भी कहा है। इसी प्रकार गाथा २७८-७९ में उक्त दोनों आचार्यों ने परद्रव्य को परिणमानेवाला कहा है। यही बात आचार्य गृद्धपिच्छ ने भी कही है। वे तत्त्वार्थसूत्र में पुद्गलबन्ध के प्रसंग से दो अधिक गुण (शक्त्यंश) वाले पुद्गल को दो हीन गुणवाले पुद्गल को परिणमानेवाला कहते हैं।

इन सब उद्धरणों से यही सिद्ध होता है कि जिन्हें वे प्रेरक निमित्त कहते हैं उन्हें ही, उनको निमित्तकर होनेवाले कार्यों का नियामक माना जाना चाहिए। इतना ही क्यों, आगम में जिन्हें उदासीन निमित्त कहा गया है, उनके विषय में भी उन व्यवहारीजनों का कहना है कि उन्हें भी कार्यों का नियामक मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखलायी देती। अन्यथा तत्त्वार्थसूत्र में 'धर्मास्तिकायाभावात्' (१०-९) इस सूत्र की रचना का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। सिद्ध जीव तो अपनी उपादान योग्यता के कारण लोकाकाश को उल्लंघन कर अलोकाकाश में भी जा सकते थे, परन्तु लोकाकाश के ऊपर अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय न होने से उनका लोकाकाश के अन्त तक ही गमन होता है, क्योंकि जीवों और पुद्गलों की गतिक्रिया में उदासीन निमित्तपने को प्राप्त होनेवाले धर्मास्तिकाय का लोकाकाश के बाहर सद्भाव नहीं पाया जाता।

यह व्यवहाराभासियों का कथन है। यह ठीक है कि आगम में अनेक स्थलों पर सुनिश्चित व्यवहार हेतुओं के समर्थन में ऐसे उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं, जिनसे उन्हें यह आभास होता है कि उपादान तो मात्र वस्तुगत योग्यता है। किस समय किस प्रकार का कार्य हो, यह सब व्यवहार हेतुओं पर निर्भर है। पञ्चास्तिकाय में भी धर्म और अधर्मद्रव्य की व्यवहारहेतुता के समर्थन में कहा गया है—

तयोर्यदि गतिपरिणामं तत्पूर्वस्थितिपरिणामं वा स्वयमनुभवतो

-र्बहिरंगहेतू धर्माधर्मौ न भवेतां तदा तयोर्निरर्गलगतिस्थिति-परिणामत्वात् अलोकेऽपि वृत्तिः केन वार्येत।

समयव्याख्या टीका, गाथा ८७।

यदि गतिपरिणाम अथवा गतिपरिणामपूर्वक स्थिति परिणाम को स्वयं अनुभव करनेवाले उन जीव-पुद्गलों के बहिरंग हेतु धर्म और अधर्मद्रव्य न हों तो उन जीव और पुद्गलों की निरर्गल गति और तत्पूर्वक स्थिति परिणाम होने से आलोकाकाश में भी उनकी वृत्ति को कौन रोक सकता है ?

इसी आशय का कथन तत्त्वार्थवार्तिक के इस उद्धरण से भी होता है—

यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्यकुलालदण्ड-चक्र-सूत्रोदक-कालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्षः घटपर्यायेणाविर्भवति, नैको मृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधन-सन्निधानेन विना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः। तथा पतत्रिप्रभृति द्रव्यं गति-स्थितिपरिणामप्राप्तिं प्रत्यभिमुखं नान्तरेण बाह्यानेककारण-सन्निधिं गतिं स्थितिं वा प्राप्तुमलमिति। तदनुग्राहककारणधर्माधर्मा-स्तिकायसिद्धिः।　　　　*तत्त्वार्थ वार्तिक ५-१२, पृष्ठ २१४।*

जिस प्रकार घटकार्यरूप परिणाम के प्रति आभ्यन्तर सामर्थ्य से सम्पन्न मिट्टी का पिण्ड बाह्य कुम्भकार, दण्ड, चक्र, सूत्र, जल, काल और आकाश आदि अनेक उपकरण सापेक्ष घटपर्यायरूप से प्रकट होता है, अकेला मिट्टी का पिण्ड कुलालादि बाह्य साधनों की सन्निधि के बिना घटरूप से उत्पन्न होने के लिए समर्थ नहीं है। उसी प्रकार पक्षी आदि द्रव्य गति और स्थितिरूप परिणाम की प्राप्ति के प्रति सन्मुख होता हुआ बाह्य अनेक कारणों की सन्निधि के बिना गति और स्थिति प्राप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसलिए गति और स्थिति के अनुग्राहक धर्म और अधर्मद्रव्य की सिद्धि होती है।

निश्चय उपादान कार्यों का नियामक नहीं होता, इस मत के

समर्थन में कुछ व्यवहाराभासियों का यह दृष्टिकोण है। अतः इस विषय पर साङ्गोपाङ्ग विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। यथा—

(१) समर्थ उपादान कारण किसे कहा जाए और असमर्थ उपादान कारण क्या है, इसकी चर्चा तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में शंका-समाधान के प्रसंग से हम कर आये हैं। तत्त्वार्थवार्तिक में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है, इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है—

एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्॥२८॥ उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः॥२९॥

इन सम्यग्दर्शनादि तीनों में से पूर्व की प्राप्ति होने पर उत्तर की प्राप्ति भजनीय है। किन्तु उत्तर की प्राप्ति होने पर पूर्व की प्राप्ति नियत है॥२८,२९॥

इसी सरणिका अनुसरण कर तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में यह वचन आया है—

तत एवोपादानस्य लाभे नोत्तरस्य नियतो लाभः, कारणानामवश्यं कार्यवत्त्वाभावात्।

इसीलिए ही उपादान का लाभ होने पर उत्तर का लाभ नियत नहीं है, क्योंकि कारण अवश्य ही कार्यवाले होते हैं, ऐसा नहीं है।

किन्तु आचार्य ने यह कथन व्यवहार उपादान को ध्यान में रखकर ही किया है, क्योंकि इससे आगे वे स्वयं समर्थ उपादान का समर्थन करते हुए शंका-समाधान करते हुए लिखते हैं :—

समर्थस्य कारणस्य कार्यवत्त्वमेवेति चेत्? न, तस्येहाविवक्षि-तत्त्वात्।

शंका—समर्थ कारण कार्यवाले ही होते हैं?

समाधान—पूर्व का लाभ होने पर उत्तर का लाभ भजनीय है,

इत्यादि वचन आचार्य ने समर्थ उपादान कारण को गौण कर ही कहा है, क्योंकि इस कथन में समर्थ उपादान की अपेक्षा कथन करने की विवक्षा नहीं की गयी है।

समर्थ उपादान किसे कहा जाए इसकी चर्चा भी आचार्य विद्यानन्द ने की है। वे लिखते हैं—

विवक्षितस्वकार्यकरणेऽन्त्यक्षणप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णम्।

विविक्षत अपने कार्य के करने में जो उपादान अन्त क्षण को प्राप्त होता है, उसी को सम्पूर्ण उपादान कारण कहा जाता है। विचार कर देखा जाए तो इसी की समर्थ उपादान कारण संज्ञा भी है और इसी को निश्चय उपादान कारण भी कहा गया है।

इतने विवेचन से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि आगम में विवक्षित कार्य से अव्यवहित पूर्ववर्ती वस्तु को जो निश्चय उपादान कारण कहा गया है, वह समर्थ उपादान कारण को लक्ष्य में रखकर ही कहा गया है। अत: जो व्यवहाराभासवादी महाशय ऐसे उपादान को अनेक योग्यतावाला बतलाकर मात्र व्यवहार हेतु का कार्यकारीरूप से समर्थन करते हैं, उनका वह कथन तर्कसंगत तो है ही नहीं, आगमविरुद्ध भी है।

२. अब आगे आगम के कतिपय ऐसे प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं, जिनको लक्ष्य में लेने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि व्यवहार हेतु अदलते-बदलते रहते हैं, फिर भी अपने निश्चय उपादान के अनुसार कार्य वही होता है। यथा—

(क) सर्वार्थसिद्धि, अध्याय २, सूत्र १० में भावपरिवर्तन के स्वरूप का निर्देश करते हुए बतलाया है कि समझो कोई एक संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त, मिथ्यादृष्टि जीव अपने योग्य ज्ञानावरण की जघन्य स्थिति का बन्ध कर रहा है तो उसके उस स्थितिबन्ध के व्यवहार हेतु जो स्थिति अध्यवसानस्थान होते हैं, वे असंख्यात लोकप्रमाण

होकर भी एक समय में उनमें से कोई एक उस जघन्य स्थितिबन्ध का हेतु होता है। उनमें से यही उस जघन्य स्थितिबन्ध का व्यवहार हेतु हो, ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य का नियामक निश्चय उपादान ही होता है, व्यवहार हेतु नहीं।

(ख) प्रत्येक संसारी जीव के अवगाहरूप क्षेत्र में अनन्तानन्त प्रमाण विस्रसोपचय रहता है। उनमें से किस समय कौन विस्रसोपचय जीव के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप बन्ध को प्राप्त हो, यह विभाग उक्त जीव तो नहीं करता है, क्योंकि इस विषय में वह स्वयं अज्ञ है। जो केवली हैं, वे भी जानते हुए भी यह विभाग नहीं करते कि इस समय इस विस्रसोपचयरूप पुद्गल स्कन्ध को बाँधेंगे, इसको नहीं। किन्तु जिस समय जो विस्रसोपचय बन्ध योग्य होता है, वह जगश्रेणि के असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानों में से यथासम्भव किसी एक योगस्थान को निमित्त कर स्वयं ज्ञानावरणादिरूप से परिणमकर एक क्षेत्रावगाहरूप से बन्ध को प्राप्त हो जाता है। यहाँ यह कथन प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध की अपेक्षा किया गया है। स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के विषय में भी इसी प्रकार से जान लेना चाहिए।

(ग) दो पुद्गल परमाणुओं का श्लेष बन्ध तभी होता है, जब एक पुद्गल परमाणु से दूसरा पुद्गल परमाणु दो अधिक स्पर्श गुणवाला हो। मात्र एक वाले के लिए यह नियम लागू नहीं होता। इसी प्रकार तीन आदि अनन्त पुद्गल परमाणु के श्लेषबन्ध के विषय में भी जान लेना चाहिए। सो क्यो, विचार कीजिए।

(घ) एक क्षपित कर्मांशिक जीव है औद दूसरा गुणित कर्मांशिक जीव है। दोनों ने एक साथ श्रेणि आरोहण किया। समझो अपूर्वकरण में दोनों का विशुद्धिरूप परिणाम सदृश है। फिर भी क्षपित कर्मांशिक के स्थितिकाण्ड का प्रमाण गुणित कर्मांशिक के स्थितिकाण्ड के प्रमाण से अल्प प्रमाणवाला होता है। सो क्यों, विचार कीजिए।

(ङ) जीवकाण्ड लेश्यामार्गणा में किस लेश्या के किस अंश से

मरा हुआ जीव स्वर्ग या नरक में से किस स्वर्ग या किस नरक में जन्म लेता है, यह स्पष्ट बतलाया गया है। आयुकर्म के बल से उसका अन्यत्र जन्म क्यों नहीं होता। सो क्यों, विचार कीजिए।

(च) एक जीव अपनी परिणाम विशुद्धि के बल को निमित्तकर अप्रशस्त कर्म का अपकर्षण करता है। प्रश्न यह है कि यह जीव विवक्षित निषेकों के विवक्षित कर्म परमाणुओं का ही उस समय अपकर्षण क्यों कर सकता है, उनके सिवा उस समय अन्य कर्म परमाणुओं का उपकर्षण क्यों नहीं कर पाता? विचार कीजिए।

(छ) उपसर्ग केवली या अन्तःकृतकेवली जीवों के ऊपर तपस्या के समय घोर उपसर्ग होने पर भी भुज्यमान आयु अनपवर्त्य ही क्यों रही आती है। घोर उपसर्ग से उसका छेद हो जाए और ये जीव अकाल में ही मुक्ति के पात्र हों जाए, ऐसा क्यों नहीं होता? विचार कीजिए।

(ज) पूर्व भव में जो जीव कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंच की आयु का निकाचित, निधत्ति और उपशमकरणरूप आयुबन्ध करके कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंच हुए हैं। विष, शस्त्रादिक के द्वारा उनका अकाल मरण क्यों नहीं होता? विचार कीजिए।

(घ) धवला, पुस्तक ६ उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चूलिका सूत्र संख्या २४ में देव और नारकियों सम्बन्धी और २८ में मनुष्यों और तिर्यञ्चों सम्बन्धी आयुबन्ध होने पर भुज्यमान आयु का छेद नहीं होता। भुज्यमान आयु में से उतनी आयु शेष रहते हुए यदि दूसरों के द्वारा विष-शस्त्रादि का प्रयोग भी किया जाता है, तो भी उनका मरण नहीं होता। किन्तु शेष आयु का भोग हो लेता है, तभी उन देन-नारकियों और मनुष्य-तिर्यञ्चों का मरण होता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य का नियामक निश्चय उपादान ही होता है, क्योंकि उसी समय ही ये भीतर से मरण के सम्मुख होते हैं, मरण के स्वकाल को छोड़कर अन्य काल में नहीं।

शंका—देव और नारकियों का तो किसी भी हालत में मरण नहीं होता, फिर इस नियम में उनको क्यों सम्मिलित किया गया है ?

समाधान—आगम में उनकी आयु को जो अनपवर्त्य बतलाया गया है। सो इससे मात्र यही सिद्ध होता है कि उनका अन्तिम आयुबन्ध निकाचित, निधत्तिं, उपशमकरणरूप होता है, ऐसी योग्यता से रहित उनका आयुबन्ध नहीं होता है। सामान्यत: यही नियम भोगभूमि मनुष्य और तिर्यंचों पर तथा चरमशरीरी जीवों पर भी लागू होता है। इनके अतिरिक्त अन्य सब जीव इस नियम के अपवाद हैं। 'ततोऽन्ये-ऽपवर्त्यायुषो गम्यन्ते' (त. श्लो. २-५३), इस वचन से भी यही सिद्ध होता है।

शंका—जिन जीवों पर यह नियम लागू नहीं होता, उनका अकालमरण मानने में तो आपत्ति नहीं, अन्यथा खंडप्रहारादि से होनवाला मरण नहीं बनेगा तथा आयुर्वेद आदि के द्वारा जीवन रक्षा के उपाय करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

समाधान—प्रत्येक कार्य में बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता होती है, यह द्रव्यगत स्वभाव है (स्वयंभूस्रोत्र ५९)। इस नियम के अनुसार भी निश्चय उपादान का स्वकाल प्राप्त होने पर ही मरण होगा, अन्यथा नहीं। देखा भी जाता है कि विष का प्रयोग आदि होने पर भी किसी-किसी का मरण नहीं होता। और इसीलिए ज्ञानावरणादि कर्मों के अतिरिक्त अन्य जितने भी पदार्थ हैं, उनको कार्य की अपेक्षा नोकर्म कहा गया है। फिर भी मरण के समय या इसके कुछ पूर्व काल के अतिरिक्त मरण का कौन व्यवहार हेतु हुआ, इसको ध्यान में रखकर व्यवहार हेतुओं की मुख्यता से ऐसे मरण को अकालमरण कहा गया है। है तो विष प्रयोग आदि आयुकर्म के अपवर्तन के व्यवहार हेतु ही। फिर भी उन्हें बुद्धि से मरण का हेतु स्वीकार कर इसका विष प्रयोग आदि से मरण हुआ, ऐसा उपचार

करके कहा जाता है। यद्यपि विष प्रयोग आदि आयुकर्म के अपवर्तन का व्यवहार हेतु है, फिर भी आयुकर्म के अपवर्तन और मरण में कालभेद होने पर भी व्यंजन पर्याय की अपेक्षा समग्र पर्यायों को एक मानकर विष प्रयोग आदि को प्रकृत में मरण का व्यवहार हेतु कहा गया है। यह सब उस जीव की अपेक्षा सम्भव है, जिसके आयुबन्ध न हुआ हो। इतना विशेष जानना चाहिए।

शंका—जो विष प्रयोग आदि आयुकर्म के अपवर्तन के व्यवहार हेतु हैं, वे ही मरण के व्यवहार हेतु हैं ऐसा स्पष्टतः मानने में क्या आपत्ति हैं, क्योंकि आयुकर्म का अपवर्तन और मरण का एक काल है, ऐसा क्यों न मान लिया जाए? और एक कारण से अनेक कार्य नहीं होते, ऐसा भी कोई नियम नहीं है। कारण कि एक मुद्गर के प्रयोग से घट विनाश के साथ अनेक कपालों की उत्पत्ति होती हुई देखी भी जाती है।

समाधान—जिसने परभवसम्बन्धी आयु का बन्ध किया है, उसका अपने आबाधा काल के भीतर विष शस्त्रादि का प्रयोग होने पर भी मरण नहीं होगा, भले ही वह आबाधा एक पूर्वकोटि के त्रिभाग प्रमाण ही क्यों न हो। और जिसने विष प्रयोग व शस्त्रप्रहार आदि के समय परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध किया है, उसके भी आयुबन्ध करने पर जब तक उसका आबाधा काल व्यतीत नहीं हो जाएगा, तब तक मरण नहीं होगा। भले ही वह आबाधा कम से कम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही क्यों न हो। इससे स्पष्ट है कि विष प्रयोग आदि मुख्यतः आयु के अपवर्तन के व्यवहार हेतु हैं। फिर भी उनको कालान्तर में होनेवाले मरण का व्यवहार हेतु मानकर यह कहा जाता है कि विष प्रयोग आदि से इसका मरण हुआ। कहाँ किस दृष्टि से उपचार किया गया है, यह समझ लेने पर सब कथन समझने में सुगम जाता है।

यही कारण है कि हमने परमार्थ से निश्चय उपादान को कार्य

का नियामक कहा है, फिर भी व्यवहार से व्यवहार हेतु को कार्य का नियामक मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि व्यवहार निश्चय की सिद्धि का व्यवहार हेतु है, ऐसा आगम वचन है।

४. उपादान-प्रागभाव विचार

कार्य द्रव्य से अव्यवहित पूर्ववर्ती द्रव्य को प्रागभाव कहते हैं और प्रागभाव का अभाव ही कार्यद्रव्य कहलता है।[1] यहाँ जो प्रागभाव का लक्षण दिया है, वही निश्चय उपादान का लक्षण है, इसलिए आत्ममीमांसा कारिका १० में जो यह आपत्ति दी गयी है कि प्रागभाव न मानने पर कार्य द्रव्य अनादि हो जाएगा, सो यही आपत्ति निश्चय उपादान के नहीं स्वीकार करने पर भी प्राप्ति होती है। प्रागभाव का उक्त सुनिश्चित लक्षण किस दृष्टि से स्वीकार किया गया है, इसका विस्तार से विवेचन करते हुए आचार्य विद्यानन्द ने अपनी सुप्रसिद्ध अष्टसहस्री टीका में जो कुछ भी लिखा है, यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िये—

ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्रागभावस्तावान् कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वानन्तरात्मा। न च तस्मिन् पूर्वानादिपरिणामसन्ततौ कार्य-सद्‌भावप्रसंगः, प्रागभाव-विनाशस्य कार्यरूपतोपगमात्। 'कायोत्पादः क्षयो हेतोः' इति वक्ष्यमीणत्वान्। प्रागभावतत्प्राग-भावादेस्तु पूर्व-पूर्वपरिणामस्य सन्तत्यनादेर्विवक्षितकार्यरूपत्वा-भावात्।

यथार्थ में ऋजुसूत्रनय की मुख्यता से अव्यवहित पूर्ववर्ती उपादान परिणाम ही कार्य का प्रागभाव है। और प्रागभाव के इस रूप से स्वीकार करने पर पूर्व की अनादि परिणाम सन्तति में कार्य के सद्‌भाव का प्रसंग नहीं आता है, क्योंकि प्रागभाव के विनाश में कार्यरूपता स्वीकार

१— कार्यात्प्रागनन्तरपर्यायः तस्य प्रागभावः। तस्यैव प्रध्वंसः कार्यं घटादिः। पृष्ठ ९७।

की गयी है। 'कार्य का उत्पाद ही क्षय है, क्योंकि इन दोनों का हेतु एक है' ऐसा आगे शास्त्रकार स्वयं कहनेवाले हैं। प्रागभाव, उसका प्रागभाव इस रूप से पूर्वतत्पूर्व परिणामरूप सन्तति के अनादिरूप से विवक्षित होने के कारण उसमें विवक्षित कार्यपने का अभाव है। पृष्ठ १००।

इससे एक तो यह निश्चित हो जाता है कि अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य नियत कार्य का ही उपादान होता है। दूसरे उक्त कथन से यह भी निश्चित हो जाता है कि इससे पूर्व क्रम से वस्तु जिस रूप में अवस्थित रहती आयी है, वह पूर्वोक्त नियत कार्य का व्यवहार उपादान कहलाता है। यह व्यवहार उपादान इसलिए कहलाता है, कारण कि उसमें उक्त नियत कार्य के प्रति ऋजुसूत्रनय से कारणता नहीं बनती। यतः वह केवल द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा उपादान कहा गया है, इसलिए उसकी व्यवहार उपादान संज्ञा है।

शंका—पूर्व में प्रागभाव का लक्षण कहते समय मात्र नियत कार्य से अव्यवहित पूर्व पर्याय को ही ऋजुसूत्रनय से उपादान कहा गया है, इसलिए उस कथन को भी एकान्त क्यों न माना जाए?

समाधान—उक्त कथन द्वारा द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य की अविवक्षा करके प्रागभाव का लक्षण कहा गया है, इसलिए कोई दोष नहीं है। यदि दोनों नयों की विवक्षा करके प्रागभाव का लक्षण कहा जाए तो अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य को प्रागभाव कहेंगे। इस प्रकार समस्त कथन युक्ति युक्त बन जाता है।

शंका—यदि ऐसा है तो व्यवहार हेतु के कथन के समय उसे कल्पना स्वरूप क्यों कहा जाता है। श्री जयधवला (पृष्ठ २६३) में इस विषय के कथन को स्पष्ट करते हुए आचार्य वीरसेन ने यह कहा है कि प्रागभाव का अभाव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सापेक्ष होता है? यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव कल्पना के विषय हैं तो फिर

प्रागभाव के अभाव को द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव सापेक्ष नहीं कहना चाहिए था। क्या हमारी इस शंका का आपके पास कोई समाधान है ?

समाधान—हमने परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को कहीं भी काल्पनिक नहीं कहा है, वे इतने ही यथार्थ हैं जितना कि प्रकृत वस्तु स्वरूप। हमारा तो कहना यह है कि प्रत्येक कार्य में परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर काल प्रत्यासत्तिवश निमित्त कहना, यह मात्र विकल्प का विषय है और इसलिए उपचरित है। आगम में जहाँ भी यह कहा गया है कि इसने यह कार्य किया, यह इसका प्रेरक है, इसने इसे परिणमाया है, इसने इसका उपकार किया है, यह इसका सहायक है—यह सब कथन असद्भूतव्यवहारनय का वक्तव्य है। इस नय का आशय भी यह है कि यह नय प्रयोजनवश अन्य के कार्य आदि को अन्य का कहता है।

यह तो सुनिश्चित है कि प्रत्येक वस्तु और उसके गुण-धर्म परमार्थ से पर निरपेक्ष होते हैं, स्वरूप पर सापेक्ष नहीं हुआ करता। वस्तु का नित्य होना, यह जैसे वस्तु का स्वरूप है; उसी प्रकार उसका परिणमन करना, यह भी वस्तु का स्वरूप है। नय केवल अंश ज्ञान होने से वह मात्र उनकी विवक्षा से उनकी सिद्धि करता है, इसलिए विवक्षा या अपेक्षा नयज्ञान में होती है; वस्तु तो धर्म और धर्मी दोनों दृष्टियों से पर निरपेक्ष स्वत:सिद्ध है। इतना अवश्य है कि जब एक-एक अंश की अपेक्षा वस्तु को जाना जाता है या उसका कथन किया जाता है तो मात्र दूसरे अंशरूप भी वस्तु है, इसको भूलकर मात्र उसी अंशरूप वस्तु को न स्वीकार कर लिया जाए, इस तथ्य को ध्यान में रखने के लिए अपेक्षा या विवक्षा लगायी जाती है। इसलिए अपेक्षा नयज्ञान या नयरूप कथन में ही होती है, वस्तु में या उसके स्वरूप सिद्ध धर्मों में नहीं। यह सिद्धान्त कार्य-कारण पर भी पूरी तरह से लागू होता है। निश्चय उपादानस्वरूप से स्वयं है और निश्चयस्वरूप

कार्य (पर्याय) स्वरूप से स्वयं है। विवक्षा या अपेक्षा मात्र उनकी सिद्धि में लगती है। जैसे यह कहना कि यह इस कारण का कार्य हैं, या यह कहना कि यह इस कार्य का कारण है। इसलिए यह कथन सद्भूतव्यवहारनय का विषय हो जाता है, क्योंकि निश्चयस्वरूप कारणता भी वस्तु का स्वरूप है और निश्चयस्वरूप कार्यता भी वस्तु का स्वरूप है। मात्र उनका एक-दूसरे की अपेक्षा से कथन किया गया है, इसीलिए इस कथन को सद्भूतव्यवहारनय का विषय कहा गया है। अब रह गया कर्म और नोकर्म को दृष्टि में रखकर व्यवहार हेतु और उसकी अपेक्षा व्यवहाररूप कार्य का कथन, सो पहले तो यह देखिए कि ज्ञानावरणादि कर्म और उनसे भिन्न शरीरादि समस्त पदार्थों की नोकर्म संज्ञा क्यों है? ज्ञानावरणादि को आत्मा का कर्म क्यों कहा जाता है, इस तथ्य को स्पष्टरूप से समझने के लिए प्रवचनसार, अध्याय २, गाथा २५ की तत्त्वदीपिका टीका के इस कथन पर दृष्टिपात कीजिए —

क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात् कर्म। तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म।

आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से क्रिया नियम से आत्मा का कर्म है और उस क्रियारूप राग, द्वेष, मोह और योग को निमित्तकर (व्यवहार से हेतुकर) जिसने अपना परिणाम प्राप्त किया है, ऐसा पुद्गल भी उसका कर्म कहलाता है।

ज्ञानावरणादि कर्म वास्तव में पुद्गल का परिणाम है, फिर उस परिणाम की ज्ञानावरणादि कर्म संज्ञा क्यों रखी गयी? उक्त कथन द्वारा इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है।

नोकर्म अर्थात् ईषत् कर्म। सवाल यह है कि शरीरादि को नोकर्म क्यों कहा गया है? समाधान यह है कि नोकर्म के दो भेद हैं, एक तो औदारिक आदि पाँच शरीर और दूसरे उनके अतिरिक्त लोकवर्ती

समस्त पदार्थ। इनमें से तो औदारिक आदि पाँच शरीरों को नोकर्म तो इसलिए कहा गया है, क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय से जो-जो अज्ञान आदिक कार्य होते हैं, उनमें इनकी निमित्तता अनियत है, नियमरूप निमित्तता नहीं। दूसरे ये अज्ञानादिक के समान जीवों के वैभाविक भाव नहीं है। तीसरे घातियाकर्मों का क्षय हो जाने पर इन औदारिक आदि शरीरों में अज्ञानादि भावों की उत्पत्तिता में व्यवहार से निमित्तता भी नहीं रहती। इसीलिए आगम में इन्हें नोकर्म समूह में सम्मिलित किया गया है। अब रहे अन्य पदार्थ, सो वे भी स्वरूप से निमित्त तो नहीं हैं, व्यवहार से जब उनका राग, द्वेष और मोह मूलक जीव कार्यों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बनता है, तभी उनमें इस सम्बन्ध को देखकर नोकर्म व्यवहार होता है, सर्वदा नहीं।

शंका—घटादि कार्य तो परमार्थ से जीवकार्य नहीं हैं?

समाधान—घटादि कार्यों के होने में अज्ञानी जीव के योग और 'मैं कर्ता' इस प्रकार के विकल्पों में निमित्तता का व्यवहार होने से व्यवहार से वे भी जीव-कार्य कहलाते हैं। अत: अज्ञानादि घटादि कार्यों में अन्य पदार्थों के समान व्यवहार हेतु होने से आगम में इन्हें भी नोकर्म माना गया है।

शंका—उपयोगस्वरूप ज्ञान के साथ भी तो ऐसा व्यवहार बन जाता है कि घट-पटादि पदार्थों के कारण मुझे घट ज्ञान, पटज्ञान आदि हुआ। धर्मादिक द्रव्यों के कारण मुझे धर्मादिक द्रव्यों का ज्ञान होता है? अत: इन घट-पटादि और धर्मादिक द्रव्यों को भी ज्ञानोत्पत्ति का व्यवहार हेतु स्वीकार कर उन्हें नोकर्म कहना चाहिए।

समाधान—घट-पटादि और धर्मादिक द्रव्यों के साथ ज्ञान का व्यवहार से ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध तो है। ज्ञानोत्पत्ति के व्यवहार साधनरूप से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है। परीक्षामुख में कहा भी है—

नार्थालोकौ कारणाम्, परिच्छेद्यत्वात् तमोवत्।

अर्थ और आलोक ज्ञानोत्पत्ति के (व्यवहार) कारण नहीं हैं, क्योंकि वे ज्ञेय हैं, अन्धकार के समान।

इस प्रकार ज्ञानावरणादि को कर्म और शरीरादि को नोकर्म क्यों कहा गया, इसकी सिद्धि हो जाने पर इनके साथ संसार अवस्था में जीव कार्यों के साथ जो कार्य-कारणभाव कहा गया है, वह असद्भूत-व्यवहारनय से ही कहा गया है। तब यह इस कार्य कारण है या इस कारण का यह कार्य है, ऐसा असद्भूतव्यवहार तो बन जाता है। पर निश्चयनय न तो इस व्यवहार को स्वीकार करता है और न ही सद्भूतव्यवहार को ही स्वीकार करता है। इतना ही नहीं, प्रत्युत अपना निषेधकरूप स्वभाव होने के कारण वह ऐसे व्यवहार का निषेध ही करता है। 'एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण (समयसार, गाथा २७२।) इस प्रकार निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय निषेध करनेयोग्य जानो, यह वचन इसी तथ्य को ध्यान में रखकर कहा गया है।'

इस प्रकार प्रागभाव और उपादान कारण, इनमें एक वाक्यता कैसे है और इस आधार पर निश्चय उपादान में विवक्षित कार्य की नियामकता कैसे बनती है, इसका सम्यक् विचार किया।

अब आगे प्रकृत विषय उपादान-उपादेयभाव को और तदनुषंगी व्यवहार निमित्त-नैमित्तिकभाव को ध्यान में रखकर 'दृष्टि का माहात्म्य' इस प्रकरण के अन्तर्गत कैसी दृष्टि बनाने से जीव का संसार चालू रहता है और बढ़ता है तथा कैसी दृष्टि बनाने से जीव मोक्षमार्गी बन कर मुक्ति का पात्र होता है, इस विषय पर संक्षेप में ऊहायोग करेंगे।

५. दृष्टि का माहात्म्य

दृष्टियाँ दो प्रकार की हैं—एक व्यवहारदृष्टि और दूसरी निश्चयदृष्टि। अनेकान्तस्वरूप वस्तु की समग्रभाव से स्वीकार करनेवाली प्रमाणदृष्टि

सकलादेशी होने से प्रकृत में उससे प्रयोजन नहीं है। समयसार, गाथा २७२ में इन दोनों दृष्टियों का स्वरूप निर्देश तथा उनके फल का निर्देश इस प्रकार किया गया है —

आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः। तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितं समस्तमध्यवसानं बन्धहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रित-तत्त्वाविशेषात्। प्रतिषेध्य एवं, चायं आत्माश्रितनिश्चयनया-श्रितानामेव मुच्यमानत्वात्। पराश्रितव्यवहारनयस्यैकान्तेनामुच्य-मानेनाभव्येनाप्याश्रियमाणत्वात्।

आत्माश्रित (स्व. आश्रित) निश्चयनय है, पराश्रित (पर के आश्रित) व्यवहारनय है। वहाँ पूर्वोक्त प्रकार से पराश्रित समस्त अध्यवसान (पर में एकत्व बुद्धिरूप या परपदार्थों में उपादेयरूप से इष्टानिष्ट बुद्धिरूप समस्त विकल्प) बन्ध के कारण होने से मुमुक्षुओं को उनका निषेध करते हुए ऐसे निश्चयनय के द्वारा वास्तव में व्यवहारनय का ही निषेध कराया गया है, क्योंकि जैसे अध्यवसानभाव पराश्रित हैं, वैसे ही व्यवहारनय भी पराश्रित हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है—वे एक हैं; और इस प्रकार अध्यवसानभाव निषेध करनेयोग्य ही हैं, क्योंकि आत्माश्रित निश्चयनय का आश्रय करनेवाले ही (स्वरूपलाभ कर कर्मों से) मुक्त होते हैं और पराश्रित व्यवहारनय का आश्रय तो एकान्त से कर्मों से नहीं छूटनेवाला अभव्य जीव भी करता है ॥२७२॥

पर में आत्मबुद्धि का नाम या उपादेयभाव से पर में इष्टानिष्ट बुद्धि का नाम पराश्रयपना है और स्वतःसिद्ध होने से अनादि-अनन्त नित्य उद्योतरूप और विशद ज्योति एक ज्ञायक में तल्लीनतारूप आत्म-परिणाम का होना स्वाश्रितपना है। इनमें से जीवन में पराश्रयपने का होना एकमात्र संसार का कारण है। संसारपद्धति को आगम में जो संयोग मूलक कहा है, सो उस द्वारा भी उक्त प्रकार के पराश्रयपने को

ही स्वीकार किया गया है। इस तथ्य को स्पष्टरूप से समझने के लिए मूलाचार टीका का यह वचन दृष्टव्य है —

अनात्मनीनभावस्य आत्मभाव: संयोग:। *अध्याय १, गाथा-४८।*

जो भाव आत्मा के नहीं हैं, उनमें आत्मभाव का होना संयोग है, इसी का नाम पराश्रयपना है। तात्पर्य यह है कि कर्मोदय को निमित्तकर जितने भी भाव होते हैं, वे तो पर हैं ही; मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुनि हूँ— ऐसा कौन कार्य है जिसे पर की सहायता के बिना सम्पन्न किया जा सके। यहाँ तक कि सिद्धों की ऊर्ध्वगति भी नियत स्थान तक धर्मास्तिकाय की सहायता से होती है। यदि वे स्वयं गमन करते होते तो लोकाग्र से ऊपर उनके गमन को कौन रोक सकता था—इत्यादि विकल्प भी पर हैं। तथा इनमें आत्मभाव का होना ही सयोग या पराश्रयपना है। इस प्रकार जो पराश्रितरूप उपयोग परिणाम अनादि काल से इस जीव के वर्तता चला आ रहा है, उसी को प्रकृत में व्यवहारनय कहा गया है। अज्ञान की भूमिका में सर्वदा रहनेवाला यह भाव अभव्य जीव के तो होता ही है, ऐसे भव्य जीव के भी होता है, क्योंकि अज्ञान अवस्था में पर्यायदृष्टिवाले दोनों ही एक समान है। उनमें कोई भेद नहीं है।

शंका—ज्ञानी या अन्तरात्मा जीव के जो शुभोपयोग होता है, उसे तो परम्परा मोक्ष का कारण कहा ही है, सो क्यों?

समाधान—परमार्थ से मोक्ष का साक्षात् कारण तो निश्चय रत्नत्रय-परिणत आत्मा ही है। शुभोपयोग को जो मोक्ष का परम्परा कारण कहा जाता है, सो एक तो सातवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक शुभोपयोग होता ही नहीं। इससे पूर्व के चौथे आदि तीन गुणस्थानों में बहुलता से शुभोपयोग अवश्य होता है और वह निश्चयरत्नत्रय का सहचर होने के कारण व्यवहार से अनुकूल माना गया है। तथा स्वरूप परिणमनपूर्वक जो निश्चयरत्नत्रयरूप शुद्धि प्राप्त

हुई, वह शुभोपयोग के काल में यथावत् बनी रहती है, उसकी हानि नहीं होती; इसीलिए ही शुभोपयोग को व्यवहार से परम्परा मोक्ष का कारण कहा है, क्योंकि निश्चयरत्नत्रय परिणत आत्मा का मोक्ष का साक्षात् कारण, सविकल्प भूमिका में कहो या प्राक् पदवी में कहो, व्यवहार से उसके अनुकूल शुभोपयोग, इस प्रकार शुभोपयोग को व्यवहार से मोक्ष का परम्परा कारण स्वीकार किया गया है। इसकी पुष्टि इस प्रमाण से हो जाती है —

बाह्यपञ्चेन्द्रियविषयभूते वस्तुनि सति अज्ञानभावात् रागाद्य-ध्यवसानं भवति तस्मादध्यवसानाद् बन्धो भवतीति पारंपर्येण वस्तु बन्धकारणं भवति, न च साक्षात्। *परमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३५४।*

पञ्चेन्द्रियों की विषयभूत बाह्य वस्तु के होने पर अज्ञानभाव से रागादि अध्यवसान होता है, इसलिए अध्यवसान से बन्ध होता है। इस प्रकार बाह्य वस्तु व्यवहार से परम्परा बन्ध का कारण है।

यद्यपि शुभोपयोग को मोक्ष का परम्परा व्यवहार हेतु कहा है, किन्तु मोक्षप्राप्ति के समय या उससे अव्यवहित पूर्व समय में शुभोपयोग जब होता ही नहीं, तब इस दृष्टि से तो वह मोक्ष का परम्परा व्यवहार कारण तो हो नहीं सकता, किन्तु जो निश्चयरत्नत्रय मोक्ष का साक्षात् कारण है, वह चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक का व्यवहार से एक ही है। ऐसा स्वीकार करने पर ही शुभोपयोग को मोक्ष का परम्परा व्यवहार कारण कहना बनता है।

शंका—जीव की निर्विकल्प अवस्था में जो अबुद्धिपूर्वक राग होता है, उसे भी मोक्ष का परम्परा व्यवहार कारण कहना चाहिए?

समाधान—जीव की निर्विकल्प अवस्था में जो अबुद्धिपूर्वक राग होता है, वह शुभोपयोग की जाति का ही होता है, इसलिए उसे भी परम्परा व्यवहार से मोक्ष का कारण कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

शंका—कतिपय शास्त्रों में यह भी उल्लेख मिलता है कि कोई

सम्यग्दृष्टि जीव व्रतादि का आचरण कर स्वर्ग जाता है और वहाँ से चय हो मनुष्य जन्म पा, अन्त में मोक्ष का अधिकारी बनता है और इस दृष्टि से शुभोपयोग मोक्ष का परम्परा कारण है, ऐसा माना जाए तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—यहाँ भी पिछले मनुष्य जन्म के रत्नत्रय से लेकर मोक्ष प्राप्त होने तक का रत्नत्रय एक ही है, मात्र इस दृष्टि को सामने रखकर ही उसके साथ बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक वर्तनेवाले शुभराग को मोक्ष का परम्परा व्यवहार कारण कहा जा सकता है।

वास्तव में देखा जाए तो शुभोपयोग के काल में जो सम्यग्दर्शनादि -रूप स्वभावपर्याय होती है या अबुद्धिपूर्वक प्रशस्त राग के काल में जो स्वानुभूति और शुद्धोपयोग होता है, उस शुभोपयोग और अबुद्धि -पूर्वक प्रशस्त राग को ही स्वभाव परणिति का व्यवहार से निमित्त कहा गया है, क्योंकि ज्ञानधारा जब तक सम्यक्‌रूप से परिपाक को प्राप्त नहीं होती है, तभी तक ज्ञानधारा और कर्मधारा के एक साथ होने को आगम स्वीकार करता है। इन सब दृष्टियों को ध्यान में रखकर यह कलश काव्य दृष्टव्य है—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्ङ् न स्रा,
कर्म-ज्ञानचमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित् क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत् कर्मबन्धाय तत्
मीक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

जब तक ज्ञान की कर्मविरति भलीभाँति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती, तब तक ज्ञान और कर्म का एक साथ रहना आगमसम्मत है, इससे आत्मा की कोई क्षति नहीं होती अर्थात् उस काल में सम्यग्दर्शनादि परिणाम शुद्धि के अनुसार यथावत् बने रहते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि इस भूमिका में भी आत्मा में अवशपने (पुरुषार्थ की हीनतावश) जो कर्म प्रकट होता है, वह तो बन्ध का कारण है

और स्वतः विमुक्त स्वभावमात्र जो परमज्ञान है, वह मोक्ष का कारण है ॥११० ॥

तात्पर्य यह है कि कर्मधारा स्वतः बन्धस्वरूप है, इसलिए वह बन्ध का हेतु है और ज्ञानधारा स्वयं मोक्षस्वरूप है, इसलिए वह मोक्ष का हेतु है।

शुद्ध आत्मस्वरूप में अचलरूप से जो चैतन्य परिणति होती है, उसी का नाम ध्यान है, क्योंकि स्वानुभूति कहो, शुद्धोपयोग कहो या निश्चय ध्यान कहो, इन तीनों का एक ही अर्थ है। जीव के ऐसा ध्यान कब होता है, इसका निर्देश करते हुए आचार्यदेव कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय में कहते हैं —

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो य जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ॥१४६ ॥

जिसके जीवन में मिथ्यात्व की सत्ता नहीं है तथा जिसका उपयोग राग, द्वेष और मन, वचन, कायरूप परिणति को नहीं अनुभव रहा है, उसी के शुभाशुभभावों को दहन करने में समर्थ ध्यानरूपी अग्नि उदित होती है ॥१४६ ॥

जिसे यहाँ स्वानुभूति, शुद्धोपयोग या ध्यान कहा है, उसी का दूसरा नाम स्वद्रव्यप्रवृतपरिणाम भी है, स्वाश्रित निश्चयनय भी यही है। पराश्रित परिणाम इससे भिन्न है, जिसे आगम में परद्रव्य-प्रवृत्त परिणाम भी कहते हैं, जो अज्ञान का दूसरा नाम है। समयसार गाथा २ में जो स्वसमय और परसमय का स्वरूप निर्देश किया गया है, वह भी उक्त तथ्य को ध्यान में रखकर ही किया गया है।

शंका—सम्यग्दृष्टि और तत्पूर्वक व्रती के सविकल्प भूमिका में जो रागपूर्वक कार्य देखे जाते हैं, सो उस समय उनके वे परिणाम परद्रव्य-प्रवृत्त माने जाएँ या नहीं ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि या तत्पूर्वक व्रती के राग परिणति तथा मन, वचन, काय की प्रवृत्ति मात्र ज्ञेय है, वह उनका कर्ता नहीं, क्योंकि ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक राग, द्वेष और मोह का अभाव होने से जो उसके रागपूर्वक प्रवृत्ति देखी जाती है या कर्मबन्ध होता है, वह अबुद्धिपूर्वक रागादि कलंक का सद्भाव होने से ही होता है।

इस प्रकार इस समग्र कथन का सार यह है कि जो अपने स्वसहाय होने से अनादि-अनन्त, नित्य उद्योतरूप और विशद-ज्योति ज्ञायकभाव के सन्मुख होता है, उसके मोक्षमार्ग के सन्मुख होने पर उसका उपादान भी उसी के अनुकूल प्रवृत्त होता है और जो अपने उक्त स्वभावभूत ज्ञायकभाव को भूलकर संसारमार्ग का अनुसरण करता है, उसका उपादान भी उसी के अनुकूल प्रवृत्त होता है। ऐसी सहज वस्तु व्यवस्था है, जिसे बाह्य सामग्री अन्यथा करने में समर्थ नहीं है। इतना विशेष है कि जो जीव मोक्षमार्ग के सन्मुख होता है, उसके निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री का योग स्वयं मिलता है, बुद्धि का व्यापार उसमें प्रयोजनीय नहीं और जो जीव संसारमार्ग के सन्मुख होता है, उसके निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री का कभी अबुद्धिपूर्वक योग मिलता है और कभी बुद्धिपूर्वक योग मिलता है। ऐसा ही अनादि काल से चला आ रहा नियम है। विज्ञेषु किमधिकम्।

●

उभय निमित्त-मीमांसा

पर उपाधि-निज वस्तु का सहज योग है जीव।
विधि-निषेध से जानते त्रिभुवनराय सदीव॥

१. उपोद्घात

अभी तक हमने पिछले दो अध्यायों द्वारा बाह्य कारण और निश्चय उपादान की क्रम से मीमांसा की। अब आगे इस अध्याय में आगमानुसार यह स्पष्ट किया जाएगा कि जड़-चेतन के प्रत्येक कार्य में इन दोनों उपाधियों का योग सहज ही मिलता रहता है। जिसे अज्ञानी के योग और विकल्परूप प्रयोग निमित्त कहा गया है, उसका योग भी अपने काल में सहज ही होता है। मात्र उस काल में उसके बुद्धि और प्रयत्नपूर्वक होने से उसकी स्वीकृति को ध्यान में रखकर उसे प्रायोगिक कहा गया है। इतना विशेष है कि सम्यग्दर्शन आदि स्वभाव परिणत जीवों के संसार अवस्था में जितने भी विभाव कार्य होते हैं, वे सब अबुद्धिपूर्वक विस्रसा ही स्वीकार किये गये हैं। कारण कि उनमें इस जीव के स्वपने का भाव नहीं होता। उनका मात्र वह ज्ञाता-दृष्टा ही होता है। समयसार आत्म-ख्याति टीका में इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है —

यो हि ज्ञानी स बुद्धिपूर्वकराग-द्वेष-मोहरूपास्त्रवभावाभावात् निरास्त्रव एव, किन्तु सोऽपि यावत् ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन दृष्टुं ज्ञातुमनुचरितं वाशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्यनुचरति तावत्तस्यापि जघन्यभावनान्यथानुपपत्त्याऽनुमीय-मानाबुद्धिपूर्वककलंकविपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मबन्धः स्यात्।

जो परमार्थ से ज्ञानी है, उसके बुद्धिपूर्वक राग, द्वेष और मोहरूप

आस्रवभावों का अभाव होने से वह निरास्रव ही है। इतना विशेष है कि वह जब तक ज्ञान को सर्वोत्कृष्टरूप से देखने, जानने और आचरने में अशक्त होता हुआ जघन्यभाव से ही ज्ञान को देखता, जानता और आचरता है, तब तक उसके भी जघन्यभाव की अन्यथा उत्पत्ति नहीं हो सकती, इससे अनुमान होता है कि उसके अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंक –रूप विपाक का सद्भाव होने से पुद्गलकर्म का बन्ध होता है।

ज्ञानी के मिथ्यात्वरूप भाव तो होता ही नहीं। नौवें गुणस्थान तक द्वेष और दशवें गुणस्थान तक राग का सद्भाव होने से वह उनका स्वामी नहीं है, इसलिए उसके राग और द्वेष का सद्भाव अबुद्धिपूर्वक ही स्वीकार किया गया है। अत: राग–द्वेष के कारण जो कर्मबन्ध होता है, स्वभाव सन्मुख होने से ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक वह नहीं होता। अबुद्धिपूर्वक होनेवाले राग–द्वेष और उदय के साथ ही उसका अविनाभाव सम्बन्ध है।

और यह ठीक भी है, क्योंकि संसार के जितने भी कार्य हैं, उनमें ज्ञानी का स्वामित्व न रहने से उन सबको उसके अबुद्धिपूर्वक स्वीकार करना ही न्यायोचित है। वह दृष्टिमुक्त होने से मुक्त ही है, क्योंकि उसने पर्याय में परमात्मा बनने के द्वार में प्रवेश कर लिया है।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानी के संसार के सभी कार्य बुद्धिपूर्वक होते ही नहीं, इसलिए परमागम ने अज्ञानी के योग और विकल्प के साथ ही उनकी व्याप्ति स्वीकार की है। यत: ऐसे ही कार्यों के साथ अज्ञानी के बुद्धि (अभिप्राय) पूर्वक कर्तृत्व घटित होता है, अत: आचार्यों ने इन्हीं कार्यों को प्रायोगिक स्वीकार किया है। इनके सिवाय अन्य जितने भी कार्य होते हैं, वे सब विस्रसा ही स्वीकार किये गये हैं।

शंका—यहाँ पर ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक रागादिभावों का अभाव

बतलाया है, सो यह बात हमारे समझ में नहीं आती, क्योंकि ज्ञानधारा और कर्मधारा के एक साथ रहने में आत्मा की किसी प्रकार की क्षति को आगम स्वीकार नहीं करता। हम देखते हैं कि सविकल्प अवस्था में ज्ञानी के गृहस्थ अवस्था के सभी कार्य तथा भावलिंगी सन्त के भी २८ मूलगुणों का पालन, आहारादि का ग्रहण, तत्त्वोपदेश, शिष्यों का ग्रहण-विसर्जन, गुरु से अपने द्वारा किये गये दोषों की निन्दा-गर्हापूर्वक प्रायश्चित लेना आदि सभी कार्य बुद्धिपूर्वक होते हुए ही देखे जाते हैं। कर्ता-कर्म अधिकार में भी जिस द्रव्य का जब जो परिणाम होता है, उस समय उस कार्य का कर्ता उस द्रव्य को ही स्वीकार किया गया है। यत: राग-द्वेषादि भाव जीवों की ही पर्याय है। जीव ही स्वयं उसरूप परिणमता है, इसलिए प्रकृत में ऐसे जीव को एक तो निरास्रव मानना उचित नहीं है। दूसरे, ज्ञानी के भी श्रावक और भावलिंगो साधु के जितने भी कर्तव्य-कर्म कहे गये हैं, उन्हें अबुद्धिपूर्वक मानना भी उचित नहीं है। चरणानुयोग की रचना भी श्रावक और मुनि की प्रवृत्ति कैसी हो, इसी अभिप्राय से हुई है। वह जिनवाणी है, इसलिए यही मानना उचित है कि ज्ञानी भी जब सविकल्प अवस्था में वर्तता है, तब शुभाचार को श्रावक और मुनि के कर्तव्य-कर्म ही मानने चाहिए। उन्हें आगम में व्यवहारमोक्षमार्गरूप से स्वीकार करने का प्रयोजन भी यही है ?

समाधान—प्रश्न मार्मिक है। उसका समाधान यह है कि प्रकृत में जो बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक कार्यों का विभाजन किया गया है, वह 'यह मेरा कार्य और मैं इसका करनेवाला, इस कार्य के किये बिना मेरा तरणोपयाय नहीं, ऐसे अभिप्रायपूर्वक जो कार्य होते हैं, वे बुद्धिपूर्वक कार्य कहलाते हैं तथा इनके सिवाय अन्य सब कार्य अबुद्धिपूर्वक कहलाते हैं। आचार्य विद्यानन्द ने अबुद्धिपूर्वक कार्य का अर्थ अतर्कतोपस्थित किया है, सो इससे भी उक्त कथन की ही

पुष्टि होती है, क्योंकि प्रकृत में राग, द्वेष और मोहपूर्वक की गयी प्रवृत्ति या अभिप्राय मोक्षप्राप्ति के लिए इष्ट नहीं है। इस दृष्टि से शुभोपयोग भी अनुपादेय माना गया है। उसका विकल्प की भूमिका कहो या प्राक् पदवी कहो, उस समय होना और बात है और यह मोक्ष प्राप्ति के लिए परमार्थ से करणीय है, ऐसे अभिप्रायपूर्वक उसे उपादेय मानना और बात है। ज्ञानी का अभिप्राय तो एकमात्र अपने त्रिकाली ज्ञायक -स्वभाव में लीनता प्राप्त करने का ही रहता है। और इसीलिए आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने 'स्वरूप में रमना-चारित्र है' चारित्र का यह लक्षण किया है। यतः चारित्र, सम्यग्दर्शन का अविनाभावी है; इसीलिए आगम में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनमें से प्रत्येक के लक्षण के साथ स्वरूप लाभ को अविनाभावी स्वीकार किया गया है। स्वरूप लाभ न हो और सम्यग्दर्शन आदि परिणाम हो जाएँ, ऐसा नहीं है। शुभाचार को चरणानुयोग शास्त्र स्वयं मोक्षप्राप्ति में बाह्य-निमित्तरूप से स्वीकार करता है। इसलिए यही तथ्य फलित होता है कि ज्ञानी की दृष्टि सर्वदा सविकल्प अवस्था में भी आत्मस्वरूप पर ही रहती है। वह स्वयं शुभाचार को संसार को प्रयोजक होने से अपना अपराध ही मानता रहता है, क्योंकि ऐसी दृष्टि के बिना उसका, ज्ञानी कहो, सम्यग्दृष्टि कहो, अध्यात्मवृत्त कहो, अन्तरात्मा कहो या स्वसमय कहो' होना नहीं बन सकता।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक में साभिप्राय जितने भी कार्य होते हैं, उनकी प्रायोगिक संज्ञा है, शेष सब कार्य वैस्रसिक कहलाते हैं।

२. उभयरूप से निमित्त शब्द का प्रयोग

साधारणतः निमित्त शब्द कारण, उपाधि, साधन या हेतुवाची स्वीकार किया गया है। यह बाह्यकारण और उपादान दोनों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथा—

द्रव्यस्य निमित्तवशात् उत्पद्यमाना परिस्पन्दात्मिका क्रियेत्य-सवसीयते। *तत्त्वार्थ वार्तिक, अध्याय ५, सूत्र २२।*

द्रव्य के दोनों बाह्य और आभ्यन्तर (उपादान) निमित्तों के वश से उत्पन्न होनेवाले परिस्पन्द का नाम क्रिया है, ऐसा निश्चित होता है।

क्रिया के इस लक्षण में व्यवहार हेतु के साथ निश्चय उपादान के लिए भी निमित्त शब्द व्यवहृत हुआ है।

कहीं इन दोनों के लिए बाह्य और आभ्यन्तर हेतु संज्ञा भी व्यवहृत हुई है (तत्त्वार्थ वार्तिक, अध्याय २, सूत्र ८), तथा कहीं बाह्य और इतर उपाधि संज्ञा भी प्रयुक्त हुई है। (स्व०स्तो०श्लो० ५९)

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लौकिक या परमार्थ स्वरूप जो भी कार्य होता है, उसमें व्यवहार हेतु और निश्चयहेतु का सन्निधान अवश्य होता है। यतः निश्चयहेतु (निश्चय उपादान) कार्य द्रव्य का ही एक अव्यवहित पूर्व रूप है, इसलिए वह नियम से कार्य का नियामक स्वीकार किया गया है। किन्तु व्यवहार हेतु कार्य का अविनाभावी है, इसलिए मात्र व्यवहार से उसे कार्य का नियामक कहा जा सकता है। फिर भी वह निश्चय हेतु का स्थान नहीं ले सकता। इन दोनों में विन्ध्य-हिमगिरि के समान महान् अन्तर है—'अन्तरं महदन्तरम्।' क्योंकि निश्चय हेतु कार्य-द्रव्य के स्वरूप में अन्तर्निहित है और व्यवहार हेतु बाह्य वस्तु है, इसलिए इन दोनों में महान् अन्तर होना स्वाभाविक है, निश्चय हेतु कार्य द्रव्य का पूर्व रूप होने से सद्भूत है और व्यवहार हेतु कार्य-द्रव्य से भिन्न होने के कारण उसमें असद्भूत है।

३. शंका-समाधान

शंका—जब उक्त दोनों ही हेतु कार्य के प्रति नैगमनय से स्वीकार किये गये हैं, तब दोनों का दर्जा एक समान मानने में क्या आपत्ति है?

समाधान—आगम में सद्भूत और असद्भूतव्यवहार के भेद से नैगमनय दो प्रकार का स्वीकार किया गया है। यतः बाह्य वस्तु में निमित्तता असद्भूतव्यवहारनय से स्वीकार की गयी है और निश्चय उपादान में कार्य के प्रति हेतुता सद्भूतव्यवहारनय से स्वीकार की गयी है, अतः इन दोनों को एक समान दर्जा नहीं दिया जा सकता है। मात्र हेतुता सामान्य की दृष्टि से दोनों ही समान है। आशय यह है कि यह इसका कार्य है और यह इसका कारण है, यह व्यवहार तो दोनों हेतुओं पर समानरूप से लागू होता है। मात्र बाह्य हेतु और कार्य, इनमें निमित्त-नैमित्तिकभाव जहाँ असद्भूतव्यवहारनय से घटित होता है, वहाँ निश्चय उपादान और कार्य इनके मध्य निमित्त-नैमित्तकभाव सद्भूतव्यवहारनय से घटित होता है।

शंका—जब कार्य के साथ निश्चय उपादान का सम्बन्ध सद्भूत -व्यवहारनय से घटित किया जाता है, तो उपादान के पूर्व उसे निश्चय विशेषण क्यों दिया गया है?

समाधान—यतः प्रत्येक निश्चय उपादान में प्रत्येक कार्य के प्रति स्वरूप से हेतुता विद्यमान है, अतः उपादान के पूर्व उसे निश्चय विशेषण दिया गया है।

४. व्यवहाराभासियों का कथन

यह वस्तुस्थिति है। इसके ऐसा होते हुए भी अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष, तर्क और अनुभव को प्रमाण मानकर तथा साथ ही आगम की दुहाई देते हुए एक ऐसे नये मत का बुद्धिपूर्वक प्रचार किया जा रहा है कि अव्यवहित पूर्व समयवर्ती द्रव्य अनेक शक्तिसम्पन्न होता है, इसलिए कब कौन कार्य हो, यह बाह्य सामग्री पर अवलम्बित है और उसका कोई नियम नहीं कि कब कैसी बाह्य सामग्री मिलेगी, इसलिए जब जैसी सामग्री मिलती है, कार्य उसके अनुसार होता हैं, अतः कार्य का

नियामक बाह्य निमित्त ही होता है, उक्त उपादान नहीं। इसके साथ ही बुद्धिपूर्वक एक ऐसे मत का भी प्रचार किया जा रहा है कि प्रत्येक द्रव्य की शुद्ध पर्याय तो नियत क्रम से ही होती है, किन्तु अशुद्ध पर्याय के सम्बन्ध में ऐसा कोई नियम नहीं है। वे नियत क्रम से भी होती हैं और नियत क्रम को छोड़कर आगे-पीछे भी होती हैं।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए उनका कहना है कि जब कि आगम में उदासीन बाह्य निमित्त और प्रेरक बाह्य निमित्तों का पृथक्-पृथक् उल्लेख दृष्टिगोचर होता है तो दोनों को एक कोटि में बिठलाना ठीक नहीं है। हमारा यह कहना नहीं कि जो-जो क्रियावान् पदार्थ हैं, वे सब प्रेरक निमित्त ही होते हैं। उदाहरणार्थ चक्षु इन्द्रिय क्रियावान् पदार्थ होकर भी रूपोपलब्धि में प्रेरक बाह्य निमित्त नहीं है। वह उसी प्रकार से रूपोपलब्धि में व्यवहार हेतु है, जैसे गति करते हुए जीवों और पुद्गलों की गति क्रिया में धर्मद्रव्य या ठहरते हुए जीवों और पुद्गलों के स्थित होने में अधर्म द्रव्य व्यवहार हेतु हैं। इष्टोपदेश में नाज्ञो 'विज्ञत्वमायाति' यह कथन ऐसे ही क्रियावान् पदार्थों की व्यवहार हेतुता को धर्म द्रव्य के समान बतलाने के लिए किया गया है।

किन्तु इनके सिवाय आगम में ऐसे उद्धरण भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिनके आधार से उदासीन व्यवहार हेतुओं से अतिरिक्त प्रेरक व्यवहार हेतुओं की स्वतन्त्ररूप से सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ सर्वार्थसिद्धि में द्रव्यवचन पौद्गलिक क्यों है, इसकी पुष्टि में बतलाया गया है कि भाववचनरूप सामर्थ्य से युक्त क्रियावान् आत्मा के द्वारा प्रेर्यमाण पुद्गलद्रव्य वचनरूप से परिणमन करते हैं, इसीलिए द्रव्यवचन पौद्गलिक है। उल्लेख इस प्रकार है —

तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गलाः वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गल की। *(अध्याय ५, सूत्र १९)*

तत्त्वार्थवार्तिक में भी यह विवेचन इसी प्रकार किया गया है। इसके लिए देखो अध्याय ५, सूत्र १७ और १९।

इसी प्रकार पञ्चास्तिाकय (गाथा ८५ व ८८ जयसेनीय टीका) और बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा १७ व २२ संस्कृत टीका) में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जो उक्त कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं।

इस प्रकार ये कतिपय उद्धरण हैं, जिनके आधार से ऐसे प्रेरक व्यवहार हेतुओं का समर्थन होता है, जो लोक में चक्षु इन्द्रिय से विलक्षण प्रकार से दूसरे द्रव्यों के कार्यों में व्यवहार हेतु होते हुए देखे जाते हैं। इससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यद्यपि चक्षु इन्द्रिय क्रियावान् होकर भी रूप की उपलब्धि में प्रेरक बाह्य हेतु भले ही न हो, किन्तु इसका कोई यह अर्थ करे कि जितने भी क्रियावान् पदार्थ हैं, वे सब धर्मादि द्रव्यों के समान उदासीन व्यवहार हेतु ही होते हैं तो यह कथन पूर्वोक्त आगम प्रमाणों से बाधित हो जाता है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुभव और युक्ति से विचार करने पर भी इस कथन की सत्यता प्रमाणित नहीं होती। कारण कि लोक में ऐसे बहुत से उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं, जिनको ध्यान में लेने पर व्यवहार से प्रेरक निमित्तों की सिद्धि होती है। अपने इस कथन की पुष्टि में वे वायु का उदाहरण विशेषरूप से उपस्थित कर कहते हैं कि जिस प्रकार वायु का संचार होने पर वह ध्वजा आदि अन्य पदार्थों के उड़ने में व्यवहार से प्रेरक निमित्त होता है, उसी प्रकार सभी प्रेरक निमित्तों के विषय में जानना चाहिए। पञ्चास्तिकाय समय व्याख्या टीका से इसकी पुष्टि होती है। यथा—

यथा गतिपरिणतो प्रभंजनः वैजयन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते न धर्मः। स खलु निष्क्रियत्वान्न कदाचिदपि गतिपरिणाममेवापद्यते, कुतोऽस्य सहकारित्वेन परेषां गतिपरिणामस्य हेतुकर्तृत्वम्। *गाथा ८८*

जिस प्रकार गतिपरिणत वायु ध्वजाओं के गतिपरिणाम का

हेतुकर्ता देखा जाता है, धर्मद्रव्य नहीं। वह वास्तव में निष्क्रिय होने से कभी भी गतिपरिणाम को नहीं प्राप्त होता, इसलिए इसका सहकारीपनेरूप से दूसरों के गतिपरिणाम का हेतु कर्तृत्व कैसे हो सकता है ?

यह व्यवहार से प्रेरक निमित्तों का एक उदाहरण है। लोक में ऐसे हजारों उदाहरण देखे जाते हैं, इसलिए इन सब उदाहरणों को देखते हुए यह सिद्ध होता है कि जहाँ पर निष्क्रिय पदार्थों के समान सक्रिय पदार्थ व्यवहार से उदासीन निमित्त होते हैं, वहाँ तो प्रत्येक कार्य अपने-अपने विवक्षित निश्चय उपादान के अनुसार ही होता है और जहाँ पर सक्रिय पदार्थ व्यवहार से प्रेरक निमित्त होते हैं, वहाँ पर प्रत्येक कार्य निश्चय उपादान से होकर भी जब जैसे व्यवहार से प्रेरक निमित्त मिलते हैं, वहाँ पर प्रत्येक कार्य उनके अनुसार होता है। व्यवहार से प्रेरक निमित्तों के अनुसार कार्य होते हैं, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि गुण-पर्यायरूप प्रत्येक उपादानभूत वस्तु अपने स्वचतुष्टयरूप स्वभाव को छोड़कर व्यवहार से प्रेरक निमित्तरूप परिणम जाती है। क्योंकि स्व का उपादान और अन्य का अपोहन करके रहना यह प्रत्येक वस्तु का वस्तुत्व है। किन्तु इसका यह तात्पर्य है कि उस समय व्यवहार से प्रेरक निमित्तों में जिस प्रकार के कार्यों में प्रेरक निमित्त होने की योग्यता होती है, कार्य उसी प्रकार के होते हैं, निश्चय उपादान के अनुसार नहीं होते। अकालमरण या इसी प्रकार के जो दूसरे कार्य कहे गये हैं, उनकी सार्थकता व्यवहार से प्रेरक निमित्तों का उक्त प्रकार से कार्यों का होना मानने में ही है। आगम में अकालमरण, उदीरणा, अपकर्षण, उत्कर्षण और संक्रमण जैसे कार्यों को स्थान इसी कारण से दिया गया है।

५. व्यवहाराभासियों के कथन का निरसन

यह ऐसे व्यवहाराभासियों का कथन है जो किसी विशिष्ट

प्रयोजनवश सम्यक् नियति का खण्डन करने के लिए कटिबद्ध हैं। और जिन्होंने अपना लक्ष्य एकमात्र यही बना लिया है कि अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए कहीं पर आगम को गौण कर और कहीं पर आगम के अर्थ में परिवर्तन कर आगम के नाम पर अपने कथन को पुष्ट करते रहना है। ऐसा लिखकर वे जैन दर्शन से कितने दूर जा रहे हैं या चले गये हैं, इसका उन्हें रंचमात्र भी भय नहीं है।

(१) उदाहरणार्थ 'यः परिणमति स कर्ता' का सीधा अर्थ है— 'जो कार्यरूप परिणमन करता है।' किन्तु व्यवहार से जो प्रेरक निमित्त कहे जाते हैं, कार्यों का यथार्थ कर्तृत्व उनको प्राप्त हो जाए और बाह्य वस्तु जो प्रत्येक कार्य का व्यवहार कारण है, उसका तद्भिन्न द्रव्य के कार्य के प्रति कार्यकारीपना सिद्ध हो जाए, इसलिए वे उक्त श्लोकांश का 'जिसमें परिणमन होता है' यह अर्थ करते हैं।

(२) दूसरा उदाहरण सयमसार गाथा १०७ का है। इमसें 'आत्मा पुद्गलद्रव्य को परिणमाता है आदि व्यवहारनय का वक्तव्य है।' यह कहा गया है। उसकी आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने ऐसे उपयोग परिणाम को विकल्प बतलाकर इस विकल्प को उपचरित ही कहा है। यथा—

यत्तु व्याप्य-व्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणमयत्युत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः॥१०७॥

और व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने पर भी प्राप्य, विकार्य तथा निर्वर्त्यरूप जो पुद्गल द्रव्यस्वरूप कर्म है, उसे आत्मा ग्रहण करता है, परिणमाता है, उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है। इस प्रकार का जो विकल्प होता है, वह वास्तव में उपचार है।

किन्तु व्यवहारभासी व्यक्ति बाह्य हेतुओं की कार्यकारीपना सिद्ध

करने के अभिप्राय से उक्त सूत्रगाथा का यह अर्थ करते हैं कि आत्मा पुद्गलद्रव्य का उपादानरूप से परिणमन करनेवाला नहीं होता आदि। यह उन महाशयों का कहना है। किन्तु यह कैसे ठीक नहीं है, इसके लिए आगे के कथन पर दृष्टिपात कीजिए—

अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
अच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढ़ा॥६५॥ पं० काय।

आत्मा स्वभाव (मोहादि) करता है और जीव के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप से वहाँ प्राप्त हुए पुद्गल स्वभाव से कर्मभाव को प्राप्त होते हैं॥६५॥

इस गाथा द्वारा पुद्गलकार्य जीव द्वारा किए बिना ही जीव और पुद्गल अपना-अपना कार्य स्वयं कैसे करते हैं, यह स्पष्ट किया गया है। इस पर पुद्गलकर्मरूप अपने कार्य को जीव की सहायता के बिना कैसे करता है, यह शंका होने पर आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

जह पुग्गलदव्वाणं बहुप्पयारेहि खंधणिप्पत्ती।
अकदा परेहिं दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि॥६६॥

जिस प्रकार पुद्गलद्रव्यों की अनेक प्रकार से स्कन्धों की उत्पत्ति पर के द्वारा किये बिना होती हुई दिखलायी देती है, उसी प्रकार कर्मों की विविधता पर के द्वारा नहीं की गयी जानो॥६६॥

यहाँ पर प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य अन्य के द्वारा नहीं किये जाने पर स्वयं प्रति समय अपने कार्यों का कर्ता कैसे है, यह पुद्गल स्कन्धों का उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है। पुद्गल स्कन्धों के द्व्यणुक से लेकर महस्कन्ध तक नाना भेद हैं। उनमें से शून्य वर्गणाओं को छोड़कर वे सब सत्स्वरूप हैं। उनमें ऐसी आहारवर्गणाएँ भी हैं, जिनसे तीन शरीर और छह पर्याप्तियों की संरचना होती है। मनोवर्गणाएँ भी हैं, जिनसे विविध प्रकार के मनों की संरचना होती है। भाषावर्गणाएँ भी है, जिनसे तत, वितत आदि ध्वनियों की संरचना होती है।

तैजसवर्गणाएँ भी हैं, जिनसे नि:सरण और अनि:सरण स्वभाव और प्रशस्त और अप्रशस्त तैजसशरीरों की संरचना होती है। कार्मणवर्गणाएँ भी हैं, जिनसे ज्ञानावरणादि विविध प्रकार के आठ कर्मों की संरचना होती हैं। ये पाँचों संसारी जीवों से सम्बद्ध होने योग्य वर्गणाएँ हैं। प्रश्न है कि इन्हें ऐसी कौन बनाता है और इनमें से आहारादि पाँच वर्गणाओं में संसारी जीवों के साथ सम्बद्ध होने की पात्रता कौन पैदा करता है। क्या वे स्वभाव से संसारी जीवों से सम्बद्ध होने की पात्रता युक्त बनती हैं या संसारी जीव उन्हें अपने मोह, राग, द्वेष आदि से वैसा बना लेता है। साथ ही यह विभाग कौन करता है कि इतने परमाणुओं से लेकर इतने परमाणुओं तक के स्कन्ध आहारवर्गणा योग्य होंगे आदि, तथा एक प्रकार की वर्गणाओं से दूसरे प्रकार की वर्गणाओं के मध्य इतना अन्तर रहेगा। यदि कहो कि ये वर्गणाएँ स्वयं ही बनती और बिछुड़ती रहती हैं तो संसार के सब कार्य स्वयंकृत मान लेने में आपत्ति ही क्या है। आगम का भी यही आशय है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने इसी स्वयंकृत नियम को ध्यान में रखकर यह निर्देश किया है कि जिस प्रकार सब स्कन्धों की उत्पत्ति पर से न होकर स्वयं होती है, उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों की उत्पत्ति भी स्वयंकृत जाननी चाहिए। इतने कथन से यह भी फलित होता है कि संसारी जीव अपने रागादि परिणामों को स्वयं करते हैं और एक क्षेत्रावगाहरूप से वहाँ स्थित पुद्गल कार्मणवर्गणाएँ स्वयं कर्मरूप परिणमती रहती हैं। इससे आगम में व्यवहार और निश्चयनय की अपेक्षा जो षट्कारक व्यवस्था बतलायी गयी है, उसका आशय भी भले प्रकार समझ में आ जाता है। साथ ही यह भी समझ में आ जाता है कि आचार्यों ने व्यवहार कथनी को क्यों तो उपचरित बतलाया और निश्चय कथनी को क्यों परमार्थस्वरूप बतलाया। प्रकृत में जो जिसका न हो, उसको व्यवहार प्रयोजनवश या व्यवहार हेतुवश उसका कहना व्यवहार है तथा जो जिसका हो, उसको निश्चय प्रयोजन या निश्चय हेतुवश उसी

का कहना निश्चय है। संसारी जीवों के रागादि की उत्पत्ति के मोहनीय आदि कर्म व्यवहार हेतु हैं, अत: इन रागादि को नैमित्तिक कहना व्यवहार है तथा इन रागादि को स्वकाल के प्राप्त होने पर संसारी जीव स्वयं उत्पन्न करते हैं और उदयादिरूप पुद्गल कर्म उनके होने में स्वयं व्यवहार हेतु होते हैं, इतना विशेष है कि निश्चयनय का कथन पर निरपेक्ष होता है, क्योंकि वह वस्तु का स्वरूप है। किन्तु व्यवहारनय का कथन पर सापेक्ष होता है, क्योंकि वह वस्तु का स्वरूप नहीं है। अत: रागादि को संसारी जीवों का स्वयंकृत कार्य कहना निश्चय है और पर निमित्तक कहना व्यवहार है। आगमज्ञ उसी का नाम है जो व्यवहार को व्यवहारनय से ही स्वीकारता है और निश्चय को निश्चयनय से ही स्वीकारता है। किन्तु जो उक्त कथन को विपरीतरूप से जानते या कहते हैं, वे आगमज्ञ कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। इस तथ्य का समर्थन समयसार गाथा ४१४ की आत्मख्याति टीका के इस वचन से भले प्रकार होता है—

ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते ते समयसारमेव न संचेतयन्ते। य एव परमार्थ परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते ते एव समयसारं चेतयन्ते।

इसलिए जो व्यवहार को ही परमार्थबुद्धि से अनुभवते हैं, वे अकेले समयसार को नहीं अनुभवते तथा जो मात्र परमार्थबुद्धि से अनुभवते हैं, वे ही समयसार को अनुभवते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार कथन व्यवहार स्वरूप ही है, उसे वस्तु स्वरूप या वस्तु के कार्य का निश्चय कारण मानना आगम विरुद्ध है। इसलिए बाह्य कारण सहायक है, यह कहना भी व्यवहार अर्थात् उपचरित (कल्पना मात्र) हो जाता है।

यदि हम निमित्तपने की दृष्टि से सविकल्प योगयुक्त अज्ञानी जीव और तदितर बाह्य कारणों को देखते हैं तो उनमें कोई अन्तर नहीं

रह जाता है। केवल बाह्य-व्याप्ति के आधार पर कालप्रत्यासत्तिवश उक्त जीवों में कर्तापने का तथा अन्य में करणता आदि का व्यवहार किया जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इस तथ्य को स्पष्ट करने के अभिप्राय से समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीका में घटोत्पत्ति के प्रति कुम्भकार के योग और विकल्प को घट निर्माण की क्रिया न कहकर उसे मिट्टी की उस क्रिया के प्रति अनुकूल कहा है, जबकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से किसी के अनुकूल और प्रतिकूल होती नहीं। अनुकूल या प्रतिकूल कहना यह मात्र व्यवहार है। तात्पर्य यह हुआ कि मिट्टी स्वयं कर्ता होकर घट की उत्पत्तिरूप क्रिया करती है और कुम्भकार का योग और विकल्परूप व्यापार व्यवहार से उसके अनुकूल होता है। अत: यही मानना उचित है कि कार्य की उत्पत्ति होती तो है अपने निश्चय उपादान के स्वसमय में प्राप्त होने पर स्वयंकृत ही, पर उसमें जो सविकल्प क्रियावान अज्ञानी जीव और तदितर क्रियावान पदार्थ अन्वय व्यतिरेकरूप बाह्य व्याप्तिवश स्वकाल के प्राप्त होने पर व्यवहार हेतु होते हैं, उनकी वह व्यवहार हेतुता धर्मादि द्रव्यों के समान ही जाननी चाहिए। वे अपनी-अपनी उक्त विशेषता द्वारा दूसरे निष्क्रिय धर्मादि द्रव्यों के समान ही व्यवहार हेतु होते हैं, यह तथ्य पूर्वोक्त कथन से तो स्पष्ट है ही। निष्क्रिय पदार्थ दूसरों के क्रिया लक्षण अथवा परिणाम लक्षण कार्यों में यथासम्भव किस प्रकार व्यवहार हेतु होते हैं, इसका स्पष्टीकरण करते समय जो सर्वार्थसिद्धि का उद्धरण दे आये हैं, उससे भी स्पष्ट है। उक्त उल्लेख में जहाँ धर्मादि द्रव्यों की व्यवहार हेतुता को क्रियावान चक्षु इन्द्रिय की व्यवहार हेतुता के समान बतलाया गया है, वहाँ उससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि सविकल्प क्रियावान अज्ञानी जीव और तदितर क्रियावान पदार्थों की व्यवहार हेतुता धर्मादि द्रव्यों के समान ही होती है। और इसीलिए आचार्य पूज्यपाद ने जिस प्रकार धर्मद्रव्य को अन्य की गति में व्यवहार हेतु कहा है, उसी प्रकार अन्य सब व्यवहार हेतु होते हैं,

इस तथ्य को इष्टोपदेश में 'नाज्ञो विज्ञत्वमायाति' इत्यादि कथन द्वारा अन्य सब पदार्थों की व्यवहार हेतुता को निष्क्रिय धर्मद्रव्य की व्यवहार हेतुता के समान स्वीकार किया है।

निश्चय उपादान और व्यवहार निमित्त, इन दोनों का प्रति समय किस प्रकार योग मिलता है, इसका समर्थन स्वामी कार्तिकेय की द्वादशानुप्रेक्षा से भले प्रकार हो जाता है। यथा—

णिय-णियपरिणामाणं णिय-णियदव्वं पि कारणं होदि।
अण्णं बाहिरदव्वं णिमित्तमत्तं वियाणेह ॥२१७॥

सब द्रव्य अपने-अपने परिणाम के निश्चय उपादानकारण होते हैं, अन्य बाह्य द्रव्य को निमित्तमात्र जानो ॥२१७॥

वस्तुत: आगम में जहाँ भी निश्चय से कार्य की नियामकता स्वीकार की गयी है, वहाँ मात्र निश्चय उपादान को ही प्रधानता दी गयी है। असद्भूतव्यवहारनय से काल प्रत्यासत्तिवश अवश्य ही निश्चय की सिद्धि के अभिप्राय से व्यवहार हेतु को स्थान मिला हुआ है। प्रकृत में निश्चय की सिद्धि का अर्थ है प्रतिक्षण निश्चय उपादान के होने पर अगले समय में जो कार्य हो, उसके अपने अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा कालप्रत्यासत्तिवश सूचित करे। बस बाह्य कारण या असद् व्यवहारहेतु का इतना ही काम है। वह निश्चय उपादान के कार्य में दखल दे, यह उसका कार्य नहीं है। हम इस तथ्य को न भूलें, यही जैनदर्शन का आशय है। इससे अन्य मानना वह जैनदर्शन नहीं होगा, किन्तु विश्व को कर्त्तारूप से माननेवाला ईश्वरवादी दर्शन होगा।

६. अन्य दर्शनों का मन्तव्य

अपने इस कथन की पुष्टि में हम सर्व प्रथम नैयायिक दर्शन को लेते हैं। नैयायिक दर्शन कार्य की उत्पत्ति में समवायी कारण, असमवायी कारण और निमित्त कारण, ये तीन कारण मानता है।

जिससे समवेत होकर कार्य उत्पन्न होता है, वह समवायी कारण है, संयोग आदि असमवायी कारण है। इन दोनों से अतिरिक्त निमित्त कारण है। नैयायिक दर्शन आरम्भवादी या असत् कार्यवादी दर्शन है। वह कारण में कार्य की सत्ता स्वीकार नहीं करता और न ही स्वरूप से वस्तु को द्रव्यदृष्टि से नित्य और पर्यायदृष्टि से अनित्य ही मानता है। इसलिए उस दर्शन में निमित्तकारण पर अधिक जोर दिया गया है। यद्यपि उस दर्शन में प्रेरक निमित्तकारण और उदासीन निमित्तकारण ऐसे भेद दृष्टिगोचर नहीं होते, फिर भी वह सभी निमित्तकारणों के मध्य कर्तारूप से ईश्वर को सर्वोपरि मानता है। इसलिए इस दर्शन में ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सब उदासीन निमित्तकारण हो जाते हैं। यत: इस दर्शन में कर्ता के लक्षण में ज्ञान, क्रिया और चिकीर्षा को समाहित किया गया है, इसलिए जड़ और चेतन सम्बन्धी सभी कार्यों में उसकी प्रधानता हो जाती है। इस दर्शन में निमित्तों के उक्त प्रकार से भेद किये बिना भी उक्त प्रकार का विभाजन स्पष्ट प्रतीत होता है। संक्षेप में यह नैयायिक दर्शन का कथन है। वैशेषिक दर्शन की मान्यता भी इसी प्रकार की है।

बौद्धदर्शन अनात्मवादी दर्शन होने के साथ वह क्षणिणवाद पर आधृत है। वह अन्वयी द्रव्य को स्वीकार नहीं करता। फिर भी ज्ञान की उत्पत्ति के समनन्तर प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, आलम्बन प्रत्यय और सहकारी प्रत्यय[१], ये चार कारण स्वीकार करने के साथ उसने अन्य कार्यों के हेतु (मुख्य हेतु) और प्रत्यय (गौण) ये दो कारण स्वीकार किये हैं। यह असत्कार्यवादी दर्शन है, फिर भी समनन्तर प्रत्यय के आधार पर यह उपादान-उपादेय भाव को स्वीकार करता है।

अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञानक्षण समनन्तर प्रत्यय है, इन्द्रियाँ अधिपति प्रत्यय है, विषय आलम्बन प्रत्यय हैं तथा प्रकाश आदि अन्य

१— चत्वार: प्रत्यया: हेतु: आलम्बनमनन्तरम्।
तथैवाधिपतेयं च प्रत्ययो नास्ति पंचम:॥ —माध्यमिककारिका १।२।

सब कारण सहकारी प्रत्यय हैं। प्रत्येक समय के ज्ञान की उत्पत्ति के ये चार कारण हैं।

अन्य कार्यों की उत्पत्ति के दो कारण होते हैं। उनमें से बीज आदि को हेतु कहते हैं और प्रत्येक समय के कार्यों की उत्पत्ति के भूमि आदि अन्य कारणों को प्रत्यय कहते हैं। किसी की अपेक्षा करके ही कार्य की उत्पत्ति होती है, इसलिए मूलतः यह सापेक्षवादी दर्शन है। इसलिए इसका नाम प्रतीत्य समुत्पाद भी है।[१]

सांख्य सत्यकार्यवादी दर्शन है। यह कारण में कार्यों की सर्वथा सत्ता स्वीकार कर उनका आविर्भाव तिरोभाव मानता है। उसका कहना है कि प्रत्येक कार्य के लिए पृथक्-पृथक् उपादान का ग्रहण होता है, सबसे सब कार्यों की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। आकाश कुसुम आदि असत् से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, शक्य से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति होती है और प्रत्येक कार्य का कारण अवश्य होता है। इससे विदित होता है कि नियत कारण से ही नियत कार्य की उत्पत्ति होती है। इस दर्शन ने आविर्भाव और तिरोभाव मानकर भी उपादान से भिन्न कारणों पर जरा भी बल नहीं दिया है। इसकी मान्यता है कि मूल में प्रकृति और पुरुष दो ही तत्त्व हैं, जो सर्वथा नित्य हैं। इसके बाद भी वह आविर्भाव और तिरोभाव के आधार पर कार्य-कारण भाव को स्वीकार करता है। उसके मत से सब कार्य जैसे हम देखते हैं, उसी रूप में पहले से ही विद्यमान हैं। मात्र वे अपने-अपने काल में उजागर हो जाते हैं और अपने-अपने काल में ओझल हो जाते हैं।

यह तीन दर्शनों का मन्तव्य है। नैयायिक दर्शन कार्य में कारण की सत्ता न मानने के कारण, कार्य-कारण की मुख्यता से अन्य निमित्तवादी दर्शन है। ईश्वर की कर्ता के रूप में स्वतन्त्र सत्ता भी

१— अस्मिन् सति इदं भवति। हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावनामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादः।

उसने इसी कारण स्वीकार की है। मेघादि अजीव कार्यों का बनना-बिगड़ना, वरसना, बिजली का उत्पन्न होना, चमकना आदि समस्त कार्य अन्य पुरुषकृत न होकर भी ईश्वराधिष्ठित होकर ही कार्यरूप परिणत होते हैं। ईश्वर सब कार्यों का साधारण कारण है। उसके बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता।

बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी दर्शन है। यह कारण में कार्य की सत्ता स्वीकार नहीं करता, इसलिए इस दर्शन में भी स्वभाव से कार्यों की उत्पत्ति में अन्य निमित्तों को मुख्यता मिल जाती है। क्षणिकवादी दर्शन होने से यह कार्यों की उत्पत्ति अन्य निमित्त सव्यपेक्ष मानकर भी व्यय को सर्वथा निरपेक्ष मानता है।

एक सांख्यदर्शन ऐसा है जिसकी अन्य निमित्तवादी दर्शनों में परिगणना नहीं होती। कारण कि वह कारणों के समान कार्यों की भी सर्वथा सत्ता स्वीकार करता है। मात्र कार्य का अविर्भाव-तिरोभाव होना मानता है।

७. जैनदर्शन का मन्तव्य

यह उक्त तीन दर्शनों के मन्तव्यों का स्पष्टीकरण है। अब इसके प्रकाश में जैनदर्शन के मन्तव्यों पर दृष्टिपात करते हैं। यह न तो सर्वथा नित्यवादी दर्शन है और न सर्वथा अनित्यवादी ही। वस्तुस्वरूप से परिणामी नित्य है, यह इसका मन्तव्य है। इसलिए प्रत्येक समय में होनेवाला परिणाम परमार्थ से परनिरपेक्ष स्वयं होता है। जिस समय जो परिणाम होता है, उससे पहले और बाद में द्रव्यदृष्टि से वह सत् है और पर्यायदृष्टि से असत् है। तथा अपने काल में पर्यायदृष्टि से भी सत् है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए पञ्चास्तिकाय में कहा भी है—

देव-मनुष्यादिपर्यायास्तु क्रमवर्तित्वादुपस्थिताऽतिवाहिताहित-स्वसमया उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति चेति। *समयव्याख्या, गाथा १८।*

देव और मनुष्यादि पर्यायें क्रमवर्ती होने से अपना-अपना समय प्राप्त होने और निकल जाने पर उत्पन्न होती है और व्यय को प्राप्त होती हैं। इस विषय में स्वामि-कार्तिकेयानुप्रेक्षा का यह वचन भी दृष्टव्य है—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहि संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं॥२१९॥

कालादि लब्धियों से युक्त तथा नाना शक्तियों से संयुक्त पदार्थ स्वयं परिणमन करते हैं, इसे कौन वारण कर सकता है॥२१९॥

तेसु अतीदा णंता अणंतगुणिदा य भाविपज्जाया।
एक्को वि वट्टमाणो एत्तियमेत्तो वि सो कालो॥२२१॥

द्रव्यों की उन पर्यायों में से अतीत पर्यायें अनन्त हैं, भावी पर्यायें उनसे अनन्तगुणी हैं और वर्तमान पर्याय एक है। सो जितनी ये अतीत, भावी और वर्तमान पर्यायें हैं, उतने ही काल के समय हैं॥२२१॥

आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्य की तीनों काल सम्बन्धी जितनी पर्यायें हैं, काल के समय भी उतने ही हैं, न्यूनाधिक नहीं। प्रत्येक वस्तु का वह स्वयंसिद्ध स्वभाव है कि प्रत्येक नियत समय में नियत पर्याय ही स्वयं होती है और उस समय के व्यय के साथ उस पर्याय का भी व्यय हो जाता है। इस क्रम को कोई अन्यथा नहीं कर सकता।

प्रत्येक वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, इसे स्पष्ट करते हुए जिस स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु को सत्स्वरूप प्रसिद्ध किया गया है, उसमें स्वकाल और कोई नहीं, यही है।

८. शंका-समाधान

शंका—यद्यपि प्रत्येक वस्तु की प्रति समय की पर्याय प्रत्येक वस्तु का उसी प्रकार स्वरूप है, जिस प्रकार सत्त्व आदि सामान्य धर्म प्रत्येक वस्तु के स्वरूप हैं, इसमें सन्देह नहीं। हमारा विवाद स्वरूप के विषय में नहीं है, किन्तु हमारा विवाद पर्यायस्वरूप के

उत्पत्ति के विषय में है। हमारा कहना तो इतना ही है कि प्रत्येक वस्तु की प्रति समय की पर्याय की उत्पत्ति पर की सहायता से ही होती है। देखा भी जाता है कि मिट्टी घटरूप तभी परिणमती है, जब उसे कुम्भकार के अमुक प्रकार के व्यापार का सहयोग मिलता है। जिनागम में बाह्य निमित्तों की स्वीकृति का प्रयोजन भी यही है। अत: कार्य-कारण की मीमांसा करते समय इसका अपलाप नहीं करना चाहिए ?

समाधान—प्रश्न महत्त्व का है, इस पर सांगोपांग विचार तो कर्त्ता-कर्म मीमांसा अधिकार में ही करेंगे, फिर भी सामान्य से उस पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक प्रतीत है। प्रश्न यह है कि जो बाह्य निमित्त है, वह अन्य द्रव्य के कार्य काल में स्वयं अपनी परिणामलक्षण या उसके साथ परिस्पन्दलक्षण क्रिया करता है या अन्य की क्रिया करता है ? यदि स्वयं अपनी ही क्रिया करता है तो अन्य के कार्य में वह सहायक किस प्रकार होता है ? जबकि वह स्वयं अपनी ही क्रिया में व्यापृत रहता है तो वह अन्य द्रव्य की क्रिया जब कर ही नहीं सकता, तब वह अन्य द्रव्य के कार्य में वास्तव में सहायक ही कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता यही निश्चित होता है। और यदि अपनी उक्त दोनों प्रकार की क्रियाओं को छोड़कर अन्य द्रव्य के कार्य में व्यापृत रहता है तो वह स्वयं अपरिणामी हो जाता है। इन दोनों प्रकार की आपत्तियों से बचने का एकमात्र यही उपाय है और वह यह कि परमार्थ से न तो एक द्रव्य अपने कार्य को छोड़कर अन्य द्रव्य के कार्य में निमित्त ही होता है और न ही वह उस कार्य के होने में परमार्थ से कुछ सहायता ही करता है। मात्र अन्वयव्यतिरेक के आधार पर काल प्रत्यासत्तिवश यह व्यवहार किया जाता है कि इसने इसका कार्य किया या यह इसके कार्य में सहायक है। सच पूछा जाए तो निमित्तवाद जहाँ अन्य निमित्तवादी दर्शनों का अन्तरात्मा है, वहाँ जैनदर्शन में वह बाह्य कलेवरमात्र है। इसी तथ्य को आचार्य पूज्यपाद ने भी सर्वार्थसिद्धि में व्रतों को लक्ष्य कर स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।

वे लिखते हैं —

तत्र अहिंसाव्रतमादौ क्रियते, प्रधानत्वात्। सत्यादीनि हि तत्परिपालनार्थानि सस्यस्य वृत्तिपरिक्षेपवत्। *अध्याय ६, सूत्र १।*

वहाँ पाँच व्रतों में अहिंसाव्रत को आदि में रखा है, क्योंकि वह सब व्रतों में मुख्य है। धान्य के खेत के लिए जैसे उसके चारों ओर बाड़ी होती है, उसी प्रकार सत्यादिक सभी व्रत अहिंसा के परिपालन के लिए हैं।

देखो, यहाँ अहिंसाव्रत को खेत में उपजी धान्य की उपमा दी है और सत्यादिक चार व्रतों को व्यवहार से उसकी सम्हाल के लिए बाड़ी बतलाया है। यह तो प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी जानता है कि प्रकृत में अहिंसा और सत्यादिक दोनों आत्मा के शुभ परिणाम हैं। इस प्रकार एक आत्मपने की अपेक्षा दोनों में अभेद होने पर भी आचार्य ने भेद विवक्षा में अहिंसा को कार्य और सत्यादिक को उसके बने रहने को व्यवहार हेतु (निमित्त) कहा है।

इसी प्रकार संवरस्वरूप व्रतों और प्रशस्तरागस्वरूप व्रतों में क्या अन्तर है, इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

व्रतेषु हि कृतपरिकर्मा साधुः सुखेन संवरं करोतीति ततः पृथक्त्वेन उपदेशः क्रियते। *सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ६, सूत्र १।*

व्रतों में दृढ़प्रतिज्ञ हुआ साधु सुखपूर्वक संवर करता है, इसलिए यहाँ व्रतों का संवररूप व्रतों से पृथक् उपदेश करते हैं।

यही अभिप्राय आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में भी व्यक्त किया है। आचार्य विद्यानन्द तो व्रतों को संवर से पृथक् बतलाते हुए लिखते हैं —

न संवरो व्रतानि, परिस्पन्दर्शनात् गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च।

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, अध्याय ६, सूत्र १।

व्रत, संवर स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि व्रतों में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति देखी जाती है तथा वे मन, वचन और काय की निवृत्तिरूप गुप्ति आदि संवर के परिकर्मस्वरूप हैं।

इन आचार्यों का यह ऐसा कथन है जिससे बाह्य निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। इस कथन से एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि पञ्चेन्द्रियों के विषयों का लोलुपी व्यक्ति या जीवन में सहायकरूप से जिसने मकान, धनसम्पदा आदि को प्रमुख स्थान दे रखा है, वह तो वीतराग मोक्षमार्ग का अधिकारी किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता, जो व्रती होने पर भी उनके अहंकार से ग्रस्त है, वह भी उक्त प्रकार के मोक्षमार्ग का अधिकारी नहीं हो सकता। हाँ, जिसकी स्वभाव से विषयों में अरुचि हो गयी है और जो बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के बड़प्पन से मुक्त है, वही वीतरागमय संवररूप होने का अधिकारी है। दूसरी बात यह स्पष्ट हो जाती है कि बाह्य निमित्त अन्य के कार्य का किंचित्कर तो होता ही नहीं। मात्र बाह्य व्याप्तिवश अन्य के कार्य की बाह्य भूमिका कैसी रहती है, इसका स्पष्टीकरण करके विवक्षित कार्य के होने की सूचना करता रहता है। इसका आशय यह है कि वीतरागरूप कार्य हो तो ही व्रतादिक में निमित्तता का व्यवहार है, अन्यथा नहीं। श्वेताम्बर परम्परा से दिगम्बर परम्परा में यही मौलिक भेद है। श्वेताम्बर परम्परा का कहना है कि व्यवहाररूप व्रतों का पालन करते-करते परमार्थस्वरूप निश्चय की प्राप्ति हो जाती है। वे यह भी कहते हैं कि मूर्च्छा का त्याग अपरिग्रहव्रत है, वस्त्रादिक का ग्रहण-त्याग अपरिग्रह नहीं है। किन्तु यह आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है कि वस्त्रादिक के ग्रहण-त्याग की इच्छा के बिना उनका ग्रहण-त्याग नहीं हो सकता। यदि ऐसी इच्छा के बिना भी उनका ग्रहण-त्याग होता है तो मकान आदि दश प्रकार के बाह्य त्याग की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? और फिर प्रत्येक गृहस्थ बाह्य

दश प्रकार के परिग्रह की मर्यादा करके शेष का त्याग ही क्यों करें और बाह्य परिग्रह का पूर्ण त्याग करके तथा इसके साथ उसमें मूर्च्छा न रखकर साधु ही क्यों बने ? फिर तो सम्पूर्ण परिग्रह के सद्भाव में साधु कहलाने में आपत्ति ही क्यों मानी जाए ? पिंछी, कमण्डलु और शास्त्र भी परिग्रह हैं, इसमें सन्देह नहीं। फिर भी चरणानुयोग परमागम में प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर उनके ग्रहण का उपदेश है। उसमें भी शास्त्र के लिए यह नियम है कि स्वाध्याय की दृष्टि से १-२ शास्त्रों को ही साधु स्वीकार करे और उनका स्वाध्याय पूरा होने पर उनको भी जहाँ स्वाध्याय पूरा हो जाए, वहीं विसर्जित कर दे। किन्तु इन तीन को छोड़कर ऐसा कोई कारण तो नहीं दिखलायी देता कि वह उन्हें स्वीकार करे। इस विवेचन से स्पष्ट है कि बाह्य निमित्त आगम में कहे गये हैं, वे अन्य द्रव्य के कार्यों के बाह्य निमित्त होकर भी परमार्थ से उनके कार्यों के अणुमात्र भी कर्ता नहीं होते। मात्र उनमें लौकिक दृष्टि को ध्यान में रखकर अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर अहंकर्ता इस प्रत्यय से ग्रसित और कार्यों के लिए प्रयत्नशील अज्ञानी जीवों में ही कर्तापने का व्यवहार किया जाता है, अन्य में नहीं।

देखो, यहाँ शुभराग और निश्चयरत्नत्रय एक आत्मा में अपने-अपने कारणों से एक साथ जन्म लेते हैं, पर जहाँ शुभभाव को ही वीतरागभाव का कर्ता स्वीकार नहीं किया गया, वहाँ अत्यन्त भिन्न बहिर्द्रव्य अन्य के कार्य का कर्ता कैसे हो सकता है। इस विषय को स्पष्टरूप से समझने के लिए समयसार मोक्ष अधिकार की ये सूत्रगाथाएँ दृष्टव्य हैं —

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणइ॥२९३॥
जीवो कम्मं य तहा छिज्जंति सलक्खहेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा॥२९४॥

बन्ध (राग) के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर बन्धों (रागादिभावों) से जो विरक्त होता है, वह कर्म (रागादिभावों) से विरक्त हो जाता है ॥२९३॥

जीव और राागादिरूप बन्ध अपने-अपने स्वलक्षणों के द्वारा इस प्रकार छेदे जाते हैं, जिससे वे प्रज्ञारूपी छैनी से छिन्न होकर नानापने को प्राप्त हो जाते हैं ॥२९४॥

नानापने को प्राप्त हो जाते हैं, इसका अर्थ है कि रागादिभावों और आत्मा में जो एकपने की बुद्धि थी, वह दूर हो जाती है।

आत्मा का लक्षण ज्ञायकस्वरूप आत्मा को लक्ष्य कर प्रवृत्त हुईं सहभावी और क्रमभावी पर्यायों से अन्तर्लीनपने को प्राप्त हुआ चैतन्य भाव है और बन्ध का लक्षण आत्मद्रव्य में असाधारणरूप से प्राप्त हुए रागादिभाव हैं। इस प्रकार ये दोनों लक्षण भेद से अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं। इनके मध्य अत्यन्त सूक्ष्म सन्धि है। उस सन्धि को समझकर जो उसमें अपनी प्रज्ञाछैनी को अनन्त पुरुषार्थ से पटककर अपने चैतन्य -स्वरूप आत्मा से रागादिभावों को जुदा करता है, वह नियम से कर्मों से विरक्त होकर परमार्थ का भागी होता है। संसार परिपाटी से छूटने का एकमात्र यही उपाय है। इसी तथ्य के समर्थक आत्मख्याति के इन शब्दों पर दृष्टिपात कीजिए —

....सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघन-स्वभावो भवति तथा तथास्त्रवेभ्यः निवर्तते। यथा यथास्त्रवेभ्यश्च निवर्वते तथा तथा विज्ञानघन स्वभावो भवतीतंति।

समयसार, गाथा ७४।

सहज बढ़ी हुई चेतनारूप शक्तिपने से जैसे-जैसे (आत्मा) विज्ञानघनस्वभाव होता है, वैसे-वैसे (वह) रागादिरूप आस्त्रवों से जुदा होता है। जैसे-जैसे आस्त्रवों से जुदा होता है, वैसे-वैसे विज्ञानघन -स्वभाव होता है।

प्रवचनसार, गाथा ४५ की तात्पर्यवृत्ति टीका का यह वचन भी इसी अर्थ को व्यक्त करता है —

द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति।

द्रव्यमोह के उदय रहने पर भी यदि आत्मा शुद्धात्मा (त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव आत्मा) की भावना के बल से भावमोहरूप से परिणमन नहीं करता है, तब बन्ध नहीं होता है।

सातवें गुणस्थान तक क्षयोपशम सम्यग्दर्शन के काल में भी यथासम्भव सविकल्प और निर्विकल्प दोनों अवस्थाओं में मिथ्यादृष्टि के होनेवाले कर्मों का बन्ध नहीं होता। यदि कहा जाए कि यहाँ मिथ्यादर्शन कर्म का उदय नहीं है, सो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि सम्यक् प्रकृति भी मिथ्यादर्शन कर्म का ही अंश है। इतना अवश्य है कि उसमें आत्मा के निश्चय सम्यग्दर्शनरूप स्वभावपर्याय के नष्ट होने में बाह्य निमित्तरूप होने की क्षमता नहीं है। यही कारण है कि उस समय शुद्धात्मा की भावना होने से या उसके बल से उत्पन्न हुए निश्चय सम्यग्दर्शन आदिरूप परिणाम के होनेमात्र से सम्यक् प्रकृति के उदय रहते हुए भी जीव के तन्निमित्तक किसी भी कर्म का बन्ध नहीं होता। इतना ही क्यों? जब यह जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में भी क्षयोपशमलब्धि आदिरूप परिणामों के सन्मुख होता है, तब उसके भी मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यादर्शन निमित्तक बहुत सी कर्म प्रकृतियों का क्रम से बन्धापसरण होकर बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है और जब तक यह जीव ऐसी योग्यता सम्पन्न रहता है, उनका बन्ध नहीं होता और करणलब्धि का बल पाकर मिथ्यादर्शन प्रकृति का उदय-उदीरणा भी क्रम से हीन बल होती हुई मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही उसका उत्तरोत्तर अत्यन्त क्षीण उदय होता जाता है। यह सब क्या है? क्या यह अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव

आत्मा की भावना का बल नहीं है ? एकमात्र उसी का बल है, जिससे यह जीव दृष्टिमुक्त हो जाता है। सातवें गुणस्थान से लेकर आगे भी द्रव्यमोह का उदय रहते हुए भी यह जीव शुद्धात्मा की भावना के बल से क्रम से कर्मों की न केवल हानि करता जाता है किन्तु उसकी यथासम्भव प्रकृतियों का क्रम से उपशम और क्षय भी करता जाता है। इस भावना में ऐसी कोई अपूर्व शक्ति है, जिसके बल से यह जीव क्रम से संसार का अन्त करने में समर्थ होता है। वस्तुतः आचार्य जयसेन शुद्धात्म-भावना की इसी सामर्थ्य की हृदयंगम कर उक्त प्रकार से उसकी प्ररूपणा करने में समर्थ हुए।

एक बात और है जो प्रकृत में मुख्य है। और वह यह कि स्वभाव प्राप्त जीव के जब जितनी भी विशुद्धि प्राप्त होती है, वह किसी भी कर्मबन्ध हेतु नहीं है। प्रकृत में आचार्य जयसेन ने 'द्रव्यमोहादये सत्यपि' इत्यादि वचन इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए दिया है, यह तथ्य है। प्रकृत में द्रव्यमोह पद से सामान्य मोहनीयकर्म का ग्रहण किया है। पहले जो कुछ भी लिख आये हैं, उसमें भी यह दृष्टि है।

इस प्रकार प्रत्येक कार्य के प्रति उपादान-उपादेय भाव से अन्तर्व्याप्ति का और निमित्त-नैमित्तिकभाव से बहिर्व्याति का समर्थन होने पर भी बहुत से व्यवहारैकान्तवादी इन दोनों के योग को स्वीकार न कर अपने ऐन्द्रियिक श्रुतज्ञान के बल पर वैभाविक कार्यों का अनियम से सिद्ध होना बतलाते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने जैसे सवस्त्र मुनिमार्ग का समर्थन करने के लिए वस्त्र को परिग्रह से पृथक् कर दिया और उसकी पुष्टि में स्त्रीमुक्ति को आगम कहकर स्त्रीलिंग, अन्य लिंग या गृहस्थ लिंग से मुक्ति को स्वीकार कर लिया। लगभग ठीक यही स्थिति इन व्यवहारैकान्तवादियों की है। इन्हें मात्र सम्यक् नियति को भी एकान्त कहकर उसका खण्डन करना है। इसके लिए उन्होंने यह मार्ग चुना कि जितनी स्वभाव पर्यायें हैं, वे तो क्रम से अपने-

अपने समय में ही होती हैं, पर विभाव पर्यायों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। कौन पर्याय कब होगी, इसका कोई नियम नहीं किया जा सकता।

९. उक्त एकान्त मत की पुनः समीक्षा

किन्तु उनका यह कथन कैसे आगम विरुद्ध है, इसकी हम संक्षेप में कुछ आगम प्रमाण देकर पुनः समीक्षा करेंगे। स्वामी समन्तभद्र ने सम्यक् देव की परीक्षा प्रधान अपने आप्तमीमांसा ग्रन्थ में संसारी जीवों के प्रत्येक कार्य की अपेक्षा देव और पुरुषार्थ के युगपत् योग को गौण -मुख्य भाव से कैसे स्वीकार किया है, इस पर दृष्टिपात कीजिए —

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्॥९१॥

अबुद्धिपूर्वक अर्थ की प्राप्ति की विवक्षा में प्रत्येक इष्ट और अनिष्ट अर्थ का सम्पादन देव के बल से होता है तथा बुद्धिपूर्वक अर्थ की प्राप्ति की विवक्षा में इष्ट और अनिष्ट प्रत्येक अर्थ पुरुषार्थ के बल से प्राप्त होता है॥९१॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अकलंकदेव तथा विद्यानन्द लिखते हैं —

ततोऽतर्कितोपस्थितमनुकूलं प्रतिकूलं वा वैदकृतम् बुद्धिपूर्वापेक्षापायात्, तत्र पुरुषकारस्याप्रधानत्वात् दैवस्य प्राधान्यात्। तद्विपरीतं पौरुषापादितं, बुद्धिपूर्वाव्यपेक्षापायात्, तत्र दैवस्य गुणत्वात् पौरुषस्य प्रधानत्वात्।

इसलिए बिना कल्पना या विचार के अनुकूल या प्रतिकूल जो वस्तु प्राप्त होती है, उसकी प्राप्ति देव से होती है, क्योंकि बुद्धिपूर्वक वस्तु प्राप्ति की अपेक्षा न होने से वहाँ पुरुषार्थ गौण है और देव मुख्य है। उससे विपरीत अनुकूल या प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति पुरुषार्थ से

होती है, क्योंकि बुद्धिपूर्वक वस्तु की प्राप्ति की विवक्षा का अभाव नहीं होने से वहाँ देव गौण है और पुरुषार्थ मुख्य है।

यहाँ देव और पुरुषार्थ के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य भट्टाकलंकदेव लिखते हैं —

योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टम्। पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्।

वस्तुगत योग्यता और पूर्व कर्म देव कहलाता है। ये दोनों इन्द्रियगम्य नहीं हैं, तथा ऐहिक मन, वचन और काय के व्यापार का नाम पुरुषार्थ है, जो इन्द्रियगम्य है।

यहाँ आचार्यदेव ने तीन बातों का निर्देश किया है, जिसे इष्ट या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है, तद्गत योग्यता, तथा जिसे उक्त वस्तु की प्राप्ति होती है, उसका पुरुषार्थ और पूर्व में सम्पादित किया गया कर्म, साथ ही योग्यता शब्द से जिस इष्ट या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है, तद्गत योग्यता भी ली जा सकती है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु या कार्य का सम्पादान स्वकाल में ही होता है, ऐसा नियम है। इसका सप्रमाण उल्लेख इसी अध्याय में पहले ही कर आये हैं। तथा निश्चय उपादान का अनुगत होने से पुरुषार्थ से निश्चय उपादान का भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि पुराकृत कर्म का उदयादि और संसारी प्राणी की ऐहिक चेष्टाएँ उसी के अनुसार होती हैं।

अब आप थोड़ा करणानुयोग की दृष्टि से भी विचार कीजिये। दर्शनमोहनीय के करणोपशम को निमित्त कर होनेवाले आत्मविशुद्धि-रूप निश्चय सम्यग्दर्शन के होने की प्रक्रिया यह है कि अनिवृत्तिकरण के बहुभाग बीतने पर यह जीव दर्शनमोहनीय की एक, दो या तीनों प्रकृतियों का अन्तरकरण उपशम करता है। उसके बाद प्रथम स्थिति को प्राप्त द्रव्य का उसके काल तक उदयपूर्वक उसकी निर्जरा करता है। उदय समाप्त होने पर जिस समय उदय का अभाव है, उसी समय

यह जीव शुद्धात्मा की भावना के बल से निश्चय उपादान के अनुसार निश्चयसम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है, तभी दर्शनमोहनीय के अन्तर करण उपशम में निश्चयसम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की अपेक्षा निमित्तपने का व्यवहार होता है।

इस उद्धरण से मुख्यतया दो तथ्यों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। प्रथम तो यह कि जब यह जीव निश्चय उपादान के अनुसार अपने आध्यात्मिक पुरुषार्थ के बल से निश्चयसम्यग्दर्शन को प्राप्त हुआ, उसी समय दर्शनमोहनीय के अन्तकरण उपशम में निमित्तपने का व्यवहार होता है। इसलिए जो व्यवहारैकान्तवादी यह मानते हैं कि विवक्षित कार्य का अव्यवहित पूर्व समयवर्ती निश्चय उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, उनके उस मत का निरसन हो जाता है। तत्त्वार्थ -श्लोकवार्तिक में निश्चयसम्यग्दर्शन स्वकाल में ही प्राप्त होता है, इसके लिए वहाँ कहा है—

प्रत्यासन्नमुक्तीनामेव भव्यानां दर्शनमोहप्रतिपक्षः संपद्यते नान्येषाम्, कदाचित्कारणासन्निधानात्। *तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ ११।*

जिनको मोक्ष प्राप्त होना अति सन्निकट है, ऐसे भव्य जीवों के ही मिथ्यादर्शन आदि के प्रतिपक्षभूत निश्चयसम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति होती है, अन्य भव्यों के नहीं, क्योंकि अन्तरंग-बहिरंग कारणों का सन्निधान कदाचित् होता हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि निश्चयसम्यग्दर्शन के पूर्व अव्यवहित पूर्व जो पर्याययुक्त जीव होता है, उसी में ऐसी योग्यता होती है कि उसके अव्यवहित उत्तर समय में निश्चय-सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना निश्चित है। यथा—

निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणमयोगिकेवलिचरमसमयवर्ति रत्नत्रयमिति।

तत्त्वार्थश्लोवार्तिक, पृष्ठ ७१

निश्चयनय का आश्रय करने पर तो जिसके बाद मोक्ष की उत्पत्ति

होती है, वही अयोगिकेवली का अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रय परिणाम मोक्ष का मुख्य कारण है।

पर्याय विशेषयुक्त द्रव्य में निश्चय उपादानता का समर्थन करते हुए उसी परमागम के इस वचन पर भी दृष्टिपात कीजिये—

ते चारित्रस्योपादानम् पर्यायविशेषात्मकस्य द्रव्यास्योपादानत्वप्रतीतेः।

वे निश्चयसम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान निश्चयचारित्र के उपादान कारण हैं, क्योंकि पर्याय विशेष सहित द्रव्य में ही उपादानपने की प्रतीति होती है।

ऐसा नियम है कि निश्चयसम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के साथ बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही क्षायिक व्यवहार के योग्य निश्चयचारित्र की प्राप्ति हो जाती है, फिर भी यह जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। यह एक प्रश्न है, इसका समाधान करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं—

क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरिति न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिकारणापेक्षस्य तदा विरहात्।

श्लोकवार्तिक, पृष्ठ ७१।

शंका—क्षीणकषाय के प्रथम समय में मोक्षोत्पाद का प्रसंग प्राप्त होता है?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि (व्यवहारनय से) अपेक्षित काल विशेष का वहाँ अभाव है।

यह ऐसा उल्लेख है जिससे अनेक तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। (१) नियत पर्याय का नियत काल ही व्यवहार हेतु होता है। (२) प्रत्येक द्रव्य नियत पर्याय की स्थिति में पहुँचने पर ही वह विवक्षित कार्य का निश्चय उपादान होता है। (३) सापेक्ष कथन व्यवहारनय का विषय है, इसलिए काल को सहकारी कारण कहना

असद्भूतव्यवहारनय से ही घटित होता है। (४) निश्चयनय पर निरपेक्ष ही होता है।

१०. शंका-समाधान

शंका—प्रकृत मे आप उपादान के पूर्व निश्चय विशेषण क्यों लगाते हैं।

समाधान—प्रत्येक द्रव्य में अपना-अपना कार्य करने की योग्यता होती है, पर प्रत्येक द्रव्य, पर्याय से व्यतिरिक्त स्वतन्त्र नहीं पाया जाता और पर्यायें कालद्रव्य के जितने समय होते हैं, उतनी ही होती है, इसलिए निश्चय से किस पर्याय के बाद अगले समय की कौन पर्याय होगी, इसका नियमन प्रत्येक समय की पर्याय के आधार पर ही होता रहता है। व्यवहार से कालद्रव्य के विवक्षित समय के आधार पर भी उसका परिगमन किया जा सकता है। अत: बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय से चारित्र एक प्रकार का होने से यहाँ काल की मुख्यता से उक्त कथन किया गया है। यही कारण है कि प्रत्येक द्रव्य में अपने -अपने कार्यरूप परिणमने की योग्यता के रहते हुए भी कार्यकारण परम्परा में अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य को ही परमार्थ से उपादान स्वीकार कर उससे नियत कार्य की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। विवक्षित उपादान के पूर्व निश्चय विशेषण लगाने का यही कारण है।

शंका—योग्यता क्या वस्तु है ?

समाधान—समाधान यह है —

योग्यता हि कारणस्य कार्योत्पादनशक्तिः। कार्यं हि कारण-जनत्वशक्तिस्तस्याः प्रतिनियमः।शालिबीजांकुरयोः भिन्नकालत्वा-विशेषेऽपि शीलिबीजस्येति कथ्यते। *श्लोकवार्तिक, गाथा ७८*

कारण की कार्य को उत्पादन करने की शक्ति का नाम योग्यता है और कार्य-कारणपूर्वक जन्यत्व-शक्तिवाला होता है। इसी का

नाम योग्यता का प्रतिनियम है। जैसे शालि बीज और अंकुर में भिन्न कालपनेरूप विशेष होने पर भी शालि-बीज में ही शालि-अंकुर के उत्पन्न करने की शक्ति है, यव बीज में नहीं। वैसे ही यव बीज में ही यव-अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति है, शालि-बीज में नहीं, यह कहा जाता है।

प्रकृत में शालि-बीज में ही शालि-अंकुर के उत्पन्न करने की योग्यता होने पर भी कौन शालि-बीज किस समय अपने अंकुर को जन्म दे, इसका नियम है। भले ही निश्चय उपादान और उसके अंकुर में समय भेद हो, पर शालि-बीज के उस भूमिका में पहुँचने पर उससे नियम से अंकुर की उत्पत्ति होगी ही, ऐसा प्रतिनियम है। यहाँ मिट्टी आदि का अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर कालप्रत्यासत्ति होने से सद्भाव रहेगा ही, इसमें सन्देह नहीं, पर मिट्टी आदि व्यवहार से निमित्तमात्र ही हैं, वे परमार्थ से अंकुर के उत्पन्न करने की क्षमता नहीं रखते, यह भी सुनिश्चित है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण तत्त्वार्थ -वार्तिक में इन शब्दों में किया है—

यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये दण्ड-चक्र-पौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति।

जैसे, मिट्टी के स्वयं भीतर से घट परिणाम के अभिमुख होने पर दण्ड, चक्र और पुरुष प्रयत्न आदि निमित्तमात्र होते हैं।

इस उल्लेख से हम जानते हैं कि विवक्षित कार्य को जन्म देने की शक्ति निश्चय उपादान में ही होती है, अन्य बाह्य पदार्थ असद्भूत -व्यवहार से ही निमित्तमात्र होते हैं। उनमें निश्चय उपादान के कार्य को जन्म देने की योग्यता या भवितव्य तो नहीं ही होती, पर उनमें व्यवहारहेतुतावश ऐसा व्यवहार कर लिया जाता है। इस प्रकार इतने विवेचन से यह सिद्ध होता है कि व्यवहार निश्चय का योग सुनिश्चितरूप से होता रहता है। इनमें अनियम मानना एकान्त है।

शंका—निश्चय सम्यग्दर्शन के विषय में कुछ लोग कहते हैं कि सातवें गुणस्थान से होता है। कुछ ग्यारहवें गुणस्थान से मानते हैं और कुछ तेरहवें गुणस्थान से भी मानते हैं। पर आप तो चौथे गुणस्थान से ही उसे स्वीकार करते हैं, सो इस विषय में आगम क्या है ?

समाधान—(१) सर्व प्रथम हम श्री परमागम समयसार शास्त्र को ही लेते हैं। शुद्धनय की व्याख्या करते हुए वहाँ कहा है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध-पुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि॥१४॥

जो आत्मा को अबद्ध अस्पृष्ट अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त अनुभवता है, उस आत्मा को शुद्धनय जानो॥१४॥

आत्मख्याति टीका में इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है —

यः खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियत्तस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः। सात्वनुभूतिरात्मेत्यात्मैक एव प्रद्योतते।

परमार्थ से अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्मा की जो अनुभूति होती है, वह शुद्धनय है और वह अनुभूति आत्मा ही है। इस प्रकार एक आत्मा ही प्रकृष्टरूप से अनुभव में आता है।

पहले इसी शास्त्र की छठवीं गाथा की टीका में त्रिकाली स्वभावभूत आत्मा की व्याख्या करते हुए बतलाया है—आत्मा स्वत:सिद्ध होने से अनादि-अनन्त है, सतत उद्योतस्वरूप है, विशद ज्योति है और स्वरूप से ज्ञायक है। इस प्रकार के आत्मा की अनुभूति को प्रकृत में सम्यग्दर्शन कहा है। इतना ही नहीं, उसे आत्मा ही कहा है। ऐसा कहने का कारण है, वह यह कि ऐसी निरन्तर भावना करने से करणानुयोग के अनुसार जिसके दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी चार—इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम

हो गया है, वह श्रद्धान में उपचार व्यवहार और भेदव्यवहार दोनों से मुक्त हो जाता है। तथा उसके मुख्यरूप से उक्त प्रकार के एक आत्मा की भावना को छोड़कर अन्य कोई विकल्प नहीं रहता है। यहाँ उक्त प्रकार की अनुभूति और आत्मा में अभेद होने से उक्त स्वानुभूति को ही आत्मा कहा है, यह इस कथन का तात्पर्य है। संसारी आत्मा ऐसी दृष्टि मुक्तिस्वरूप भावना को अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान में ही प्राप्त हो जाता है, इसीलिए आगम के रहस्य को स्वीकार करनेवाले चतुर्थ गुणस्थान से ही निश्चयसम्यग्दर्शन को स्वीकारते हैं। यहाँ उसके होनेवाली मन, वचन और काय की प्रवृत्तिरूप सविकल्प अवस्था को ही जिनागम में प्राक् पदवी शब्द से सम्बोधित किया गया है। सविकल्प अवस्था में जब तक उसके ऐसा व्यवहार बना रहता है, तब तक निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ बने रहने से आत्मा का पतन नहीं होता, क्योंकि ऐसे व्यवहार के विरुद्ध जब तक उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम नहीं होता, तब तक वह व्यवहार, सविकल्प अवस्था में निश्चयसम्यग्दर्शनस्वरूप आत्मशुद्धि का अविनाभावी है, यह प्रकृत में व्यवहारनय के हस्तावलम्ब का तात्पर्य है। वह व्यवहारनय के विषय में आँख मीचकर सर्वथा गड़गप्प हो जाता है, ऐसा उसका तात्पर्य नहीं है।

यह तो ठीक है कि समयसार परमागम में गुणस्थान आदि के भेद से मोक्षमार्ग का स्वरूप निर्देश नहीं किया गया है। अत: उक्त तथ्य के समर्थन में हम आगम की सप्रमाण चर्चा कर लेना आवश्यक समझते हैं, इसके पहले हम सर्वार्थसिद्धि को ही लेते हैं —

तत् द्विविधम्, सराग-वीतरागविषयभेदात्। प्रशम-संवेगानुकम्पा-स्तिक्यद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्। आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।

वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार है—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की

अभिव्यक्ति लक्षणवाला प्रथम सम्यग्दर्शन है और आत्मा की विशुद्धि -मात्र दूसरा सम्यग्दर्शन है।सूत्र १-२॥

तत्त्वार्थवार्तिक में भी उक्त प्रकार से सम्यग्दर्शन के दो भेद और लक्षण निबद्ध किये गये हैं। उनकी विशेष व्याख्या करते हुए लिखा है—

रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः, संसाराद् भीरता संवेगः, सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा, जीवादयोऽर्थाः यथास्वं भावैः सन्तीति मतिरास्तिक्यम्।.......सप्तानां कर्मप्रकृतीनां आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धमात्रमितरत् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते। सूत्र १-२।

रागादिक का विशेषरूप से प्रकट नहीं होना प्रशम है, संसार से डरना संवेग है, प्राणीमात्र में मैत्रीभाव अनुकम्पा है और जीवादि पदार्थों का जैसा स्वरूप है, वे उसी रूप हैं, ऐसी मति का होना आस्तिक्य है..... सात कर्म प्रकृतियों के अत्यन्त अभाव होने पर जो आत्मा में विशुद्धि विशेष प्राप्त होती है, वह दूसरा वीतराग सम्यग्दर्शन कहा जाता है। सूत्र १-२।

तत्त्वार्थवार्तिक में इस उल्लेख को देखकर कितने ही विद्वान् क्षायिक सम्यग्दर्शनरूप से प्राप्त हुई आत्मविशुद्धि को ही वीतराग सम्यग्दर्शन स्वीकार करते हैं। वे सम्यग्दर्शन के व्यवहार से प्रतिबन्धक मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशम और क्षयोपशम से प्राप्त हुई आत्मविशुद्धि की किस सम्यग्दर्शन में परिगणना करते हैं, यह वे ही जानें। अस्तु, अब यहाँ वस्तुस्थिति क्या है, इसकी मीमांसा करने के लिए सर्व प्रथम तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में क्या कहा है, इस पर विचार करते हैं। उसमें भी सर्व प्रथम प्रशमादि के स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा है —

तत्रानन्तानुबन्धीनां रागादीनां मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोश्चानुद्रेकः प्रशमः। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावपरिवर्तनरूपात्

संसाराद् भीरुता संवेगः। त्रसस्थावरेषु प्राणिषु दयानुकम्पा। जीवादितत्त्वार्थेषु युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धेषु याथात्म्योप-गमनमास्तिक्यम्। एतानि प्रत्येकं समुदितानि वा स्वस्मिन् स्वसंविदतानि परत्र काय-वाग्व्यवहारविशेषलिंगानुमितानि सरागसम्यग्दर्शनं ज्ञापयन्ति॥ पृष्ठ ८६।

वहाँ अनन्तानुबन्धीरूप रागादिक के तथा मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के अनुद्रेक को प्रशम कहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव—इन पाँच प्रकार के परिवर्तनरूप संसार से भीरुता को संवेग कहते हैं। त्रस और स्थावर प्राणियों में दया का होना अनुकम्पा है। तथा युक्ति और आगम से अविरुद्ध जीवादि पदार्थों में यथार्थपने को प्राप्त होना आस्तिक्य है। ये प्रत्येक मिलकर स्वयं में स्वसंविदित होकर तथा अन्य जीवों में शरीर और वचन के व्यवहार विशेषरूप हेतु से अनुमित होकर सराग सम्यग्दर्शन ज्ञापित करते हैं।

आगे तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन में और प्रशमादिक में अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है —

ननु प्रशमादयो यदि स्वस्मिन् स्वसंवेद्याः श्रद्धानमपि तत्त्वार्थनां किन्न स्वसंवेद्यम्, यतस्तेभ्योऽनुमीयते। स्वसंवेद्यत्वाविशेषेऽपि तैस्तदनुमीयते न पुनस्ते तस्मादिति कः श्रद्दधीतान्यत्र परीक्षकादिति चेत्? नैतत्सारम्, दर्शनमोहोपशमादिविशिष्टात्मस्वरूपस्य तत्त्वार्थश्रद्धानस्य स्वसंवेद्यत्वानिश्चयात्। स्वसंवेद्यं पुनरास्तिक्यं तद्‌भिव्यंजकं प्रशम-संवेगानुकम्पावत् कथंचित्ततो भिन्नम्, तत्फलत्वात्। तत एवं फलतद्वतोरभेदविवक्षायामास्यिक्यमेव तत्त्वार्थ-श्रद्धानमिति, तस्य तद्वत्प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तदनुमेयत्वमपि न विरुद्ध्यते। मतान्तरापेक्षया च स्वसंविदतेऽपि तत्त्वार्थश्रद्धाने विप्रति-पत्तिसद्भावात् तन्निकरणाय तत्र प्रशमादिलिंगादनुमाने दोषाभावः सम्यग्ज्ञानमेव हि सम्यग्दर्शनमिति हि केचिद्विप्रवदन्ते, तान् प्रति ज्ञानात् भेदेन दर्शनं प्रशमादिभिः कार्यविशेषैः प्रकाश्यते॥८६॥

शंका—प्रशमादिक यदि स्वयं में स्वसंवेद्य हैं तो जीवादि पदार्थों का श्रद्धान स्वसंवेद्य क्यों नहीं है, जिससे कि प्रशमादिक से पदार्थों के श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन का अनुमान किया जाता है, क्योंकि स्वसंवेद्यपने की अपेक्षा भेद न होने पर भी प्रशमादिक के द्वारा तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन का अनुमान किया जाता है परन्तु तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन के द्वारा प्रशमादिक का अनुमान नहीं किया जाता, परीक्षक को छोड़कर और कौन ऐसा श्रद्धान करेगा ?

समाधान—यह कहना सारभूत नहीं है, क्योंकि दर्शनमोहादि के उपशमादियुक्त आत्मश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन के स्वसंवेद्यपने का निश्चय नहीं होता। परन्तु आस्तिक्य स्वसंवेद्य है, जो प्रशम, संवेग और अनुकम्पा के समान तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन का अभिव्यंजक है, इसलिए तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन से कथंचित् भिन्न है, क्योंकि वह तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन का फल है। इसलिए फल और फलवान् में कथंचित् अभेद विवक्षा में आस्तिक्य ही तत्त्वार्थ श्रद्धान है। यत: सम्यग्दर्शन आस्तिक्य के कारण प्रत्यक्षसिद्ध होने से सम्यग्दर्शन को अनुमान का विषय मानते में भी कोई विरोध नहीं है।

दूसरे मत की अपेक्षा तो यद्यपि तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन स्वसंवेद्य है, ऐसा होने पर भी विवाद का सद्भाव होने से उसका निराकरण करने के लिए सम्यग्दर्शन का प्रशमादिक के द्वारा अनुमान किया जाता है, ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है।

कितने ही व्यक्ति सम्यग्ज्ञान ही सम्यग्यदर्शन है, ऐसा विवाद करते हैं, उनके प्रति सम्यग्ज्ञान से सम्यग्दर्शन में भेद है, इस बात को सम्यग्दर्शन के कार्यरूप प्रशमादिक के द्वारा प्रकट की जाती है।

यद्यपि सरागियों में सम्यग्दर्शन के कार्यरूप प्रशमादिक तो होते हैं, परन्तु वीतरागियों में कायादिक व्यापार विशेष के अभाव में वे

नहीं दृष्टिगोचर होते हैं, ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं—

सर्वेषु सरागेषु सद्दर्शनं प्रशमादिभिरनुमीयते इत्यनभिधानात्। यथासम्भवसरागेषु वीतरागेषु च सद्दर्शनस्य तदनुमेयत्वमात्म-विशुद्धिमात्रत्वं चेत्यभिहितत्वात्।

समस्त सम्यग्दृष्टियों में सम्यग्दर्शन प्रशमादिक के द्वारा अनुमित होता है, ऐसा हमने नहीं कहा है। किन्तु यथासम्भव सराग और वीतराग जीवों में सम्यग्दर्शन प्रशमादिक के द्वारा अनुमित होता है और वह आत्मविशुद्धमात्र है, ऐसा हमने कहा है।

परमात्मप्रकाश टीका में सराग सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन एक ही हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है —

प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याभिंव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं भण्यते, तदैव व्यवहारसम्यक्त्वमिति। तस्य विषयभूतानि षड्द्रव्यणीति। पृष्ठ १४३।

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की अभिव्यक्ति लक्षणवाला सरागसम्यक्त्व कहा जाता है। वही व्यवहार सम्यक्त्व है। इसके विषय छह द्रव्य हैं।

इतने विवेचन से ये तथ्य फलित होते हैं—

(१) निश्चय सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति ज्ञायकस्वरूप आत्मा के उपयोग के विषय होने पर तत्स्वरूप एकाकार परिणतिरूप स्वानुभव के काल में ही होती है।

(२) ऐसी अवस्था के प्रशम समय से लेकर दर्शनमोहनीय की यथासम्भव प्रकृतियों के अन्तरकरण उपशम आदि तथा अनन्तानुबन्धी के उदयभावरूप उपशम या विसंयोजनारूप क्षय में व्यवहार हेतुता घटित होती है। यह व्यवहार हेतुता आत्मविशुद्धिरूप निश्चय-सम्यग्दर्शन के काल तक सतत् बनी रहती है।

(३) अव्यवहित पूर्व समयवर्ती द्रव्य उपादान और अव्यवहित उत्तर समयवर्ती द्रव्य कार्य, यह क्रम भी सतत् चलता रहता है। मात्र सम्यग्दर्शन के काल के भीतर ज्ञायक आत्मलक्षी परिणाम की ओर झुकाव का विच्छेद कभी नहीं होता। इतनी विशेषता है कि सविकल्प -दशा में उस ओर का झुकाव बना रहता है और निर्विकल्पदशा में उपयोग ज्ञायकस्वरूप आत्मा से एकाकार होकर उपयुक्त रहता है।

(४) आत्मविशुद्धिरूप निश्चयसम्यग्दर्शन के वे प्रशमादिक व्यवहार से स्वीकार किये गये हैं। इसी से प्रशमादिकभाव उक्त सम्यग्दर्शन के व्यवहार से निमित्त हैं। कारण कि इन द्वारा निश्चय-सम्यग्दर्शन के अस्तित्व की सूचना मिलती है। एक अपेक्षा ये ज्ञापक निमित्त भी हैं।

(५) उक्त कथन से ज्ञात होता है कि किन्हीं सरागी जीवों में ज्ञान और वैराग्यशक्ति व्यक्तरूप से दृष्टिगोचर होती है और किन्हीं में वह व्यक्तरूप से दृष्टिगोचर नहीं होती। ज्ञान और वैराग्यशक्ति का योग सब सम्यग्दृष्टियों के होता ही है, इतना अवश्य है।

(६) आस्तिक्य सम्यग्ज्ञान का भेदविशेष है, इसलिए एक आत्मापने की अपेक्षा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अभेद करके अस्तिक्यभाव को भी यहाँ सम्यग्दर्शन कहा गया है।

आत्मविशुद्धिरूप निश्चयसम्यग्दर्शन तो है, परन्तु चाहे यह जीव सरागी भले ही क्यों न हो, किसी किसी के उसका संवेग आदिरूप व्यवहार नहीं होता, यह तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के उक्त उल्लेख से स्पष्ट ज्ञात होता है। इससे मालूम पड़ता है कि जीव की प्रत्येक पर्याय का मूल कारण उपादान का होना पर्याप्त है। उसके साथ यदि परवस्तु के प्रति ममकार और अहंकार के रूप में उपयोग परिणाम रहता है, तो संसार की सृष्टि होती है और ज्ञायकस्वरूप आत्मा को विषय कर

उपयोग परिणाम होता है, तो मोक्ष जाने के मार्ग का द्वार खुलकर उस पर यह जीव चलने लगता है।

प्रत्येक पर्याय का कालविशेष व्यवहार निमित्त है, ऐसा एकान्त नियम है। अन्य बाह्य संयोग बनो या न बनो। यदि बाह्य संयोग बनता है तो वह भी स्वकाल में ही बनता है। कभी भी किसी पदार्थ का संयोग हो जाए, ऐसा नहीं है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक में यह वचन आया है —

प्रत्यासन्नमुक्तीनामेव भव्यानां दर्शनमोहप्रतिपक्षः सम्पद्यते नान्येषाम्, कदाचित्कारणासन्निधानात्॥९१॥

जिनका मुक्ति प्राप्त करना अति सन्निकट है, ऐसे भव्य जीवों को ही दर्शनमोह के प्रतिपक्ष का लाभ होता है, अन्य जीवों को नहीं, क्योंकि कदाचित् अन्तरंग और बाह्य साधनों का सन्निधान नहीं होता।

ऐसा नियम है कि सभी कार्य बाह्य संयोगरूप निमित्तों के अनुसार ही होते हैं, ऐसा न होकर उनके होने में निश्चय उपादानरूप अन्तरंग कारण ही मुख्य है। यथा —

ण च कज्जं कारणाणुसारी चेव इति णियमो अत्थि, अन्तरंगकारणावेक्खाए पवत्तस्स कज्जस्स बहिरंगकारणाणु-सारित्तणियमाणुववत्तीदो। *— धवला पुस्तक १२, पृष्ठ ८१*

प्रत्येक कार्य बाह्य कारण के अनुसार ही होता है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि अन्तरंग कारण की अपेक्षा प्रवृत्त हुए कार्यों का बहिरंग कारण के अनुसार प्रवृत्त होने का नियम नहीं बन सकता।

पाँच परिवर्तनों में से भाव परिवर्तन के स्वरूप पर दृष्टिपात करने से भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य में उसका अन्तरंग कारण ही मुख्य है। यथा —

पंचेन्द्रियः संशीं पर्याप्त को मिथ्यादृष्टिः कश्चिज्जीवः, स

सर्वजघन्यां स्वयोग्यां ज्ञानावरणप्रकृतेः स्थितिमन्तःकोटीकोटीसंज्ञ-कामापद्यते। तस्य कषायाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि तत्स्थितियोग्यानि भवन्ति। तत्र सर्वजघन्यकषाया -ध्यवसायस्थाननिमित्तान्यनुभागाध्यवसायस्थानान्यसंख्येलोक-प्रमितानि। एवं सर्वजघन्यां स्थिति सर्वजघन्यं कषायाध्यवसायस्थानं सर्वजघन्यमेवानुभागाध्यवसायस्थानमास्कन्दतस्तद्योग्यं सर्वजघन्यं योगस्थानं भवति। तेषामेव स्थिति-कषायानुभागस्थानानां द्वितीयम-संख्येयभागवृद्धियुक्तं योगस्थानं भवति। एवं च तृतीयादिषु चतुःस्थानपतितानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति। तथा च तामेव स्थिति तदेव कषायाध्यवसायस्थानं च प्रतिपद्यमानस्य द्वितीयमनुभवाध्यवसायस्थानं भवति। तस्य च योगस्थानानि पूर्ववद्वेदितव्यानि। एवं तृतीयादिष्वपि अनुभवाध्यवसायस्थानेषु आ असंखेयलोकपरिसमाप्तेः। एवं तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयं कषायाध्यवसायस्थानं भवति। तस्याप्यनुभवाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि च पूर्ववद्वेदितव्यानि। एवं तृतीयादिष्वपि कषायाध्यव-सायस्थानेषु आ असंख्यंयलोकपरिसमाप्तेर्वृद्धिक्रमो वेदितव्यः। एवं उक्तायाः अघन्यायाः स्थितेस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीपरिसमाप्तायाः कषायादिस्थानानि वेदितव्यानि।

पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई एक जीव ज्ञानावरण प्रकृति की सबसे जघन्य अपने योग्य अन्तः कोटाकोटि प्रमाण स्थिति को बाँधता है। उसके उस स्थिति के योग्य षट्स्थानपतित असंख्यात लोकप्रमाण कषाय अध्यवसायस्थान होते हैं। और सबसे जघन्य इस कषायाध्यवसायस्थान के निमित्तरूप, असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते है। इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषायाध्ववसायस्थान और सबसे जघन्य अनुभागा-ध्यवसायस्थान को प्राप्त हुए इस जीव के तद्योग्य सबसे जघन्य योगस्थान होता है। तत्पश्चात् स्थिति, कषायाध्यवसायस्थान और अनुभागाध्वस्थायस्थान के जघन्य रहते हुए दूसरा योगस्थान होता है,

जो असंख्यात भागवृद्धि संयुक्त होता है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि योगस्थानों की अपेक्षा भी समझना चाहिए। ये सब योगस्थान अनन्त भागवृद्धि और अनन्त गुण-वृद्धि को छोड़कर शेष चार स्थानपतित ही होते हैं, क्योंकि सब योगस्थान संख्या में श्रेणी के असंख्यवें भाग प्रमाण है। तदनन्तर उसी जघन्य स्थिति और उसी जघन्य कषायाध्य-वसायस्थान को प्राप्त हुए जीव के दूसरा अनुभागाध्यवसायस्थान होता है। इसके योगस्थान पहले के समान जगश्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण जानना चाहिए। इस क्रम से असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थानों के होने तक तीसरे आदि अनुभागाध्यवसाय-स्थानों का यही क्रम जानना चाहिए। तत्पश्चात् उसी स्थिति को प्राप्त हुए जीव के दूसरा कषायाध्वसानस्थान होता है। इसके भी अनुभागा-ध्यवसायस्थान और योगस्थान पहले के समान जानना चाहिए। इस प्रकार असंख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसायस्थानों के होने तक तीसरे आदि कषायाध्यवसायस्थानों में वृद्धि का क्रम जानना चाहिए। यहाँ उक्त जघन्य स्थिति के जिस प्रकार कषायादिस्थान कहते हैं, उसी प्रकार एक समय अधिक उक्त जघन्य स्थिति के भी कषायादिस्थान जानने चाहिए। और इसी प्रकार एक-एक समय अधिक के क्रम से तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपमप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तक प्रत्येक स्थिति के कषायादिस्थान जानने चाहिए।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कार्य का नियामक मुख्यता से निश्चय उपादान को मानना ही आगम सम्मत है, इसमें किसी प्रकार के सन्देह के लिए स्थान नहीं है।

११. पाँच हेतुओं का समवाय

साधारण नियम यह है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में ये पाँच कारण नियम से होते हैं। स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और कर्म। यहाँ पर स्वभाव से द्रव्य की स्वशक्ति या नित्य उपादान लिया गया

है। पुरुषार्थ से जीव का बल-वीर्य लिया गया है, काल से स्वकाल और परकाल का ग्रहण किया है, नियति से समर्थ उपादान या निश्चय की मुख्यता दिखलायी गयी है और कर्म से बाह्य निमित्त का ग्रहण किया गया है। इन्हीं पाँच कारणों को सूचित करते हुए पण्डितप्रवर बनारसीदासजी नाटक समयसार सर्वशुद्धज्ञानाधिकार में कहते है—

पद सुभाव पूरब उदै निहचै उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यात पथ सरवंगी शिवचाल॥४१॥

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में पाँच प्रकार के एकान्तवादियों का कथन आता है।[१] उसका आशय इतना ही है कि जो इनमें से किसी एक से कार्य की उत्पत्ति मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है और जो कार्य की उत्पत्ति में इन पाँचों के समवाय को स्वीकार करता है, वह सम्यग्दृष्टि है। पण्डितप्रवर बनारसीदासजी ने उक्त पद द्वारा इसी तथ्य की पुष्टि की है। अष्टसहस्री, पृष्ठ २५७ में भट्टाकलंकदेव ने एक श्लोक दिया है। उसका भी यही आशय है। श्लोक इस प्रकार है—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता॥

जिस जीव की जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है, उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है। वह प्रयत्न भी उसी प्रकार का करने लगता है और उसे सहायक भी उसी के अनुसार मिल जाते हैं।

इस श्लोक में भवितव्यता को मुख्यता दी गयी है। भवितव्यता क्या है? जीव की समर्थ उपादान शक्ति का नाम ही तो भवितव्यता है। भवितव्यता की व्युत्पत्ति है—भवितुं योग्यं भवितव्यम्, तस्य भावः भवितव्यता। जो होने योग्य हो, उसे भवितव्य कहते हैं और उसका भाव भवितव्यता कहलाती है। जिसे हम योग्यता कहते हैं, उसी का दूसरा नाम भवितव्यता है। द्रव्य की समर्थ उपादान शक्ति कार्यरूप

१— देखा, गाथा ८७९ से ८८३ तक।

से परिणत होने के योग्य होती है, इसलिए समर्थ उपादान शक्ति, भवितव्यता और योग्यता, ये तीनों एक ही अर्थ को सूचित करते हैं। कहीं-कहीं अनादि या नित्य उपादान को भी भवितव्यता या योग्यता शब्द द्वारा अभिहित किया गया है, सो प्रकरण के अनुसार इसका उक्त अर्थ करने में भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि भवितव्यता से उक्त दोनों अर्थ सूचित होते हैं। भव्य और अभव्य के भेद में भवितव्यता भी इसी का नाम है। उक्त श्लोक में भवितव्यता को प्रमुखता दी गयी है और साथ में व्यवसाय-पुरुषार्थ तथा अन्य सहायक सामग्री का भी सूचन किया है, सो इस कथन द्वारा उक्त पाँचों कारणों का समवाय होने पर कार्य की सिद्धि होती है, यही सूचित होता है, क्योंकि स्वकाल उपादान की विशेषता होने से भवितव्यता में गर्भित है ही।

भवितव्य का समर्थन करते हुए पण्डितप्रवर टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्रकाशक (अधिकार ३, पृष्ठ ८१)लिखते हैं —

....सो इनकी सिद्धि होइ तौ कषाय उपशमनेतैं दुःख दूरि होइ जाइ सुखी होइ। परन्तु इनकी सिद्धि इनके किए उपायनिके आधीन नाहीं, भवितव्य के आधीन है। जातैं अनेक उपाय करते देखिये है अर सिद्धि न हो है। बहुरि उपाय बनना भी अपने आधीन नाहीं, भवितव्य के आधीन है। जातैं अनेक उपाय करना विचारै और एक भी उपाय न होता देखिए है। बहुरि काकतालीय न्यायकरि भवितव्य ऐसी ही होइ जैसा आपका प्रयोजन होइ तैसा ही उपाय होइ अर तातैं कार्य की सिद्धि भी होइ जाइ तौ तिस कार्यसंबंधी कोई कषाय का उपशम होइ।

यह पण्डितप्रवर टोडरमलजी का कथन है। मालूम पड़ता है कि उन्होंने 'तादृशी जायते बुद्धिः' इस श्लोक में प्रतिपादित तथ्य को ध्यान में रखकर ही यह कथन किया है। इसलिए इसे उक्त अर्थ के समर्थन में ही जानना चाहिए।

इस प्रकार कार्योत्पत्ति के पूरे कारणों पर दृष्टिपात करने से भी

यही फलित होता है कि जहाँ पर कार्योत्पत्ति के अनुकूल द्रव्य का स्ववीर्य या स्वशक्ति और उपादान शक्ति होती है, वहाँ अन्य सामग्री स्वयंमेव मिल जाती है, उसे मिलाना नहीं पड़ता। यह मिलाना क्या है? यह एक विकल्प है तथा तदनुकूल वचन और काय की क्रिया है, इसी को मिलाना कहते हैं। इसके सिवाय मिलाना और कुछ नहीं।

वास्तव में देखा जाए तो यह कथन जैनदर्शन का हार्द प्रतीत होता है। जैनदर्शन में कार्य की उत्पत्ति के प्रति जो उपादान-निमित्त सामग्री स्वीकार की गयी है, उसमें द्रव्य की स्वशक्ति के साथ उपादान का प्रमुख स्थान है। उसके अभाव में अन्य निमित्तों की कथा करना ही व्यर्थ है। स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में जब यह प्रतिपादन किया कि विविध प्रकार का कामादि कार्यरूप भावसंसार कर्मबन्ध के अनुरूप होता है और वह कर्मबन्ध अपने कामादि बाह्य हेतुओं के निमित्त से होता है, तब उनके सामने यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि ऐसा मानने पर तो जीव के संसार का कभी भी अन्त नहीं होगा, क्योंकि कर्मबन्ध होने के कारण यह जीव भावसंसार की सृष्टि करता रहेगा और भावसंसार की सृष्टि होने से निरन्तर कर्मबन्ध होता रहेगा। फिर इस परम्परा का अन्त कैसे होगा? आचार्य महाराज ने स्वयं उठे हुए अपने इस प्रश्न के महत्व को अनुभव किया और उसके उत्तर स्वरूप उन्हें कहना पड़ा —'जीवास्ते शुद्ध्य द्धितः।' अर्थात् वे जीव शुद्धि और अशुद्धि नामक दो शक्तियों से सम्बद्ध हैं। परन्तु इतना कहने से उक्त अपेक्षा को ध्यान में रखकर किये गये समाधान पर पूरा प्रकाश नहीं पड़ता, इसलिए वे इन शक्तियों के आश्रय से स्पष्टीकरण करते हुए पुनः कहते हैं —

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥

पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्ति के समान शुद्धि और अशुद्धि

नामवाली दो शक्तियाँ हैं तथा उनकी व्यक्ति सादि और अनादि है। उनका स्वभाव हो ऐसा है जो तर्क का विषय नहीं है ॥१०० ॥

यहाँ पर जो ये दो प्रकार की शक्तियाँ कही गयी हैं, उन द्वारा प्रकारान्तर से उपादान शक्ति का ही प्रतिपादन कर दिया गया है। जीवों में ये दोनों प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। उनमें से अशुद्धि नामक शक्ति की व्यक्ति तो अनादि काल से प्रति समय होती आ रही है, जिसके आश्रय से नाना प्रकार के पुद्‌गल कर्मों का बन्ध होकर कामादिरूप भावसंसार की सृष्टि होती है। जो अभव्य जीव हैं, उनके इस शक्ति की व्यक्ति अनादि-अनन्त हैं और जो भव्य जीव हैं, उनके इस शक्ति की व्यक्ति अनादि होकर भी सान्त है। किन्तु जब इस जीव के शुद्धि -शक्ति की व्यक्ति का स्वकाल आता है, तब यह जीव अपने स्वभाव सन्मुख होकर पुरुषार्थ द्वारा उसकी व्यक्ति करता है, इसलिए शुद्धि शक्ति की व्यक्ति सादि है। यहाँ पर जो अशुद्धि शक्ति की व्यक्ति को अनादि कहा गया है, सो वह कथन सन्तानपने की अपेक्षा से ही जानना चाहिए, पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा तो उसकी व्यक्ति प्रति समय होती रहती है। जिससे प्रत्येक संसारी जीव के प्रति समयसम्बन्धी भावसंसाररूप पर्याय की सृष्टि होती है।[१] यहाँ पर यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता कि ये दोनों शक्तियाँ जीव की हैं तो इनमें से एक की व्यक्ति अनादि हो और दूसरे की व्यक्ति सादि हो, इसका क्या कारण है ? समाधान यह है कि इनका स्वभाव ही ऐसा है जो तर्क

१— यहाँ पर जीवों के सम्यग्दर्शनादिरूप परिणाम शुद्धि शक्ति के अभिव्यंजक है और मिथ्यादर्शनादिरूप परिणाम अशुद्धिशक्ति के अभिव्यंक हैं, इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर यह व्याख्यान किया है। वैसे शुद्धिशक्ति का अर्थ भव्यत्व और अशुद्धि शक्ति का अर्थ अभव्यत्व करके भी व्याख्यान किया जा सकता है। भट्ट अकलंकदेव ने अष्टशती में और आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री में सर्व प्रथम इसी अर्थ को ध्यान में रखकर व्याख्यान किया है। इसी अर्थ को ध्यान में रखकर आचार्य अमृतचन्द्र ने पंचास्तिकाय, गाथा १२० की टीका में यह वचन लिखा है—संसारिणी द्विप्रकाराः भव्या अभव्याश्च। ते शुद्धस्वरूपोपलम्भशक्तिसद्‌भावासद्‌भावाभ्यां पाच्यापाच्यमुद्‌गवदभिधीयन्त इति।

का विषय नहीं है। इसी विषय को स्पष्ट करने के लिए आचार्य महाराज ने पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्ति को उदाहरणरूप में उपस्थित किया है। आशय यह है कि जिस प्रकार वही उड़द अग्निसंयोग को निमित्त कर पकता है जो पाक्यशक्ति से युक्त होता है। जिसमें अपाक्यशक्ति पायी जाती है, वह अग्निसंयोग को निमित्तकर त्रिकाल में नहीं पकता, ऐसी वस्तुमर्यादा है; उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए। इस दृष्टान्त को उपस्थित कर आचार्य महाराज यही दिखलाना चाहते है कि प्रत्येक द्रव्य में आन्तरिक योग्यता का सद्भाव स्वीकार किये बिना कोई भी कार्य नहीं हो सकता। उसमें भी जिस योग्यता का जो स्वकाल (समर्थ उपादानक्षण) है, उसके प्राप्त होने पर ही वह कार्य होता है, अन्यथा नहीं होता। इससे यदि कोई अपने पुरुषार्थ की हानि समझे, सो भी बात नहीं है, क्योंकि जीव के किसी भी योग्यता को कार्य का आकार पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त होता है। जीव की प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में पुरुषार्थ अनिवार्य है। उसकी उत्पत्ति में एक कारण हो और अन्य कारण न हों—ऐसा नहीं है। जब कार्य उत्पन्न होता है, तब अन्य निमित्त भी होता है, क्योंकि जहाँ निश्चय (उपादान कारण) है, वहाँ व्यवहार (निमित्त कारण) होता ही है। इतना अवश्य है कि मिथ्यादृष्टि जीव निश्चय को लक्ष्य में नहीं लेता और मात्र व्यवहार पर जोर देता रहता है, इसीलिए वह व्यवहाराभासी होकर अनन्त संसार का पात्र बना रहता है। ऐसे व्यवहाराभासी के लिए पण्डितप्रवर दौलतरामजी छहढाला में क्या कहते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िये :—

कोटि जनम तप तपें ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानी के छिन में त्रिगुप्ति में सहज टरें ते॥
मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, भवितव्यता उपादान की

योग्यता का ही दूसरा नाम है। प्रत्येक द्रव्य में कार्यक्षम भवितव्यता होती है, इसका समर्थन करते हुए स्वामी समन्तभद्र अपने स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं :—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादी॥३३॥

आपने (जिनदेव ने) यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वय से उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है, ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्य-शक्ति है, क्योंकि संसारी प्राणी 'मैं इस कार्य को कर सकता हूँ' इस प्रकार के अहंकार से पीड़ित है, वह उस (भवितव्यता) के बिना अनेक प्रकार के अन्य कारणों का योग मिलने पर भी कार्यों के सम्पन्न करने में समर्थ नहीं होता।

उपादानरूप योग्यतानुसार कार्य होता है, इसका समर्थन भट्टाकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिक (अध्याय १, सूत्र २०) में इन शब्दों में करते हैं :—

यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये दण्ड-चक्र-पौरुषेय-प्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति, यतः सत्स्वपि दण्डादिनिमित्तेषु शर्करादिप्रचिंतो मृत्पिण्डः स्वयमन्तघर्टभवनपरिणामनिरुत्सकत्वान्न घटीभवति, अति मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्तसापेक्ष आभ्यन्तर-परिणामसानिध्याद् घटो भवति न दण्डादयः इति दण्डादीनां निमित्त-मात्रत्व भवति।

जैसे मिट्टी के स्वयं भीतर से घटभवनरूप परिणाम के अभिमुख होने पर दण्ड, चक्र और पुरुषकृत प्रयत्न आदि निमित्तमात्र होते हैं, क्योंकि दण्डादि निमित्तों के रहने पर भी बालुकाबहुल मिट्टी का पिण्ड स्वयं भीतर से घटभवनरूप परिणाम (पर्याय) से निरुत्सुक होने के कारण घट नहीं होता; अतः बाह्य में दण्डादि निमित्तसाक्षेप मिट्टी का पिण्ड ही भीतर घटभवनरूप परिणाम का सानिध्य होने से घट होता

है, दण्डादि घट नहीं होते, इसलिए दण्डादि निमित्तमात्र हैं।

इस प्रकार इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उपादानगत योग्यता के कार्यभवनरूप व्यापार के सन्मुख होने पर ही वह कार्य होता है, अन्यथा नहीं होता। ऐसे परिणमन की क्षमता प्रत्येक द्रव्य में होती है। जीव के इस परिणमन करनेरूप व्यापार को पुरुषार्थ कहते हैं।

यदि तत्त्वार्थवार्तिक के उक्त उल्लेख पर बारीकी से ध्यान दिया जाता है, तो उससे यह भी विदित हो जाता है कि घट निष्पत्ति के अनुकूल कुम्हार का जो व्यापार होता है, वह भी निमित्तमात्र है, वास्तव में कर्ता निमित्त नहीं। उनके 'निमित्तमात्र है' ऐसा कहने का भी यही तात्पर्य है।

सब कार्य स्वकाल में ही होते हैं, इसे भी भट्टाकलंकदेव ने तत्त्वार्थ -वार्तिक (अध्याय १, सूत्र ३) में स्वीकार किया है। वह प्रकरण निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन का है। इसी प्रसंग को लेकर उन्होंने सर्व प्रथम यह शंका उपस्थित की है—

भव्यस्य तार्किक निःश्रेयसोपपत्तेः अधिगमसम्यक्त्वाभावः ।७। यदि अवधृतमोक्षकालात् प्रागधिगमसम्यक्त्वबलात् मोक्षः स्यात् स्यादधिगमसम्यग्दर्शनस्य साफल्यम्। न चादोऽस्ति। अतः कालेन योऽस्य मोक्षोऽसौ निसर्गजसम्यक्त्वादेव सिद्ध इति।

इस वार्तिक और उसकी टीका में कहा गया है कि यदि नियत मोक्षकाल के पूर्व अधिगमसम्यक्त्व के बल से मोक्ष होवे तो अधिगम -सम्यक्त्व सफल होवे। परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिए स्वकाल के आश्रय से जो इस भव्य जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह निसर्गज सम्यक्त्व से ही सिद्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त कथन द्वारा भट्टाकलंकदेव ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि प्रत्येक भव्य जीव को उसकी मोक्ष प्राप्ति का स्वकाल आने पर मुक्ति लाभ अवश्य होता है। इससे

सिद्ध है कि लोक में जितने भी कार्य होते हैं, वे अपने काल के प्राप्त होने पर ही होते हैं, आगे पीछे नहीं होते।

यहाँ पर यह शंका की जा सकती है कि जब वहीं पर भट्टाकलंकदेव ने कालनियम का निषेध कर दिया है, तब उनके पूर्व वचन को कालनियम के समर्थन में क्यों उपस्थित किया जाता है। कालनियम का निषेधपरक उनका यह वचन इस प्रकार है —

कालनियमाच्च निर्जरायाः ॥९॥ यतो न भव्यानां कृत्स्नकर्म-निर्जरापूर्वकमोक्षकालस्य नियमोऽस्ति। केचिद् भव्याः संख्येन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिदसंख्येन, केचिदन्तेन, अपरे अनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीति, ततश्च न युक्तं 'भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः' इति।

इस वार्तिक और उसकी टीका का आशय यह है कि यतः भव्यों के समस्त कर्मों की निर्जरापूर्वक मोक्षकाल का नियम नहीं है, क्योंकि कितने ही भव्य संख्यात काल द्वारा मोक्षलाभ करेंगे। कितने ही असंख्यात काल द्वारा और कितने ही अनन्त काल द्वारा मोक्ष लाभ करेंगे। दूसरे जीव अनन्तानन्त काल द्वारा भी मोक्षलाभ नहीं करेंगे। इसलिए 'भव्य जीव काल द्वारा मोक्ष लाभ करेंगे' यह वचन ठीक नहीं है।

व्यवहाराभासी इसे पढ़कर उस पर से ऐसा अर्थ फलित करते हैं कि भट्टाकलंकदेव ने प्रत्येक भव्य जीव के मोक्ष जाने के कालनियम का पहले शंकारूप में जो विधान किया था, उसका इस कथन द्वारा सर्वथा निषेध कर दिया है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यह सच है कि उन्होंने पिछले कथन का इस कथन द्वारा निषेध किया है। परन्तु उन्होंने यह निषेध नयविशेष का आश्रय लेकर ही किया है, सर्वथा नहीं। वह नयविशेष यह है कि पूर्वोक्त कथन एक जीव के आश्रय से किया गया है और यह कथन नाना जीवों के आश्रय से किया गया है। सब भव्य जीवों की अपेक्षा देखा जाए तो सबके मोक्ष जाने का एक कालनियम नहीं बनता, क्योंकि दूर भव्यों को छोड़कर प्रत्येक

भव्य जीव के मोक्ष जाने का कालनियम अलग-अलग है, इसलिए सबका एक कालनियम कैसे बन सकता है ? परन्तु इसका यदि कोई यह अर्थ लगावे कि प्रत्येक भव्य जीव का भी मोक्ष जाने का कालनियम नहीं है, तो उसका उक्त कथन द्वारा यह अर्थ फलित करना उक्त कथन के अभिप्राय को ही न समझना कहा जाएगा। अतः प्रकृत में यही समझना चाहिए कि भट्टाकलंकदेव भी प्रत्येक भव्य जीव के मोक्ष जाने का काल नियम मानते हैं।

इसी बात का समर्थन करते हुए पञ्चास्तिकाय गाथा ११ की टीका में भी कहा है:—

....यदा तु द्रव्यगुणत्वेन पर्यायमुख्यत्वेन विवक्ष्यते तदा प्रादुर्भवति विनश्यति। सत्पर्यायजातमतिवाहितस्वकालमुच्छिनत्ति, असदुपस्थित -स्वकालमुत्पादयति चेति।

...और जब प्रत्येक द्रव्य द्रव्य की गौणता और पर्याय की मुख्यता से विवक्षित होता है, तब वह उपजता है और विनाश को प्राप्त होता है। जिसका स्वकाल बीत गया है, ऐसे सत् (विद्यमान) पर्यायसमूह को नष्ट करता है और जिसका स्वकाल उपस्थित है, ऐसे असत् (अविद्यमान) पर्यायसमूह को उत्पन्न करता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

इस प्रकार इस कथन से भी यही विदित होता है कि प्रत्येक कार्य अपने-अपने स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि स्वकाल के प्राप्त होने पर वह व्यवहार से अपने आप हो जाता है। इस अपेक्षा होता तो है, वह स्वभाव आदि पाँच के समवाय से ही। पर जिस कार्य का जो स्वकाल है, उसके प्राप्त होने पर ही इन पाँच का समवाय होता है और तभी वह कार्य होता है, ऐसा यहाँ पर समझना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षपाहुड़ में कालादिलब्धि के प्राप्त होने पर

आत्मा परमात्मा हो जाता है, इसका समर्थन करते हुए स्वयं कहते हैं—

अइसोहणजोएणं सुद्ध हेमं हवेइ जह तह य।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवादि॥२४॥

इसका अर्थ करते हुए पण्डितप्रवर जयचन्द्रजी छावड़ा लिखते हैं—

जैसे सुवर्ण पाषाण है, सो सौधनें की सामग्री के सम्बन्ध करि शुद्ध सुवर्ण होय है; तैसैं काल आदि लब्धि जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्री की प्राप्ति, ताकरि यहु आत्मा कर्म के संयोगकरि अशुद्ध है, सो ही परमात्मा होय है॥२४॥

इसी तथ्य का समर्थन करते हुए स्वामी कार्तिकेय भी अपनी द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहिं संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं॥

इसका अर्थ पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने इन शब्दों में किया है—

सर्व ही पदार्थ काल आदि लम्धिकरि सहित भये नाना शक्ति-संयुक्त हैं, तैसैं ही स्वयं परिणमै हैं तिनकूँ परिणमतै कोई निवारनेकूँ समर्थ नाहीं॥२१९॥

इस विषय में मान्य सिद्धान्त है कि ६ माह ८ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं और यह भी सुनिश्चित है कि अनन्तानन्त जीवराशि में से युक्तानन्तप्रमाण जीवराशि को छोड़कर शेष जीवराशि भव्य है, सो इस कथन से भी उक्त तथ्य ही फलित होता है।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाने पर भी, कि प्रत्येक कार्य अपने-अपने स्वकाल में अपनी-अपनी योग्यानुसार ही होता है, और जब जो कार्य होता है, तब अन्य निमित्त भी तद्नुकूल मिल जाते

हैं, यहाँ यह विचारणीय हो जाता है कि प्रत्येक समय में वह कार्य होता कैसे है ? क्या वह निश्चय से स्वयं होता हुआ भी अन्य कोई कारण है, जिसको निमित्तकर वह कार्य होता है ? विचार करने पर विदित होता है कि वह इस साधन सामग्री के मिलने पर भी अपनी-अपनी परिणमनशक्ति के बल पर स्वकाल में ही होता है। यही कारण है कि जिन पाँच कारणों का पूर्व में उल्लेख कर आये हैं, उनमें काल को भी परिगणित किया गया है। इमसें भी हम कार्योत्पत्ति का मुख्य साधन जो पुरुषार्थ है, उस पर तो दृष्टिपात करें नहीं और हमारा जब जो कार्य होना होगा, होगा ही, यह मान कर प्रमादी बन जाए, यह उचित नहीं है। सर्वत्र विचार इस बात का करना चाहिए कि यहाँ ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किस अभिप्राय से किया गया है। वास्तव में चारों अनुयोगों का सार वीतरागता ही है। वैसे विपर्यास करने के लिए सर्वत्र स्थान है।

उदाहरण स्वरूप प्रथमानुयोग को ही लीजिए। उसमें महापुरुषों की अतीत जीवन घटनाओं के समान भविष्य सम्बन्धी जीवन घटनाएँ भी अंकित की गयी हैं। अब यदि कोई व्यक्ति उनकी भविष्य सम्बन्धी जीवन घटनाओं को पढ़े और कहे कि जैसे इन महापुरुषों की भविष्य जीवन घटनाएँ सुनिश्चित रहीं, उसी प्रकार हमारा भविष्य भी सुनिश्चित है, अतएव अब हमें कुछ भी नहीं करना है। जब जो होना होगा, होगा ही, तो क्या इस आधार से उसका ऐसा विकल्प करना उचित कहा जाएगा ? यदि कहो कि इस आधार से उसका ऐसा विकल्प करना उचित नहीं है। किन्तु उसे उन भविष्य-सम्बन्धी जीवन घटनाओं को पढ़कर ऐसा निर्णय करना चाहिए कि जिस प्रकार ये महापुरुष अपनी-अपनी हीन अवस्था से पुरुषार्थ द्वारा उच्च अवस्था को प्राप्त हुए हैं; उसी प्रकार हमें भी अपने पुरुषार्थ द्वारा अपने में उच्च अवस्था प्रकट करनी हैं। तो हम पूछते हैं कि फिर

प्रत्येक कार्य स्वकाल में होता है, इस सिद्धान्त को सुनकर उसका विपर्यास क्यों करते हो। वास्तव में यह सिद्धान्त किसी को प्रमादी बनानेवाला नहीं है। जो इसका विपर्यास करता है, वह प्रमादी बनकर संसार का पात्र होता है और जो इस सिद्धान्त में छिपे हुए रहस्य को जान लेता है, वह पर की कर्तृत्वबुद्धि का त्याग कर पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव सन्मुख हो मोक्ष का पात्र होता है। प्रत्येक कार्य स्वकाल में होता है, ऐसी यथार्थ श्रद्धा होने पर 'पर का मैं कुछ भी कर सकता हूँ' ऐसी कर्तृत्वबुद्धि तो छूट ही जाती है। साथ ही 'मैं अपनी आगे होनेवाली पर्यायों में कुछ भी फेरफार कर सकता हूँ' इस अहंकार का भी लोप हो जाता है। उक्त कर्तृत्वबुद्धि छूटकर ज्ञाता-दृष्टा बनने के लिए और अपने जीवन में वीतरागता को प्रगट करने के लिए इस सिद्धान्त को स्वीकार करने का बहुत बड़ा महत्त्व है। जो महानुभाव समझते हैं कि इस सिद्धान्त के स्वीकार करने से अपने ही पुरुषार्थ की हानि होती है, वास्तव में उन्होंने इसे भीतर से स्वीकार ही नहीं किया, ऐसा कहना होगा। यह उस दीपक के समान है जो मार्ग का दर्शन कराने में निमित्त तो है, पर मार्ग पर स्वयं चला जाता है। इसलिए इसे स्वीकार करने से पुरुषार्थ की हानि होती है, ऐसी खोटी श्रद्धा को छोड़कर इसके स्वीकार द्वारा मात्र ज्ञाता-दृष्टा बने रहने के लिए सम्यक् पुरुषार्थ को जागृत करना चाहिए। तीर्थंकरों और ज्ञानी सन्तों का यही उपदेश है, जो हितकारी जानकर स्वीकार करने योग्य है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं—

जो इच्छो परमार्थ तो करो सत्य पुरुषार्थ।
भवस्थिति आदि नाम लई छेदो नहीं आत्मार्थ॥

जो भवस्थिति (काललब्धि) का नाम लेकर सम्यक् पुरुषार्थ से विरत हैं, उन्हें ध्यान में रखकर यह दोहा कहा गया है। इसमें बतलाया है कि यदि तू परमार्थ की इच्छा करता है, तो सम्यक् पुरुषार्थ कर।

केवल काललब्धि का नाम लेकर आत्मा का घात मत कर।

प्रत्येक कार्य की काललब्धि होती है, इसमें सन्देह नहीं। पर वह किसी जीव को सम्यक् पुरुषार्थ करने से रोकती हो, ऐसा नहीं है। स्वकाललब्धि और योग्यता, ये दोनों उपादानगत विशेषता के ही दूसरे नाम हैं। व्यवहार से अवश्य ही उस द्वारा विवक्षित कार्य के निमित्तभूत नियत काल का ग्रहण होता है। इसलिए जिस समय जिस कार्य का सम्यक् पुरुषार्थ हुआ, वही उसकी काललब्धि है, इसके सिवाय अन्य कोई काललब्धि हो, ऐसा नहीं है। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर पण्डितप्रवर टोडरमल्लजी मोक्षमार्गप्रकाशक (पृष्ठ ४६२) में कहते हैं—

इहाँ प्रश्न—जो मोक्ष का उपाय काललब्धि आएं भवितव्य-तानुसारि बने है कि मोहादिक का उपशमादि भएं बनै है अथवा अपने पुरुषार्थतैं उद्यम किए बनै, सो कहो। जो पहिले दोय कारण मिले बनै है तो हमकौं उपदेश काहेकौं दीजिए है। अर पुरुषार्थतैं बने है तो उपदेश सर्व सुनि तिन विषै कोई उपाय कर सकै, कोई न कर सकै, सो कारण कहा? ताका समाधान एक कार्य होने विषै अनेक कारण मिलैं हैं, सो मोक्ष का उपाय बनै है, तहां तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलै ही है। अर न बनै है तहां तीनों ही कारण न मिलै हैं। पूर्वोक्त तीन कारण कहे, तिन विषै काललब्धि वा होनहार तौ किछू वस्तु नाहीं। जिस काल विषै कार्य बनै, सोई काललब्धि और जो कार्य भया, सोई होनहार। बहुरि कर्मका उपशमादि है, सो पुद्गल की शक्ति है। ताका आत्मा कर्ता हर्ता नाहीं। बहुरि पुरुषार्थ तैं उद्यम करिए है सो यहु आत्मा का कार्य है। तातैं आत्माकौं पुरुषार्थ करि उद्यम करने का उपदेश दीजिए है। तहां यहु आत्मा जिस कारण तैं कार्यसिद्धि अवश्य होय, तिस कारणरूप उद्यम करै तहाँ तौ अन्य कारण मिलैं ही मिलैं अर कार्य की भी सिद्धि होय ही होय।

वे आगे (पृष्ठ ४६५) में पुनः कहते हैं —

अर तत्त्वनिर्णय करने विषै कोई कर्म का दोष है नाहीं। अर तूं आप तो महंत रह्यौ चाहै अर अपना दोष कर्मादिककैं लगावै, सो जिन-आज्ञा मानैं तौ ऐसी अनीति संभवै नाहीं। तोकौं विषय-कषायरूप ही रहना है, तातै झूठ बोलै है। मोक्ष की सांची अभिलाषा होय तौ ऐसी युक्ति काहे कौं बनावै। संसार के कार्यनि विषै अपना पुरुषार्थतैं सिद्धि न होती जानै तौ भी पुरुषार्थकरि उद्यम किया करै। यहाँ पुरुषार्थ खोई बैठे। सो जानिए है, मोक्षकौ देखादेखी उत्कृष्ट कहै है। याका स्वरूप पहिचानि ताकौं हितरूप न जानै है। हित जानि जाका उद्यम बनै सो न करै वह असंभव है।

प्रकृत में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि शास्त्रों में जहाँ-जहाँ कालादिलब्धि का उल्लेख किया है, वहाँ उसका आशय मुख्यतया आत्माभिमुख होने के लिए ही है, अन्य कुछ आशय नहीं है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन पञ्चास्तिकाय, गाथा १५०-१५१ की टीका में कहते हैं —

यदायं जीवः आगमभाषया कालादिलब्धिरूपमध्यात्मभाषया शुद्धात्माभिमुखपरिणामरूपं स्वसंवेदनज्ञानं लभते।

जब यह जीव आगमभाषा के अनुसार कालादिलब्धिरूप और अध्यात्मभाषा के अनुसार शुद्धात्माभिमुख परिणामरूप स्वसंवेदनज्ञान को प्राप्त होता है।

१२. उपसंहार

इस प्रकार यहाँ तक जो हमने उपादानकारण के स्वरूपादि की मीमांसा के साथ प्रसंग से उपादान की योग्यता और स्वकाल का तथा उसका अविनाभावी व्यवहार काल का विचार किया, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो कर्म निमित्त कहे जाते हैं, वे भी उदासीन निमित्तों के समान कार्योत्पत्ति के समय मात्र निमित्तमात्र होते हैं, इसलिए जो व्यवहाराभासी इस मान्यता पर बल देते हैं कि जहाँ जैसे बाह्य निमित्त

मिलते हैं, वहाँ उनके अनुसार ही कार्य होता है, उनकी वह मान्यता समीचीन नहीं है। किन्तु इसके स्थान में यही यह मान्यता समीचीन और तथ्य को लिए हुए हैं कि प्रत्येक कार्य चाहे वह शुद्ध द्रव्य सम्बन्धी हो और चाहे अशुद्ध द्रव्य सम्बन्धी हो, अपने-अपने निश्चय उपादान के अनुसार ही होता है। उसके अनुसार होता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वहाँ परद्रव्य निमित्त नहीं होता। परद्रव्य निमित्त तो वहाँ पर भी होता है। पर उसके रहते हुए भी कार्य निश्चय उपादान के अनुसार ही होता है, यह एकान्त सत्य है। इसमें सन्देह के लिए स्थान नहीं है। यही कारण है कि मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को अनादि रूढ़ लोकव्यवहार से मुक्त होकर अपने द्रव्यस्वभाव को लक्ष्य में लेना चाहिए, आगम में ऐसा उपदेश दिया गया है।

यहाँ यह शंका की जाती है कि यदि कार्यों की उत्पत्ति अन्य निमित्तों के अनुसार नहीं होती है तो उन्हें निमित्त ही क्यों कहा जाता है? समाधान यह है कि ये कार्यों को अपने अनुसार उत्पन्न करते हैं, इसलिए उन्हें विस्रसा या प्रयोग कारण नहीं कहा गया है। किन्तु अज्ञानी के विकल्प और क्रिया की प्रकृष्टता अन्य द्रव्यों के क्रिया व्यापार के समय उनको सूचन करने में निमित्त होती है, इस बात को ध्यान में रखकर ही उन्हें प्रयोग निमित्त कहा गया है। विस्रसा निमित्तों के विषय में विवाद ही नहीं है।

इस प्रकार प्रत्येक कार्य तथासम्भव उक्त पाँच हेतुओं के समवाय में होता है। उनमें ही निश्चय उपादान और व्यवहार निमित्तों का अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए आगम में सर्वत्र उक्त दो हेतुओं का निर्देश कहीं पर दोनों की मुख्यता से और कहीं पर गौण—मुख्यरूप में दृष्टिगोचर होता है, यह इस अध्याय के कथन का सार है।

●

कर्तृ-कर्म मीमांसा

कर्ता परिणामी द्रव्य कर्मरूप परिणाम।
परिणति स्वयं क्रिया भली वस्तु एक त्रय नाम॥

१. उपोद्घात

वस्तुस्वरूप के विचार के बाद बाह्य कारण और निश्चय उपादान का स्वतन्त्ररूप से तथा दोनों का एक साथ विचार किया। अब कर्तृ-कर्म की मीमांसा करनी है। उसमें यह तो स्पष्ट है कि जो भी कार्य होता है, वह स्वयं कर्म संज्ञा को प्राप्त होता है, इसमें किसी को विवाद नहीं है। यदि विवाद है तो वह कर्ता के सम्बन्ध में ही है। अतएव मुख्यरूप से इसी पर विचार करना है। 'स्वतन्त्र: कर्ता' इस नियम के अनुसार जो स्वतन्त्ररूप से कार्य करे, वह कर्ता; कर्ता का सामान्यरूप से यह अर्थ स्पष्ट होने पर भी वस्तु स्वयं अपना कार्य करती है या अन्य वस्तु स्वतन्त्ररूप से उस दूसरी वस्तु का कार्य कर देती है, इसके सम्बन्ध में मुख्यतया विवाद बना हुआ है। अतएव इस विषय पर प्रकृत में गहराई से विचार कर निर्णय लेना है। इसकी मीमांसा को आगे बढ़ाने के लिए सर्व प्रथम हम कार्य को एकान्त से पराधीन माननेवाले नैयायिक दर्शन को लेते हैं।

२. नैयायिक दर्शन

नैयायिक दर्शन आरम्भवादी या असत्यकार्यवादी दर्शन है। प्रत्येक वस्तु कार्य का स्वयं उपादान है, इस प्रकार की योग्यता को वह स्वीकार ही नहीं करता। साथ ही वह दर्शन समवाय सम्बन्ध से घटादि प्रत्येक कार्य को मिट्टी आदिस्वरूप होनेपर भी समवाय सम्बन्ध -वश मिट्टी आदि का कहता है। मिट्टी स्वयं घटरूप परिणमी है, ऐसा वह नहीं मानता, इसलिए मिट्टी आदि से समवेत होकर जो भी

कार्य होता है, वह अन्य के द्वारा ही किया जाता है। वह सत्ता के समवाय से जड़ और चेतन दोनों का अस्तित्व स्वीकार कर उनके जो विविध प्रकार के कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, वे स्वयं अपने परिणामस्वभाव के कारण न होकर अन्य के द्वारा ही किये जाते हैं, ऐसा मानता है। वह अन्य पदार्थ भी जड़ नहीं होना चाहिए, चेतन ही होना चाहिए, क्योंकि वह अज्ञानी तो हो नहीं सकता। कारण कि जब तक उसे कारण साकल्य का ज्ञान न होगा, तब तक वह घटादि कार्यों के समवायी, असमवायी और निमित्तकारणों का संयोजन कैसे करेगा? उसे प्रत्येक प्राणी के अदृष्ट का भी विचार करना होगा। वह चिकीर्षा (करने की इच्छा) से रहित भी नहीं हो सकता, क्योंकि कारक-साकल्य का ज्ञान होने पर भी जब तक उसे घटादि कार्य करने की इच्छा नहीं होगी, तब तक चिकीर्षा के बिना वह मिट्टी आदि से घटादि कार्यों को कैसे उत्पन्न करेगा? वह कार्य करने के प्रयत्न से रहित भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसे कारक साकल्य का ज्ञान और घटादि कार्य करने की इच्छा होने पर भी जब तक वह घटादि कार्यों के बनाने के उपक्रम में नहीं लगेगा, तब तक मिट्टी आदि से समवेत घटादि कार्यों की उत्पत्ति कैसे कर सकेगा? इसलिए जो कारक साकल्य के ज्ञान से सम्पन्न है, जिसे मिट्टी आदि से समवेत घट आदि कार्य करने की इच्छा है और जो उक्त प्रकार से कार्य करने के प्रयत्न में तत्पर है, ऐसा ही चेतन व्यक्ति किसी भी कार्य का कर्ता हो सकता है। जो प्रत्येक कार्य का समवायी कारण है, वह स्वरूप से अपरिणामी है। जो भी कार्य होता है, वह समवायी कारण का स्वरूप न होकर समवाय सम्बन्ध से उसका कहा जाता है। इसलिए इस दर्शन की मान्यता है कि जो कारक साकल्य का ज्ञान रखता है, जो कार्य करने की इच्छा से युक्त है और जो कार्य करने के प्रयत्न में लगा हुआ है, ऐसा अन्य सचेतन व्यक्ति ही उस कार्य का कर्ता हो सकता है।

यद्यपि सचेतन अन्य सविकल्प मनुष्यादि में भी ये तीनों

विशेषताएँ देखी जाती है, परन्तु उन्हें कारक साकल्य का पूरा ज्ञान न होने से वे कर्ता नहीं हो सकते। विशेषरूप से देखा जाए तो उन्हें न तो प्रत्येक प्राणी के अदृष्ट का ही ज्ञान होता है और न पृथिवी आदि के परमाणु आदि का ही ज्ञान होता है। ऐसी अवस्था में वे सब कार्यों को कैसे कर सकेंगे अर्थात् नहीं कर सकेंगे। अत: इस दर्शन में ज्ञानादि उक्त विशेषताओं के साथ कर्तारूप अलग से एक अनादि ईश्वर को स्वीकार किया गया है।

एक बात और है जो यहाँ विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। यद्यपि इस तथ्य का निर्देश हम इसके पहले ही कर आये हैं, परन्तु प्रयोजनवश यहाँ हम उसका पुन: उल्लेख कर रहे हैं। वह यह कि यह दर्शन किसी भी वस्तु को स्वरूप से परिणामी नहीं मानता, अत: उसके स्वयं कार्यरूप परिणत न होने के कारण ईश्वर अपने प्रयत्न या प्रेरणा द्वारा प्रत्येक वस्तु से समवेत कार्यों को उत्पन्न करना रहता है। यत: वे सब कार्य ईश्वर के प्रयत्नपूर्वक होते हैं, अत: वह सब कार्यों का स्वतन्त्ररूप से कर्ता होता है। अन्य जितने दशा, काल और आकाश आदि अचेतन पदार्थ और यथासम्भव सविकल्प मनुष्यादि सचेतन पदार्थ निमित्त होते हैं, वे स्वतन्त्ररूप से कर्ता नहीं होते। घटादि कार्यों को भी कुम्भकार आदि ईश्वर से प्रेरित होकर ही करते हैं, इसलिए इन कार्यों के करने में वे भी स्वतन्त्र नहीं हैं। इस दर्शन में ऐसे किसी भी कार्य को नहीं स्वीकार किया गया है, जिसमें ईश्वर को कर्तारूप से न स्वीकार किया गया हो। यही कारण है कि इस दर्शन में निमित्त कारणों के कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होते। और ऐसा होने पर भी इस दर्शन के अनुसार 'स्वतन्त्र: कर्ता' कर्ता के इस लक्षण में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि प्रत्येक कार्य के करने में ईश्वर स्वतन्त्र है। प्रत्येक कार्य कब उत्पन्न हो और कब न उत्पन्न हो, यह सब ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। इसलिए इस दर्शन में लौकिक दृष्टि से प्रेरक निमित्त कहो या निमित्त कर्ता कहो या उत्पादक कहो, एक ईश्वर ही स्वीकार

किया गया है, क्योंकि वही प्राणियों के अदृष्ट आदि का विचार कर स्वतन्त्ररूप से प्रत्येक कार्य की सृष्टि करता है। इस आशय का उनके आगम में यह वचन भी प्रसिद्ध है —

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

यह जन्तु अज्ञ है और अपने सुख, दुःख का अनीश है, इसलिए ईश्वर से प्रेरित होकर स्वर्ग जाता है या नरक जाता है। अर्थात् कौन कहाँ जाए, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है।

यही कारण है कि नैयायिक दर्शन में कर्ता का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नाधारता हि कर्तृत्वम्।

जो ज्ञान, चिकीर्षा (करने की इच्छा) और प्रयत्न का आधार है, वह कर्ता है। इस दर्शन में ईश्वर की उपासना का तात्पर्य भी यही है।

जब ईश्वर सब कार्यों का निमित्त कर्ता है, तब वह स्वयं सब प्राणियों की सृष्टि, दुख-दुःख और भोग एक प्रकार के क्यों नहीं करता? इसका समाधान वह दर्शन इस प्रकार करता है कि ईश्वर प्राणियों की सृष्टि, सुख-दुःख और भोग सब प्राणियों के अदृष्ट के अनुसार ही करता है। इसका फलितार्थ है कि लोक में द्व्यणुक से लेकर ऐसा एक भी कार्य नहीं होता जिन्हें प्राणियों के अदृष्ट को ध्यान में रखकर ईश्वर न बनाता हो। किन्तु अदृष्ट अचेतन है। उसे कारक साकल्य का ज्ञान नहीं, इसलिए ईश्वर ही उनका कर्ता होता है, क्योंकि अचेतन होने से वह चेतनाधिष्ठित होकर ही कार्यों में निमित्त होता है। और प्राणियों के आत्मा को अदृष्ट का अधिष्ठाता मानना उचित नहीं है, क्योंकि प्राणियों को अदृष्ट और कारकसाकल्य का पूरा ज्ञान नहीं होता, इसलिए इस दर्शन के अनुसार निखिल जगत् का कर्ता एक ईश्वर ही हो सकता है, क्योंकि सब प्रकार से कर्ता का

लक्षण उसी में घटित होता है।

यह नैयायिक दर्शन का हार्द है। मीमांसक आत्मा के अस्तित्व को मानकर भी उसे सर्वथा अशुद्ध मानते हैं। सांख्य सर्वथा शुद्ध मानते हैं। बौद्ध मोक्ष को मानकर भी अनात्मवादी दर्शन है। चार्वाक नास्तिक होते हैं। इनके सिवाय और जितने ईश्वरवादी दर्शन है, उन सबका नेता नैयायिक दर्शन है। वे सब नैयायिक दर्शन का ही अनुसरण करते हैं।

३. संक्षेप में नैयायिक दर्शन की मीमांसा

किन्तु जगत् का कर्ता ईश्वर केवल कल्पना लोक की बात है। किसी भी प्रमाण से उसकी सिद्धि नहीं होती। नैयायिक दर्शन उक्त प्रकार के ईश्वर को व्यापक और सर्वथा नित्य मानता है। इसलिए एक तो उसमें अर्थक्रिया घटित नहीं होती और अर्थक्रिया के अभाव में किसी भी वस्तु की सत्ता मानना आकाश फूल के मानने के समान है। दूसरे इसमें ज्ञान, क्रिया और प्रयत्न का समवाय सम्बन्ध से अस्तित्व मानने पर वह स्वरूप से जड़ ठहरता है। तीसरे कार्यत्व हेतु से उसका समर्थन करने पर वह व्यभिचरित हो जाता है, क्योंकि कर्तृत्व हेतु विपक्षरूप सशरीरी और अल्पज्ञ कुम्भकार में भी घटित हो जाता है। इसलिए परमार्थ से ईश्वर नाम की सदात्मक कोई वस्तु है, यह सिद्ध नहीं होता।

४. जैनदर्शन का हार्द

इस स्थिति के प्रकाश में अब जैनदर्शन पर विचार कीजिए। यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि इस दर्शन के अनुसार लोक में जड़-चेतन जितने भी स्वतन्त्रसत्ताक द्रव्य हैं, वे सब स्वरूप से परिणामी नित्य है। प्रत्येक समय में प्रत्येक द्रव्य की एक पर्याय का व्यय होना और नवीन पर्याय का उत्पन्न होना, यह उसका परिणाम स्वभाव है। तथा अपनी सब पर्यायों में से जाते हुए अन्वयरूप से उसका सर्वदा स्थित रहना, यह उसका नित्य स्वभाव है। इस प्रकार

त्रिलक्षण सम्पन्न प्रत्येक द्रव्य स्वरूप से सत् है। जैनदर्शन के अनुसार कोई भी द्रव्य न तो सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य ही है। किन्तु सामान्य की अपेक्षा नित्य हैं और पर्यायों की अपेक्षा अनित्य है। इसलिए वह नित्यानित्य स्वभाव को लिए हुए हैं। पंचास्तिकाय में इस तथ्य का निर्देश करते हुए लिखा है —

दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जायाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु अत्तादो॥९॥

जो उन-उन सद्भावस्वरूप पर्यायों को व्यापता है, सर्वज्ञदेव उसे द्रव्य कहते हैं। वह और सत्ता नामान्तर है, इसलिए वह सत्ता से लक्ष्य-लक्षण की अपेक्षा भेद होने पर भी वस्तुरूप से एक है॥९॥

पर्यायों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं —

देव-मनुष्यादिपर्यायास्तु क्रमबर्तित्वादुपस्थितातिवाहितसमया उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति चेति। *पंचास्तिकाय, गाथा १८*

देव, मनुष्यादि पर्यायें तो क्रमवर्ती होने से जिनका समय उपस्थित हुआ है, वे उत्पन्न होती हैं और जिनका समय बीत गया है, वे व्यय को प्राप्त होती हैं।

यहाँ देव-मनुष्यादि पर्यायों को क्रमवर्ती कहा है। इससे सिद्ध है कि द्रव्यस्वभाव में पर्यायों के होने का जो क्रम सुनिश्चित है, उसी क्रम से अपने-अपने काल में वे होती हैं और व्यय को प्राप्त होती हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार में लटकती हुई मणियों की माला द्वारा इसी तथ्य को स्पष्ट किया है।

यह द्रव्य और उनकी पर्यायों का स्वरूप है। इसमें स्वरूप से उत्पाद और व्ययरूप प्रत्येक पर्याय निश्चित क्रम में नियत होने से स्वकाल में ही उसका उत्पाद और स्वकाल में ही उसका व्यय होता है - ऐसा उनका स्वभाव है।

नियम यह है कि प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक पर्याय की अपेक्षा स्वभाव से षट्स्थानपतित हानि और षट्स्थानपतित वृद्धिरूप से प्रवर्तमान अनन्त अगुरुलघुगुण (अविभाग प्रतिच्छेद) होते हैं। जिनके कारण छहों द्रव्यों की पर्यायों का स्वभाव से उत्पाद और व्यय होता रहता है। जो शुद्ध द्रव्य हैं, उनकी पर्यायों का भी यह उत्पाद-व्यय होता है और जो द्रव्यों की अशुद्ध पर्यायें हैं, उनका भी यह उत्पाद-व्यय होता है। इतना अवश्य है कि विभाव पर्यायों की अपेक्षा अशुद्ध व्यवहार के योग्य द्रव्यों के प्रति समय उत्पाद-व्यय को सूचित करनेवाले अन्य-अन्य व्यवहार हेतु होते हैं।

उदाहरणार्थ विवक्षित समय में जीव का जो क्रोध परिणाम उत्पन्न हुआ है, उसमें क्रोध संज्ञावाले जो कर्म निषेक बाह्य निमित्त होते हैं, वे कर्म निषेक निर्जीण होकर दूसरे समय में होनेवाले क्रोध परिणाम के व्यवहार हेतु होनेवाले क्रोध संज्ञावाले कर्म निषेक दूसरे होते हैं। यह व्यवहार से निमित्त-नैमित्तिक परम्परा जिस प्रकार संसारी जीवों के प्रत्येक समय के जीवन प्रवाह में चरितार्थ है, उसी प्रकार पुद्गल स्कन्धों में भी घटित कर लेनी चाहिए, क्योंकि पुद्गल स्कन्धों में भी प्रति समय नये पुद्गल स्कन्धों का संयोजन और पुराने पुद्गल स्कन्धों का वियोजन होता रहता है। जो परस्पर द्रव्य और अर्थरूप पर्यायों के होने में व्यवहार हेतु होते रहते हैं, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव तो हैं ही।

तात्पर्य यह है कि उस स्कन्ध में अवस्थित एक समय पूर्व की स्पर्श पर्याय के व्यय होने के साथ ही पुराने परमाणुओं की निर्जरा को व्यवहार निमित्त कर उस स्कन्ध में अपने निश्चय उपादान के अनुसार अन्य स्पर्श पर्याय का उदय होता है और उस स्पर्श पर्याय को व्यवहार हेतु कर नये कार्मण परमाणुओं का बन्ध होता है। यहाँ जो मिथ्यात्व आदि को बन्ध का निश्चय हेतु कहा गया है, वह आत्मा की अपेक्षा

ही कहा गया है, कर्मबन्ध की अपेक्षा तो वे मिथ्यात्वादि व्यवहार हेतु ही होते हैं, क्योंकि उन मिथ्यात्वादि में पुद्गलादि द्रव्यों के गुणों का अत्यन्ताभाव है। एक द्रव्य का समानजातीय और असमान-जातीय स्वरूपास्तित्व दूसरे द्रव्य में न होने से भी अत्यन्ताभाव है। स्वरूपास्तित्व किसी भी द्रव्य का उसका उसी में होता है। देखो, निगोद शरीर में एक साथ अनन्त जीव निवास करते हैं। पर वे अपने-अपने स्वरूपास्तित्व के कारण फिर भी पृथक्-पृथक् होकर ही निवास करते हैं और अपने-अपने संक्लेशरूप या विशुद्धिरूप परिणामों के कारण अलग-अलग कर्मबन्ध करते हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा है और पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा नहीं है, यह इसी आधार पर घटित होता है।

इस प्रकार जीव और कार्मण वर्गणाओं सहित सभी द्रव्यों में परमार्थ से परस्पर कर्तृत्व कर्मत्व आदि का निषेध हो जाने पर चाहे विभाव पर्यायों (आगन्तुक भावों) से युक्त जीव-पुद्गलद्रव्य हों और चाहे स्वभाव पर्यायों से युक्त छहों द्रव्य हों, परमार्थ से कोई किसी का किसी रूप में भी सहायक नहीं है। अपने-अपने अर्थक्रियाकारीपने से युक्त होकर अवस्थित रहना प्रत्येक वस्तु का वस्तुत्व है। प्रत्येक द्रव्य को वस्तु कहने का कारण भी यही है। अन्य वस्तु के बल से वह अपने स्वरूप में अवस्थित रहे यह तो उसका स्वभाव नहीं ही हो सकता। अत: प्रति समय प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणाम स्वभाव के कारण ही कार्यरूप परिणमता रहता है। उनमें स्वभाव से ही ऐसी द्रव्य योग्यता कहो या शक्ति कहो, होती है, जिससे वे प्रत्येक समय में सुनिश्चित प्रागभाव की भूमिका में आने पर उसके योग्य कार्य को तदनन्तर समय में नियम से जन्म देते हैं। यही इनका अनित्य स्वभाव है। अपने इस स्वभाव के कारण ही उनका अर्थक्रियाकारीपना घटित होता है। उनके इस अर्थक्रियाकारीपने का वारण ही कौन कर सकता है। इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती की बात तो छोड़ो। जो तीर्थंकर जन्म से ही

अतुल्य बल के धारक होते हैं, वे भी प्रत्येक द्रव्य के इस प्रतिनियत स्वभाव में परिवर्तन नहीं कर सकते। हम विचारे अज्ञान और रागादि दोषों से दूषित अल्पज्ञानी या अज्ञानी जीवों और तदितर जड़ पदार्थों की क्या सामर्थ्य जो प्रत्येक द्रव्य के इस नियत अर्थक्रियाकारी अनित्य स्वभाव के कारण प्रत्येक समय में होनेवाली पर्याय को बदल सकें या उसे आगे-पीछे कर सकें। जैसा कोई विकल्प से सोचता है या नेत्रादि इन्द्रियों से देखकर मानता है, कोई भी वस्तु उसकी उस मान्यता के अनुसार परिणमती हो, ऐसी तो वस्तु व्यवस्था नहीं है। अपने विकल्प के अनुसार निर्णय लेना अपने स्थान पर है और प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक समय में नियत पर्याय का होना अपने स्थान पर है। देखो, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के किसी भी कार्य को करने में समर्थ नहीं है, इस विषय में आचार्य कुन्दकुन्ददेव क्या कहते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िये —

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियावदिरित्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥८५॥

—*समयसार*

यदि आत्मा इस पुद्गलकर्म को करता है और उसी को भोगता है तो वह आत्मा दो क्रियाओं से अभिन्न ठहरता है, जो जिनदेव के सम्यक् मत के विरुद्ध है ॥८५॥

वह जिनेन्द्रदेव के सम्यक् मत के विरुद्ध कैसे है, इसका समाधान करते हुए उसी परमागम में बतलाया है—

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दो बि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो होंति ॥८६॥

यत: प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में दो क्रियाएँ करता है, ऐसा माननेवालों के मत में आत्मा आत्मभाव और पुद्गलभाव दोनों को करनेवाला ठहरता है। इसी कारण वे द्विक्रियावादी होने से मिथ्यादृष्टि है ॥८६॥

५. शंका-समाधान

शंका—यह ठीक है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया नहीं कर सकता। परन्तु प्रत्येक पर्याय में जो अतिशय उत्पन्न होता है जो कि स्वभाव पर्यायों में नहीं देखा जाता, उसे बाह्य निमित्तजन्य मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। विभाव पर्यायों के प्रत्येक समय में बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक जो बाह्य निमित्तों का संयोजन किया जाता है या होता है और उससे विभाव पर्यायों में जो विशेषता उत्पन्न होती है, वह स्वभाव पर्यायों में भी दृष्टिगोचर होनी चाहिए थी। किन्तु एक विभाव पर्याय से दूसरी विभाव पर्याय में जो विशेषता प्रतीति में आती है, उसे तो बाह्य निमित्तों का कार्य मानना ही पड़ता है, जबकि ऐसी विलक्षण विशेषता स्वभाव पर्यायों में नहीं होती। इसलिए प्रत्येक द्रव्य दो क्रियाओं का एक समय में कर्ता न होने पर भी जीव और पुद्गल द्रव्यों की प्रत्येक विभाव पर्याय में विशेषता को उत्पन्न करनेवाले बाह्य निमित्तों को मानना ही पड़ता है। इन बाह्य निमित्तों की स्वीकृति की सार्थकता भी इसी में है?

समाधान—यहाँ देखना यह है कि प्रत्येक विभाव पर्याय में अपनी दूसरी विभाव पर्याय से भिन्न जो अतिशय या भेद दृष्टिगोचर होता है, वह उस पर्याय का स्वरूप है या उससे भिन्न है? भिन्न तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि भिन्न मानने पर वह स्वतन्त्र पर्याय हो जाएगी जिसका विवक्षित पर्याय की उत्पत्ति के समय उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। यदि वह विवक्षित पर्याय का ही स्वरूप है, तो बाह्य निमित्त ने नया क्या किया। विवक्षित स्वरूपवाली पर्याय को तो विवक्षित द्रव्य ने स्वयं ही उत्पन्न किया है। दूसरे बाह्य निमित्त भिन्न सत्ताक द्रव्य हैं और यह सम्भव नहीं कि अत्यन्त भिन्न स्वतन्त्र सत्तावाले द्रव्यों का अतिशय किसी दूसरे द्रव्य में रहे या वह उसका कर्ता बने। वे तो मात्र सादृश्य सामान्य को देखकर अविनाभाववश

काल प्रत्यासत्ति होने से निमित्त कहे गये हैं, जो मात्र द्रव्यनिक्षेप को विषय करनेवाले द्रव्यार्थिकनय से ही कहा गया है। उनमें अपने से भिन्न दूसरे द्रव्यों का अन्वय तो पाया ही नहीं जाता और उसके बिना उसमें दूसरे द्रव्य की पर्यायरूप विशेषता को उत्पन्न करना सम्भव ही नहीं है। वह विशेषता पर्याय से भिन्न नहीं, इसका निर्णय क्रोध और मान इन दो पर्यायों को सामने रखकर किया जा सकता है?

शंका—क्रोधपना और मानपना पर्यायों में नहीं होता। इससे हम जानते हैं कि क्रोध और मान बाह्य निमित्तों की सहायता से ही होते हैं?

समाधान—यत: प्रत्येक द्रव्य अपने अन्वयरूप स्वभाव के साथ परिणाम स्वभाववाला भी है, और यत: 'व्यतिरेकिणो पर्याया:' 'प्रत्येक पर्याय पिछली पर्याय से भिन्न लक्षणवाली होती है' इस अखण्ड शाश्वत नियम के अनुसार स्वभाव और विभावरूप सभी पर्यायें परस्पर व्यतिरेक स्वरूप ही होती हैं। इसी से क्रोध पर्याय से मानपर्याय भिन्नरूप से प्रतीति में आती है। अन्य निरपेक्ष होकर उनका कर्ता स्वयं आत्मा ही है, इसमें सन्देह नहीं। प्रवचनसार में कहा भी है—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

यत: परिणाम के अस्तित्वरूप स्वभाववाला होने से यह जीव जिस समय शुभरूप से परिणमता है, उस समय शुभ होता है; जिस समय अशुभरूप से परिणमता है, उस समय अशुभ होता है और जिस समय शुद्धरूप से परिणमता है, उस समय शुद्ध होता है ॥९॥

यहाँ 'यदा, तदा' पद देकर आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने परिणामरूप नियम को कालनियम के साथ बाँध दिया है। वे कहते हैं कि वह काल सुनिश्चित है, जिस समय वह आत्मा अशुभभावरूप से परिणमता है, वह काल भी सुनिश्चित है, जिस समय यह आत्मा शुभभावरूप से

परिणमता है और वह काल भी सुनिश्चित है, जिस समय यह आत्मा शुद्धभावरूप से परिणमता है। इस परिणमन में प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। इस परिणमन में बाह्य निमित्त विचारा क्या कर सकता है। जिनागम में इस दृष्टि से उसे स्वीकार भी नहीं किया गया है।

शंका—तो फिर बाह्य निमित्त को स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है ?

समाधान—व्यवहार दो प्रकार का है—सद्भूतव्यवहार और असद्भूतव्यवहार। उनमें से ज्ञान-दर्शन आदि सद्भूत होकर भी उनका अखण्ड द्रव्य से कथंचित् भेद है, ऐसा होते हुए भी उस अखण्ड द्रव्य से तन्मय होने के कारण वे उस अखण्ड द्रव्य को सूचित करते हैं और बाह्य निमित्त अपने कार्य परिणत विवक्षित द्रव्य में सद्भूत न होकर भी प्रत्येक समय में उस द्रव्य ने क्या कार्य किया, इसको सूचित करते रहते हैं। इनको स्वीकार करने का यही मुख्य प्रयोजन है।

शंका—जीव और पुद्गलद्रव्यों में विभाव पर्याय और स्वभाव पर्याय ऐसे दो भेद होते हैं। यतः विभाव पर्यायों में जो अलग-अलग बाह्य निमित्त स्वीकार किये जाते हैं, वे स्वभाव पर्यायों में नहीं स्वीकार किये गये, इसलिए पर्यायों का विभावरूप होना इनका कार्य मानना चाहिए ?

समाधान—देखो, जितने भी बाह्य पदार्थ हैं, वे सब आत्मा के ज्ञेय हैं। चूँकि अपने अज्ञान और राग-द्वेष के कारण वह उनमें जब तक अहंकार और ममकार करता है, तब तक जिस समय आत्मा का जिन पदार्थों की ओर झुकाव होता है, उस समय वे उस पर्याय के होने में यथासम्भव कारक निमित्त व्यवहार को प्राप्त हो जाते हैं। कर्म और नोकर्म दोनों के लिए भी यह सिद्धान्त लागू होता है। यतः स्वभाव -परिणत आत्मा अज्ञान और यथायोग्य राग-द्वेष से रहित होता है, इसलिए ऐसे आत्मा का इनकी ओर अज्ञान और राग-द्वेषरूप झुकाव

भी दूर हो जाता है, अत: उनकी स्वभाव पर्याय में ये बाह्य निमित्त भी नहीं होते हैं। कर्म तो आत्मा के एकक्षेत्रावगाह से क्रमश: स्वयं पल्ला छुड़ा लेते हैं और नोकर्म ज्ञेय हो जाते हैं। कर्म भी स्वयं और कार्मणवर्गणारूप रहकर ज्ञेय हो जाते हैं। यह कहें तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि इस अपेक्षा उनकी कर्म और नोकर्म संज्ञा भी नहीं रहती। उनकी ज्ञेय संज्ञा हो जाती है। मात्र वे ज्ञान के ज्ञेय हो जाते हैं। जीव के विभाव-स्वभाव पर्यायरूप क्रम से होने का और इन कर्म और नोकर्म का कर्म और नोकर्मरूप कहलाने और ज्ञेयरूप होने के क्रम को समझने के लिए द्रव्यानुयोग के साथ करणानुयोग और चरणानुयोग का सूक्ष्म अध्ययन भी आवश्यक है।

अब रहा पुद्‌गलद्रव्य, सो जीवद्रव्य के स्वभाव से उसका स्वभाव ही दूसरे प्रकार है। परमाणु शुद्ध होता है, फिर भी वह बँधता है। उसका विभावरूप परिणमन उसके स्पर्श गुण के कारण ही होता है, यह बात प्रत्येक तत्त्वजिज्ञासु जानता है। किन्तु जीव ऐसे स्वभाववाला नहीं होता। जीव यदि बँधा है और विभावरूप परिणम रहा है तो अपने अज्ञानादि दोषों के कारण ही वैसा हो रहा है। यही कारण है कि अध्यात्म में मुख्यतया अज्ञानादि दोषों को दूर करने के उपायभूत अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप आत्मा के अनुरूप अनुगमन करने का उपदेश दिया गया है। इसके लिए देखो समयसार, गाथा ७२-७४ आत्मख्याति टीका।

शंका—नोकर्म तो प्रकट हैं, उनसे निवृत्त होना सहज है। कर्म सूक्ष्म दृष्टिगोचर नहीं होते, उनसे निवृत्त होना कैसे सम्भव है?

समाधान—चाहे दृष्टिगोचर नोकर्म हों और चाहे दृष्टिगोचर न होनेवाले कर्म हों या नोकर्म भी हों, उनसे निवृत्त होने का एक ही उपाय है और वह इष्ट-अनिष्ट मानकर नोकर्म की ओर नहीं रुझान करना तथा कर्म को कारक निमित्त कर हुई आत्मा की विविध अवस्थाओं

में स्वत्व बुद्धि नहीं करना और यह तभी सम्भव है, जब अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप आत्मा को अपने उपयोग का विषय बनाकर उसमें ही निरन्तर रममाण होने का उपाय करने रहना।

६. कर्ता-कर्म विषयक सारभूत सिद्धान्त

यही कारण है कि समयसार में कर्ता-कर्म के विषय में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है —

कम्मस्स या परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एय मादा जो जाणदि सो हवदि णाणी॥७५॥

जो आत्मा, कर्म के परिणाम को और उसी प्रकार नोकर्म के परिणाम को नहीं करता है, मात्र उनको जानता है, वह ज्ञानी है। यहाँ कर्म के परिणाम पद से राग-द्वेष आदि का भी ग्रहण हो जाता है॥७५॥

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि नैयायिक सर्वथा भेदवादी दर्शन है। उसमें एक तो समवायी कारण के समवाय सम्बन्ध से ही कार्य उसका कहा जाता है; है वह समवायी कारण से भिन्न ही। दूसरे समवायी कारण को किसी भी प्रकार परिणाम स्वभाववाला नहीं माना गया है। किन्तु यह स्थिति जैनदर्शन की नहीं है। उसमें कर्ता, कर्म (कार्य) और क्रिया तीनों को एक वस्तुपने की दृष्टि से अभिन्न माना गया है। इसलिए इस दर्शन में कार्यरूप परिणत हुआ द्रव्य ही उसका कर्ता ठहरता है। इस कारण इस दर्शन में कर्ता का लक्षण नैयायिक दर्शन के अनुसार न करके 'जो परिणमता है, वह कर्ता है, यह किया गया है।' समयसार की आत्मख्याति टीका में इसका विस्तार से विचार करते हुए लिखा है—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥५१॥
एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः॥५२॥

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा॥५३॥

जो परिणमता है, वह कर्ता है; उसका जो परिणाम होता है, वह कर्म है; जो उसकी परिणति है, वह क्रिया है। ये तीनों वस्तुपने से भिन्न नहीं हैं॥५१॥

प्रत्येक वस्तु अकेली सदा (प्रति समय) स्वयं परिणमती है, एक का ही सदा (प्रति समय) स्वतन्त्ररूप से परिणाम होता है और एक की ही स्वतन्त्ररूप से प्रति समय परिणति होती है। क्योंकि उक्त प्रकार से वे अनेक (भेद) होने पर भी वस्तु एक ही है॥५२॥

दो द्रव्य एक होकर नहीं परिणमते, सदा काल प्रति समय दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की प्रति समय एक परिणति नहीं होती, क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं, वे सदा अनेक ही बने रहते हैं, वे परस्पर समर्पण कर एक नहीं हो जाते॥५३॥

यहाँ कर्ता, कर्म और क्रिया—इन तीनों रूपों में प्रत्येक द्रव्य अन्य द्रव्यों से अत्यन्त भिन्न है। उनमें त्रैकालिक अत्यन्ताभाव है, यह बतलाया गया है। इसलिए प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में अपने कार्य का स्वयं ही कर्ता है, क्योंकि प्रत्येक पर्याय स्वरूप से व्याप्य होती है और प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी पर्याय का स्वरूप से व्यापक होता है। ऐसा व्याप-व्यापकभाव दो द्रव्यों के मध्य द्रव्यपने की अपेक्षा, गुणपने की अपेक्षा और पर्यायपने की अपेक्षा किसी भी प्रकार से स्वरूप से नहीं पाया जाता है। अतः एक द्रव्य का प्रति समय एक ही परिणाम होता है, वह दो का मिलकर नहीं होता और एक द्रव्य किसी भी समय अपना भी परिणाम करे और दूसरे का भी परिणाम करे, ऐसी भी नहीं हो सकता, यह सिद्धान्त निश्चित होता है।

७. शंका-समाधान

शंका—समयसार कलश में कहा है—

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृ-कर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति॥९४॥

विकल्प करनेवाला सबसे बड़ा कर्ता है और विकल्प ही उसका केवल कर्म है। जो विकल्प सहित होकर वर्तता रहता है, उसका कर्तृ-कर्मभाव कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होता॥९४॥

शंका यह है कि अभी इसके पहले परिणमनेवाले को कर्ता कहा गया है और परिणमने से जो परिणामरूप कार्य होता है, उसे कर्म कहा गया है और यहाँ विकल्प करनेवाले को कर्ता कहा गया है और उसके जो विकल्प होता है, उसे उसका कर्म कहा गया है। इस प्रकार इन दोनों कथनों की अपेक्षा कर्ता-कर्म के लक्षण में जो परस्पर भेद दिखलायी देता है, सो क्यों?

समाधान—इन दोनों कथनों में पहला वस्तु स्वभाव की अपेक्षा कथन है। प्रकृत में उसका वारण नहीं किया गया है, क्योंकि वह सभी द्रव्यों में सर्व काल समानरूप से पाया जाता है। यहाँ जो कथन किया गया है, वह अज्ञानी जीव की सदाकाल अपने अज्ञानभाव के कारण कैसी भूमिका बनी रहती है, यह बतलाना इसका प्रयोजन है। वह अज्ञान और राग-द्वेषमूलक प्रवृत्ति की अपेक्षा पर वस्तुओं को सदाकाल स्वपनेरूप और ममपनेरूप अपना ही मानता रहता है और उसका जो ज्ञान-दर्शन स्वभाव है, उसको भूला रहता है। यहाँ यह कहा गया है कि जो अज्ञान मूलक परिणति की अपेक्षा परवस्तु को आत्मपने से मानता रहेगा, उसका वह अज्ञान त्रिकाल में दूर नहीं होगा। वह सदा काल उक्त प्रकार के विकल्प का ही अपने परिणाम स्वभाव के कारण कर्ता बना रहेगा। अर्थात् ऐसे अज्ञानी जीव की उक्त विकल्परूप कर्तृ-कर्म प्रवृत्ति का पर्यवसान सदाकाल पर वस्तुओं में एकत्वपने और ममपने में ही होता रहेगा। वह मानता रहेगा—

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल।
ताको न जान विपरीत मान, कर करहि देह में निज पिछान॥३॥

मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे घन ग्रह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, वेरूप सुभग मूरख प्रवीन॥४॥

किन्तु जो ज्ञानी है, ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप अपने आत्मा में ही स्थित है, उसके ऐसी कर्ता-कर्म प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है।

शंका—उपादान-उपादेयभाव और कर्तृ-कर्मभाव ये दोनों एक हैं या भिन्न-भिन्न?

समाधान—इन दोनों में बड़ा अन्तर है, क्योंकि आगम में उपादान-उपादेयभाव में एक समय का भेद स्वीकार किया गया है और कर्तृ-कर्मभाव में समय भेद नहीं स्वीकार किया गया है।

शंका—इन दोनों में एक समय का भेद होने पर भी यदि दोनों को एक द्रव्यपने की अपेक्षा एक माना जाए तो क्या आपत्ति है?

समाधान—अव्यवहित पूर्व पर्याय के उत्पाद के समय उसकी उपादान संज्ञा है और उसी पर्याय के व्यय के साथ अथवा नयी पर्याय की उत्पत्ति के समय उसकी कर्ता संज्ञा है, इसलिए इनमें एक द्रव्यपना होने पर भी वे दोनों भिन्न-भिन्न हैं। उपादान-उपादेयभाव उपचरित सद्भूतव्यवहारनय से स्वीकार किया गया है और कर्तृ-कर्मभाव अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय से स्वीकार किया गया है। इनके पृथक्-पृथक् कहने का प्रयोजन भी पृथक्-पृथक् है।

शंका—समयसार परमागम में कर्तृ-कर्मभाव की अपेक्षा ही कथन किया गया है। उपादान-उपादेयभाव से कथन करने में क्या आपत्ति रही?

समाधान—समयसार परमागम में निश्चयनय की मुख्यता से कथन करना मुख्य प्रयोजन रहा है, क्योंकि इस अपेक्षा कर्ता हो, कर्म हो या क्रिया कुछ भी हो, वस्तुपने की अपेक्षा वे एक हैं। कर्ता भी वस्तु है, कर्म भी वस्तु है और क्रिया भी वस्तु है। प्रत्येक समय वस्तु

अखण्ड और स्वयं में परिपूर्ण है। मात्र समझाने के अभिप्रायवश उसका कथन भेद से किया जाता है। किन्तु उपादान-उपादेयभाव में यह दृष्टि मुख्य नहीं है, क्योंकि उसमें समय भेद से वर्तनेवाले द्रव्य समय भेद की अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं। अव्यवहित उत्तर समय में कौन-सी पर्याय होगी यह नियम करना ही उसका प्रयोजन है।

शंका—जो द्रव्य पिछले समय में है, वही वर्तमान समय में है—ऐसे प्रत्यभिज्ञान के होने से उन्हें एक मानने में क्या आपत्ति है?

समाधान—द्रव्यदृष्टि से ही ऐसा मानना सम्भव है, पर्यायदृष्टि से नहीं, क्योंकि प्रति समय की पर्यायों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न समयवर्ती द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। उन्हें एक स्वीकार करने के लिए एक समयवर्ती द्रव्य का दूसरे समयवर्ती द्रव्य पर आरोप करके ही ऐसा कहा जा सकता है। इसलिए यह सापेक्ष कथन हो जाता है। जबकि कर्तृ-कर्मभाव में केवल भेद से कथन करने की मुख्यता है। यही कारण है कि इसमें उपादान-उपादेयभाव की अपेक्षा कथन न करके कर्तृ-कर्मभाव की अपेक्षा कथन किया गया है।

शंका—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि में उपादान को निश्चय विशेषण से विशिष्ट किया गया है। और प्रकृत में आप उपादान-उपादेयभाव को उपचरित सद्भूतव्यवहारनय का कथन बतला रहे हैं। पिछले अध्याय में आपने भी उसी सरणि को अपनाया है। सो क्यों?

समाधान—वहाँ 'आत्माश्रितो निश्चयनय:' इस दृष्टि को ध्यान में रखकर उपादान के पहले निश्चय विशेषण दिया गया है, क्योंकि वहाँ बाह्य निमित्तों से एक द्रव्याश्रित उपादान निमित्त में भेद दिखलाना मुख्य है। इसीलिए वहाँ एक द्रव्याश्रित निमित्त को निश्चय उपादान कहा गया है।

शंका—यही दृष्टि प्रकृत में अपनायी जाए तो क्या आपत्ति है?

समाधान—इस दृष्टि से निश्चय उपादान, निश्चय कार्य तथा निश्चय कर्ता कहा ही जाता है। किन्तु भेद की अपेक्षा कथन करने पर वे व्यवहारनय के विषय हो जाते हैं। उसमें भी समय भेद होने के कारण पर्यायभेद होने से उपादान-उपादेय भाव पर उपचार लागू हो जाता है। जबकि कर्तृ-कर्मभाव के ऊपर ऐसा उपचार लागू नहीं होता, यही इन दोनों में अन्तर है। इसीलिए समयसार परमागम में उपादान-उपादेयभाव की अपेक्षा कथन न करके कर्तृ-कर्मभाव की अपेक्षा कथन किया गया है।

शंका—कितने ही आचार्यों ने कर्तृभाव के कथन के समय उसके अर्थ में उपादान शब्द का प्रयोग किया है सो क्यों?

समाधान—उन्होंने जैसे घट, कलश ये दोनों पर्यायवाची नाम हैं, ऐसा बुद्धि में स्वीकार करके ही ऐसा किया होगा। अथवा उन्होंने कर्ता और उपादान के लक्षण भेद को गौण कर ऐसा किया होगा। यह भी सम्भव है कि समय भेद से द्रव्य भेद को गौण कर दोनों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया होगा। उन्होंने ऐसा किस प्रयोजन से किया, यह हम कह नहीं सकते। वस्तुत: देखा जाए तो इन दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न है, इनमें कालभेद भी है, क्योंकि उपादान में विवक्षित कार्य से अव्यहित पूर्व समय का द्रव्य गृहीत है और कर्ता में कार्य काल का ही द्रव्य गृहीत है। इसलिए इनका कथन भिन्न-भिन्नरूप से ही किया है। इनमें संज्ञा भेद और प्रयोजन भेद तो है ही।

शंका—यह तो बड़ी विचित्र बात है कि दो द्रव्याश्रित निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को अज्ञानी सविकल्प जीव की अपेक्षा आगम में कर्तृ-कर्मभावरूप से स्वीकार किया गया है और एक द्रव्याश्रित उपादान-उपादेय सम्बन्ध को आगम में कहीं भी स्पष्टत: कर्तृ-कर्म भावरूप में स्वीकार नहीं किया गया। इसका कारण क्या है?

समाधान—आगम में जहाँ भी दो द्रव्याश्रित निमित्त-नैमित्तिक

सम्बन्ध को कर्तृ-कर्मरूप से स्वीकार किया गया है, वहाँ अनादि काल से चले आ रहे लौकिकजनों के इस प्रकार के व्यवहार को ध्यान में रखकर ही स्वीकार किया गया है। श्री समयसार की आत्मख्याति टीका में इसको स्वीकार करते हुए क्या कहा गया है, देखिए —

कुलालः करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावत् व्यवहारः।

कुलाल कलश को करता है और उसे अनुभवता है, यह लौकिकजनों का अनादिरूढ़ चला आ रहा लौकिक व्यवहार है।

जैनागम में इस प्रकार के व्यवहार को क्यों स्वीकार किया गया है, इसका कारण यह है कि बाह्य व्याप्ति देखकर काल प्रत्यासत्तिवश विवक्षित कार्य से भिन्न सविकल्प अज्ञानी प्रयत्नशील पुरुषादि में उस कार्य की अपेक्षा लोक में निमित्त कर्ता व्यवहार को आगम में भी स्वीकार कर लिया गया है। वस्तुस्वरूप की अपेक्षा वह जैनदर्शन नहीं है।

समयसार गाथा ८४, ९७, ९८, १०० और १०७ आदि में इस तथ्य को स्वीकार करके भी परमार्थ से उसका निषेध ही किया गया है। साथ ही यह भी बतलाया गया है कि परमार्थ से सभी द्रव्य अन्य निरपेक्ष होकर स्वतन्त्ररूप से अपना-अपना कार्य करने में समर्थ हैं। इस विषय को आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने १०० वीं गाथा की टीका में विशद्रूप से स्पष्ट किया है। उसका आशय यह है—

१. ज्ञायकस्वरूप आत्मा तो व्याप्य-व्यापकपने से परद्रव्यों की क्रिया का कर्ता त्रिकाल में नहीं है।

२. निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी वह परद्रव्यों की क्रिया का कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकार तो उसके नित्य होने से सदा ही उसे निमित्तरूप से कर्तृत्व का प्रसंग प्राप्त होता है।

३. तब फिर क्या स्थिति है, ऐसी शंका होने पर उसका समाधान करते हुए वे कहते हैं—अज्ञानी के योग और विकल्प को परद्रव्यों की क्रिया का निमित्तपने से कर्ता स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि अज्ञान की भूमिका में मैंने यह किया, करता हूँ या करूँगा—इस प्रकार के अहंभाव से ग्रसित मन-वचन-कायपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाला अज्ञानी जीव, परद्रव्यों के कार्यों का निमित्तपने से कर्ता भले ही मान लिया जाए परन्तु ज्ञानी जीव तो राग में एकत्वबुद्धि छूट जाने के कारण मात्र निश्चय सम्यग्दर्शनादिरूप ज्ञानभाव का ही कर्ता है, अज्ञानरूप रागादि विकल्पों और योग का कर्ता त्रिकाल में नहीं है।

शंका—सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५, सूत्र १९ में भाववचनरूप सामार्थ्य से युक्त क्रियावान् आत्मा को द्रव्यवचनों की उत्पत्ति में प्रेरक कारण कहा है। इसी प्रकार सूत्र १७ में धर्म और अधर्मद्रव्य को अप्रेरक कहकर संसारी जीवों और पुद्गलों को प्रेरक स्वीकार किया गया है। इससे मालूम पड़ता है कि उदासीन बाह्य निमित्तों से भिन्न प्रेरक बाह्य निमित्त होते हैं। साथ ही इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो बाह्य द्रव्य प्रेरक निमित्तकारण होता है, उसी में निमित्त कर्ता व्यवहार होता है। इसलिए उक्त जीव और पुद्गल दोनों को निमित्त कर्ता मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए?

समाधान—पूर्वोक्त दोनों उल्लेखों में प्रथम उल्लेख तो उक्त प्रकार के जीवों को ध्यान में रखकर ही क्रिया गया है। और दूसरे उल्लेख में धर्मादिक द्रव्यों को भले ही अप्रेरक कहा हो, पर इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि अन्य द्रव्यों के कार्यों में पुद्गल भी निमित्तकर्ता होता है। प्रत्युत प्रथम उल्लेख से तो यही सिद्ध होता है कि अज्ञानी के विकल्प और योग में ही घटादि कार्यों में लौकिक जनों की अपेक्षा निमित्त कर्ता का व्यवहार स्वीकार किया जा सकता है। समयसर के कलश काव्य में कहा भी है —

माकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः।
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः॥
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयम्।
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं स्वयंम्॥२०५॥

आर्हत जन भी सांख्यों के समान आत्मा को अकर्ता मत मानो, भेदज्ञान के पूर्व उसे विकल्पने की अपेक्षा नियम से सदाकाल कर्ता मानो। किन्तु जो अपने भेदज्ञानरूपी मन्दिर में स्थित है, वहाँ से लेकर उसे प्रत्यक्ष स्वयं पर के कर्तृत्व के विकल्प से मुक्त अचल एक ज्ञाता ही देखो॥२०५॥

इससे सिद्ध होता है कि उसी आत्मा में लोकरूढिवश निमित्तकर्तापने का व्यवहार करना, जिनागम को इष्ट है जो अज्ञानी होकर योग और विकल्पवान् है।

शंका—समयसार खासकर अध्यात्म ग्रन्थ है, इसलिए उसमें आत्मा को लक्ष्य कर ही विचार किया गया है। परन्तु ऐसे भी आगम -प्रमाण मिलते हैं जिनके आधार से पुद्‌गलों को निमित्तकर्ता स्वीकार करने में आगम से बाधा नहीं आती। उदाहरणार्थ पंचास्तिकाय, गाथा ८८ में गतिशील वायु को ध्वजा के फड़कने में निमित्तकर्ता स्वीकार किया गया है। तथा पंचास्तिकाय की गाथा ५५ में नारक आदि कर्म प्रकृतियाँ जीवों की पिछली पर्याय का व्यय करती है और अगली पर्याय का उत्पाद करती हैं, यह कहा गया है। इसलिए पुद्‌गलों को निमित्तकर्ता मानने में आगम से आपत्ति नहीं होनी चाहिए?

समाधान—पंचास्तिकाय गाथा ८८ और ५५ का उक्त उल्लेख उदाहरणमात्र है। इससे सिद्धान्त को फलित करना उचित नहीं है। ये ऐसे ही उदाहरण है, जैसे यह कहना कि अग्नि पढ़ाती है। हैं ये दोनों विस्रसा निमित्त ही। आगम में कहीं-कहीं ऐसा भी कहा गया है कि कर्म इस जीव को एक गति से दूसरी गति में ले जाता है और ले आता

है। किन्तु यहाँ भी यही समझना चाहिए कि कर्म और जीव परस्पर विस्रसा उपसर्पण करनेरूप पर्याय स्वभाववाले होते हैं, यह देखकर तथा जीव को गौण और कर्म को मुख्यकर यह कहा गया है। वस्तुतः प्रायोगिक कार्यों में अज्ञानी के योग और विकल्प में ही निमित्त कर्ता व्यवहार आगम स्वीकार करता है। इसको स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५, सूत्र २४ में उक्त प्रकार के दोनों कार्यों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

शब्दो द्विविधः—भाषालक्षणो विपरीतश्चेति। भाषालक्षणो द्विविधः—साक्षरोऽनक्षरश्चेति। अक्षरीकृतः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृत-विपरीतभेदादार्यम्लेच्छव्यवहारहेतुः। अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादीनातिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादन हेतुः। स एव सर्वः प्रायोगिकः। अभाषात्मको द्विविधः प्रायोगिको वैस्रसिकश्चेति। वैस्रसिको बलाहकादिप्रभवः। प्रायोगिकश्चतुर्धा—तत-वितत-घन-सौबिरभेदान्।

शब्द दो प्रकार का है—भाषालक्षण और विपरीत। भाषालक्षण शब्द दो प्रकार का है—साक्षर और अनक्षर। शास्त्र का अभिव्यंजक अक्षरीकृत तथा आर्यों और म्लेच्छों के व्यवहार का हेतुभूत शब्द संस्कृत और इतर के भेद से दो प्रकार का है। द्वीन्द्रियादिक के अतिशय ज्ञानस्वरूप के प्रतिपादन का हेतुभूत अनरात्मक शब्द है। यही सब प्रायोगिक शब्द है। अभाषात्मक शब्द दो प्रकार का है—प्रायोगिक और वैस्रसिक। मेध आदि से उत्पन्न होनेवाला वैस्रसिक शब्द है तथा प्रायोगिक शब्द चार प्रकार का है—तत, वितत, घन और सौषिररूप शब्द।

तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय ५, सूत्र २४ में प्रायोगिक और वैस्रसिक के लक्षण भी दृष्टिगोचर होते हैं। वहाँ पुरुष के मन, वचन और कायरूप योग को प्रयोग कहा गया है और इसे निमित्त कर जो कार्य होते हैं,

उन्हें प्रायोगिक कहा गया है तथा इससे अतिरिक्त अन्य सभी कार्यों की अपेक्षा बाह्य निमित्तों को विस्रसा कहा गया है और कार्यों को वैस्रसिक कहा गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक समय में कर्मों का उपशम आदि विस्रसा होगा। अतएव जितने भी औपशमिक आदिरूप सम्यग्दर्शनादि भाव होंगे, वे वैस्रसिक ही होंगे।

सबसे बड़ी बात जो यहाँ ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि जैसे आगम में घट, पट, रथ, कर्म और नोकर्म को आत्मा करता है, इस कथन को अनादिरूढ़ लौकिक व्यवहार स्वीकार किया गया है, वैसे ही कर्म मनुष्यादि पर्यायों को कर्ता है, इसे कहीं भी अनादिरूढ़ लौकिक व्यवहार नहीं स्वीकार किया गया है। सो क्यों? इसका कारण यह है कि नैयायिक दर्शन आदि ईश्वर को तो जगत का कर्ता मानते हैं, पर कर्म को जगत की बात तो छोड़िये, वे मात्र अदृष्ट को निमित्तरूप में ही स्वीकारते हैं, निमित्त कर्ता के रूप में नहीं। लौकिकजनों के कथन का यह दृष्टिभेद आचार्यों के सामने रहा है। अतएव अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर उन्होंने भी इस कथन को जैनदर्शन का मन्तव्य न बतलाकर लौकिकजनों का मन्तव्य बतलाते हुए उपचार के रूप में उसे स्वीकार कर लिया। तथ्यरूप में तो आचार्य पूज्यपाद के कथनानुसार सभी बाह्य निमित्त धर्मादि द्रव्यों के समान विस्रसा उपलब्ध होते हैं। आचार्यदेव कुन्दकुन्द ने भी समयसार गाथा ३२१-३२३ में इसी तथ्य का उद्घाटन करते हुए यही कहा है कि जैसे लौकिकजनों का यह कहना देव, नारकी आदि को विष्णु करता है, उसी प्रकार यदि श्रमणों का आत्मा भी पर कार्यों का करनेवाला माना जाए तो दोनों में कोई भेद नहीं रहता। श्रमण भी लौकिक हो जाते हैं। स्पष्ट है कि पर निमित्त में कर्तृत्व की मान्यता जैनागम की नहीं है और न पर कर्तृत्व की दृष्टि से बाह्य पदार्थों में निमित्तता ही स्वीकार की गयी हैं।

पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्गप्रकाशक में इसी तथ्य को स्वीकार कर उसका प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं —

बहुरि इस संसारी कै एक यह उपाय है जो आपकै जैसा श्रद्धान है तैसें पदार्थनिकौं परिणमाया चाहै, सो वे परिणमै तौ याका सांचा श्रद्धान होइ जाय। परन्तु अनादिनिधन वस्तु जुदै जुदै अपनी मर्यादा लिए परिणमै हैं। कोऊ कोऊ के आधीन नहीं। कोऊ किसी का परिणमाया परिणमै नाहीं। तिनिकौं परिणमाया चाहै सो उपाय नाहीं। यह तौ (मैं इसका परिणमन करने में समर्थ हूँ, ऐसी अहंकाररूप कर्ताबुद्धि) मिथ्यादर्शन ही है। तो सांचा उपाय कहा है। जैसैं पदार्थनिका स्वरूप है, तैसैं श्रद्धान होई तौ सर्व दुःख दूर होने का उपाय है। तेसैं मिथ्यादृष्टि होइ पदार्थनिकौं अन्यथा मानै, अन्यथा परिणमाया चाहै तो आप ही दुखी हो है। बहुरि उनकौ यथार्थ मानना अर पर परिणमाए अन्यथा परिणमैंगे नाही, ऐसा मानना सो ही तिस दुःख के दूर होने का उपाय है! भ्रमजनित दुःख का उपाय भ्रम दूर करना ही है। भ्रम दूरि होने तैं सम्यक् होय, सो ही सत्य उपाय जानना। पृष्ठ १६१।

और भी —

परद्रव्य जोरावरी तो क्यौंई विगारता नाहीं। अपने भाव विगरै तब वह भी बाह्य निमित्त है। बहुरि वाका निमित्त विना भी भाव विगरै है, तातै नियमरूप निमित्त भी नाहीं। वही

इसी तथ्य को पण्डितप्रवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार सर्वविशुद्धि ज्ञानाधिकार में उद्घाटित करते हुए लिखा है —

कोऊ शिष्य कहै स्वामी राग-द्वेष परिणाम।
ताकौ मूल प्रेरक कहहु तुम, कौन है॥
पुद्‌गल करम जोग किधौ इन्द्रनिकौ भोग।
किधौ धन किधौ परिजन किधौ भौन है॥

गुरु कहैं छहों दर्व अपने अपने रूप।
सबनिकौ सदा असहायी परिनौन है॥
कौऊ दरव काहूकौ न प्रेरक कदाचि तातैं।
राग दोष मोह मृषा मदिरा, अचौन है॥६२॥

पुनः

कोऊ मूरख यों कहै राग-द्वेष परिणाम।
पुद्गल की जोरावरी वरतै आतमराम॥६२॥

ज्यों ज्यों पुद्गल बल करै धरि-धरि कर्मज भेष।
राग-दोषकौ परिनमन त्यों त्यों होइ विशेष॥६३॥

इति विधि जो विपरीत पख गहै सद्दहे कोई।
सो नर राग विरोधसौं कबहुँ भिन्न न होइ॥६४॥

सुगुरु कहैं जगमे रहै पुद्गल संग सदीव।
सहज शुद्ध परिणमनिकौ औसर लहै न जीव॥६५॥

तातैं चिद्भावनिविषै समरथ चेतन रउ।
राग विरोध मिथ्यात में समकित में सिव भाउ॥६६॥

इस प्रकार विचार कर हम देखते हैं कि लोक में जड़-चेतन के जितने भी कार्य होते हैं, वे स्वाधीन ही होते हैं, पराधीन कोई भी कार्य नहीं होता। अपने अज्ञान के कारण ही संसारी जीव स्वयं पराधीन बना हुआ है, इसलिए अपने अज्ञानवश उसे ऐसा लगता है कि शरीर, भोजन, पानी, हवा आदि के बिना मैं जी नहीं सकता। पर्याय का स्वभाव ही विनश्वर है, हवा, पानी और भोजन के मिलने पर भी वह अपने-अपने काल में विनष्ट होगी ही। इसलिए पराश्रितपने का विकल्प छोड़कर स्वभाव सन्मुख होने का उपाय करना, यही एकमात्र प्रत्येक जीव का कर्तव्य है। इसी विकल्प को छुड़ाने के अभिप्राय से ही बारह भावनाओं में प्रथम स्थान अनित्य भावना को और दूसरा स्थान अशरण भावना को दिया गया है।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लौकिक दृष्टि से उसी जीव में निमित्तकर्ता व्यवहार आगम स्वीकार करता है, जो अज्ञानी होने के साथ विकल्पपूर्वक क्रिया परिणत हो। जो अपनी क्रिया द्वारा पुद्गलद्रव्य निमित्त होता है, उसमें आचार्यों को अधिक से अधिक करण निमित्त व्यवहार ही मान्य है। इसके लिए समयसार, गाथा ६५-६६ और २७८ तथा तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय १, सूत्र १ देखना चाहिए। यदि देखा जाए तो समयसार, गाथा २७८ में जो स्फटिकमणि को परिणामनेवाला कहा गया है, सो वह स्फटिक अपनी क्रिया द्वारा वहाँ निमित्त नहीं हो रहा है, इसलिए वास्तव में उसमें करण व्यवहार भी नहीं किया जा सकता। वैसे आचार्यों ने सिद्धान्त को समझाने के लिए ऐच्छिकरूप से शब्द प्रयोग किये हैं। चाहे कर्ता निमित्त हो और चाहे करणनिमित्त हो, हैं सबके सब निमित्त मात्र ही, यह भी उनके उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है। इसलिए मात्र आगम में सिद्धान्त को समझाने के लिए किये गये शब्द प्रयोगों के आधार पर सिद्धान्त को फलित करने की प्रवृत्ति भ्रम को जन्म देनेवाली होती है, जो इष्ट नहीं है।

अन्तिम निष्कर्ष यह है कि जब आत्मा स्वभाव में उपयुक्त रहता है, तब वे रागादि बुद्धिपूर्वक नहीं होते, अतः उनके होने में देव की अपेक्षा कथन किया जाता है। यहाँ देवपद से योग्यता और कर्म दोनों का ग्रहण हुआ है। और जब सविकल्प अवस्था में जीव रागादिरूप बरतते हैं, तब श्रद्धा की अपेक्षा आत्मा के उनका स्वामित्व न रहने से ज्ञानी आत्मा उनका कर्ता नहीं स्वीकार किया गया है। अध्यात्म में ज्ञानी जीव के रागादि भावों को आत्मा का स्वीकार नहीं करने में यही दृष्टि अपनायी गयी है। यह देखकर समन्तभद्र, भट्टाकलंकदेव, विद्यानन्द आदि आचार्यों के चरणों में नम्रता से मेरा सिर झुक जाता है कि उन्होंने दर्शनशास्त्र में भी अध्यात्म की मर्यादा को अक्षुण्णरूप से सुरक्षित रखकर उसे मूर्तरूप दिया है। साथ ही धर्म और धर्मी में तादात्म्य होने से अविनाभाव है। उनकी अस्तित्व सिद्धि परस्पर की

अपेक्षा से की जाती है। धर्म और धर्मी का स्वरूप स्वत:सिद्ध होता है, परत: सिद्ध नहीं। यह निश्चित तथ्य भी वे प्रकाश में लाये हैं। इतना ही नहीं, साथ ही वे इस आपेक्षिक कथन को व्यवहार की कोटि में परिगणित करते हैं और इसकी पुष्टि में ज्ञेय-ज्ञायक और कर्ता-कर्म के अविनाभाव सम्बन्ध को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इससे स्पष्ट है कि कर्ता स्वरूप से स्वत:सिद्ध है और कर्म भी स्वरूप से स्वत:सिद्ध है। परस्पर की अपेक्षा कथन करना, यह मात्र व्यवहार है। धन्य हैं उनकी ये रचनाएँ और उनकी यह दृष्टि। इससे मालूम पड़ता है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव की वाणी साक्षात्, भगवान महावीर की वाणी ही होनी चाहिए। वे भगवान के ५-६ सौ वर्ष बाद जन्मे, इसका कोई महत्त्व नहीं है। उन्हें भगवान सीमन्धरस्वामी का साक्षात् समागम मिला है, उक्त कथन से यह भी सिद्ध होता है। किन्तु वे भरतखण्ड की मर्यादा को भले प्रकार से हृदयंगम किये हुए थे। यही कारण है कि प्रवचनसार के प्रारम्भ में वे भरतक्षेत्र के चौबीस तीर्थंकरों का उल्लेख पूर्वक ही मंगलगान करते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वे समग्ररूप से केवलज्ञानादिपने की अपेक्षा ढाई द्वीप के सभी तीर्थंकरों को भरतक्षेत्र स्थित चौबीस तीर्थंकरों से व्यवहारनय की अपेक्षा अभिन्न मानते रहे हैं। ऐसे थे आचार्य कुन्दकुन्ददेव। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने 'मंगलं भगवान् वीरो' इत्यादि रचना में भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उनका ही पुण्य स्मरण किया है। इससे 'कुन्दकुन्दार्यो' पाठ ही समीचीन प्रतीत होता है। अस्तु,

८. प्रकृत विषय का विशेष स्पष्टीकरण

अतएव यह सिद्धान्त फलित होता है —

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं ॥९१॥ *समयसार*

आत्मा जिस भाव को करता है, वह उस भव का कर्ता होता है। उसके ऐसा होते समय पुद्गलद्रव्य आप ही व्यवहार से कर्म संज्ञावाली पर्यायरूप परिणमता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा, पर निमित्तों की अपेक्षा किये बिना स्वतन्त्ररूप से अपने संसार और मोक्षरूप भावों का कर्ता है और पुद्गलद्रव्य, आत्मा की अपेक्षा किये बिना स्वतन्त्ररूप से अपनी व्यवहार से कर्म संज्ञावाली पर्यायों का कर्ता है। फिर भी इनमें अविनाभावपूर्वक कालप्रत्यासत्ति होने से निमित्त-नैमित्तिकभाव स्वीकार किया गया है। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए पण्डितप्रवर टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक के पृष्ठ ३७ में कहते हैं—

इहाँ कोउ प्रश्न करै कि कर्म्म तौ जड़ हैं किछू बलवान् नाहीं तिनि करि जीव के स्वभाव का घात होना या बाह्य सामग्री का मिलना कैसे संभवै है। ताका समाधान—जो कर्म्म आप कर्ता होय उद्यमकरि जीव के स्वभावकौ घातैं, बाह्य सामग्रीकौं मिलावैं, तब तौ कर्म्मकैं चैतन्यपनौ भी चाहिए अर बलवानपनौ भी चाहिए, सो तौ है नाहीं, सहज ही निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध है। जब उन कर्म्मनि का उदयकाल होय, तिस काल विषै आप ही आत्मा स्वभावरूप न परिणमै, विभावरूप परिणमै या अन्य द्रव्य हैं, ते तैसैं ही संबंधरूप होय परिणमैं। जैसैं काहू पुरुषकैं सिरपर मोहनधूलि परी है, तिसकरि सो पुरुष बावला भया। तहाँ उस मोहनधूलि कैं ज्ञान भी न था, अर बावलापना भी न था, अर बावलापना तिस मोहनधूलि ही करि भया देखिए है। मोहनधूलि का तौ निमित्त है, अर पुरुष आप ही बावला हुआ परिणमै है। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रह्या है। बहुरि जैसै सूर्य का उदय का काल-विषै चकवा-चकवीनि का संयोग होय, तहाँ रात्रिविषै किसी नैं दोष बुद्धितैं जोरावरि करि जुदै किय नाहीं। दिवसविषै काहूनैं करुणाबुद्धितै जोरावरि करि मिलाए नाहीं। सूर्य उदय का निमित्त पाय आप ही मिलै हैं, अर सूर्यास्त का

निमित्त पाय आप ही बिछुरै हैं, ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रह्या है, तैसै ही कर्म्म का भी निमित्त-नैमित्तिक जानना।

यह पण्डितजी का सारभूत कथन है। इस द्वारा उस गुत्थी को सुलझाया गया है जो बाह्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के विषय में सामान्य जनता को उलझन में डाले रहती है। हमें आश्चर्य उस सामान्य जनता के विषय में नहीं होता। वह तो अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष से जैसा देखती है, वैसा मानकर चलती है, क्योंकि इस विषय में आगम क्यों और क्या कहता है, उसे वह प्राय: जानती ही नहीं। आश्चर्य तो उन विद्वानों पर होता है जो आगम की अवहेलना कर अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुभव और तदनुकूल तर्क को प्रधानता देकर स्वयं भटकते रहते हैं और सामान्य जनता को भी भटकाने का उपाय करते रहते हैं। इसका हमें ही क्या, हर किसी को आश्चर्य होना स्वाभाविक है।

भट्टाकलंकदेव भी कहते हैं कि अपना स्वभावरूप या विभावरूप प्रत्येक कार्य करने में जीव और पुद्गल तथा स्वभावरूप कार्य करने में धर्मादिक द्रव्य स्वतन्त्र हैं। उन्होंने कर्तृत्व धर्म को सब द्रव्यों में साधारण इसी प्रयोजन से कहा है। वे तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय २, पृष्ठ ११२ में अपने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं —

कर्तृत्वमपि साधारणम्, क्रियानिष्पत्तौ सर्वेषां स्वातन्त्र्यात्।

कर्तृत्व भी साधारण पारिणामिकभाव है, क्योंकि अपनी-अपनी प्रत्येक समय की परिस्पन्दलक्षण और परिणामलक्षण क्रिया की उत्पत्ति में यथासम्भव जीव और पुद्गल तथा प्रत्येक समय की अपनी-अपनी परिणामलक्षण क्रिया की उत्पत्ति में धर्मादि चार द्रव्य स्वतन्त्र हैं।

प्रकरण पारिणामिकभावों के प्रतिपादन का है, उसी प्रसंग में जो पारिणामिकभाव अन्य द्रव्यों में भी उपलब्ध होते हैं, उनकी यहाँ पर व्याख्या करते हुए उक्त वचन कहा गया है। यहाँ यह शंका उठायी

गयी है कि क्रिया परिणाम से युक्त जीवों और पुद्गलों में कर्तृत्व पारिणामिकभाव का होना तो युक्त है, परन्तु धर्मादिक द्रव्यों में वह कैसे बन सकता है? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि 'अस्ति' आदि क्रिया विषयक कर्तृत्व उनमें भी पाया जाता है।

सर्वार्थसिद्धि, अध्याय २, सूत्र ७ में भी पारिणामिकभावों में अस्तित्व आदि धर्मों का उक्त सूत्र में आये हुए 'च' शब्द के द्वारा समुच्चय कर लिया गया है। वहाँ बतलाया है कि ये जीव के साथ और सबमें साधारण है, इसलिए उक्त सूत्र में इनका संग्रह नहीं किया गया है। वह वचन इस प्रकार है —

अस्तित्वादयः पुनर्जीवाजीवविषयत्वात्साधारणा इति 'च' शब्देन पृथक् गृह्यन्ते।

अस्तित्व आदिक तो जीव और अजीव को विषय करनेवाले होने से साधारण भाव हैं, इसीलिए इनको 'च' शब्द द्वारा पृथक् ग्रहण किया है।

यहाँ आये हुए 'आदि' पद से कर्तृत्व का भी ग्रहण हो जाता है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में भी जिन भावों को 'च' शब्द द्वारा समुच्चित किया गया है, उनमें कर्तृत्व धर्म को परिगणित किया गया है।

देखो, यहाँ पर आचार्य अकलंकदेव ने 'क्रियानिष्पत्तौ सर्तेषामपि स्वातन्त्र्यात्' अर्थात् अपनी-अपनी पर्याय की उत्पत्ति करने में सभी द्रव्य स्वतन्त्र हैं, यह कहकर प्रत्येक कार्य के होने में प्रत्येक द्रव्य को पर पदार्थों की सहायता की अपेक्षा नहीं हुआ करती है, जिनागम के इस कथन को ही दो शब्दों में कह दिया है।

इतना ही नहीं, इस उल्लेख से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विभावरूप परिणति में स्थित संसारी जीव और पुद्गलस्कन्ध का जब भी जो कार्य होता है, उसके करने में वे स्वतन्त्र हैं।

देखो, जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होकर मोक्ष का इच्छुक है, वह पुण्य और पाप दोनों में भेद नहीं करता, इसलिए दोनों के प्रति समान दृष्टि रखकर ही मोक्षमार्गी बनने का अधिकारी होता है। जब यह स्थिति है, तब वह परवस्तु को इष्ट और अनिष्ट मानकर उससे लाभ और अलाभ की कल्पना ही कैसे कर सकता है ? अर्थात् कभी नहीं कर सकता। फिर परद्रव्य में अन्य का कार्यकारीपना या कर्तापना कैसे मान सकता है ? कभी नहीं मान सकता है। परद्रव्य में अन्य द्रव्य के कार्य की जो कारणता व्यवहार से स्वीकार की गयी है, वह मात्र बाह्य व्याप्तिवश प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर ही स्वीकार की गयी है, निश्चय उपादान के समान वह परमार्थ से प्रत्येक कार्य का नियामक है, इसलिए नहीं। मोक्ष के इच्छुक किसी भी जीव को अपना परिणाम अन्यवश अर्थात् रागादिवश नहीं होने देना चाहिए। आगम में यह उपदेश उक्त प्रयोजन को ध्यान में रखकर ही दिया गया है। अभिप्रायपूर्वक पर का संग करने से होनेवाले कार्यों में और अकेले होने के कार्य में यदि कोई अन्तर है तो वह यही है कि जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ है, वह पंचेन्द्रियों के विषयों को लक्ष्य कर राग-द्वेष के आधीन नहीं होता, इसलिए उसकी दृष्टि में वे सुतरां गौण हो जाते हैं। यह सब दृष्टि का खेल है—बाहर की ओर दृष्टि फेरने से जहाँ संसार की वृद्धि होती है, वहीं ज्ञान-वैराग्यशक्ति से सम्पन्न होकर भीतर की ओर दृष्टि के पलटने से आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार में कहा भी है —

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं॥२,२४॥

जो श्रमण आत्मा ही कर्ता है, आत्मा ही कर्म है, आत्मा ही करण है और आत्मा ही उसका फल है—ऐसा निश्चय कर अपने विकल्प द्वारा यदि अन्यरूप नहीं परिणमता है तो शुद्ध (अकेले) आत्मा को

प्राप्त करता है, क्योंकि स्वभावस्वरूप आत्मा को प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हुए उसी परमागम में आचार्यदेव पुनः कहते हैं —

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणियमण्णेसु।
षरिणामोऽणण्णगओ दुक्खक्खयकारणं सम्ये ॥२-८९॥

अन्य में (परमार्थस्वरूप देवादिक में या बाह्य व्रतादिक में) शुभ परिणाम के होने को पुण्यभाव कहा है और (पंचेन्द्रियों के विषयों में) अशुभभाव के होने को पापभाव कहा है। किन्तु जो परिणाम पुण्य-पापरूप से अन्यरूप नहीं होता अर्थात् आत्मातिरिक्त लोक में जितने भी पदार्थ हैं, उनमें इष्टानिष्ट बुद्धि नहीं करता, उसे ही परमागम में दुःख के क्षय का कारण मोक्षस्वरूप कहा है॥२-८९॥

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में दो द्रव्यों में कर्ता-कर्मपना तो नहीं है। जो आगम में सविकल्प क्रियावान् अज्ञानी जीव को घटादि कार्यों का कर्ता कहा गया है, सो वह भी लौकिकजनों के अनादिरूढ़ विकल्प को ध्यान में रखकर ही कहा गया है। शेष द्रव्यों में निमित्तपने की अपेक्षा कर्ता-कर्म व्यवहार न तो घटित ही होता है और न आगम ही ऐसे व्यवहार को प्रमुखता से स्वीकार करता है। इतना अवश्य है कि जिन कार्यों में उक्त जीवों की अपेक्षा कर्ता व्यवहार किया गया है, उनमें से किन्हीं-किन्हीं कार्यों की अपेक्षा पुद्गल स्कन्धों में करण व्यवहार अवश्य किया गया है। इसके लिए तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय १, सूत्र १ का यह उल्लेख दृष्टव्य है—

करणं द्वेधा-विभक्ताविभक्तकर्तृकभेदात्। कर्तुरन्यद् विभक्त -कर्तृकम्। यथा परशुना छिनत्ति देवदत्तः इति। कर्तुरनन्यदविभक्त -कर्तृकम्। यथाग्निरिन्धनं दयत्यौष्णेन इति।

विभक्त कर्तृककरण और अविभक्त कर्तृककरण के भेद से करण

दो प्रकार का है। कर्ता से भिन्न करण विभक्तकर्तृक करण है। जैसे देवदत्त परशु से छेदता है। कर्ता से अभिन्न अविभक्तकर्तृक करण है। जैसे अपने उष्ण परिणाम से अग्नि ईंधन को दहन करती है।

यहाँ विकल्प और क्रिया परिणाम से युक्त देवदत्त कर्तारूप से व्यवहृत हुआ है और छिदिक्रिया की अपेक्षा फरसा में करण व्यवहार किया गया है। यह एक उदाहरण है। इससे पूर्वोक्त तथ्यों पर ही विशद्‌रूप से प्रकाश पड़ता है।

इतना अवश्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने एकेन्द्रिय जीव विशेषों को जीव कहकर भी नामकर्म की प्रकृतियाँ बतलाते हुए उनको जो करणरूप नामकर्म की प्रकृतियों से रचित कहा है (समयसार, गाथा ६५-६६) सो यहाँ पर एक तो स्वभावभूत जीव से जीवविशेषों को पृथक् करना उनका प्रयोजन रहा है। कारण कि औदयिकभावपरिणत जीवविशेषों का अन्वयव्यतिरेक कर्मोदय के साथ है, स्वभाव के साथ नहीं। दूसरे स्वभावदृष्टि से भेद व्यवहार को भी गौण कराया गया है। उन्होंने इस सरणि को पूरे समयसार परमागम में स्वीकार किया है। समयसार गाथा ३८ में जो जीवादि नौ पदार्थों को टंकीत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव भाव से अत्यन्त भिन्न कहा है, वह भी इसी अभिप्राय से कहा है, क्योंकि इनमें संज्ञाभेद के साथ लक्षणभेद और स्वभावभेद भी है। दूसरे सम्यग्दृष्टि के स्वानुभूति के काल में ये जीवादि नौ पदार्थ अनुभव में नहीं आते। वर्णादि के पुद्‌गलद्रव्य परिणाममय होने पर इन्हें आत्मानुभूति से भिन्न इसीलिए कहा है (समयसार, गाथा ५०-५४ की आत्मख्याति टीका)। इसी तथ्य को आचार्यदेव इन शब्दों में स्वीकार करते हुए कहते हैं —

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता॥६७॥

पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर देह की जीव संज्ञा परमागम में कही हैं, वे व्यवहार से कही गयी हैं॥६७॥

तात्पर्य यह है कि अज्ञान अवस्था में यह जीव अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव को भूलकर परभावों में एकत्व और इष्टानिष्टरूप संकल्प-विकल्पों के आधीन होकर ही भावसंसार की सृष्टि करता रहा है और उसी के फलस्वरूप कर्मबन्ध कर एकेन्द्रियादि पर्यायों में भटकता रहता है। यतः इन एकेन्द्रियादि पर्यायों की व्याप्ति ज्ञान-दर्शन स्वभाव परिणत जीव के साथ न होकर अज्ञान और राग-द्वेष के साथ तथा कर्मोदय के साथ ही है, अतः प्रकृत में इन्हें पुद्गलद्रव्य परिणाममय कहा गया है। इन एकेन्द्रियादि पर्यायों की व्याप्ति ज्ञान-दर्शन स्वभाव परिणत जीव के साथ नहीं है, यह इसी से स्पष्ट है कि एक तो स्वानुभूति के काल में किसी भी पर्यायरूप से इनका वेदन नहीं होता। ज्ञानी के सविकल्पदशा में भी इनमें आत्मबुद्धि नहीं होती। दूसरे जैसे-जैसे यह जीव विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है, वैसे-वैसे पर्यायाश्रित व्यवहार का लोप होते जाने के साथ जिन कर्मों को निमित्तकर एकेन्द्रियादि पर्यायों की प्राप्ति होती है, उनकी भी उत्तरोत्तर व्युच्छिति होती जाती है। इतना ही नहीं, ज्ञानी के एकेन्द्रियादि जाति-नामकर्मों का और उनके साथ पर्याप्त-अपर्याप्त नामकर्मों का तो उदय होता ही नहीं। अर्थात् ज्ञानी जीव एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक की किसी भी पर्यायरूप नहीं परिणमता। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त होने पर भी उसमं स्वत्वबुद्धि से मुक्त रहता है। यह एक रहस्य है जिसे ध्यान में रखकर आचार्यदेव ने इन सब जीव विशेषों को पुद्गलमय कहा है।

शंका—उक्त कथन से हम यह समझते हैं कि भावसंसार की व्याप्ति अज्ञानभाव और राग-द्वेष के साथ होने के कारण इन एकेन्द्रियादि पर्यायों की व्याप्ति कर्म के साथ होने की अपेक्षा प्रकृत में इन्हें नामकर्म करणक कहा गया है, यह तो ठीक है। पर इन्हें पुद्गलपरिणाममय

कहना तो ठीक नहीं, क्योंकि ये जीवों की ही अवस्था विशेष हैं।

समाधान—बात यह है कि अज्ञानभाव रहते हुए इस जीव की पर-पदार्थों में एकत्वबुद्धि बनी रहती है और राग-द्वेष के कारण उनमें इष्टा-निष्ट बुद्धि करता रहता है। ऐसी अवस्था में उसे ज्ञान-दर्शनस्वभाव आत्मा का वेदन न होकर अपनेपन से पर-पदार्थों का ही वेदन होता रहता है। इसी से इन एकेन्द्रियादि जीव-विशेषों को प्रकृत में पुद्गल -परिणाममय कहा है। देखो, समयसार गाथा ५० से ५५ तक तथा उनकी आत्म-ख्याति टीका।

९. स्वसमय-परसमय का स्वरूप निर्देश

उक्त तथ्य को स्पष्ट करने की दृष्टि से स्वसमय और परसमय किसे कहा जाए, इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार में कहते हैं—

जीवो चरित्त-दंसण-णाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं॥२॥

जो जीव चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित है, निश्चय से उसे स्वसमय जानो और जो जीव पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित है, उसे परसमय जानो।

यों तो छहों द्रव्यों की समय संज्ञा है, क्योंकि सभी द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होते हैं। उसमें भी जीव को समय इसलिए भी कहते हैं, क्योंकि वह समस्त पदार्थों के स्वभाव को अवभासन करने में समर्थ ऐसी ज्ञान-दर्शनशक्ति से सम्पन्न है। वही जब भेदज्ञान ज्योति से सम्पन्न होता हुआ अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निज स्वभाव में स्थित होता है, अर्थात् अन्याश्रित सभी प्रकार के विकल्पों से मुक्त होकर अपने ज्ञायकस्वरूप आत्मा में लीनता प्राप्त करता है, तब वह स्वसमय कहलाता है। किन्तु जब वह अनादि मोह के उदयानुसार प्रवृत्ति

के अधीन होकर अपने दर्शन-ज्ञानरूप निज स्वभाव से च्युत होता हुआ परद्रव्यों को निमित्त कर उत्पन्न हुए मोह, राग और द्वेषादिरूप भावों में एकता कर प्रवृत्त होता है, तब वह पुद्‌गलकर्म प्रदेशों में स्थित हुआ एक ही समय में परद्रव्यों को अपने साथ एकरूप से जानता और रागादिरूप परिणमित होता हुआ परसमय कहलाता है।

इसी तथ्य को प्रवचनचार में स्पष्ट करते हुए आचार्यदेव क्या कहते हैं, देखिये—

जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ट्ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा॥९४॥

जो जीव पर्यायों में लीन हैं, उन्हें परसमय कहा गया है और जो आत्मस्वभाव में लीन हैं, उन्हें स्वसमय जानना चाहिए॥९४॥

जीवों और पुद्‌गलों के संयोग से उत्पन्न हुई संसार सम्बन्धी ये मनुष्यादि जितनी असमानजातीय पर्यायें हैं, उनमें मैं मनुष्य हूँ या देव हूँ या यह मेरा शरीर है इत्यादिरूप जो अहंकार और ममकार परिणाम होता है, वह कर्मोदय के साथ अन्य पदार्थों में अनुरक्ति का ही परिणाम है और यह ऐसी अनुरक्ति है, जिसके रहते हुए यह जीव अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव को भूला रहता है। इसी से प्रकृत में पर्यायों में निरत जीव को परसमय कहा गया है। शेष कथन स्पष्ट ही हैं।

परसमय के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए प्रवचनसार में पुनः कहा है—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खाया।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ॥९८॥

जिनेन्द्रदेव ने द्रव्य को तात्त्विकरूप से स्वभावसिद्ध कहा है। द्रव्य इस प्रकार का है, यह आगम से सिद्ध है। किन्तु जो ऐसा नहीं मानता, वह परसमय है॥९८॥

परमार्थ से किसी भी द्रव्य की अन्य द्रव्य से उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सभी द्रव्य स्वभावसिद्ध होने से अनादि-निधन हैं। कारण कि दूसरे साधनों के द्वारा उनकी उत्पत्ति न होकर गुण-पर्यायात्मक सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव को ही मूल साधन करके स्वयं ही सिद्ध होते हुए सिद्धि को प्राप्त हैं। तथा जो द्रव्यों के द्वारा आरम्भ होता है, वह दूसरा द्रव्य न होकर अनित्य पर्याय है। द्रव्य तो मर्यादा रहित त्रिकालावच्छिन्न नित्य होता है। इस प्रकार जो स्वभावसिद्ध द्रव्य है, वह सत् है। सत्ता के समवाय से द्रव्य हो, ऐसा नहीं है। यह उसका स्वरूप है। अथवा जिसे हम द्रव्य कहते हैं, वही सत्ता है। यह जिनेन्द्रदेव ने कहा है। यत: आगम भी उनकी दिव्यध्वनि का शब्दरूप है। अत: जिनदेव की उक्ति और आगम एक ही हैं। इस प्रकार जो वस्तुव्यवस्था है, उसे जो स्वीकार नहीं करता, वह परसमय है। परसमय कहो या मिथ्यादृष्टि कहो, दोनों का अर्थ एक है।

शंका—पहले मनुष्यादि पर्याय में निरत जीव को परसमय कहा और यहाँ आगमानुसार जिन वचन को स्वीकार कर जीवादि द्रव्यों का निर्णय नहीं करनेवाले जीव को परसमय कहा, सो इसका कारण क्या?

समाधान—वर्तमान काल में तत्त्वनिर्णय करने के लिए आगम ही हमारे चक्षु हैं, क्योंकि जिनवचन और आगम में कोई अन्तर नहीं है। पण्डितप्रवर आशाधरजी अपने सागार धर्मामृत में कहते हैं —

न किंचिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुत-देवयो:।

जिनदेव ने देव और आगम में कुछ भी अन्तर नहीं कहा।

आगम से जिनवाणी का निर्णय होता है, अतएव आगम में जिस रूप में तत्त्व की प्ररूपणा की गयी है, जिनवाणी उससे भिन्न नहीं है। जो आसन्न भव्य जीव इस प्रकार निर्णय करके जीवादि द्रव्यों के स्वरूप को जानकर ऐसा निर्णय करता है कि मैं ज्ञान-दर्शन स्वभाव जीव हूँ,

अन्य नहीं और ऐसे निर्णयपूर्वक अपने स्वभावभूत ज्ञान-दर्शन-चारित्र में लीन होता है, वह स्वसमय है। अन्य सबमें एकत्वबुद्धिपूर्वक इष्टनिष्ट बुद्धि करनेवाला जीव परसमय है। इस प्रकार पूर्व में जो कुछ कहा गया, उसे ही प्रकृत में दूसरे शब्दों में स्पष्ट किया गया है। पूर्वोक्त कथन से इस कथन में कोई अन्तर नहीं है। इतना अवश्य है कि यह जीव जो कुछ भी निर्णय करे, वह सब आगमानुसार ही होना चाहिए, यह यहाँ इस सूत्र गाथा द्वारा विशेषरूप से समझाया गया है।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि अन्तरात्मा और बहिरात्मा क्रम से स्वसमय और परसमय के ही पर्यायवाची नाम हैं। इनकी व्याख्या करते हुए नियमसार में कहा है —

अन्तर-बाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अन्तरंगप्पा॥१५०॥

जो पुण्यकर्म की काँक्षा से स्वाध्याय, प्रत्याख्यान और स्तवन आदि बाह्य जल्प में तथा अशन, शयन, गमन आदि की मूर्च्छारूप अन्तरंग जल्प में वर्तता है, वह बहिरात्मा है और सब प्रकार के जल्पों से निवृत्त होकर अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव में स्थित है, वह अन्तरात्मा है॥१५०॥

नियमसार में इसी विषय को स्पष्ट करते हुए पुनः कहा है—

जो धम्म-सुक्कझाणम्मि परिणदो सो वि अन्तरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणाहि॥१५१॥

जो श्रमण धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान से परिणत है, वह अन्तरात्मा है और जो श्रमण उक्त ध्यानों से रहित है, वह बहिरात्मा है॥१५१॥

शुक्लध्यान तो निर्विकल्प अवस्था में ही आठवें गुणस्थान से होता है। धर्म्यध्यान सविकल्प और निर्विकल्प दोनों प्रकार का है। सातवें गुणस्थान में तो मात्र निर्विकल्प धर्म्यध्यान ही होता है। चौथे से लेकर छठे गुणस्थान तक तीन गुणस्थानों में सविकल्प धर्म्यध्यान

बहुलता से होता है। यथासम्भव स्वानुभूति के काल में निर्विकल्प धर्म्यध्यान भी होता है। जैसे आम्रवन ऐसा कहने पर यह ज्ञात होता है कि इस वन में आम्रवृक्षों की बहुलता है। उसमें नीम, सीसम, आँवले आदि के वृक्ष तो हैं, पर इनकी बहुलता नहीं है, इसीलिए इस वन को आम्रवन कहा जाता है। इसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए। अर्थात् चौथे आदि तीन गुणस्थानों में सविकल्प धर्म्यध्यान की बहुलता अवश्य है, पर कभी-कभी निर्विकल्प धर्म्यध्यान भी होता है। यह इसी से स्पष्ट है कि स्वभावपर्याय की प्राप्ति अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव में लीनता प्राप्त किये बिना होती नहीं। इतना ही नहीं, सविकल्प अवस्था में भी स्वभाव की ओर झुकाव बराबर अस्खलितरूप से बना रहता है, अन्यथा उसे धर्म्यध्यान कहना नहीं बन सकता। इसी निर्विकल्प अवस्था का स्वरूप निर्देश करते हुए नाटक समयसार में कहा भी है—

वस्तु विचारत ध्यावते मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै अनुभव याकौ नाम।
अनुभव चिन्तामणि रतन अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्षकौ अनुभव मोक्षस्वरूप॥

पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने नयचक्र से यह गाथा उद्धृत कर उसका जो अर्थ दिया है, उसे यहाँ उपयोगी जानकर दे रहे हैं—

तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा॥२६६॥

अर्थ—तत्त्व के अवलोकन का जो काल, उसमें समय अर्थात् शुद्धात्मा को युक्ति अर्थात् नय-प्रमाण द्वारा पहले जाने। पश्चात् आराधन समय जो अनुभव काल, उसमें नय-प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव है। जैसे रत्न को खरीदने में अनेक विकल्प करते हैं, जब प्रत्यक्ष उसे पहिनते हैं, तब विकल्प नहीं है। पहिनने का सुख ही है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी।

ज्ञानमार्ग में बन्धपद्धति हेय है। ज्ञानी के तो वह ज्ञेय हो जाती है। एक शुद्धात्मा ही उपादेय है। ऐसे निर्णयपूर्वक जो शुद्धात्म में लीनता होती है, वही स्वानुभूति है। अभेद विवक्षा में सम्यग्दर्शन भी वही है। ऐसा ज्ञानी जीव क्षणमात्र भी बन्धपद्धति में मग्न नहीं होता।

स्वसमय और परसमय के इस स्वरूप निर्देश से इन बातों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

(१) आगम में परनिरपेक्ष और स्व-पर सापेक्षरूप से जो दो प्रकार की पर्यायें कही गयी हैं, उनसे हम जानते हैं कि जब यह जीव स्वभाव सन्मुख होकर उसमें लीनता करता है, तब स्वभाव पर्याय की उत्पत्ति होती है। यही परनिरपेक्ष या स्वसापेक्ष पर्याय है। इसी को स्वभाव पर्याय भी कहते हैं। सिद्धों की जो ऊर्ध्वगति स्वभाव पर्याय होती है, होती तो है वह पर-निरपेक्ष ही, अन्यथा वह स्वभावपर्याय नहीं हो सकती। फिर भी आगम में जो यह कहा है कि धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोकाग्र के आगे सिद्धों का गमन नहीं होता। सो इस कथन द्वारा सिद्धों की लोकाग्र तक ही ऊर्ध्वगति होती है, इस तथ्य की सिद्धि की गयी है। प्रत्येक कार्य के समय जितने भी व्यवहार हेतु कहे जाते हैं, वे कब किस द्रव्य ने क्या कार्य किया, इसकी सिद्धि के लिए ही कहे जाते हैं। सिद्धों की ऊर्ध्वगति स्वभाव गति है, इस तथ्य का समर्थन पंचास्तिकाय गाथा ७३ की समय टीका से भले प्रकार होता है। यथा—

बद्धजीवस्य षड्गतयः कर्मनिमित्ताः। मुक्तस्याप्यूर्ध्वगतिरेका स्वभाविकीत्यत्रोक्तम्।

बद्ध जीव की छहों दिशाओं में गति कर्मनिमित्तक होती है तथा मुक्त जीव की एक ऊर्ध्वगति स्वाभाविक होती है।

यहाँ बद्ध जीव की गति को मात्र कर्मनिमित्तक कहा है। इस गति में धर्मद्रव्य भी निमित्त है, यह नहीं कहा। सो क्यों? इसका कारण

है कि धर्मादिक चार द्रव्य व्यवहार से उदासीन निमित्तरूप से स्वीकार किये गये हैं। वे स्वभाव और विभाव दोनों प्रकार की पर्यायों में स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि स्वभाव और विभाव पर्यायों का भेद इस आधार से नहीं किया गया है।

(२) जीवों की संसाररूप विभावपर्याय स्व-परनिमित्तक होती है। इसका अर्थ है कि जीव के वह पर्याय पर में एकत्वबुद्धि या इष्टानिष्टबुद्धि करने से होती है, इसलिए तो उसे परनिमित्तक कहा। तथा जीव ही स्वयं अपने निश्चय उपादान के अनुसार उसे उत्पन्न करता है, परपदार्थ या कर्म उसे उत्पन्न नहीं करते, इसलिए उसे स्वनिमित्तक कहा। यही कारण है कि आगम में विभावपर्याय की उत्पत्ति स्व-परसापेक्ष स्वीकार की गयी है।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमार्थ से प्रत्येक द्रव्य स्वयं कर्ता होकर प्रति समय अपना कार्य करता है। वह अपना कार्य करने में कारकान्तर की अपेक्षा नहीं करता। इसके लिए पंचास्तिकाय गाथा ६२ दृष्टव्य है। उसमें कर्म और जीव कारकान्तर की अपेक्षा किये बिना प्रति समय किस प्रकार षट्कारक भाव को प्राप्त होते हैं, यह स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार सभी पदार्थों के विषय में जानना चाहिए।

१०. उपसंहार

उक्त समग्र कथन का तात्पर्य यह है कि जो जिनोपदिष्ट आगम में प्रतिपादित द्रव्य, गुण और पर्यायस्वरूप इस लोक को अकृत्रिम और स्वभाव से निष्पन्न मानता है।[१] अन्य किसी का कार्य नहीं मानता, वास्तव में उसी ने जिनागम के आशय को हृदय से समझा है, ऐसा

१— लोओ अक्किट्टमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो।
जौवाजीवेहिं भुडो णिच्चो तालरुक्खसंठाणो॥२२॥
मूलाचार, द्वादशानुप्रेक्षाधिकार

कहा जा सकता है। कारण-द्रव्य परमाणु आदि अन्य किसी के कार्य नहीं हैं, इस तथ्य को तो नैयायिक-दर्शन भी स्वीकार करता है। मुख्य विवाद तो जो लोक में उनके विविध प्रकार के कार्य दिखलायी देते हैं, उनके विषय में हैं। नैयायिकदर्शन के अनुसार अदृष्ट सापेक्ष ईश्वर कारक साकल्य को जानकर अपनी इच्छा और प्रयत्न से कार्यों को उत्पन्न करता है। किन्तु जैनदर्शन इसे स्वीकार नहीं करता। इसका यदि कोई यह अर्थ करे कि जैनदर्शन ने कर्तारूप से ईश्वर को अस्वीकार किया है, पर निमित्तों को नहीं, तो उसका उक्त कथन से ऐसा तात्पर्य फलित करना ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति में अन्य निमित्तों को तो नैयायिकदर्शन भी ईश्वर के समान कर्तारूप से स्वीकार नहीं करता। कार्योत्पत्ति में वे निमित्त अवश्य होते हैं, इसे तो वह मानता है। परन्तु कर्ता होने के लिए इतना मानना ही पर्याप्त नहीं है। उस दर्शन के अनुसर कर्ता वह हो सकता है, जिसे कारक -साकल्य का पूरा ज्ञान हो और जो अपनी इच्छा से कारकसाकल्य को जुटाकर कार्य को उत्पन्न करने के प्रयत्न में लगा हो। यहाँ इतना और समझना चाहिए कि जो जिसका कर्ता होता है, वह नियम से उस कार्य को उत्पन्न करता है। ऐसा नहीं होता कि उसके विवक्षित कार्य का कर्ता होने पर भी कभी काय उत्पन्न हो और कभी न हो। कार्य उत्पत्ति के साथ उसकी व्याप्ति है। अब विचार कीजिए कि नैयायिकदर्शन के अनुसार क्या ये गुण ईश्वर को छोड़कर अन्य बाह्य निमित्तों में उपलब्ध हो सकते हैं अर्थात् नहीं हो सकते। इससे स्पष्ट है कि नैयायिकदर्शन के अनुसार ईश्वर को छोड़कर अन्य निमित्त कर्ता नहीं हो सकते। इस प्रकार जब नैयायिकदर्शन की यह स्थिति है, तो जो जैनदर्शन सब द्रव्यों को स्वभाव से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाववाला मानता है, उसके अनुसार अन्य निमित्त सब द्रव्यों की पर्यायों (कार्यों) के उत्पादक हो जाएँ, यह तो त्रिकाल में सम्भव नहीं है। एक ओर तो हम मंच पर ऊँचे हाथ उठाकर और गाल

फुलाकर लोक को अकृत्रिम होने की घोषणा करते फिरें और दूसरी ओर द्रव्यलोक और गुणलोक के सिवा पर्यायलोक को कृत्रिम (अन्य का कार्य) मानने लगें, इसे उक्त घोषणा का विपर्यास न कहा जाए तो और क्या कहा जाए। पर्यायलोक को या तो स्वभाव से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों भेदों में विभक्त द्रव्यरूप मानो या अन्य किसी का कार्य मानो, इन दो विकल्पों में से किसी एक को ही मानना पड़ेगा। यदि उसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन भागों में विभक्त स्वभाव से मानते हो तो पर निमित्तों को स्वीकार करके भी उसे उनका कार्य मत मानो। एक अपेक्षा से वह स्वयं कारण (कर्ता) है और दूसरी अपेक्षा से वह स्वयं कार्य है, ऐसा मानो और यदि उसे अन्य किसी का कार्य मानते हो तो ईश्वर का निषेध मत करो। एक ओर ईश्वर का निषेध करना और दूसरी ओर उसके स्थान में अन्य को कर्तारूप से ला बिठाना, यह कहाँ का न्याय है?

आगम में विभाव पर्यायों को जो स्वपरप्रत्यय कहा है, सो गलत नहीं कहा है, परन्तु उस कथन के यथार्थ अर्थ को समझे बिना मूल वस्तु की मुख्यता को भुलाकर उसके कार्य को परनिमित्त के आधीन कर देना तो न्याय नहीं है। पर यदि बाह्य निमित्त मूल वस्तु के समान कार्य को उत्पन्न नहीं करते हैं, तो उन्हें इसरूप में स्वीकार करने से क्या लाभ है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि नैयायिकदर्शन में स्वीकार किये गये ईश्वर (प्रेरक कारण) के स्थान में जैनदर्शन के अनुसार मूल वस्तु को स्वीकार कर लेने पर इस समस्या का समाधान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि नैयायिकदर्शन जिस प्रकार अन्य निमित्तों को स्वीकार करके भी कार्य का कर्ता ईश्वर को मानता है, अन्य निमित्तों को नहीं, उसी प्रकार जैनदर्शन अन्य निमित्तों को स्वीकार करके भी कार्य का कर्ता स्वयं अपने को मानता है, अन्य निमित्तों को नहीं। इसलिए 'यदि अन्य निमित्तों को इस रूप में नहीं माना जाता

है तो उन्हें स्वीकार करने से क्या लाभ है' यह प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि दोनों दर्शनों में अन्य निमित्तों की स्थिति लगभग एक समान है। जो मतभेद है, वह कर्ता को लेकर ही है। नैयायिकदर्शन कारण द्रव्य को स्वयं अपरिणामी मानता है, इसलिए उसे समवायीकारण को गौण करके ईश्वररूप कर्ता की कल्पना करनी पड़ी। किन्तु जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु स्वयं परिणामी नित्य है, इसलिए इस दर्शन में नित्य होकर भी परिणमनशील होने के कारण वह स्वयं कर्ता है, यह स्वीकार किया गया है। इन दोनों दर्शनों में कर्ता का अलग-अलग लक्षण करने का भी यही कारण है। यह वस्तुस्थिति है जिसे हृदयंगम कर लेने से जैनदर्शन में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप लोक को अकृत्रिम क्यों कहा गया है, यह समझ में आ जाता है।

इस प्रकार जो समस्त लोक को अकृत्रिम अर्थात् अन्य का कार्य न समझकर अपने विकल्पों द्वारा स्वयं अन्य का कर्ता नहीं बनता और न अन्य द्रव्यों को अपना कर्ता बनाता है। किन्तु दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वरूप अपने आत्मस्वभाव में स्थित रहता है,वह स्वसमय है और इसके विपरीत जो अपने अज्ञानभाव को निमित्तकर, संचित हुए पुद्गल कर्मों का कर्ता बनकर तथा उनको निमित्तकर उत्पन्न होनेवाली राग-द्वेष और नरक-नारकादि विविध प्रकार की पर्याय को आत्मस्वरूप मानकर उनमें रममाण होता है, वह परसमय है, यह सिद्ध होता है।

यहाँ यह तो है कि ये राग-द्वेष और नर-नारकादि पर्यायें पुद्गल -कर्मों का कार्य नहीं हैं। परन्तु आत्मा में इनकी उत्पत्ति का मूल कारण अज्ञानभाव है, इसलिए यह आत्मा जब तक अज्ञानी हुआ संसार में परिभ्रमण करता रहता है, तभी तक वह इनका कर्ता होता है। किन्तु ज्ञानी होने पर उसके पुद्गलकर्मों को निमित्त कर उत्पन्न होनेवाली इन पर्यायों में आत्मबुद्धि का सुतरां त्याग हो जाता है, इसलिए उस समय इनके कदाचित् होने पर भी निश्चय से वह इनका कर्ता नहीं होता।

यद्यपि यह बात थोड़ी विलक्षण तो लगती है कि ज्ञानी जीव के कुछ काल तक ये राग-द्वेष और नर-नारकादि पर्यायें होती रहती हैं, फिर भी वह इनका कर्ता नहीं होता। परन्तु इसमें विलक्षणता की कोई बात नहीं है। कारण कि ज्ञानी जीव का जो स्वात्मा है, वह न नारकी है, न तिर्यंच है, न मनुष्य है और न देव है। न मार्गणास्थान है, न गुणस्थान है और न जीवस्थान है। न बालक है, न वृद्ध है और न तरुण है। न राग है, न द्वेष है और न मोह है। न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। इन सबका न कारण है, न कर्ता है, न कारयिता है और न अनुमोदना करनेवाला है। वह तो कर्म, नोकर्म और विभाव भावों से रहित एकमात्र ज्ञायकस्वभाव है, इसलिए वह ज्ञानी अवस्था में अपने ज्ञायकभाव से तन्मय हुई एकमात्र शुद्धपर्याय का ही कर्ता होता है। नारक आदिरूप परात्मा का तन्मय होकर कर्ता नहीं होता। और यह ठीक भी है, क्योंकि जिस समय जो जिस भावरूप परिणमता है, वह उस समय उसका कर्ता होता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने समयप्राभृत में कहा भी है—

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादयो भावा।
अयमयया भावादो जह जायंते दु कडयादी॥१३०॥

अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति॥१३१॥

जिस प्रकार सुवर्णमय भाव से सुवर्णमय कुण्डलादिक भाव उत्पन्न होते हैं और मोहमय भाव से लोहमय कटक आदि भाव उत्पन्न होते हैं; उसी प्रकार अज्ञानी के बहुत प्रकार के अज्ञानमय भाव उत्पन्न होते हैं और ज्ञानी के सब भाव ज्ञानमय ही उत्पन्न होते हैं॥१३०-१३१॥

इसी बात को स्पष्ट करते हुए वे आगे पुनः कहते हैं—

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं॥२८०॥

ज्ञानी जीव राग, द्वेष, मोह को अथवा कषायभाव को स्वयं अपने नहीं करता, इसलिए वह उन भावों का अकर्ता है॥२८०॥[१]

इसकी टीका में उक्त विषय का खुलासा करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

यथोक्तवस्तुस्वभावं जानन् ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते ततो रागद्वेषमोहादिभावैः स्वयं न परिणमते न परेणापि परिणम्यते, ततष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावो ज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावनाम-कर्तैवेति नियमः॥२८०॥

यथोक्त वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी अपने शुद्ध स्वभाव से ही च्युत नहीं होता, इसलिए वह राग, द्वेष, मोहादिभावरूप न तो स्वयं परिणमता है और न दूसरे के द्वारा ही परिणमाया जाता है, इसलिए टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप ज्ञानी राग, द्वेष, मोह आदि परभावों का अकर्ता ही है, ऐसा नियम है॥२८०॥

इसी बात को समयप्राभृतकलश में इन शब्दों में व्यक्त किया है—

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ता सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वोऽप्यज्ञाननिर्वृता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते॥६६॥

ज्ञानी के सभी भाव ज्ञान से उत्पन्न होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञान से उत्पन्न होते हैं॥६६॥

इसी बात को अन्यत्र उन्होंने दृढ़ता के साथ इन शब्दों में व्यक्त किया है—

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥६२॥

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह स्वयं ज्ञान ही है, अतः ज्ञान से अन्य

१— तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि के श्रद्धान में रागादि भाव मेरे हैं, ऐसा अभिप्राय नहीं रहता, इसलिए वह उन रागादि भावों का अकर्ता है।

वह किसे करे ? अर्थात् ज्ञान से अन्य किसी को नहीं करता। परभावों का अर्थात् रागादिभावों का कर्ता आत्मा है, ऐसा मानना तथा कहना व्यवहारीजनों का मोह है ॥६२ ॥

किन्तु जो श्रमणाभास इस तथ्य को न समझकर नारक आदि पर्यायों का स्वरूप से कर्ता आत्मा को मानते हैं, उन्हें लौकिकजनों के दृष्टान्त द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द किन शब्दों में सम्बोधित करते हैं, यह उन्हीं शब्दों में पढ़िए —

लोयस्स कुणइ विण्हू सुर-णारय-तिरिय-माणुसे सत्ते।
समणाणं पि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काए॥३२१॥

लोय-समणामेयं सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो।
लोयस्य कुणइ विण्हू समाणाण वि अप्पओ कुणइ॥३२२॥

एवं ण को वि मोक्खो दीसइ लोय-समणाण दोणहं पि।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए॥३२३॥

लौकिक मत के अनुसार तो देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य प्राणियों को विष्णु करता है, उसी प्रकार श्रमणों के मतानुसार यदि षट्कायिक जीवों को आत्मा करता है तो लौकिकजनों का और श्रमणों का एक सिद्धान्त निश्चित हुआ। उसमें कुछ विशेषता दिखलायी नहीं देती, क्योंकि ऐसा मानने पर लौकिकजनों के अनुसार जिस प्रकार विष्णु पर का कर्ता सिद्ध होता है, उसी प्रकार श्रमणों के यहाँ भी आत्मा देवपर्याय आदि का कर्ता सिद्ध हो जाता है और इस प्रकार देव, मनुष्य और असुर सहित सब लोक के नित्य कर्ता होने से लौकिक जन और श्रमण उन दोनों को ही कोई मोक्ष प्राप्त होगा, ऐसा दिखलायी नहीं देता॥३२१-३२३॥

अत: आत्मा अन्य का कर्ता होता है, इस अनादि लोकरूढ़ व्यवहार को छोड़कर सिद्धान्तरूप में यही मानना उचित है कि जिस समय जो जिस भावरूप से परिणमता है, उस समय वह उस भाव

का कर्ता होता है। इसी बात को समयप्राभृत के कलशों में पुद्गल और जीव के आश्रय से जिन शब्दों में व्यक्त किया है, यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िए —

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एवं कर्ता ॥६४॥

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यः स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥६५॥

इस प्रकार पूर्वोक्त कथन से पुद्गलद्रव्य की स्वभावभूत परिणाम -शक्ति बिना बाधा के सिद्ध होती है और उसके सिद्ध होने पर वह अपने जिस भाव को करता है, उसका वही कर्ता होता है। तथा इसी प्रकार पूर्वोक्त कथन से जीवद्रव्य की स्वभावभूत परिणामशक्ति भी सिद्ध होती है और उसके सिद्ध होने पर वह अपने जिस भाव को करता है, उसका वही कर्ता होता है ॥६४-६५॥

इस प्रकार अनादिरूढ़ लोक व्यवहार की दृष्टि से कर्ता-कर्म की पद्धति का जो क्रम है, वह ठीक न होकर वस्तुमर्यादा की दृष्टि से कर्ता-कर्मपद्धति का क्रम किस प्रकार ठीक है, इसकी सम्यक् प्रकार से मीमांसा की।

●

षट्कारक मीमांसा

षट्कारक निजशक्ति से निज में होते भव्य।
मिथ्या मत के योग से उलट रहा मन्तव्य॥

१. उपोद्घात

यहाँ तक हमने बाह्यनिमित्त और निश्चय उपादान के साथ कर्तृ-कर्मभाव की मीमांसा की। अब निज शक्तियों की मुख्यता से प्रत्येक द्रव्य में जो स्वतन्त्र षट्काररूप परिणति होती है, वह किस प्रकार घटित होती है तथा वह भूतार्थ क्यों है, इसकी मीमांसा के साथ अविनाभाववश जो बाह्य वस्तु में कारकपने का व्यवहार किया जाता है, वह अभूतार्थ क्यों है, इसका इस अध्याय में विचार करेंगे।

२. कारक का व्युत्पत्त्यर्थ तथा भेद

व्याकरण के अनुसार कारक शब्द की व्युत्पत्ति है—'**करोति क्रियां निर्वर्तयतीतिकारकः**'—जो प्रत्येक क्रिया के प्रति प्रयोजक हो, उसे कारक कहते हैं। इस नियम के अनुसार कारक छह हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। क्रिया व्यापार में जो स्वतन्त्ररूप से अर्थ का प्रयोजक होता है, वह कर्ताकारक कहलाता है। कर्ता की क्रिया द्वारा ग्रहण करने के लिए जो अत्यन्त इष्टकारक होता है, वह कर्मकारक कहलाता है। क्रिया की सिद्धि में जो साधकतम होता है, वह करण कारक कहलाता है। कर्म के द्वारा जो अभिप्रेत होता है, वह सम्प्रदान कारक कहलाता है। जो अपाय की सिद्धि में मर्यादाभूत कारक है, वह अपादानकारक कहलाता है और जो क्रिया का आधारभूत कारक है, वह अधिकरणकारक कहलाता है। ये छहों क्रिया के प्रति किसी न किसी प्रकार प्रयोजक हैं, इसलिए इनकी कारक संज्ञा है।

शंका—सम्बन्ध को भी कारक मानना चाहिए?

समाधान—नहीं, क्योंकि सम्बन्ध क्रिया के प्रति प्रयोजक नहीं होता, इसलिए उसकी कारकों में परिगणना नहीं की गयी है। उदाहरणार्थ वह जिनदत्त के मकान को देखता है, इस उल्लेख में 'जिनदत्त के' यह उल्लेख अन्यथासिद्ध है, इसलिए उसमें कारकपना घटित नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जो किसी-न-किसी रूप में क्रिया के प्रति प्रयोजक होता है, कारक वही हो सकता है, अन्य नहीं। इसलिए कर्ता आदि के भेद से कुल कारक छह ही हैं, यही सिद्ध होता है।

३. सिद्धान्त निर्देश

जैनदर्शन में प्रत्येक वस्तु के वस्तुत्व का दो दृष्टियों से विचार किया गया है। प्रथम दृष्टि द्वारा प्रत्येक वस्तु की स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा स्वतन्त्र अस्तित्व की उद्घोषणाकर परचतुष्टय का उसमें नास्तित्व बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु का जितना भी 'स्व' है, वह सब अस्तित्वमय है। उसमें पर का अत्यन्ताभाव है। सजातीय या विजातीय कोई भी वस्तु अपने से भिन्न स्वरूपसत्ता रखनेवाली किसी भी अन्य वस्तु को सीमा को लाँघकर उसमें प्रवेश नहीं कर सकती। जैसे किसी किले के वज्रमय कोट का भेदन करना सम्भव नहीं; वैसे ही किसी भी वस्तु की सीमा के भीतर किसी अन्य वस्तु का प्रवेश करना सम्भव नहीं है। इसी तथ्य को उद्घाटन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में कहते हैं —

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि ण संकमे दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं॥१०३॥

जो वस्तु विशेष जिस द्रव्य या गुण में है, वह अन्य द्रव्य या गुणरूप में संक्रमित नहीं होती। वह अन्य द्रव्य या गुणरूप संक्रमित नहीं होती हुई अन्य वस्तुविशेष को कैसे परिणमा सकती है।

इसकी आत्मख्याति व्याख्या में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—इस लोक में जो जितनी कोई वस्तुविशेष जितने प्रमाण में जिस किसी चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्य या गुण में स्वरस से ही अनादिकाल से वर्त रही है, वह 'वास्तव में अपनी अचलित वस्तुस्थिति की सीमा का भेदन करना अशक्य होने के कारण' उसी द्रव्य या गुण में बर्तती रहती है, वह दूसरे द्रव्य या दूसरे गुणरूप से संक्रमित नहीं होती। वह वस्तुविशेष जबकि दूसरे द्रव्य या दूसरे गुणरूप से संक्रमित नहीं होती तो अपने से भिन्न दूसरी वस्तुविशेष को कैसे परिणमा सकती है, अर्थात् नहीं परिणमा सकती। अतः परभाव का अन्य किसी के द्वारा किया जाना सम्भव नहीं है ॥१०३॥

उक्त प्रमाण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं कर्ता होकर अपना कार्य करता है और करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरणपने को भी वही प्राप्त होता है। यही कारण है कि प्रकारान्तर से वस्तु के वस्तुत्व का निर्देश करते हुए बतलाया है कि वह न तो सर्वथा कूटस्थ नित्य है, और न ही सर्वथा निरन्वय क्षणिक है। किन्तु वह अर्थक्रियाकरणशील है। वह अपने अन्वयरूप स्वभाव के कारण अवस्थित रहते हुए भी स्वयं उत्पाद-व्ययरूप है और व्यतिरेकस्वभाव के कारण सदा परिणमनशील है। यही वस्तु का वस्तुत्व है। तात्पर्य यह है कि वह द्रव्यदृष्टि से ध्रुव है और पर्यायदृष्टि से उत्पाद-व्ययरूप है। इसी तथ्य को श्री प्रवचनसार परमागम में इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण॥१००॥

उत्पाद, व्यय के बिना नहीं पाया जाता और व्यय, उत्पाद के बिना नहीं पाया जाता तथा उत्पाद और व्यय, ध्रौव्यस्वरूप अर्थ के बिना नहीं पाया जाता॥१००॥

यह वस्तुस्थिति है। इसीलिए ही प्रमाण के विषय का स्वरूप निर्देश करते हुए प्रमेयरत्नमाला में यह सूत्रवचन दृष्टिगोचर होता है—

सामान्य-विशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥४-१ ॥

प्रमाण के द्वारा ग्राह्य सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ उसका विषय है।

इस वचन द्वारा भी उक्त दोनों प्रकार से निरूपित वस्तुत्वगर्भित वस्तु का निरूपण किया गया है। इसका यह अर्थ है कि जैसे वस्तु का सामान्य अंश परमार्थ से स्वत:सिद्ध है, उसी प्रकार उसका विशेष अंश भी परमार्थ से स्वत:सिद्ध है। उनका परस्पर की सिद्धि के लिए अपेक्षा से कथन करना और बात है। किन्तु अपेक्षा कथन में है या विकल्प में है। कोई भी वस्तु या उसका अंश आपेक्षिक नहीं होता।

शंका— जब यह बात है तो आगम में उत्पाद-व्ययरूप कार्य को पर-सापेक्ष क्यों कहा?

समाधान— देखो, पर्यायार्थिकनय से विचार करने पर विदित होता है कि प्रत्येक उत्पद-व्ययरूप कार्य अपने काल में स्वयं है। वही कर्ता है, वही कर्म है और करण आदिरूप भी वही है। अन्य कोई उसका कर्ता आदि नहीं। फिर भी आगम में उत्पाद-व्ययरूप कार्य का जो परसापेक्ष कथन दृष्टिगोचर होता है, वह केवल व्यवहारनय (नैगमनय) की अपेक्षा ही किया जाता है। सो इस समय द्रव्य कैसे उत्पाद-व्ययगर्भ कार्यरूप से परिणत हो रहा है, इसकी प्रसिद्धि करना ऐसे कथन का यही तात्पर्य है। नयचक्र में कहा भी है— '**णिच्छय-साहणहेऊ ववहारो**' व्यवहार निश्यचय की सिद्धि का हेतु है। पण्डित -प्रवर आशाधरजी ने यही बात अनगार धर्मामृत में भी कही है।

इससे सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्य अनेकान्तगर्भ अनन्त धर्मों के समुच्चयस्वरूप है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर अनन्त धर्मात्मक वस्तु में स्वत:सिद्ध जो अनन्त धर्म उपलब्ध होते हैं, उनमें से आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की आत्मख्याति व्याख्या के परिशिष्ट में जिन

४७ शक्तियों का निर्देश किया है, उनमें से प्रकृत में उपयोगी कतिपय शक्तियों का उल्लेख करना इष्ट समझकर यहाँ निर्देश किया जाता है—

४. प्रकृत में उपयोगी शक्तियों का स्वरूप निर्देश

१. एक भावशक्ति है, जिससे प्रत्येक द्रव्य अन्वयरूप से सदा अवस्थित रहता है। २. एक क्रियाशक्ति है, जिससे प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप सिद्ध कारकों के अनुसार उत्पाद-व्ययरूप अर्थक्रिया करता है। ३. एक कर्मशक्ति है, जिससे प्राप्त होनेवाले अपने सिद्ध स्वरूप को द्रव्य स्वयं प्राप्त होता है। ४. एक कर्ताशक्ति है, जिससे होनेरूप स्वत:सिद्ध भाव का यह द्रव्य भावक होता है। ५. एक करणशक्ति है, जिससे यह द्रव्य अपने प्राप्यमाण कर्म की सिद्धि में स्वतः साधकतम होता है। ६. एक सम्प्रदानशक्ति है, जिससे प्राप्यमाण कर्म स्वयं के लिए समर्पित होता है। ७. एक अपादानशक्ति है, जिससे उत्पाद-व्यय भाव के अपाय होने पर भी द्रव्य सदा अन्वयरूप से ध्रुव बना रहता है। ८. एक अधिकरणशक्ति है, जिसे भाव्यमान समस्त भावों का आधार स्वयं द्रव्य होता है।

ये कतिपय शक्तियाँ हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक द्रव्य की जितनी अर्थ-व्यंजनरूप पर्यायें होती हैं, वे सब कारकान्तर निरपेक्ष ही होती हैं। वस्तु: कारकान्तरों का अन्य द्रव्य के किसी भी कार्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में ऐसी भी एक शक्ति है, जिससे किसी का अपने से भिन्न अन्य किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका नाम सम्बन्ध शक्ति है। इससे यही सूचित होता है कि प्रत्येक द्रव्य अपना ही स्वामी है। इस प्रकार इतने विवेचन से यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य का ध्रुवस्वरूप या उत्पाद-व्ययरूप जितना भी 'स्व' है, वह सब वस्तु ही है। न तो वस्तु अपने 'स्व' का उल्लंघन कर अन्यरूप हो सकती है और न ही उसमें अन्य वस्तु का किसी भी अपेक्षा से सम्बन्ध ही हो सकता है। वह निरन्तर

अपनी अचलित सीमा में सदाकाल अवस्थित रहती है, ऐसी परनिरपेक्षरूप से स्वयंसिद्ध वस्तु व्यवस्था है।

५. बाह्य षट्कारक प्रक्रिया का निर्देश

आगे षट्कारकों का व्यवहारनय और निश्चयनय की अपेक्षा विचार करना है। उसमें भी सर्व प्रथम व्यवहारनय से इस विषय को स्पष्ट करेंगे। यह तो सुनिश्चित है कि असद्भूतव्यवहारनय पराश्रित विकल्प है, इसलिए इस नय की अपेक्षा सभी कार्यों का पराश्रितरूप से ही कथन किया जाता है। अपने प्रतिनियत परिणामस्वभाव के कारण किस समय किस द्रव्य ने क्या कार्य किया, यह इस नय का विषय नहीं है। जैसे मिट्टी अपने प्रतिनियत परिणामस्वभाव के कारण जिस समय स्वयं स्वतन्त्ररूप से घट परिणाम को जन्म देती है, उस समय कुम्भकार स्वयं स्वतन्त्ररूप से जो हस्तादि की क्रिया और विकल्प करता है, उसमें बाह्य व्याप्तिवश घट निष्पति की अपेक्षा अनुकूलता का व्यवहार होने से कुम्भकार घट का कर्ता कहा जाता है। वस्तुत: उस समय मिट्टी और कुम्भकार ने एक साथ पृथक्-पृथक् दो क्रियाएँ कीं। फिर भी मिट्टी ने घट परिणमनरूप क्रिया की, इसे गौणकर यह नय कुम्भकार को उस क्रिया का कर्ता स्वीकार करता है। इसीलिए यह नय असद्भूत अर्थ को स्वीकार करनेवाला होने से उसे उपचरित स्वीकार किया गया है। इस प्रकार कुम्भकार यथार्थ में मिट्टी की घट परिणमनरूप क्रिया को करनेवाला नहीं होने पर भी अनादिरूढ़ लौकिकजनों के उक्त प्रकार के असद्भूतव्यवहार को लक्ष्य में लेकर बाह्य व्याप्तिवश जो नय इसे (कुम्भकार ने घट बनाया इसे) स्वीकारता है, वह आगम में अपरमार्थभूत ही स्वीकार किया गया है।

शंका—यदि यह बात है तो आगम में इसकी सम्यक् नयों में क्यों परिगणना की गयी है?

समाधान—यह मुख्यार्थ को स्वीकार करता है, इसलिए इसकी

सम्यक् नयों में परिगणना नहीं की गयी है। किन्तु यह नय मुख्यार्थ को सूचित करता है, इसलिए इस नय की सम्यक् नयों में परिगणना की गयी है। दो द्रव्यों में स्वरूपसत्ता की अपेक्षा सर्वथा भेद होने पर भी अभेद की कल्पना करना, इसी का नाम असद्भूतव्यवहार है। प्रकृत में इसी का दूसरा नाम उपचार है।

शंका— पंचाध्यायीकार ने दो पदार्थों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को स्वीकार करनेवाले नय को नयाभास कहा है, सो क्यों?

समाधान— यह नय परमार्थभूत अर्थ को स्वीकार नहीं करता। फिर भी यदि कोई व्यवहाराभासी जन इसे परमार्थभूत मानता है तो उसकी वह कल्पना परमार्थभूत अर्थ का अपलाप करनेवाली होने से उस (व्यवहाराभासी) के उस विकल्प को पंचाध्यायीकार ने नयाभासों में परिगणित किया है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

इस प्रकार व्यवहार से कुम्भकार को घट का कर्ता क्यों कहा जाता है, इसका विचार किया। अब इसी दृष्टि से कर्म कारक का विचार करते हैं—

कुम्भकार घट बनाने की क्रिया कभी नहीं कर सकता। वह क्रिया मात्र मिट्टी ही करती है। उसमें भी जो मिट्टी बालु बहुल हो या ककरीली हो, वह भी घटरूप परिणमन नहीं कर सकती। कुम्भकार तो मात्र घट की उत्पत्ति के समय स्वयं अपनी हस्तादि की क्रिया के करने के साथ कुम्भ बनाने का विकल्प ही कर सकता है। इस प्रकार मालूम पड़ता है कि कुम्भकार का अभीप्सित घट बनाने का होने पर भी वह स्वरूपसत्तापने की अपेक्षा मिट्टी से अत्यन्त भिन्न होने के कारण घट परिणमनरूप मिट्टी की क्रिया त्रिकाल में नहीं कर सकता। जो अनादिरूढ़ लौकिक व्यवहारवश यह मानता है कि कुम्भकार मिट्टी से स्वयं अपनी क्रिया द्वारा घट बनाता है, उसका ऐसा मानना असद् विकल्प होने से आगम में ऐसे विकल्प की असत् व्यवहार में

परिगणना कर बाह्य व्यादितवश इसे उपचरितरूप से स्वीकार किया गया है।

शंका—बालक में सिंह के समान क्रौर्य-शौर्य आदि गुणों को देखकर ही उसमें सिंह का उपचार कर यह कहा जाता है कि यह बालक सिंह है। किन्तु जब कि कुम्भकार में मिट्टी का एक भी गुण दिखलायी नहीं देता, ऐसी अवस्था में मिट्टी के घट परिणमनरूप कार्य को कुम्भकार ने किया, इसे परमार्थ अर्थ को सूचित करनेवाला तो माना नहीं जा सकता। उपचरित कथन भी कहा जाए तो कैसे कहा जाए?

समाधान—यह सच है कि स्वरूपसत्ता की अपेक्षा कुम्भकार में मिट्टी का एक भी गुण नहीं पाया जाता और इसलिए घटपरिणमनरूप कार्य का कर्ता कुम्भकार को कहना परमार्थ की बात तो छोड़िये, उपचार से भी कहना नहीं बनता, वह केवल अनादिरूढ़ लौकिक व्यवहारमात्र है। फिर भी आचार्यों ने ऐसे व्यवहार को जो उपचरित कहा है, सो वह केवल सत्त्व, प्रमेयत्व आदि सादृश्य सामान्य की अपेक्षा मिट्टी से कुम्भकार में अभेद मानकर ही कहा है। यहाँ आदि पद से कर्तृत्व, कर्मत्व, करणत्व, सम्प्रदानत्व, अपादानत्व और अधिकरणत्व धर्मों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ऐसे उपचार में सत्त्व आदि सादृश्य सामान्य की अपेक्षा कुम्भकार को मिट्टीरूप से स्वीकार कर पहले कुम्भकार में मिट्टी के आवश्यक कर्तृत्व आदि गुण-धर्म स्वीकार किये गये और तब जाकर यह कहा गया कि कुम्भकार घट बनाता है, कुम्भ, कुम्भकार का कर्म है आदि।

६. शंका-समाधान

शंका—जब कुम्भकार विवक्षित हस्तादि क्रिया और विकल्प करता है, तभी मिट्टी घटपरिणमनरूप कार्य करती है, इसीलिए यदि

यह कहा जाए कि मिट्टी घटरूप परिणमन करती है और कुम्भकार परिणमाता है, तो क्या आपत्ति है?

समाधान—परमार्थ से ऐसा मानने में यह आपत्ति है कि जो सत्ता की अपेक्षा अत्यन्त भिन्न है, वह अपने से भिन्न दूसरे को कैसे परिणमा सकता है, अर्थात् त्रिकाल में नहीं परिणमा सकता। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने भी इसे (समयसार, गाथा १०७) में असद्भूत-व्यवहारनय से स्वीकार किया है।

शंका—ऐसा व्यवहार तो होता है। क्या उसे असत्य माना जाए?

समाधान—ऐसा व्यवहार होता है, इसमें सन्देह नहीं। ऐसे व्यवहार का हम निषेध भी नहीं करते, क्योंकि उससे इष्टार्थ की सूचना मिलती है या ज्ञान होता है। मिट्टी घटरूप परिणमी, यह प्रकृत में इष्टार्थ है, इसकी सूचना हमें उक्त व्यवहार से मिल जाती है, इसीलिए आगम में उसे स्थान मिला हुआ है और इस दृष्टि से उसे असत्य की कोटि में परगणित भी नहीं किया गया है। वस्तुत: यह ऐसा ही व्यवहार है, जैसे सुननेवाला कोई व्यक्ति व्याख्यान देनेवाले से कहे कि आप सुनाते जाइये हम सुन रहे हैं। विचार करिए यह सुनाना क्या वस्तु है? व्याख्याता का जो कहना है, वही तो दूसरी की अपेक्षा सुनाना है। जितना भी लौकिक व्यवहार होता है, वह प्राय: इसी प्रकार का होता है। उसे परमार्थ मानना ही भूल है और इसीलिए अध्यात्मरत होने के लिए अन्याश्रित सभी प्रकार का व्यवहार त्याज्य है, यह उपदेश दिया गया है।

शंका—तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय में एक उपकार प्रकरण है। उसमें बतलाया है कि कार्य की अपेक्षा एक द्रव्य अपने से भिन्न दूसरे द्रव्य का उपकार करता है, अत: कुम्भकार घट का कर्ता है, इसे उपकाररूप में यथार्थ मानने में आपत्ति ही क्या है?

समाधान—'प्रकृत उप समीपे करोति इति उपकार: ' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ही 'उपकार' शब्द से यह सूचित होता है कि मिट्टी के घटपरिणमनरूप क्रिया का कर्तृत्व कुम्भकार में नहीं है। किन्तु जब मिट्टी घटरूप से परिणमन करती है, तब कुम्भकार बाह्य क्षेत्रादि की अपेक्षा उसके सन्निकट रहकर अपनी हस्तादि के व्यापाररूप क्रिया करता है। यही कारण है कि कुम्भकार घट बनाता है, इसे परमार्थरूप न मानकर उपचरित कथन ही कहा गया है। इसी प्रकार उपकार शब्द के अर्थ में अन्य जितने पर्याय नाम आये हैं, उनका भी यही अर्थ समझना चाहिए।

इस प्रकार व्यवहार से कुम्भ को कुम्भकार का कर्म क्यों कहा जाता है, इसका विचार किया। इसी प्रकार व्यवहारनय से करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण कारकों के विषय में भी विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि घटनिष्पत्ति के समय जो चक्र, चीवर आदि को करणसंज्ञा तथा पृथिवी आदि को जो अधिकरण संज्ञा दी जाती है, वह व्यवहारनय से ही दी जाती है। बाह्य निमित्तत्व की अपेक्षा विचार किया जाए तो वे सब कुम्भकार, चक्र, चीवर और पृथिवी आदि समान हैं और इसीलिए आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय १, सूत्र २० में इस सबको निमित्तमात्र कहा है। ये अनेक हैं। इनमें से किसी एक में घटनिष्पत्ति की अपेक्षा असद्भूतव्यवहार से भी षट्कारकपना घटित नहीं होता। अब तो ऐसे यन्त्र भी बन रहे हैं, जिनसे घटनिष्पत्ति के अनुकूल क्रिया की निष्पत्ति हो सकती है। तब भी मिट्टी ही घटरूप परिणमेगी, यन्त्र नहीं। इसलिए निश्चित होता है कि घटनिष्पत्ति की वास्तविक कारकता मिट्टी में ही घटित होती है, कुम्भकार आदि या यन्त्रादि में नहीं। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर बाह्य व्याप्तिवश कुम्भकार आदि को घट का कर्ता कहना, यह केवल विकल्प ही है, परमार्थरूप नहीं। इसके लिए सर्वार्थसिद्धि

और तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय ५ के '**लोकाकाशेऽवगाहः**' सूत्र पर तथा अनगारधर्मामृत, अध्याय १, श्लोक १०४ की स्वोपज्ञ टीका पर दृष्टिपात कर वस्तुस्थिति को हृदयंगम कर लेना चाहिए। इस विषय को स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि में लिखा है—

यदि धर्मादीनां लोकाकाशमाधारः, आकाशस्य क आधार इति। आकाशस्य नास्त्यन्य आधारः। स्वप्रतिष्ठमाकाशम्। यद्याकाशं स्वप्रतिष्ठम्, धर्मादीन्यपि स्वप्रतिष्ठान्येव। अथ धर्मादीनामन्य आधारः कल्प्यते, आकाशस्याप्यन्य आधारः कल्प्यः। तथा सत्यनवस्थाप्रसंग इति चेत्, नैष दोषः, नाकाशादन्यदधिकपरिमाणं द्रव्यमस्ति यत्राकाशं स्थितमित्युच्येत। सर्वतोऽनन्तं हि तत्। ततो धर्मादीनां पुनरधिकरण-माकाशमित्युच्यते—व्यवहारनयवशात्। एवम्भूतनयापेक्षया तु सर्वाणि द्रव्याणि स्वप्रतिष्ठान्येव। तथा चोक्तम्—क्व भवानास्ते? आत्मनि इति। धर्मादीनि लोकाकाशान्न बहिः सन्तीत्येतावदत्रा-धाराधेयकल्पनासाध्यं फलम्।

शंका—यदि धर्मादिक द्रव्यों का लोकाकाश आधार है, तो आकाश का क्या आधार है?

समाधान—आकाश का अन्य कोई आधार नहीं है, वह स्वप्रतिष्ठ है।

शंका—यदि आकाश स्वप्रतिष्ठ है तो धर्मादिक द्रव्य भी स्वप्रतिष्ठ ही हैं। यहाँ यदि धर्मादिक द्रव्यों का अन्य आधार कल्पित करते हों तो आकाश का भी अन्य आधार कल्पित करना चाहिए। किन्तु ऐसा होने पर अनवस्था का प्रसंग प्राप्त होता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आकाश से अधिक परिमाणवाला अन्य द्रव्य नहीं है, जिसमें आकाश स्थित है यह कहा जावे। वह परिमाण की अपेक्षा सबसे अनन्तगुणा है और इसीलिए व्यवहारनय से धर्मादिक द्रव्यों का अधिकरण आकाश को कहते हैं,

एवम्भूतनय की अपेक्षा तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं। ऐसा कहा है—आप कहाँ हैं ? अपने में। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाश के बाहर नहीं हैं, इतना ही यहाँ आधाराधेय कल्पना से प्रयोजन सिद्ध होता है।

शंका—एवम्भूतनय पर्यायार्थिकनय है जो धर्म का धर्मी से भेद करके कथन करता है, किन्तु निश्चयनय अभेद और अनुपाररूप से वस्तु की व्यवस्था करता है, इसलिए सर्वार्थसिद्धि के उक्त कथन की निश्चयनय के साथ संगति कैसे बैठेगी ?

समाधान—धर्म को धर्मी में अन्तर्लीन करके स्वीकार करने पर वही कथन निश्चयनय का विषय हो जाता है। इसलिए प्रकृत कथन को निश्चयनय की अपेक्षा स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं आती। सर्वार्थसिद्धि में भावनिक्षेप को मुख्यकर, वह कथन किया है और निश्चयनय में गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायवात् में अभेद की मुख्यता है।

शंका—उक्त कथन द्वारा दो द्रव्यों में आधार-आधेयभाव को जो कल्पना कहा गया है, सो इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान—प्रत्येक द्रव्य अपने स्वचतुष्टय को छोड़कर अन्यरूप त्रिकाल में नहीं होता, यह ध्रुव सत्य है। इस अपेक्षा यदि विचारकर देखा जाए तो एक द्रव्य के षट्कारक उसके उसी में घटित होते हैं, अन्य द्रव्य के तद्व्यतिरिक्त अन्य द्रव्य में नहीं। यही कारण है कि प्रकृत में धर्मादिक द्रव्यों को आधेय कहना और आकाश को उसका आधार कहना प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर की गयी मात्र कल्पना ही है, क्योंकि भेद होने पर भी अभेद का उपचार करके यह कहा गया है। देखो, अनगार-धर्मामृत अध्याय १, श्लोक १०४ की स्वोपज्ञ टीका।

शंका—तो क्या यह कल्पना वन्ध्या के पुत्र की कल्पना के समान सर्वथा निराधार ही की गयी है ?

समाधान—नहीं, आकाशद्रव्य परिमाण की अपेक्षा व्यापक है,

और धर्मादिक द्रव्य व्याप्य हैं। इस बाह्य व्याप्ति को देखकर ही यह कल्पना की गयी है कि धर्मादिक द्रव्य आधेय हैं और आकाशद्रव्य उनका आधार है।

शंका—जबकि आकाश में अवगाहनहेतुत्व नाम का गुण है, तब आकाश धर्मादिक द्रव्यों को वास्तव में अवगाहन करता है, ऐसा मानने में क्या आपत्ति है?

समाधान—ऐसा मानने पर धर्मादिक द्रव्य आकाशरूप होकर उनका अभाव हो जाएगा और ऐसा होने पर आकाश का भी अभाव हो जाएगा। जो युक्ति-युक्त नहीं है। अतएव मात्र उक्त गुण के कारण आकाश में यह व्यवहार होता है कि धर्मादिक द्रव्य आधेय हैं और आकाश उनका आधार है। पंचास्तिकाय समय टीका के '**व्यवहारनय -व्यवस्थापितौ उदासीनौ**' इस वचन के अनुसार आकाशद्रव्य सब द्रव्यों के अवगाहन में व्यवहारनय की अपेक्षा उदासीन निमित्त है, यही सिद्ध होता है, ऐसा प्रकृत में समझना चाहिए। दूसरे, इस गुण के कारण ऐसा नियम हो जाता है कि आकाश एकमात्र आधार व्यवहार का बाह्य हेतु है, अन्य प्रकार के कार्यों का व्यवहार हेतु नहीं।

शंका—यदि ऐसा है तो जिनकी प्रेरणा से अन्य जीव-पुद्गलों में क्रिया होती है, उन्हें निमित्तकर्तारूप से स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अन्यथा इन धर्मादिक द्रव्यों को उदासीन निमित्त कहना बनता नहीं? मालूम पड़ता है कि इसीलिए ही आचार्यों ने वायु आदि को ध्वजा आदि फड़कने में निमित्तकर्ता कहा है?

समाधान—वायु आदि में अपनी क्रिया द्वारा निमित्त व्यवहार होता है और आकाशादि में क्रिया के बिना निमित्त व्यवहार होता है। मात्र इस भेद को दिखलाने के लिए ही आचार्यों ने इनमें भिन्न-भिन्न कारक व्यवहार किया है। वस्तुतः अन्य द्रव्य के कार्य का क्रियमाणपना गतिक्रिया करनेवाली वायु आदि में नहीं है। विचार करके देखा जाए

तो ऐसा व्यवहार सविकल्प क्रियावान् जीव में ही घटित होता है, क्योंकि 'मैं इसका कार्य करता हूँ' यह मात्र इच्छापूर्वक होनेवाला विकल्पाश्रित व्यवहार है। जहाँ विकल्प नहीं, वहाँ ऐसा व्यवहार भी नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के 'मैं इस कार्य को करता हूँ या कर सकता हूँ' ऐसी श्रद्धा निर्मूल हो जाती है। अत: आगम में अज्ञानभाव के साथ ही इसकी व्याप्ति स्वीकार की गयी है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए स्वयंभूस्तोत्र में आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम्।
इदं जगज्जन्मजरान्तकार्तं निरंजनां शांतिमजीगमस्त्वम् ॥१२॥

यह जगत् अनित्य है, अशरण है, मैंने यह किया—यह करता हूँ—यह करूँगा। इस प्रकार अहंक्रिया द्वारा मिथ्या अध्यवसाय (विकल्प) दोष को प्राप्त है। तथा जन्म, जरा और मरण से पीड़ित है। हे जिनेन्द्रदेव! एक आप ही ऐसे हैं, जो पूरी तरह निरंजन शान्ति को प्राप्त हुए हैं ॥१२॥

स्वामी समन्तभद्र के इस तथ्यपूर्ण वचन से स्पष्ट है कि जब तक श्रद्धा-मूलक अज्ञानभाव है, तभी तक ही इस जीव के पर का कार्य कर सकने का अहंकार है। ज्ञानभाव में ऐसा अहंकार स्वयं लुप्त हो जाता है।

भगवान अभिनन्दनजिन की स्तुति के प्रसंग से भी इसी तथ्य को उन्होंने पुन: दुहराते हुए कहा है कि प्रत्येक संसारी प्राणी अपने से भिन्न परद्रव्य का कार्य करने में सर्वथा अनीश है, फिर भी अहंक्रिया से पीड़ित होने के कारण ऐसा मानता है कि मैं अपने से भिन्न परद्रव्य का कार्य कर सकता हूँ। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भी समयसार कलश २०५ में इसी तथ्य को स्पष्ट शब्दों में दुहराते हुए यह स्वीकार किया है कि भेदज्ञान के पहले अज्ञानभाव के कारण 'अन्य द्रव्य का कार्य करता है' यह मान्यता बनी रहती है, किन्तु

भेदज्ञान होने पर ऐसी मान्यता स्वयं लुप्त हो जाती है। अतएव जो महानुभाव 'अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य का कार्य करता है' इस मान्यता को श्रुतज्ञान कहने का ढिंढोरा पीटते हुए नहीं अघाते हैं, उनकी वह मान्यता मिथ्या श्रुतज्ञान कैसे है, यह सिद्ध होता है।

७. परमार्थ को स्वीकार करने का फल

ऐसा नियम है कि जहाँ पर आकुलता है, वहीं पर परतन्त्रता है और जहाँ पर निराकुलता है, वहीं पर स्वतन्त्रता है, क्योंकि आकुलता की परतन्त्रता के साथ और निराकुलता की स्वतन्त्रता के साथ व्याप्ति है। अतएव उक्त कथन के समुच्चयरूप में यही निश्चय करना चाहिए कि जो निश्चय कथन है, वह यथार्थ है, वस्तुभूत है और कर्ता, कर्म आदि की वास्तविक स्थिति को सूचित करनेवाला है। तथा जो व्यवहार कथन है, वह विवक्षित कार्य को अन्य के द्वारा बतलानेवाला होने से उपचरित है, अभूतार्थ है, उसे परमार्थ मानने पर वह कर्ता, कर्म आदि की वास्तविक स्थिति का अपलाप करनेवाला है। जो व्यवहाराभासी जन कर्ता-कर्म आदि की यथार्थ स्थिति का अपलाप कर व्यवहार कथन को यथार्थ मानते हैं, उनकी वह श्रद्धा परावलम्बी होने से वे स्वरूप से परनिरपेक्ष आत्मतत्त्व को उपलब्ध करने में समर्थ नहीं होते—अतएव संसार के ही पात्र बने रहते हैं और परमार्थ को जाननेवाले जो पुरुष व्यवहार को गौणकर परमार्थस्वरूप आत्मा के आश्रय से जो प्रवृत्ति करते हैं, वे क्रमशः मोक्ष के पात्र होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के सविकल्प अवस्था में प्रशस्त रागरूप व्यवहार -रत्नत्रय के आश्रय से जो प्रवृत्ति होती है, उसके क्रमशः छूटते जाने का यही कारण है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव के सविकल्प अवस्था में पराश्रित व्यवहार होता तो अवश्य है, पर वह उसका श्रद्धा की अपेक्षा कर्ता नहीं होता। इस अवस्था में भी वह आत्म-परिणाम का ही कर्ता होता है। इस विषय-विशेष पर प्रकाश हम

कर्ता-कर्म अधिकार में डाल ही आये हैं। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर आचार्यवर कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में यह वचन कहा है—

कत्ता करण कम्म फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पं लहदि सुद्धं ॥१२६॥

जो श्रमण आत्मा ही कर्ता है, आत्मा ही करण है, आत्मा ही कर्म है और आत्मा ही फल (सम्प्रदान) है, ऐसा निश्चयकर यदि अन्यरूप नहीं परिणमता है तो वह नियम से शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है ॥१२६॥

ऐसे निश्चयपूर्वक स्वभाव-सन्मुख होने के फलस्वरूप ही निश्चय-मोक्षमार्ग की प्राप्ति होने पर यह अनादि चतुर्गति भ्रमण से त्रस्त हुआ संसारी जीव संसार से छूटकर सिद्धपद का भागी होता है। इसी को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यक्चारित्र भी इसी का नाम है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव प्रवचनसार, अध्याय १ में कहते हैं—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोह-क्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

इसका अर्थ करते हुए पण्डित श्री हेमराजजी पांडे लिखते हैं —

निश्चय कर अपने में अपने स्वरूप का आचरणरूप जो चारित्र, वह धर्म अर्थात् वस्तुस्वभाव है। जो स्वभाव है, वह धर्म है। इस कारण अपने स्वरूप के धारण करने से चारित्र का नाम धर्म कहा गया है। जो धर्म है, वही समभाव है, ऐसा श्री वीतरागदेव ने कहा है। वह साम्यभाव क्या है? उद्वेगपने से रहित आत्मा का परिणाम वही साम्यभाव है।

इसकी तत्त्वदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव लिखते हैं—

स्वरूपे चरणं चारित्रम्, स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तु-स्वभावत्वाद् धर्मः। शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः। तदैव च यथाव-स्थितात्मगुणत्वात् साम्यम्। साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदया-पादितसमस्तमोह-क्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः।

आत्मा के शाश्वत स्वरूप में रममाण होना चारित्र है। इसका तात्पर्य है—अपने उपयोगरूप परिणाम के द्वारा स्वसमय में प्रवृत्त होना। वस्तु के स्वभावरूप होने से इसी का नाम धर्म है। इसका तात्पर्य है—शुद्ध चैतन्य का प्रकाशन। और वही यथावस्थित आत्मा के गुणस्वरूप होने से साम्य कहलाता है। साम्यभाव वह है जो दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म के उदय को निमित्तकर होनेवाले मोह और क्षोभरूप विकारी परिणामों से अत्यन्त मुक्त जीव का परिणाम है ॥७॥

इसका आशय पण्डित श्री हेमराज पांडेजी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

अभिप्राय यह है कि वीतरागचारित्र वस्तु का स्वभाव है। वीतराग -चारित्र, निश्चयचारित्र, धर्म, समपरिणाम, ये सब एकार्थवाचक हैं और मोहकर्म से जुदा निर्विकार जो आत्मा का परिणाम स्थिररूप सुखरूप वही चारित्र का स्वरूप है ॥७॥

शंका—बाह्य-आभ्यन्तर चारित्रमोहनीय का पूर्ण उपशम या क्षय-क्रमशः ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में ही पाया जाता है, इसलिए प्रकृत में उक्त चारित्र का लक्षण उक्त गुणस्थानों को लक्ष्य में रखकर कहा गया है, ऐसा मानने में आपत्ति ही क्या है?

समाधान—नहीं, क्योंकि जैसे ज्ञानावरण के क्षयोपशम में तारतम्य होने से ज्ञान में तारतम्य स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार चारित्र-मोहनीय के उपशम, क्षय या क्षयोपशम में तारतम्य होने से सद्भूत -व्यवहारनय से चारित्र में भी तारतम्य स्वीकार किया गया है। निश्चयनय अभेद और अनुपचार को ही स्वीकार करता है, इसलिए

तत्त्वदृष्टि से चौथे आदि गुणस्थानों में जो भी स्वभाव पर्याय होती है, उसका स्वभाव से अभेद होने के कारण उसमें गुणस्थान भेद लक्षित नहीं होने से एक आत्मा ही प्रद्योतित रहता है। चौथे गुणस्थान में उस स्वभावपर्याय का उदय हो जाता है, क्योंकि वहाँ पर सम्यग्दर्शन प्राप्ति के काल में अन्तर्मुहूर्तकाल तक गुणश्रेणि निर्जरा नियम से होती है। जो स्वरूपरमणरूपचारित्र के होने पर ही सम्भव है। यह तो चौथे गुणस्थान की स्थिति है। पाँचवें गुणस्थान से वह अवस्थितिरूप से होने लगती है। निर्विकल्प अवस्था में तो वह होती ही है, सविकल्प अवस्था में भी होती है। जिसका उदय स्वरूपरमणरूप चारित्र की प्राप्ति होने पर ही सम्भव है। जो संसारी जीव चौथे आदि गुणस्थानों को प्राप्त होता है, वह स्वरूपरमणता के काल में ही उन-उन गुणस्थानों का अधिकारी होता है। ऊपर चढ़ने का अन्य कोई मार्ग नहीं, क्योंकि किसी भी स्वभाव पर्याय की प्राप्ति अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव में उपयोग के एकाकार होने पर ही होती है, ऐसा एकान्त नियम है। यही कारण है कि छठवें गुणस्थान की प्राप्ति मात्र सातवें गुणस्थान से पतन होने पर ही स्वीकार की गयी है।

एक बात और है और वह यह कि जो मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान को प्राप्त करता है, उसके अनन्तानुबन्धी का कम-से-कम सदवस्थारूप उपशम अवश्य रहता है। वहाँ पहुँचकर वह उसकी विसंयोजना भी कर सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि उसके तत्सम्बन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का भी अभाव रहता है। यतः यह अनन्तानुबन्धीकषाय मिथ्याचारित्र का अविनाभावी है, इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उसके व्रतादि की प्राप्ति की अपेक्षा अविरति के रहते हुए भी विषयकषाय में रमणरूप मिथ्याचारित्र नहीं होता। उसमें साभिप्राय ऐसी अविरति का सर्वथा निषेध है। स्वामित्वबुद्धि के बिना ही उसकी अप्रत्याख्यानावरण और

प्रत्याख्यानावरण कषाय को निमित्तकर अविरतिरूप परिणति देखी जाती है। स्वामित्व की दृष्टि से वह अपने ज्ञायकस्वभाव आत्मा का ही स्वामी है और उसी का उपासक है। अन्य सबके साथ उसके स्वामी-सेवकभाव का सर्वथा अभाव ही रहता है और इसी कारण सम्यग्दृष्टि को आगम में ज्ञान-वैराग्य शक्ति सम्पन्न स्वीकार किया गया है। वह पंचेन्द्रियों के विषयों का भोग तो करता है, फिर भी उनका भोक्ता नहीं होता। देखो, कैसी भावना के काल में यह जीव मिथ्यादृष्टि अर्थात् अनन्त संसारी बना रहता है और उस भावना का लोप होने पर किस प्रकार सम्यग्दृष्टि हो जाता है, इस तथ्य का निर्देश करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार में लिखते हैं —

अहंमेदं एदमहं अहमेदस्सम्हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सचित्ताचित्तमिस्सं वा॥२०॥

अत्थि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि॥२१॥

एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थ जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो॥२२॥

जो जीव सचित्त, अचित्त और अन्य पदार्थों में मैं यह हूँ, यह मैं हूँ, मैं इसका हूँ, यह मेरा है, यह मेरा पहले था, मैं इसका पहले था, यह मेरा पुनः होगा और मैं इसका पुनः होऊँगा, इस जाति का अन्य पदार्थों में असत् विकल्प करता है, वह नियम से मूढ़ है, अज्ञानी है, बहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टि है, परद्रव्यप्रवृत्त है या परसमय में स्थित है। किन्तु जो अन्य पदार्थों में इस जाति का झूठा विकल्प नहीं करता, वह अमूढ़ है, ज्ञानी है, अन्तरात्मा है, सम्यग्दृष्टि है, स्वद्रव्यप्रवृत्त है या स्वसमय में स्थित है॥२० से २२॥

इस प्रकार इस तथ्यपूर्ण कथन से यह स्पष्ट भासित हो जाता है कि जो आत्मातिरिक्त अन्य जड़-चेतन पदार्थों में निजपने के

अभिप्रायपूर्वक प्रवृत्ति या विकल्प करता है या अनुकूल प्रतिकूल समझकर उसमें सुख-दु:ख मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। अत: उसी के साभिप्राय अविरति पायी जाती है। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि है, उसके श्रद्धा की अपेक्षा उक्त प्रकार की अविरति या परद्रव्यप्रवृत्त प्रवृत्ति या उस प्रकार के विकल्प का सर्वथा अभाव है। जो उसके परपदार्थों को निमित्तकर प्रवृत्ति या विकल्प देखा भी जाता है—'वह मैं या मेरा' ऐसे आत्मपने के अभिप्रायपूर्वक न होने से परमार्थ से वह उसका न तो कर्ता होता है, न कारयिता होता है और न ही अनुमन्ता होता है। अभी जो भी संयोग बना हुआ है, उसका सम्बन्ध अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायमूलक ही जानना चाहिए, क्योंकि सम्यग्दर्शनादि से तन्मय हुआ आत्मतत्त्व ही उसका स्व है। अन्य जितना ज्ञानावरणादि कर्म, कर्मनिमित्तक रागादि तथा शरीरादि और पुत्र, मित्र, धन आदि जितना भी परिकर है, वह सब न तो उसमें है, न उसका है और न ही वह है। वह तो एकमात्र ज्ञायकस्वरूप आत्मा ही है। भेद विवक्षा में वह गुण भी नहीं तथा सम्यग्दर्शनादि पर्याय भी नहीं। वह तो जिसमें अनन्त धर्म अन्तर्लीन हैं, ऐसा एक धर्मी है और उसी का भोक्ता है।

संवर अधिकार में जो यह कहा है कि उपयोग (पर्याय) में उपयोग आत्मा है और क्रोधादिक में क्रोधादिक हैं। न तो उपयोग में क्रोधादिक और कर्म-नोकर्म हैं और न ही क्रोधादिक और कर्म-नोकर्म में उपयोग है। उनमें संज्ञाभेद और लक्षणभेद आदि होने से आधारभेद सुनिश्चित है। ऐसी अन्त:श्रद्धा यदि सम्यग्दृष्टि की न हो तो वह संवर और निर्जरा-पूर्वक मोक्ष का अधिकारी त्रिकाल में नहीं हो सकता।

असद्भूतव्यवहारनय से विचार किया जाए तो वह इन्द्रियों का सेवन करता है, पर परमार्थ से उनका सेवक नहीं होता। वह पर का न तो स्वामी है और न गुलाम ही है। वह तो अपना स्वामी है और उसी का सेवक भी है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि के श्रद्धा

की अपेक्षा साभिप्राय पराश्रित प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव ही रहता है। जो उसके अप्रत्याख्यान आदि कषाय निमित्तक पराश्रित प्रवृत्ति कही भी जाती है, वह अनन्तानुबन्धी कषायमूलक न होने से उसके स्वरूप –रमणरूप चारित्र के स्वीकार करने में आपत्ति ही क्या हो सकती है।

सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व भाव तो होता ही नहीं। उसके यथाख्यात –चारित्र के पूर्व जो राग–द्वेष स्वीकार किये गये हैं, सो वे भी अबुद्धिपूर्वक ही स्वीकार किये गये हैं। इसी तथ्य को आचार्य अमृतचन्द्रदेव समयसार गाथाा १७२ में स्वीकार करते हुए लिखते हैं —

यो हि ज्ञानी बुद्धिपूर्वकराग–द्वेष–मोहरूपास्त्रवभावाभावात् निरास्त्रव एव। किन्तु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वाशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्यनुचरति तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीय–मानाबुद्धिपूर्वककलंक विपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मबन्धः स्यात्।

जो वास्तव में ज्ञानी है, उसके बुद्धिपूर्वक राग–द्वेष–मोहरूपी आस्त्रवभावों का अभाव होने से वह निरास्त्रव ही है। किन्तु वह भी जब तक ज्ञान को सर्वोत्कृष्टरूप से देखने, जानने और आचरने में असमर्थ होता हुआ जघन्यरूप से ही ज्ञान को देखता, जानता और आचरता है, तब तक उसके जघन्य भाव अन्यथा हो नहीं सकता, इससे अनुमान किये गये अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंक के उदय का सद्भाव होने से पुद्गलकर्म का बन्ध होता है।

मन द्वारा बाह्य विषयों का आलम्बन करके जो परिणाम प्रवृत्त होते हैं और अपने अनुभव में भी आते हैं तथा दूसरे पुरुष अनुमान द्वारा जिनको जान सकते हैं, वे बुद्धिपूर्वक परिणाम कहलाते हैं। किन्तु जो इन्द्रिय और मन के बिना अर्थात् अभिप्राय के बिना केवल मोहोदय के निमित्त से प्रवृत्त होते हैं, वे अबुद्धिपूर्वक परिणाम कहलाते हैं। इससे स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि के जो अविरति पायी जाती है, वह

अभिप्रायपूर्वक न होने से वह उसका बुद्धिपूर्वक कर्ता नहीं होता। उसका सद्भाव कर्मोदय के साथ है, ज्ञानभाव के साथ नहीं। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्यादृष्टि के अज्ञानभाव के रहते हुए जिस जाति की अविरति पायी जाती है, ज्ञानी के उसका अभाव ही समझना चाहिए।

शंका—जीवकाण्ड में सम्यग्दृष्टि के अविरति का कथन करते हुए बतलाया है कि वह इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरत नहीं होता, सो क्या बात है। क्या इस कथन का पूर्वोक्त कथन के साथ विरोध नहीं आता?

समाधान—जीवकाण्ड करणानुयोग का ग्रन्थ है, उसमें जितना भी कथन हुआ है, वह पर्याय की अपेक्षा ही हुआ है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति की अपेक्षा नहीं। सम्यग्दृष्टि का समग्र जीवन विवेक पूर्वक ही होता है, इसलिए उसके बिना प्रयोजन के स्थावर हिंसा भी नहीं होने पाती। जैसे भोजनादि में प्रवृत्ति और जल-वनस्पति आदि का ग्रहण व्रती के भी पाया जाता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि भी बाह्य विषयों आदि में सावधानीपूर्वक ही प्रवृत्ति करता है। वह मिथ्यादृष्टि की तरह असावधान नहीं होता। वह अव्रती इसीलिए है कि गुरु की साक्षीपूर्वक उसने अभी व्रत स्वीकार नहीं किये हैं। इसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय का चमत्कार ही कहना चाहिए, जिससे उसके व्रत स्वीकार करने के परिणाम नहीं हो पाते। पर बाह्य प्रवृत्ति उसके मिथ्यादृष्टि की तरह अनियन्त्रित होती हो, ऐसा नहीं है।

आगम सम्यग्दृष्टि के बहुलता से शुभभाव ही स्वीकार करता है। अशुभभाव तो उसके होता ही नहीं। इसका फलितार्थ यह है कि उसके संसार अर्थात् विषय-कषाय के प्रयोजनभूत आर्त और रौद्रध्यान तो कदाचित् भी नहीं होते। उसके कदाचित् ये होते भी हैं तो मुख्यतया धर्मायतनों को निमित्तकर ही होते हैं और इसीलिए इसके नरकायु

और तिर्यंचायु का तथा इन दो गतियों से सम्बन्धित अन्य प्रकृतियों का तो बन्ध होती ही नहीं। यदि वह मनुष्य और तिर्यंच है तो मनुष्यायु का भी बन्ध नहीं होता। उसके इस अवस्था में भी देवायु का ही बन्ध होता है। यदि वह देव या नारकी है तो वह अवश्य ही मनुष्यायु का ही बन्ध करेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो स्वयं बन्धस्वरूप है और बन्ध का हेतु है, उसे मोक्षमार्ग की दृष्टि से ध्येय कैसे बनाया जा सकता है, कदापि नहीं। यही कारण है कि उसे मोक्षमार्ग में उपादेयरूप से स्वीकार नहीं किया गया है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने व्यवहार को जो प्रयोजनीय कहा है, वह ज्ञेयपने की अपेक्षा ही कहा है, क्योंकि कार्य की दृष्टि से कर्म और नोकर्म आदि जितने भी स्वीकार किये जाते हैं, वे सब सम्यग्दृष्टि के ज्ञेय हो जाते हैं। जिसे व्यवहार धर्म कहते हैं, वह भी मोक्षमार्ग कार्य की दृष्टि से नोकर्म में गर्भित है। देखो, मोक्षमार्गी के बाह्य क्रिया के होने पर पश्चाताप या कार्योत्सर्ग आदि द्वारा वह आत्मा की ओर मुड़ता है। आत्मकार्य को गौणकर बाह्य -क्रिया की ओर कदापि नहीं मुड़ना चाहता। पुरुषार्थ की हीनतावश बाह्यक्रिया होती अवश्य है, पर उसे वह आत्मकार्य में बाधा ही मानता है। यह इसी से स्पष्ट है कि ध्यान के समाप्त होने पर उसके बाद प्रायश्चित या कायोत्सर्ग करने का विधान आगम में नहीं कहा गया है, पर बाह्य मन-वचन-काय की प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में कायोत्सर्ग या प्रायश्चित का विधान आगम में अवश्य किया गया है।

८. स्वरूपरमण के काल में ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है

हम पहले 'स्वरूपे चरणं चारित्रम्' इस वचन के अनुसार चारित्र का निर्देश कर आये हैं। किन्तु कितने ही महानुभाव विकल्प के काल में ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मानते हैं। वे इस तथ्य को भूल जाते हैं कि सम्यग्दर्शन स्वभावपर्याय है, इसलिए उसकी उत्पत्ति विकल्प द्वारा नहीं हो सकती। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के काल में विकल्प

स्वयं ऐसे ही छूट जाता है, जैसे ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व की भावना के काल में पराश्रित शुभ व्यवहार का स्वयं लोप हो जाता है या शुभाचाररूप व्यवहार के काल में अशुभाचाररूप व्यवहार का नाम-निशान भी शेष नहीं रहता। अन्यथा चरणानुयोग के अनुसार शुभाचार या अशुभाचार को भावनिक्षेप का विषय नहीं माना जा सकता। सम्यग्दर्शन को भावनिक्षेपरूप मानना तभी बनता है, जब स्वानुभूति के काल में ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति स्वीकार की जाए। पण्डितप्रवर आशाधरजी अपने अनगारधर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका में लिखते हैं—

तत्त्वरुचि तत्त्वस्य परापरवस्तुयाथात्म्यस्य रुचिः श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तात्मनः स्वरूपं न त्विच्छालक्षणम्, तस्योपशान्तकषायादिषु मुक्तात्मसु चासम्भवात्।

आशय यह है कि प्रकृत में तत्त्वरुचि पद से ऐसी परापरवस्तु का यथार्थतारूप श्रद्धान लिया गया है, जो प्राणी की इच्छा अर्थात् विकल्प न होकर विपरीताभिनिवेश से रहित आत्मा का निजस्वरूप है। इसमें हेतु यह दिया गया है कि यदि सम्यग्दर्शन को इस रूप नहीं मानकर विकल्परूप माना जाता है तो वह उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानों तथा सिद्धों में नहीं बन सकता है।

इस प्रकार जब सम्यग्दर्शन को स्वाभाविक आत्मपरिणामरूप स्वभावपर्याय स्वीकार कर लिया गया है, तो उसका अविनाभावी स्वरूपरमणरूप चारित्र मानना ही पड़ता है, क्योंकि उस जीव का उपयोग अपने ज्ञायकस्वरूप आत्मा में रममाण ही नहीं और निश्चय सम्यग्दर्शनरूप स्वभावपर्याय की प्राप्ति हो जाए, वह त्रिकाल में सम्भव नहीं है। सम्यग्दृष्टि की इसी अनुभवदशा का निर्देश करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार में कहते हैं —

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहि।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१९८॥

जिनदेव ने कर्मों के उदय का विपाक अनेक प्रकार का कहा है, वे मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव हूँ॥१९८॥

यही कारण है कि आचार्यदेव ने ऐसी अपूर्व स्वानुभूति को सम्यग्दर्शन पद द्वारा अभिहित किया है। ज्ञायकस्वभाव आत्मा क्या है और उसकी अनुभूति क्या है, जिसे कि सम्यग्दर्शन कहा जाए, इसका स्पष्ट निर्देश करते हुए वे जीवाजीवाधिकार में खुलासा करते हुए लिखते हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं विजाणाहि॥१४॥

जो आत्मा को अर्थात् निज आत्मा के स्वरूप को अबद्ध-स्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पाँच भावरूप देखता है अर्थात् अनुभवता है, हे मुमुक्षु! इसे शुद्धनय जान॥१४॥

इसकी आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्रदेव लिखते हैं—

या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः। सात्वनुभूतिरात्मैवेत्यात्मैक एव प्रद्योतते।

निश्चय से अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्मा की जो अनुभूति होती है, वह शुद्धनय है और वह अनुभूति आत्मा ही है, इसलिए एक आत्मा ही अनुभवरूप प्रकाशमान है।

यहाँ विषय और विषयी में अनुभवनेवाला भी आत्मा है और जो अनुभवा गया, वह भी आत्मा है। इस प्रकार इन दोनों में अभेद होने से स्वानुभूति को ही आत्मा कहकर उसे शुद्धनय कहा गया है। इतना ही सम्यग्दर्शन है और आत्मा भी इतना ही है, इसी को कलश काव्य में स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं —

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः,
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम्,
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥६ ॥

जो शुद्धनयस्वरूप होने से एकरूप अपने स्वरूप में नियत है, अपने गुण-पर्यायों में निमग्न है तथा सब प्रकार से या सब ओर से पूर्ण ज्ञानघन है, ऐसे अन्य द्रव्यों से पृथक् इस आत्मा को देखना अर्थात् अनुभवना ही नियम से सम्यग्दर्शन है, ऐसे अनुभव की दशा में विचारकर देखा जाए तो जितना सम्यग्दर्शन है, उतना ही आत्मा है। इसलिए आचार्यदेव कामना करते हैं कि नवतत्त्व की परिपाटी को छोड़कर यह आत्मा एक ही हमें प्राप्त हो ॥६ ॥

इसी तथ्य को प्रांजलरूप से स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार में कहते हैं —

सम्मदंसण-णाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४॥

जो सर्व नय पक्षों से रहित है, वह समयसार है, ऐसा जिनदेव ने कहा है और अकेला वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान संज्ञा को प्राप्त होता है ॥१४४॥

इसकी आत्माख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं —

समस्त नय पक्षों के द्वारा क्षुभित न किये जाने से जिसका समस्त विकल्पों का व्यापार रुक गया है, ऐसा जो समयसार है, वास्तव में वह एक ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान संज्ञा को धारण करता है। हेतु पूर्वक उसी को स्पष्ट करते हैं—सर्व प्रथम श्रुतज्ञान के द्वारा ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके, तदनन्तर जिसने आत्मा की प्रकट प्रसिद्धि के लिए परपदार्थों की प्रसिद्धि के कारणभूत इन्द्रिय और मनपूर्वक प्रवर्तमान बुद्धियों को जानकर जिसने मतिज्ञान को

आत्मा के सन्मुख किया है तथा नाना प्रकार के नयपक्षों के अवलम्बन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान सम्बन्धी बुद्धियों को भी जानकर जिसने श्रुतज्ञान तत्त्व को भी आत्माभिमुख किया है और इस प्रकार जो अत्यन्त निर्विकल्प हुआ है, वह तत्काल निज रस से प्रगट होते हुए, आदि-मध्य-अन्त से रहित, अनाकुल, केवल एक मानो सम्पूर्ण विश्व पर तैर रहा है अर्थात् समस्त जगत् से भिन्न ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघन, परमात्मस्वरूप समयसार को जब अनुभवता है, तभी आत्मा सम्यक् दृष्टिगोचर होने के साथ ज्ञात होता है, इससे स्पष्ट है कि समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

इस प्रकार हम जानते हैं कि जो विकल्पातिक्रान्त स्वानुभूति है, वही सम्यग्दर्शन है और वही सम्यग्ज्ञान है। विचार कर देखा जाए तो वही सम्यक्चारित्र है। ये तीनों एक आत्मा ही हैं। इस दृष्टि से इनमें भेद नहीं है, भेददृष्टि से देखने पर भी इन तीनों का उदय एक काल में ही होता है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में जो तारतम्य दिखलायी देता है, वह दोष और प्रतिबन्धक कर्मों के क्षयोपशम की हीनाधिकता के कारण ही दृष्टिगोचर होता है।

शंका—चतुर्थ गुणस्थान में जब चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम स्वीकार नहीं किया गया है, तब सम्यक्चारित्र कैसे बन सकता है?

समाधान—सम्यग्दर्शन को स्वरूप की स्वानुभूतिरूप स्वीकार करने से ही वहाँ सम्यक्त्वाचरणरूप सम्यक्चारित्र स्वीकार किया गया है। इसी का दूसरा नाम स्वरूपाचरणचारित्र भी है जो दर्शन -मोहनीय के साथ अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव में होता है। अनन्तानुबन्धी को चारित्रमोहनीय में गर्भित करने का यही कारण है।

९. केवल निश्चय षट्कारक की चरितार्थता

इस प्रकार उक्त विवेचन से प्रत्येक स्वभावपर्याय स्वोन्मुख होकर

आत्मस्थिति के काल में ही प्रगट होती है, यह स्पष्ट हो जाने पर उस काल में षट्कारक प्रक्रिया का आगम में जिस प्रकार निर्देश किया गया है, उसे यहाँ स्पष्ट किया जाता है —

अयमात्मात्मनात्मानमात्मन्यात्मन आत्मने,
समादधानो हि परां विशुद्धिं प्रतिपद्यते॥११६॥

स्वसंवेदन से सुव्यक्त हुआ यह आत्मा निर्विकल्पस्वरूप अपने आत्मा में करण (इन्द्रियाँ) और मन द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान से मुक्त होकर अपने स्वसंवेदनस्वरूप स्व के द्वारा अपने शुद्ध चिदानन्दरूप निज आत्मा की प्राप्ति के लिए शुद्ध चिदानन्दमय स्व को ध्याता हुआ क्रमशः उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त होता है॥११३॥

स्वानुभूति के काल में जो एकाग्रता होती है, उसी को यहाँ स्पष्ट किया गया है। ऐसा आत्मा स्वयंम्भू कैसे बनता है, इसका निर्देश करते हुए प्रवचनसार, गाथा १६ की तत्त्वदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव लिखते हैं—

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगभावनानुभावप्रत्यस्तमितसमस्त-घातिकर्मतया समुपलब्धशुद्धानन्तशक्तिचित्स्वभावः शुद्धानन्त-शक्तिज्ञायकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वात् गृहीतकर्तृत्वाधिकारः शुद्धानन्त-शक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन् शुद्धानन्त-शक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन साधकतमत्वात् करणत्वमनुबिभ्राणः शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन कर्मणा समाश्रियमाणत्वात् सम्प्रदानत्वं दधानः शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनसमये पूर्वप्रवृत्त-विकल्पज्ञानस्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वालम्बनाद-पादानत्वमुपाददानः शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावस्या-धारभूतत्वादधिकरणत्वमात्मसात्कुर्वाणः स्वयंमेव षट्कारकीरूपे-णोपजायमानः उत्पत्तिव्यपेक्षया द्रव्यभावभेदभिन्नघातिकर्माण्यपास्य स्वयंमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयम्भूरिति निर्दिश्यते। अतो न निश्चयतः

परेण सहात्मनः कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतन्त्रैर्भूयते ॥१६ ॥

शुद्धोपयोग की भावना के प्रभाववश द्रव्य-भावरूप समस्त घातिकर्मों को नष्ट करने से शुद्ध अनन्तशक्ति युक्त अपने चैतन्यस्वभाव को उपलब्ध करनेवाले (१) जिस आत्मा ने शुद्ध अनन्त शक्तिरूप ज्ञायकस्वभाव के कारण स्वतन्त्र होने से अपने कर्तृत्व के अधिकार को ग्रहण किया है, (२) शुद्ध अनन्त शक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणमन स्वभावरूप से प्राप्य होने के कारण जो कर्मपने का अनुभव कर रहा है, (३) शुद्ध अनन्त शक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणमन स्वभावरूप से साधकतम होने के कारण जो करणपने को धारण कर रहा है, (४) शुद्ध अनन्त शक्तियुक्त ज्ञानरूप से विपरिणमन स्वभावरूप से कर्म के द्वारा समाश्रियमाण होने के कारण जो सम्प्रदानपने को धारण कर रहा है, (५) शुद्ध अनन्त शक्तियुक्त ज्ञानरूप से विपरिणमन के समय पूर्व समय में प्रवृत्त हुए विकल ज्ञानस्वभाव का व्यय होने पर भी सहज ज्ञानस्वभावरूप से ध्रुवपने का अवलम्बन होने से जो अपादानपने को धारण कर रहा है, (६) तथा शुद्ध अनन्त शक्तियुक्त ज्ञानरूप से विपरिणमनरूप स्वभाव का आधार होने के कारण जो अधिकरणपने को आत्मसात् कर रहा है, ऐसा यह आत्मा स्वयं ही षट्कारकरूप से उत्पन्न होता हुआ अथवा उत्पत्ति की अपेक्षा द्रव्य-भाव के भेद से भेदरूप घातिकर्मों को दूर करके स्वयं ही आविर्भूत होने से स्वयंम्भू ऐसा निर्दिष्ट किया जाता है। इससे सिद्ध है कि निश्चय से आत्मा का पर के साथ कारकपने का सम्बन्ध नहीं है, जिससे कि ये जीव शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए बाह्य सामग्री को ढूँढ़ने की व्यग्रता से परतन्त्र होते हैं ॥१६ ॥

इस उल्लेख से जिन तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है, वे इस प्रकार हैं—

(१) प्रत्येक वस्तु षट्कारकरूप से प्रति पर्याय की उत्पत्ति के

समय परिणमन करती रहती है। उसी समय वह स्वयं अपने कार्य का कर्ता है, अभेददृष्टि में वही कर्म है, वही कारण है, वही सम्प्रदान है, वही अपादान है और वही अधिकरण है। अपेक्षाभेद का उल्लेख मूल में किया ही है। पण्डितप्रवर आशाधरजी के जिस वचन का हम उल्लेख कर आये हैं, सो उसका आशय भी यही हैं।

(२) आत्मा का ज्ञानभावरूप से स्वयं को जानकर उसरूप परिणमन करना जहाँ स्वतन्त्र होने का उपाय है, वहीं स्वयं को पराश्रित रागरूप अनुभव करते हुए उसरूप परिणमन करते रहना परतन्त्र होना है। इसीलिए आगम में पर की ओर झुकाववाले जितने भी परिणाम होते हैं, उन्हें मोक्षमार्ग में बाधक ही कहा गया है।

(३) जिन्हें हम व्यवहार षट्कारकरूप से स्वीकार करते हैं, वे स्वरूप से स्वयं व्यवहार षट्कारक नहीं होते, किन्तु अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर कालप्रत्यासत्तिवश हम उनमें षटकारकपने की कल्पना करते रहते हैं। यही पराश्रित वृत्ति है। ऐसा मानने का मुख्य हेतु रागभाव है, ज्ञानभाव नहीं।

(४) तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय में जो उपकार प्रकरण आया है या अन्यत्र कर्मों के उदय के कारण जो जीवों की विविध अवस्थाएँ होने का उल्लेख किया गया है या अन्यत्र जो दूसरे प्रसंग से निमित्त-नैमित्तिक कथन दृष्टिगोचर होता है, सो उसे परमार्थभूत न समझकर मात्र असद्भूतव्यवहारनय से पराश्रित कथन ही समझना चाहिए।

शंका—मिथ्यादृष्टि के अज्ञानमूलक पराश्रित प्रवृत्ति की ही मुख्यता बनी रहती है, ऐसी अवस्था में वह मिथ्यात्व से विमुख होकर सम्यग्दर्शन को उत्पन्न कर ले, यह कैसे सम्भव है?

समाधान—जैसे कोई कुलीन मनुष्य असदाचारी को अपना मित्र समझकर पहले उसकी संगति किये हुए हो, बाद में उसे सच्चरित्र का सम्पर्क होने के बाद उसके उपदेश से अपने कुल का भान होने

पर क्रमश: या उसी समय वह असदाचारी की संगति छोड़कर स्वयं सदाचारी बन जाता है। उसी प्रकार कोई मिथ्यादृष्टि सद्गुरु का उपदेश पढ़कर पर से भिन्न अपने आत्मा को जानकर क्रमश: या तत्काल उस उपदेश को अनुस्मरणकर वह आत्मदृष्टि को प्राप्तकर सम्यग्दृष्टि बन जाता है।

शंका—यदि यह बात है तो सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का मुख्य कारण गुरु को मानना चाहिए?

समाधान—गुरु सदुपदेश का निमित्त है। सम्यग्दर्शन तो उसने स्वसन्मुख होकर स्वयं ही उत्पन्न किया है। यदि गुरु के निमित्त से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मानी जाए तो एक तो जिस जिसको सद्गुरु का उपदेश मिले, वे सब सम्यग्दृष्टि हो जाने चाहिए। दूसरे, वह स्वभाव -पर्याय नहीं होगी। क्योंकि जितनी भी स्वभावपर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे परनिरपेक्ष ही होती हैं।

शंका—परसापेक्ष और परनिरपेक्ष में क्या अन्तर है?

समाधान—जहाँ विकल्प में पर की अपेक्षा बनी रहती है, वहाँ पर-सापेक्ष पर्यायें उत्पन्न होती हैं और जहाँ पर की अपेक्षारूप विकल्प छूटकर आत्मा स्व के सन्मुख होकर तन्मय हो जाता है। वहाँ स्वभाव पर्याय की उत्पत्ति होती है। यही इन दोनों प्रकार की पर्यायों में अन्तर है।

शंका—सम्यग्दृष्टि जीव के भी परमार्थस्वरूप देवादि के निमित्त से परसापेक्ष पर्याय देखी जाती है, ऐसी अवस्था में उसके सम्यग्दर्शनरूप स्वभावपर्याय कैसे बनी रहती हैं?

समाधान—उसके अनन्तानुबन्धी रागमूलक परसापेक्ष पर्याय तो होती ही नहीं। अप्रत्याख्यानादिमूलक परसापेक्ष पर्याय के होने पर भी, उसके अपने आत्मा में उपादेयपने का भाव सदा बना रहता है, इसलिए उसके सम्यग्दर्शनपर्याय के बने रहने में कोई बाधा नहीं आती। यह सामान्य नियम है।

शंका—यदि यह बात है तो उपशम सम्यग्दृष्टि या क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शनपर्याय से च्युत होकर नीचे के गुणस्थानों को कैसे प्राप्त हो जाते हैं ?

समाधान—संसारी जीवों के छठवें गुणस्थान तक यथासम्भव अप्रत्याख्यानादि प्रत्येक कषाय की जाति संक्लेश और विशुद्धि के भेद से दो प्रकार की स्वीकार की गयी है। ये दोनों प्रकार के परिणाम एकेन्द्रिय-जीवों से लेकर छठवें गुणस्थान तक सभी जीवों के स्वभाव से क्रमश: होते रहते हैं। विस्रसापने की अपेक्षा इनमें से प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त है। प्रयोग की अपेक्षा यथासम्भव इनका जघन्य काल एक समय भी होता है। अब समझिये कि किसी जीव के चतुर्थ गुणस्थान में रहते हुए उस गुणस्थान के योग्य संक्लेश जाति की कषाय इतनी वृद्धि को प्राप्त हो जाए कि जिसके बाद उसका पतन होना निश्चित है, तब सम्यग्दृष्टि जीव भी यथायोग्य नीचे के गुणस्थानों को प्राप्त हो जाता है।

शंका—क्या कोई सम्यग्दृष्टि गुरु के सिवाय जिनागम के अभ्यासी मिथ्यादृष्टि गुरु के निमित्त से भी सम्यग्दर्शन को उत्पन्न कर सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो स्वयं अन्तरंग में विषय-कषाय की रुचिवाला बना हुआ है, जो निश्चय मोक्षमार्ग के समान बाह्य व्रतादि को भी यथार्थ मोक्षमार्ग मानता है, जो लौकिक प्रवृत्ति में रुचि लेता है, स्वयं यश:कामी ऐसे किसी भी नामधारी गुरु या व्यक्ति के उपदेश को निमित्तकर सम्यग्दर्शनरूप स्वभावपर्याय की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है। वास्तव में वह मोक्षमार्ग का गुरु ही नहीं है, क्योंकि जिसके सम्यग्दर्शन के अभाव में व्रत देखे जाते हैं, उसे वास्तव में गुरु कहना या मानना बनता नहीं।

शंका—व्यवहार से उसे गुरु कहने में तो आपत्ति नहीं है ?

समाधान—लोकानुरोधवश किसी को गुरु नाम से सम्बोधित

करना और बात है, पर यह उसकी संज्ञा हुई, जिसका नामनिक्षेप में ही अन्तर्भाव होता है।

शंका—सम्यग्दृष्टि के मुख से सुना हुआ उपदेश ही सम्यग्दर्शन का निमित्त हो सकता है, यह आग्रह क्यों?

समाधान—श्री धवलाजी पुस्तक ६ में एक शंका-समाधान आया है, जिससे हम जानते हैं कि सम्यग्दृष्टि द्वारा दिया गया उपदेश ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति का निमित्त है। वह शंका-समाधान इस प्रकार है—

कथं तेसिं धम्मसुणणं संभवदि, तत्थ रिसीणं गमणाभावा? ण, सम्मादिट्ठि-देवाणं पुव्वभवसंबंधीणं धम्मपदुप्पायणे वावदाणं सयलबाधाविरहियाणं तत्थ गमणदंसणादो। पृष्ठ ४२२॥

शंका—प्रथम तीन नरक के नारकियों के धर्मश्रवण किस प्रकार सम्भव है? क्योंकि वहाँ ऋषियों का जाना नहीं होता?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो धर्म उत्पन्न कराने में लगे हुए हैं और सब प्रकार की बाधाओं से रहित हैं, ऐसे पूर्वभवसम्बन्धी सम्यग्दृष्टि देवों का वहाँ तीन नरकों में गमन देखा जाता है।

इससे हम जानते हैं कि सम्यग्दृष्टि के निमित्त से मिला हुआ उपदेश ही धर्म के उत्पन्न करने में निमित्त होता है।

शंका—जबकि जिस समय कार्य होता है, उसी समय दूसरे पदार्थ में निमित्त व्यवहार होना सम्भव है तो क्या उपदेश प्राप्ति के समय ही सम्यग्दर्शन हो जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसे समय में उपदेश तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का निमित्त है। पुनः यह जीव अन्तर्मुहूर्त के भीतर या इसके बाद सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। इसलिए वास्तव में तो यह तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का ही व्यवहार निमित्त है। फिर भी आगम में कार्य में

कारण का उपचार कर धर्मश्रवण को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का निमित्त कहा गया है।

शंका—यह आपने कैसे जाना कि धर्मोपदेश ग्रहण करने के समय ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता?

समाधान—जिस समय किसी व्यक्ति का उपयोग धर्मश्रवण में लगा हुआ हो, उस समय अध:करण आदि तीन करणों का होना सम्भव नहीं है। उसके बाद तत्काल या कालान्तर में यदि उसका उपयोग आत्मा के सन्मुख हो तो वह सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करता है। इससे हमने जाना कि धर्मश्रवण के काल में ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। यदि गुरु के सानिध्य में ही उपदेशपूर्वक वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है, तो उसका अधिगमज सम्यग्दर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है और यदि कालान्तर में सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है तो उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहेंगे।

शंका—श्री जयधवलाजी में बतलाया है कि जिनबिम्बदर्शन से निधत्ति और निकाचित कर्म अनिधत्ति और अनिकाचित्तरूप हो जाते हैं। इससे मालूम पड़ता है कि जिनबिम्ब के दर्शन में लगे हुए उपयोग के काल में ही सम्यग्दर्शन हो जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि उपशम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के जो बाह्य निमित्त बतलाये हैं, उनमें एक जिनबिम्ब दर्शन भी है। असद्भूत -व्यवहारनय से प्रकृत में उसकी पुष्टि की गयी है। करणानुयोग का नियम यह है कि जब यह जीव उपशम सम्यग्दर्शन तथा उपशम या क्षायिक चारित्र के सम्मुख होकर अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय को प्राप्त करता है, तब अपने-अपने योग्य निधत्ति और निकाचितरूप कर्म स्वयं ही अनिधत्ति और अनिकाचितरूप हो जाते हैं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार में कहा भी है—

जो जाणदि अरहंते दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥८०॥

जो अरहन्त को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने से जानता है, वह आत्मा को जानता है, उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है॥८०॥

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—जो वास्तव में द्रव्य-गुण-पर्यायरूप अरहन्त को जानता है, वह निश्चय से आत्मा को जानता है, क्योंकि निश्चय से उन दोनों के स्वरूप में भेद नहीं है। कारण कि अरहन्त स्वरूप अन्तिम पाक को प्राप्त होने से सोने के समान परिस्पष्ट है, इसलिए उसका ज्ञान होने पर पूरी तरह से आत्मा का ज्ञान होता है। वहाँ अन्वयस्वरूप द्रव्य है, अन्वय का विशेषण गुण है तथा अन्वय के व्यतिरेक (भेद) पर्याय हैं। वहाँ सर्व तरह से विशुद्ध भगवान अरहन्त के ख्याल में लेने पर द्रव्य, गुण और पर्याय इन तीन स्वरूपवाले आत्मा को अपने मन से एक समय में जान लेता है कि जो अन्वयरूप चेतन है, वह द्रव्य है; जो अन्वय के आश्रित चैतन्यरूप विशेषण है, वह गुण है और जो एक समय तक रहनेवाले परस्पर व्यावृत्त होकर स्थित अन्वय के व्यतिरेक हैं, वे पर्याय हैं, जो कि चिद्विवर्तरूप ग्रन्थियाँ हैं। इस प्रकार जो त्रैकालिक आत्मा को एक काल में आकलन कर रहा है, तथा जो झूलते हुए हार में मुक्ताफलों के समान चिद्विवर्तों को चेतन में समाविष्ट करके, और विशेषण-विशेष्य भाव की वासना के लुप्त हो जाने से हार में सफेदी के समान चेतन में ही चैतन्य को अन्तर्हित करके केवल माला के समान केवल आत्मा को जान रहा है तथा जो कर्ता-कर्म के (कर्ता-कर्म आदि षट्कारक के) विभाग के उत्तरोत्तर समय में क्षय को प्राप्त होने से अर्थात् उत्तरोत्तर समय में कर्ता-कर्म आदि के विकल्प का अभाव होते जाने से निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त हुआ है, ऐसे जिस जीव का मणि के समान निर्मल प्रकाश अकम्परूप से प्रवृत्त हुआ

है (अनुभव में आया है), उसके मोहतम निराश्रय होने से अवश्य ही प्रलय को प्राप्त होता है। गुरु के इस प्रकार समझाने पर शिष्य कहता है, यदि ऐसा है तो मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है।

पुराने काल में सेना के प्रधान के विजित हो जाने पर सेना पर विजय प्राप्त करना आसान हो जाता था। प्रकृत में इसी तथ्य को निर्देश किया गया है। मोह अर्थात् अज्ञानभाव सब दोषों में प्रमुख है। उसका पात होने पर यह जीव आत्मस्वरूप को सम्यक् प्रकार से अनुभवने -वाला सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उसके बाद राग-द्वेष पर विजय पाना सुकर है। यह तथ्य इस गाथा और उसकी तत्त्वदीपिका टीका द्वारा स्पष्ट किया गया है।

पहले इसमें प्रत्येक आत्मा की अरहन्त के आत्मा से तुलना की गयी है और इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्यायपने से सब आत्माओं में समानता की स्थापना कर, अरहन्त के दर्शन से अपने आत्मा को जानने का उपाय बतलाया गया है। इसके बाद अपने आत्मा में एकाग्र होने के लिए गुण-पर्यायों के विकल्प को छोड़कर केवल स्वभावभूत निर्विकल्प आत्मा को लक्ष्य में लेने का निर्देश किया गया है। ऐसा करने से कर्ता-कर्म आदि का विकल्प छूटकर स्वयं ही यह जीव अपने स्वरूप में निमग्न होकर सम्यग्दृष्टि हो जाता है। एक गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान पर चढ़ने के लिए आगम एकमात्र इसी मार्ग को स्वीकार करता है। अपने अनुभव से भी इसी का समर्थन होता है।

यह गाथा मात्र सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के उपाय का निर्देश करती है, यह इसी से स्पष्ट है कि इससे अगली सूत्रगाथा द्वारा आत्मतत्त्व के सम्यक् प्रकार से उपलब्ध होने के बाद राग-द्वेष को जीतने की प्रेरणा की गयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आगम में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के

बाह्य निमित्तरूप में जिनबिम्बदर्शन आदि बाह्य साधनों का निर्देश दृष्टिगोचर होता है, उनका सम्यग्दर्शन प्राप्ति के काल की अपेक्षा निर्देश नहीं किया गया है। किन्तु विषय-कषाय के विकल्प से निवृत्त होकर अपने स्वरूप को लक्ष्य में लेने की अपेक्षा ही उनका निर्देश किया गया है।

शंका—जिनबिम्बदर्शन आदि सम्यग्दर्शन के काल में भले ही निमित्त-व्यवहार को प्राप्त नहीं हों, दर्शनमोहनीय के उपशम आदि हुए बिना जब सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता, तब उसे कर्मकृत मानने में क्या आपत्ति है। पंचास्तिकाय, गाथा ५८ में कहा भी है—

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं दु कम्मकदं ॥५८॥

कर्म के बिना जीव के औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभाव नहीं होते, इसलिए ये भाव कर्मकृत हैं ॥५८॥

समाधान—प्रकृत में उदय से उपशम, क्षय और क्षयोपशम में मौलिक अन्तर है। यहाँ उपशम से अन्तरकरण उपशम लिया गया है। उपरितन स्थिति में दर्शनमोहनीय की सत्ता भले ही बनी रहे, पर औपशमिक सम्यग्दर्शन के अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थिति दर्शनमोहनीय के निषेकों से सर्वथा शून्य रहती है और इसीलिए इस सम्यग्दर्शन को गोम्मटसार जीवकाण्ड में क्षायिक सम्यग्दर्शन के समान अत्यन्त निर्मल कहा गया है। क्षायिक-सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय के अकर्मपर्यायरूप होने पर ही होता है, यह स्पष्ट ही है। अब रहा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, तो इस सम्यग्दर्शन के काल में भी मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति उदयरूप नहीं दिखलायी देती हैं। इस प्रकार प्रकृत में उपशम, क्षय और क्षयोपशम के स्वरूप पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि करणानुयोग के अनुसार ये तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन, दर्शनमोहनीय के अभाव में ही होते हैं। फिर भी प्रकृत

में इन्हें जो कर्मकृत कहा गया है, सो यह ऐसा ही कहना है कि जैसे अमुक व्यक्ति के न रहने पर यह कहा जाए कि उसने यह काम कर दिया है। यहाँ जिस व्यक्ति को निमित्त कर वह काम बना है, उसको तो गौण कर दिया गया है और जो व्यक्ति नहीं है, उसको मुख्य कर यह कहा गया है कि अमुक व्यक्ति ने यह काम कर दिया है। उसी प्रकार प्रकृत में आत्मा ने स्वयं अपने ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर अपना सम्यग्दर्शन उत्पन्न करनेरूप काम किया और कहा यह गया कि कर्म ने सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करनेरूप काम कर दिया। इसलिए इसे असद्भूतव्यवहारनय का वक्तव्य कहा गया है। यह परमार्थ कथन नहीं है।

शंका—तो परमार्थ क्या है ?

समाधान—जिस समय आत्मा ने स्वतन्त्ररूप से स्वयं अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर अपनी सम्यग्दर्शनरूप स्वभावपर्याय को उत्पन्न किया, उसी समय कर्म ने स्वयं स्वतन्त्ररूप से अपनी कर्मसंज्ञावाली पर्याय से विमुख होकर अन्य पर्याय को उत्पन्न किया, यह परमार्थ सत्य है।

१०. विभाव पर्याय और निश्चय षट्कारक

विभाव पर्याय की उत्पत्ति में निश्चय षट्कारक कैसे प्रवृत्त रहते हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र पंचास्तिकाय गाथा ६२ की समय टीका में कहते हैं—

अब निश्चयनय से अभिन्न कारकपना होने से कर्म और जीव स्वयं स्वभाव के कर्ता आदि हैं, यह स्पष्ट करते हैं—(१) कर्म वास्तव में कर्मरूप से प्रवर्तमान पुद्गलस्कन्धपने से कर्तृत्व को धारण करता हुआ, (२) कर्मपना प्राप्त करने की शक्तिरूप करणपने को अंगीकृत करता हुआ, (३) प्राप्य ऐसे कर्मस्वपरिणामरूप से कर्मपने को अनुभव करता हुआ, (४) पूर्वभाव का व्यय हो जाने पर भी ध्रुवत्व

का अवलम्बन करने से अपादानपने को प्राप्त करता हुआ, (५) उत्पन्न होनेवाले परिणामरूप कर्म द्वारा समाश्रित होने से सम्प्रदानपने को प्राप्त करता हुआ और (६) धारण करते हुए परिणाम का आधार होने से अधिकरणपने को प्राप्त होता हुआ। इस प्रकार स्वयंमेव षट्काररूप से वर्तता हुआ अन्य कारक की अपेक्षा नहीं करता।

इसी प्रकार जीव भी (१) भावपर्यायरूप से प्रवर्तमान आत्म-द्रव्यरूप से कर्तापने को धारण करता हुआ, (२) भावपर्याय प्राप्त करने की शक्तिरूप से करणपने को अंगीकृत करता हुआ, (३) प्राप्त हुई भावपर्यायरूप से कर्मपने को अनुभव करता हुआ, (४) पूर्व की भावपर्याय का व्यय होने पर भी ध्रुवपने का अवलम्बन होने से अपादानपने को प्राप्त हुआ, (५) उत्पन्न होनेवाले भावपर्यायरूप कर्म द्वारा समाश्रित होने से सम्प्रदानपने को प्राप्त हुआ और, (६) धारण की जानेवाली भावपर्याय का आधार होने से अधिकरणपने को प्राप्त हुआ, इस प्रकार स्वयं ही षट्काररूप से वर्तता हुआ अन्य कारक की अपेक्षा नहीं करता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ व्यवहार से अन्य द्रव्य के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहा जाता है, वहीं जब प्रत्येक द्रव्य प्रति समय स्वभाव से स्वयं षट्काररूप से प्रवर्तित होता है, तब प्रत्येक द्रव्य की स्वभाव पर्याय की उत्पत्ति के समय उसका स्वयं षट्कारकरूप से प्रवृत्त होना सुनिश्चित ही घटित होता है। असद्‌भूतव्यवहारनय से जो प्रत्येक कार्य में कारकान्तर सापेक्षता कही गयी है, वह केवल इसीलिए विकल्प का विषय है, क्योंकि वस्तु में स्वभाव से सापेक्षता नहीं घटित होती, यह उक्त कथन से ही स्पष्ट हो जाता है। आगम में विभावपर्याय और स्वभावपर्याय के होने में जो अन्तर बतलाया गया है, वह केवल इस कारण बतलाया गया है, कि जब तक यह आत्मा स्वयं को रागादि से भिन्न ज्ञायकस्वभावरूप से अनुभवता है, तब स्वभाव पर्याय उत्पन्न होती है, और जब मैं 'रागादिरूप हूँ' इस रूप

से अनुभवता है, तब विभावपर्याय उत्पन्न होती है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए अनगारधर्मामृत, अध्याय ८ में पण्डितप्रवर आशाधरजी लिखते हैं—

यदि टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मानम्।
रागादिभ्यः सम्यग्विविच्य पश्यामि सुदृगस्मि॥७॥

रागादिभावों से स्वयं को पृथक् करके यदि मैं स्वयं अपने आत्मा को टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभाव से अनुभवता हूँ, तो उस समय सम्यग्दृष्टि होता हूँ॥७॥

इसकी टीका में वे स्वयं लिखते हैं—मैं स्वयं सम्यग्दर्शनरूप हूँ; यदि अनुभवता हूँ, किसको अनुभवता हूँ? अपने आत्मा को किस रूप अनुभवता हूँ? कर्तृत्व और भोक्तृत्व से रहित एक टंकोत्कीर्ण ज्ञाकभावरूप अर्थात् निश्चल सुव्यक्त आकारवाले। क्या करके? पृथक् करके अर्थात् पृथकरूप से अनुभव करके। किनसे? रागादिक से अर्थात् राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय और इन्द्रियों से। कैसे अनुभवता हूँ? विपरीतता के बिना॥७॥

इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं—

ज्ञानं ज्ञानत्तया ज्ञानमेव रागो रजत्तया।
राग एवास्ति न त्वन्यत्तच्चिद्रागोऽस्म्यचित्॥८॥

जाननपने से अर्थात् स्व-पर के अवभासनस्वभाव होने से ज्ञान है, किन्तु ज्ञान, राग नहीं है तथा अनुरंजनस्वभाव होने से अर्थात् जो इष्ट लगे, उसके प्रति प्रीति को उत्पन्न करनेरूप स्वभाववाला होने से राग है, किन्तु राग, ज्ञान नहीं है। जबकि ऐसा है, अतएव मैं स्व-पर के अवभासनस्वभाववाला होने से चैतन्यस्वरूप ही हूँ। किन्तु राग स्वसंविदित होकर भी परस्वरूप के वेदन से रहित होने के कारण अचेतनस्वभाव ही है, इसलिए मैं राग नहीं हूँ। यहाँ राग पद उपलक्षण

है, इसलिए द्वेषादिक से भी अपने चित्स्वभाव आत्मा को पृथक्कर स्वयं को अनुभवना ही सम्यग्दर्शन है, यह सिद्ध होता है॥८॥

इस प्रकार स्वभावपर्याय और विभावपर्याय प्रत्येक प्रर्याय के होते समय निश्चय षट्कारक प्रक्रिया किस प्रकार प्रवृत्त रहती है, इसका संक्षेप में विचार किया।

११. उपसंहार

समग्र कथन का तात्पर्य यह है कि संसाररूप अवस्था के होने में जहाँ निश्चय षट्कारक होता है, वहाँ व्यवहार से पर की ओर झुकाव रहता ही है और इसी अपेक्षा विभावपर्याय को परसापेक्ष कहकर कारकान्तर की कल्पना की जाती है। यह अवस्था मिथ्यादृष्टि के भी होती है और नारकादि विभाव पर्याय की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि के भी होती है। इसका निषेध नहीं। परन्तु अनादि काल से यह जीव निश्चय षट्कारकरूप स्वाश्रितपने को भूलकर अपने विकल्प द्वारा या पर की ओर झुकाव द्वारा मात्र व्यवहार षट्कारकरूप पराश्रित बना हुआ है। इसे अब अपनी दृष्टि बदलकर पुरुषार्थ द्वारा स्वाश्रित होना है, क्योंकि ऐसी दृष्टि बनाये बिना और उस द्वारा स्वभाव रत्नत्रयरूप हुए बिना इसे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसलिए जीवन संशोधन में स्वाश्रितपने का अवलम्बन होना ही कार्यकारी है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

शंका—जब यह जीव पराश्रितपने के विकल्प से निवृत्त होकर स्वाश्रितपने की मुख्यता से प्रवृत्त होता है, तब उसी समय मुक्त क्यों नहीं हो जाता?

समाधान—दृष्टि में स्वाश्रितपने के होने पर भी चर्या में जब तक पूर्णरूप से स्वाश्रितपना नहीं प्राप्त होता, तब तक वह संसारी ही बना रहता है।

शंका—तो क्या दृष्टि की अपेक्षा स्वाश्रितपने में और चर्या की अपेक्षा स्वाश्रितपने में अन्तर है?

समाधान—दृष्टि की अपेक्षा स्वाश्रितपने का सम्बन्ध मिथ्यात्व के अभाव के साथ हैं और चर्या की अपेक्षा स्वाश्रितपने का सम्बन्ध कषाय के अभाव के साथ है, यही इन दोनों में अन्तर है।

शंका—दृष्टि की अपेक्षा स्वाश्रितपने के काल में अनन्तानुबन्धी कषाय का भी तो अभाव रहता है। ऐसी अवस्था में वहाँ चर्या की अपेक्षा स्वाश्रितपने की स्वीकृति में क्या आपत्ति है?

समाधान—दृष्टि की अपेक्षा स्वश्रितपने की प्राप्ति के काल में अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होने से चर्या की अपेक्षा आंशिक स्वाश्रितपने की प्राप्ति तो हो ही जाती है, इसमें कोई बाधा नहीं आती। सम्यग्दृष्टि के स्वात्मानुभूति को स्वीकार करने का कारण भी यही है। सम्यग्दृष्टि की उपयोगपूर्वक मन्द स्वात्मस्थिति इसीलिए स्वीकार की गयी है। आगे जैसे-जैसे कषाय का अभाव होता जाता है, वैसे-वैसे चर्या की अपेक्षा स्वात्मस्थिति में प्रगाढ़ता आती जाती है।

शंका—बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में जब क्षायिक चारित्र की प्राप्ति के कारण चर्या की अपेक्षा पूर्ण प्रगाढ़ता आ जाती है, तो उसी समय से इस जीव का पूर्ण स्वाश्रित जीवन प्रारम्भ हो जाना चाहिए?

समाधान—नहीं, क्योंकि अभी उसके आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दरूप योग का सद्भाव बना हुआ है, इसलिए यहाँ क्षायिक चारित्र की प्राप्ति होने पर भी पूर्ण स्वाश्रितचर्या नहीं स्वीकार की गयी है।

शंका—चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में योग का समस्तरूप से अभाव हो जाता है, इसलिए वहाँ रत्नत्रय की पूर्णता होने से पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो जानी चाहिए?

समाधान—नहीं, क्योंकि ध्यान की प्रक्रिया के अनुसार पूर्ण

स्वाधीनता का अनुभव करता हुआ भी इस भूमिका में अन्तर्मुहूर्तकाल तक रुककर ही यह जीव ऐसी अवस्था प्राप्त करना है कि तब जाकर यह पूर्ण स्वाधीनता का अधिकारी होकर पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है।

शंका—यदि यह बात है तो पंचास्तिकाय गाथा १७२ की समय टीका में जो यह कहा गया है कि 'अनादि काल से भेदवासित बुद्धि होने के कारण प्राथमिक जीव व्यवहारनय से भिन्न साध्य-साधनभाव का अवलम्बन लेकर सुख से तीर्थ का प्रारम्भ करते हैं' सो ऐसा क्यों कहा गया है। क्या इससे सिद्ध नहीं होता कि इस जीव का मोक्षमार्ग का प्रारम्भ पराश्रितपने से होता है?

समाधान—ज्ञानमार्ग का अनुसरण करनेवाले जीव के बीच-बीच में अरहन्तादि भक्तिविषयक जो राग का उत्थान होता है, उस समय यह श्रद्धेय है, यह अश्रद्धेय है, यह श्रद्धाता है, यह श्रद्धान है। यह ज्ञेय है, यह अज्ञेय है, यह ज्ञाता है, यह ज्ञान है, यह आचरणीय है, यह अनाचरणीय है, यह आचरिता है और यह आचरण है; इस प्रकार कर्तव्याकर्तव्य तथा कर्ता-कर्म के विभाग के अवलोकन द्वारा जिन्हें अनुकरण करनेयोग्य अतिहृदयग्राही उत्साह उत्पन्न हुआ है, वे बिना हठ के रत्नत्रय तीर्थ का सेवन करने में सफल होते हैं, यह उक्त कथन का आशय है।

प्रकृत में ऐसा समझना चाहिए कि मोक्षमार्ग का अनुसरण करनेवाले जीवों की दृष्टि एकमात्र ज्ञायकस्वभाव आत्मा पर ऐसे ही केन्द्रित रहती है, जैसे कुम्भकार का चक्र चारों ओर घूमते हुए भी केन्द्र स्थानीय कील को कभी नहीं छोड़ता। फिर भी बीच-बीच में राग का उत्थान होने पर उनके तीर्थसेवन की प्राथमिक (सविकल्प) दशा में जितने काल तक आंशिक शुद्धि के साथ मन-वचन और काय के अवलम्बनपूर्वक अरहन्तादि की भक्ति या व्रतादि में प्रवृत्ति होती है, उतने काल तक परावलम्बी साध्य-साधनभाव का अवलम्बन

रहता है, परन्तु इसे वे मोक्ष का उपाय नहीं समझकर मात्र स्वावलम्बन –रूप स्थिति को ही अपने लिए आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिए हितकारी मानते हैं, क्योंकि भिन्न साध्य-साधनभाव के अनुबन्ध से वे सदा मुक्त रहते हैं। कदाचित् एतद्विषयक राग का उत्थान होने पर वह ऐसे ही विलय को प्राप्त हो जाता है, जैसे सूर्य किरणों का निमित्त पाकर हरिद्रा का रंग विलय को प्राप्त हो जाता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए मूलाचार अनगारभावनाधिकार, गाथा १०६ की टीका में मूल का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

यद्यपि कदाचिद्रागः स्यात्तथापि पुनरनुबन्धं न कुर्वन्ति, पश्चात्तापेन तत्क्षणादेव विनाशमुपयाति हरिद्रारवत्तवस्त्रस्य पीतप्रभाररविकिरणस्पृष्टेवेति।

यद्यपि कदाचित् राग होता है, तथापि मोक्षमार्गी जीव राग में अनुबन्ध नहीं करते, पश्चाताप द्वारा तत्क्षण ही वह ऐसे ही विनष्ट हो जाता है, जैसे सूर्य की प्रभा से हरिद्रा से रंगे हुए वस्त्र पर का रंग उड़ जाता है।

यद्यपि हम यह मानते हैं कि इन्द्रिय विषयक राग से देवादि या व्रतादिक विषयक राग प्रशस्त माना गया है। परन्तु केवल इस कारण वह उपादेय नहीं माना जा सकता, क्योंकि किसी भी प्रकार के राग के होने पर पश्चाताप द्वारा उससे विमुख होना ही हितकारी माना गया है। राग, बन्धपर्यायरूप होने से सदाकाल हेय ही है। देवादिक तो अन्य है, उनकी बात छोड़िए। जहाँ अपने आत्माविषयक राग ही हेय माना गया है, वहाँ अन्य पदार्थविषयक राग उपादेय कैसे हो सकता है ? इस प्रकार प्रकृत में षट्कारक विषयक मीमांसा का सांगोपांग विचार किया।

●

क्रम-नियमितपर्यायमीमांसा

निज स्वभाव के योग से नियमित बरते जीव।
श्रद्धा में यों लखन ही पावे मोक्ष अतीव॥

१. उपोद्धात

अनेक युक्तियों और आगम से पूर्व में हम यह भलीभाँति सिद्ध कर आये हैं कि निश्चय उपादान के अनुसार पदार्थ के कार्यरूप से परिणत होते समय ही अन्य पदार्थों में व्यवहार हेतुता स्वीकार की गयी है, आगे-पीछे नहीं, क्योंकि लोक में जिन्हें निमित्तकर यह कार्य हुआ, यह कहकर उन्हें मिलाने की बात कही जाती है, उनके साथ सर्वदा और सर्वत्र कार्यों की व्याप्ति नहीं देखी जाती। श्री जयधवला, पुस्तक ११ में बतलाया है कि जो जीव नित्य निगोद से निकल कर क्रमशः संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त पर्याय को प्राप्त होता है, उसके उत्कृष्ट संक्लेश के अभाव होने पर भी उस समय प्राप्त संक्लेश को निमित्तकर अनुभाग को लिए हुए कर्मबन्ध होता है। इससे सिद्ध होता है कि बाह्य सामग्री वास्तव में कार्य की उत्पादक नहीं होती, क्योंकि जितने भी कार्य होते हैं, वे अपनी मूलभूत सामग्री के स्वभाव को नहीं उल्लंघन कर अपने-अपने नियत समय पर ही उत्पन्न होते हैं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए समयसार गाथा ३७२ की आत्मख्याति टीका में कहा भी है —

एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुम्भकारः कुम्भस्योत्पादक एव, मृत्तिकैव कुम्भकारस्वभावमस्पृशन्ती स्व-स्वभावेनैव कुम्भभावेनोत्पद्यते।

ऐसा होने पर मिट्टी अपने स्वभाव को नहीं उल्लंघन करती, इसलिए कुम्भकार घट का उत्पादक ही नहीं है, वस्तुतः मिट्टी ही

कुम्भकार के स्वभाव को स्पर्श न करती हुई स्वयं ही अपने स्वभाव से कुम्भरूप से उत्पन्न होती है।

यहाँ स्वभाव को माध्यम करके ही प्रत्येक समय में निश्चय उपादान के अनुसार प्रत्येक समय में कार्य की उत्पत्ति होती है, यह स्पष्ट किया गया है और कार्य उत्पत्ति में बाह्य निमित्त का स्थान है, यह बतलाया गया है। इसलिए सिद्ध होता है कि निश्चय उपादान के अनुसार कार्य होकर भी उसका क्रम क्या है, इसका यहाँ विचार करना है।

हम पिछले एक प्रकरण में यह भी लिख आये हैं कि संसारी जीवों के प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में स्वभाव आदि पाँच बाह्याभ्यन्तर कारणों का समवाय होता है, किन्तु इनमें से स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ, काल और कर्म इनमें से किसी के सम्बन्ध में संक्षेप में और किसी के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया पर कार्योत्पत्ति के क्रम के सम्बन्ध में अभी तक आगम के अभिप्राय को स्पष्ट नहीं किया, इसलिए यहाँ पर इस अध्याय के अन्तर्गत उसका विचार करते हैं।

२. लौकिक प्रमाणों का कल्पित उपयोग

यह तो सुनिश्चितरूप से प्रतीति में आता है कि लोक में प्रत्येक कार्य अपने नियत समय पर ही होता है। यद्यपि सार्वजनिक जीवन में भी जनसाधारण को इसकी प्रतीति होती है और आगम से भी इसका समर्थन होता है, किन्तु सोनगढ़ और उसके द्वारा की गयी आगमानुसार तत्त्वप्ररूपणा के प्रति स्वाभाविक चिढ़ होने के कारण या आगमबाह्य क्रियाकाण्ड के लोप होने के कल्पित भय से वे ऐसी विचारधारा का प्रचार करने में लगे हुए हैं, जिससे तत्त्व व्यवस्था के समाप्त होने का ही भय उत्पन्न हो गया है। उनका कहना है कि 'भगवान के ज्ञान में जिस काल में जिस वस्तु का जैसा परिणमन झलका है, वह उसी प्रकार होगा, प्रत्येक सम्यग्दृष्टि की ऐसी ही श्रद्धा होती है,

इसलिए केवलज्ञान के विषय के अनुसार तो सभी कार्य नियतक्रम से ही होते हैं और सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धा भी ऐसी ही रखता है। किन्तु श्रुतज्ञानी के इतने मात्र से सब समस्याएँ हल नहीं हो जातीं, इसलिए श्रुतज्ञान के विषय के अनुसार कुछ कार्य नियतक्रम से भी होते हैं और कुछ कार्य अनियतक्रम से भी होते हैं, ऐसा अनेकान्त ही ठीक है।'

उक्त विचारधारावाले महानुभावों ने अपना यह दृष्टिकोण जयपुर खनिया तत्त्वचर्चा के प्रसंग से शंका ६ के अन्तर्गत तो उपस्थित किया ही था, अन्यत्र भी अपने लिखान और उपदेशों द्वारा इसे व्यक्त करते रहते हैं। तद्नुसार अनेकान्त की दुहाई देते हुए अपने कल्पित श्रुतज्ञान के बल पर उनका कहना है कि लोक में स्थूल और सूक्ष्म जितने भी कार्य होते हैं, वे सब क्रम नियमित ही होते हैं, ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। वे अपने उक्त अभिप्राय की पूर्ति के लिए नियत अन्त्यक्षण प्राप्त सामग्री से नियत कार्य को ही जन्म मिलता है, इस तथ्य को भी अस्वीकार कर देते हैं। उनके मन्तव्यानुसार कई कार्य तो ऐसे हैं जो अपने-अपने स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं। जैसे पर्यायरूप से शुद्ध हुए द्रव्यों की प्रति समय की पर्याय अपने-अपने नियत स्वकाल में ही होती हैं, क्योंकि उनके होने में निमित्तभूत अन्य कोई बाह्य प्रेरक (कर्ता) सामग्री न होने से उनके अपने-अपने नियत स्वकाल में होने में कोई बाधा नहीं आती। किन्तु पुद्गल स्कन्धों की और संसारी जीवों की सब या कुछ पर्यायें बाह्य प्रेरक (कर्ता) सामग्री पर अवलम्बित हैं, इसलिए वे सब अपने-अपने निश्चय उपादान के अनुसार एक नियतक्रम को लिए हुए ही होती हैं, ऐसा कोई सुनिश्चित नियम नहीं है। क्योंकि वे बाह्य प्रेरक सामग्री के बिना नहीं हो सकतीं और बाह्य प्रेरक सामग्री पर है, इसलिए जब जैसी बाह्य प्रेरक सामग्री का योग मिलता है, उसी के अनुसार वे होती हैं और इसका कोई नियम नहीं है कि कब कैसी बाह्य प्रेरक

सामग्री मिलेगी, इसलिए पर्यायरूप से अशुद्ध हुए द्रव्यों की पर्यायें प्रति नियतक्रम से ही होती हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

ऐसा माननेवालों के कहने का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि पुद्गल-स्कन्धों और संसारी जीवों की सब पर्यायें बाह्य साधनों पर अवलम्बित होने के कारण उनमें से कुछ पर्यायों का जो क्रम नियत है, उसी के अनुसार वे होती हैं और बीच-बीच में कुछ पर्यायें अपने नियतक्रम को छोड़कर भी होती हैं। इसकी पुष्टि में वे लौकिक और अपनी कल्पना के अनुसार शास्त्रीय प्रमाण भी उपस्थित करते हैं। लौकिक प्रमाणों को उपस्थित करते हुए वे कहते हैं —

३. लौकिक प्रमाणों से अपनी कल्पना की पुष्टि

(१) भारतवर्ष में छह ॠतुओं का होना सुनिश्चित है। साथ ही प्रतिवर्ष अधिकतर ॠतुएँ अपने नियत समय पर होती भी हैं। परन्तु कभी-कभी बाह्य प्रकृति का ऐसा विलक्षण प्रकोप होता है, जिससे उनका नियमक्रम उलट-पलट हो जाता है। दूसरा उदाहरण वे अणुबमों और हाईड्रोजन बमों आदि संहारक अस्त्रों का उपस्थित कर कहते हैं कि इस प्रकार के संहारक अस्त्रों का प्रयोग करने से दुनिया का जो नियत जीवनक्रम चल रहा है, वह एक क्षण में बदलकर बड़ा भारी व्यतिक्रम उपस्थित कर देता है।

(२) उनका यह भी कहना है कि वर्तमान काल में जो विज्ञान की प्रगति चल रही है, उससे कुछ काल बाद जल के स्थान में स्थल और स्थल के स्थान में जलरूप विलक्षण परितर्वतन होता हुआ दिखलायी पड़ना अशक्य नहीं है। मनुष्य उसके बल से हवा, पानी अन्तरिक्ष और नक्षत्रलोक—इन सब पर विजय प्राप्त करता हुआ चला जा रहा है।

और भी ऐसी रेल दुर्घटना आदि आकस्मिकरूप से हमें देखने को मिलती रहती हैं, जिनसे यह अनुमान सहज ही किया जा सकता

है कि सब कार्यों का नियतक्रम से होना मानना कोरी कल्पना है, बुद्धि बाह्य होने से वह स्वीकार नहीं की जा सकती।

४. आगमिक प्रमाणों का कल्पित उपयोग

ये कुछ लौकिक उदाहरणों का कल्पित उपयोग है। शास्त्रीय प्रमाणों को उपस्थित करते हुए उनका कहना है कि —

(१) यदि सब द्रव्यों की पर्यायें क्रमनियमित ही हैं तो देव, नारकी, भोगभूमिज, मनुष्य-तिर्यंच तथा चरमशरीरी मनुष्यों की आयु को मात्र अपनवर्त्य कहना नहीं बनता, क्योंकि जब सब जीवों का जन्म-मरण तथा अन्य कार्यक्रम क्रमनियमित है, तब किसी नियत आयु को और उनके अन्य कार्यों को अनपवर्त्य नहीं कहना चाहिए। यत: आगम में विषभक्षण, रक्तक्षय, तीव्र वेदना का होना और भय आदि बाह्य कारणों का योग होने पर कर्मभूमिज मनुष्यों और तिर्यंचों की भुज्यमान आयु पूरी हुए बिना बीच में ही मरण होता हुआ आगम स्वीकार करता है, इसीलिए ही शास्त्रकारों ने इन बाह्य साधनों के आधार पर अकालमरण का निर्देश किया है। यही बात तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक में भी कही है—

अथौपपादिकादीनां नापवर्त्यं कदाचन।
स्वोपात्तमायुरोदृक्षादृष्टसामर्थ्यसंगते: ॥१ ॥
सामर्थ्यतस्ततोऽन्येषामपवतर्यं विषादिभि:।
सिद्धं चिकित्सितादीनामन्यथा निष्फलत्वत: ॥२ ॥

औपपादिक आदि जीवों की अपनी बन्धकाल में प्राप्त आयु का कभी भी अपवर्तन नहीं होता, क्योंकि उनका अदृष्ट ही ऐसा होता है। अत: सामर्थ्य से ज्ञात होता है कि उक्त जीवों के सिवाय अन्य जितने जीव हैं, उनकी विष भक्षण आदि के द्वारा आयु का अपवर्तन होना सम्भव है, यह सिद्ध होता है। यदि ऐसा न माना जाए तो चिकित्सा आदि का किया जाना निष्फल हो जाएगा।

अत: सब पर्यायें क्रमनियमित ही होती हैं, यह एकान्त नियम नहीं है, यह मानना ही उपयुक्त है।

(२) अपने इस पक्ष के समर्थन में वे उदीरणा, उपशम, संक्रमण, अपकर्षण और उत्कर्षण को भी उपस्थित करते हैं। कर्मस्थिति का परिणाम विशेष को तथा अन्य बाह्य कारणों को निमित्तकर घटकर उदय में निक्षिप्त होना उदीरणा है।

उपरितन स्थिति में स्थित कर्मपरमाणुओं का उदयावलि के बाहर निक्षिप्त होना आकर्षण है। जिस प्रकृति का बन्ध हो रहा हो, उसी प्रकृति की अध:स्तन स्थिति में स्थित कर्म परमाणुओं का वर्तमान बन्ध के अन्तर्गत उपरितन कर्णस्थिति में निक्षिप्त होना उत्कर्षण है तथा किसी भी प्रकृति के परमाणुओं का अपनी सजातीय प्रकृतियों में संक्रमित होना संक्रमण है। ये चारों कार्य प्राय: प्रयोगविशेष से होते हैं, इसलिए कौन कब हो, इसका कोई नियम नहीं किया जा सकता। जब जिसके अनुकूल निमित्त मिलते हैं, तब वह होता है, अतएव सभी पर्यायें क्रमनियमित ही हैं, ऐसा कहना योग्य नहीं है।

(३) आगम में जो यह कहा गया है कि अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रहने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, सो उसका यह अर्थ है कि जब सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, तब अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रहता है। सम्यग्दर्शन को यह जीव कब प्राप्त करे, इसका कोई नियम नहीं है। आगम में जो यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के बल से यह जीव अनन्त काल का छेद करता है, सो इस कथन से ही उक्त अभिप्राय की पुष्टि होती है, इसलिए भी सभी पर्यायें क्रमनियमित ही होती हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

(४) उक्त महानुभावों का यह भी विचार दिखलायी देता है कि बाह्य सामग्री में निमित्तता उसकी स्वभावगत योग्यता है। यह इसी

से स्पष्ट है कि अव्यवहित पूर्व समय में उपादानरूप से द्रव्य के अवस्थित रहने पर भी यदि कार्यरूप से परिणमानेवाली बाह्य सामग्री नहीं मिलती या प्रतिकूल बाह्य सामग्री उपस्थित रहती हैं, तो कार्य नहीं होता। इससे भी सभी पर्यायें क्रमनियमित ही होती हैं, यह नहीं सिद्ध होता।

(५) कर्म और आत्मा में जो संश्लेषरूप सम्बन्ध है, वह असद्भावरूप नहीं है। यह बात आचार्य अमृतचन्द्र के 'न जातु रागादिनिमित्तभावम्' (कलश १७५) इस कलश काव्य से ही स्पष्ट है। इसीलिए कर्म अपने उदय और उदीरणा द्वारा जीव की विविध अवस्थाओं के होने में प्रेरक निमित्त होता रहता है। अन्यथा कर्म की बलबत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि सभी पर्यायें प्रति नियतक्रम से ही होती हैं, ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है।

(६) किसी वस्तु में विवक्षित कार्यरूप से परिणमन की उपादान योग्यता के रहने पर भी उसके उसरूप से परिणमन कराने में समर्थ जब बाह्य सामग्री मिलती है, तभी वह कार्य होता है, अन्यथा नहीं होता। इससे भी सभी कार्य क्रमनियमित ही होते हैं, यह नहीं सिद्ध होता।

(७) उनकी तरफ से एक बात यह भी की जाती है कि 'जैसे मिट्टी में जिस प्रकार कुम्भ निर्माण का कर्तृत्व विद्यमान है, उसी प्रकार कुम्भकार व्यक्ति में भी कुम्भनिर्माण का कर्तृत्व विद्यमान है, परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि मिट्टी कुम्भ की कर्ता इस दृष्टि से है कि वह कुम्भरूप परिणत होती है और कुम्भकार व्यक्ति कुम्भ का कर्ता इस दृष्टि से है कि वह मिट्टी के कुम्भरूप परिणत होने में सहायक होता है।'

(८) उनका यह भी कहना है कि कार्य की उत्पत्ति में जो स्वभाव

आदि पाँच को कारण माना है, सो इस मान्यता के विषय में तो मेरा साधारणतया कोई विरोध नहीं है, फिर भी जो विरोध है, वह प्रत्येक द्रव्य का जो षड्गुण-हानि वृद्धिरूप स्वप्रत्यय परिणमन हो रहा है, इस सम्बन्ध में है, क्योंकि इस परिणमन में निमित्तों को कारणता प्राप्त नहीं है। यदि उस परिणमन में भी निमित्तों को कारण माना जाए तो फिर उसका स्वप्रत्ययपना ही समाप्त हो जाएगा, जिससे आगम में प्रदर्शित परिणमन के स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो भेदों की व्यवस्था भंग हो जाएगी। अर्थात् तब सभी परिणमन स्व-परप्रत्यय ही सिद्ध होंगे, कोई भी परिणमन स्वप्रत्यय सिद्ध नहीं हो।

(९) उनका यह भी कहना है कि जीव को अन्तिम संसाररूप पर्याय के अनन्तर उसकी प्रथम मोक्ष पर्याय की उत्पत्ति होती है, परन्तु मोक्ष-पर्याय की उत्पत्ति का कारण द्रव्यकर्मों का, नोकर्मों का और भावकर्मों का विच्छेद ही है, संसार की अन्तिम पर्याय नहीं।

(१०) उक्त कथन की पुष्टि में उनका कहना है कि आगम में पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य को ही कार्य के प्रति उपादानकारण माना गया है, पूर्व पर्याय को नहीं। इसका आधार यह है कि पूर्व पर्याय विनष्ट होकर ही उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होती है।

(११) उनका यह भी कहना है कि यद्यपि निश्चयरत्नत्रय से ही जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है, परन्तु उसे निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति व्यवहाररत्नत्रय के आधार पर ही होती है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इस तरह मोक्ष के साक्षात् कारणभूत निश्चय -रत्नत्रय की प्राप्ति का कारण होने से व्यवहाररत्नत्रय में भी परम्परया मोक्षकारणता सिद्ध हो जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार निश्चयरत्नत्रय मोक्ष का कारण होने से धर्म है, उसी प्रकार व्यवहाररत्नत्रय भी मोक्ष का कारण होने से धर्म है। केवल यह विशेषता है कि निश्चयरत्नत्रय मोक्ष का साक्षात् कारण होने से जहाँ निश्चय

धर्म है, वहाँ व्यवहाररत्नत्रय मोक्ष का परम्परया अर्थात् निश्चयरत्नत्रय का कारण होकर कारण होने से व्यवहार धर्म है।

(१२) उनका यह भी कहना है कि केवलज्ञान अपने आपमें जीव की स्व-पर प्रत्यय पर्याय है, इसलिए वह जीव के स्वभावभूत ज्ञायकभाव की पूर्ण विकासरूप परिणति होने के कारण अपने आप में प्रगट होकर भी तब तक प्रगट नहीं होती है, जब तक ज्ञानावरणादि कर्मों का सर्वथा क्षय नहीं हो जाता है।

(१३) उनका यह भी कहना है कि निमित्त कार्य में तब तक उपयोगी है, जब तक कार्य निष्पन्न नहीं हो जाता है, यानि कार्य के निष्पन्न हो जाने पर निमित्त की उपयोगिता समाप्त हो जाती है। लेकिन उपदान की उपयोगिता चूँकि कार्य निष्पन्न होने से पूर्व और पश्चात् सतत बनी रहती है, अतः उपादान सर्वदा उपयोगी ही बना रहता है।

(१४) उनका यह भी कहना है कि प्रत्येक द्रव्य में प्रदेशों की घटा-बढ़ी के आधार पर कोई द्रव्यपर्याय नहीं बनती है, उनमें तो केवल परद्रव्य के साथ होनेवाली स्पृष्टता अथवा बद्धता के आधार पर ही यथायोग्य द्रव्यपर्यायें बनती हैं, अतः वे सभी द्रव्यपर्यायें परप्रत्यय ही हैं, स्वप्रत्यय नहीं।

ऐसा कहनेवाले वे महाशय यह तो स्वीकार करते हैं कि केवलज्ञान के अनुसार सभी पर्यायें अपने-अपने नियत समय पर ही होती हैं, सम्यग्दृष्टि की ऐसी ही श्रद्धा रहती है। पर वे जिस श्रुतज्ञान के बल पर पर्यायों में अनियतक्रम स्वीकार करते हैं, उनका वह श्रुतज्ञान सम्यग्दृष्टि की श्रद्धाबाह्य होने से मिथ्यादृष्टियों का ही श्रुतज्ञान होगा, ऐसा मानना ही पड़ता है और मिथ्यादृष्टियों का जो भी श्रुतज्ञान होता है, उसे सम्यक् श्रुतज्ञान तो वे महाशय भी नहीं स्वीकार करेंगे। ऐसी अवस्था में मिथ्यादृष्टियों के मिथ्या श्रुतज्ञान के बल पर ही वे पर्यायों के अनियतक्रम से स्वीकार कर उसे अनेकान्त की परिधि में सम्मिलित

करने का तो प्रयत्न करते हैं, परन्तु आगम ऐसे कल्पित अनेकान्त को मिथ्या अनेकान्तरूप में ही स्वीकार करता है, इतना निश्चित है। वस्तुतः अनेकान्त प्रत्येक वस्तु का स्वरूप है। दो वस्तुओं में व्यवहारनय की दृष्टि से जो अनेकान्त कहा जाता है, वह मात्र अविनाभाव सम्बन्ध को देखकर ही कहा जाता है। ऐसी अवस्था में निश्चय उपादान के साथ ही बाह्य निमित्तों की व्यवस्था बनती है। इसके सिवाय अन्य प्रकार से जो भी कल्पना की जाएगी, वह मिथ्या अनेकान्त ही होगा। यहाँ उन महाशयों ने जिन कल्पित १४ मतों का निर्देश किया है, उनका विशेष ऊहापोह तो हम आगे यथावसर करेंगे ही, यहाँ मात्र संकेत किया है।

५. यथार्थ तथ्यों पर प्रकाश डालने का उपक्रम

इस प्रकार लौकिक और आगमिक प्रमाणों के बहाने से कुछ महाशय जो तथ्यों को तोड़-मरोड़कर उपस्थित करते हैं, वह क्यों ठीक नहीं है, इसका विस्तार से आगम प्रमाणों को लक्ष्य में रखकर प्रकृत में विचार करते हैं। हम पहले ही यह सिद्ध कर आये हैं कि प्रत्येक कार्य अपने निश्चय उपादान के अनुसार ही होता है और जब जो कार्य होता, तब अविनाभाव-सम्बन्धवश उसकी सूचक कोई बाह्य सामग्री अवश्य होती है, जिसे कि निमित्त कहा जाता है। यद्यपि जो कार्य प्रयत्नपूर्वक होते हैं, उनमें उनके अनुकूल बाह्य सामग्री को मिलाने का विकल्प और हस्तादि क्रिया अवश्य होती है, परन्तु कार्य के लिए उपयुक्त बाह्य-आभ्यन्तर सामग्री, क्रमानुपाती ही हुआ करती है। दूसरी बात यह है कि विवक्षित कार्य के लिए प्रयत्न करना अपने स्थान पर है और उसका होना अपने स्थान पर है। ये सब होते हैं क्रमानुपानी ही। उदाहरणार्थ कई बालक पढ़ने के लिए पाठशाला जाते हैं और उन्हें अध्यापक मनोयोगपूर्वक पढ़ाता भी है। पढ़ने में पुस्तक आदि जो अन्य बाह्य साधन सामग्री निमित्त होती है, वह भी उन्हें सुलभ

रहती है, फिर भी अपने निश्चय उपादान और तदनुकूल क्षयोपशम के अनुसार कई बालक पढ़ने में तेज होते हैं, कई मन्द होते हैं, कई मट्ठ होते हैं और कई बाह्य नियमितरूप से पाठशाला जाकर भी पढ़ने में असमर्थ रहते हैं। इसका कारण क्या है ? जिस बाह्य सामग्री को लोक में कार्योत्पादक कहने का प्रघात है, वह सबको सुलभ है और वे पढ़ने में परिश्रम भी करते हैं। फिर भी वे एक समान क्यों नहीं पढ़ पाते।

यह कहना कि सबका ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का क्षयोपशम एक समान नहीं होता, इसलिए सबको पढ़ने पर भी एक समान ज्ञान नहीं होता, ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि तब भी यही प्रश्न होता है कि जब सबको एक समान बाह्य सामग्री सुलभ है, तब सबका एक समान क्षयोपशम क्यों नहीं होता ? जो महाशय उपादान का इतना ही अर्थ करते हैं कि जो कार्यरूप परिणत होता है या जिसमें कार्य उत्पन्न होता है, वह उपादान है, कार्योत्पादक तो वास्तव में बाह्य सामग्री है; उनको अन्त में इस प्रश्न का ठीक उत्तर प्राप्त करने के लिए निश्चय उपादान पर ही आना पड़ता है। तब यही मानना पड़ता है कि जब किसी भी कार्य का कार्योत्पादक निश्चय उपादान का स्वकाल आता है, तब अव्यवहित उत्तर समय में वह कार्य नियम से होता है और असद्भूतव्यवहारनय से तदनुकूल बाह्य सामग्री का योग भी बनता रहता है। कहीं वह साधन सामग्री अनायास मिलती है और कहीं वह प्रयत्नपूर्वक मिलती है, पर वह मिलती अवश्य है। जहाँ प्रयत्नपूर्वक मिलती है, वहाँ उसको निमित्त कर होनेवाले उस कार्य में प्रयत्न की मुख्यता कही जाती है और जहाँ बिना प्रयत्न के मिलती है, वहाँ देव की मुख्यता कही जाती है। देव का अर्थ पुरातन कर्म और योग्यता है, इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि निश्चय उपादान की दृष्टि से कार्योत्पादनक्षम योग्यता दोनों जगह अनुस्यूत है। निश्चय उपादान से अलग योग्यता को पृथक् गिनाने का कारण भी यही है।

शंका—कार्य के उत्पन्न करनें में जो बाह्य सामग्री निमित्त होती है, उसमें भी कार्योत्पादनक्षम योग्यता स्वीकार करने में क्या आपत्ति है ?

समाधान—पृथक्भूत बाह्य सामग्री में परमार्थ से उससे भिन्न कार्य का वास्तविक कारण मानने पर एक तो उसे कार्यद्रव्य से अभिन्न मानने का प्रसंग आता है, दूसरे वह स्वयं अपने कार्यरूप परिणत होने में व्यापृत रहती है, इसलिए उसमें परमार्थ से ऐसी योग्यता नहीं स्वीकार की गयी है।

शंका—अन्य द्रव्य के कार्य का कर्ता होने की योग्यता बाह्य सामग्री में भले ही न हो, आगम में निषेध भी इसी का किया गया है। करणादिरूप से वास्तविक योग्यता मानने में क्या आपत्ति है।

समाधान—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य का वास्तविक कर्ता नहीं होता, यह उपलक्षण वचन है। इससे कर्म, करण आदि सभी कारकों का निषेध हो जाता है। इसलिए एक द्रव्य के कार्य के करने की या तद्विषयक साधन आदि होने की वास्तविक योग्यता दूसरे द्रव्य में न होने से एक कर्ता का निषेध करने से वास्तव में सभी कारकों का निषेध हो जाता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमितगति स्वरचित द्वात्रिंशतिका में कहते हैं—

न संस्तरो मद्र समाधिसाधनं न च लोकपूजा न च संघमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम्॥२३॥

हे भद्र! संस्तर समाधि का साधन नहीं है, लोकपूजा और संघ-मेलन भी समाधि का साधन नहीं है। मैं सब प्रकार की बाह्य वासना को छोड़कर जैसे भी बने वैसे अध्यात्मरत होता हूँ॥२३॥

यह तथ्य है। इस द्वारा जिन्हें हम समाधि के लिए अनुकूल साधन मानते हैं, यहाँ न केवल उनका ही निषेध किया गया है, किन्तु तद्विषयक सभी प्रकार की वासना से मुक्त होकर एक अपने आत्मा

को ही लक्ष्य में लेने की दृढ़ प्रेरणा की गयी है। साथ ही इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि अन्य के द्वारा तद्भिन्न अन्य का कार्य किया जा सकता है, ऐसा मानना कोरी अज्ञानमूलक वासना है।

६. कतिपय शास्त्रीय उदाहरण

(१) शास्त्रों में अभव्य मुनियों के बहुत उदाहरण आते हैं। वे जीवन भर चरणानुयोग के अनुसार कठोर संयम का पालन करते हैं, फिर भी वे भावसंयम के पात्र क्यों नहीं होते? बाह्य दृष्टि से उनमें किस बात की कमी है? बाह्य में घर आदि सकल परिग्रह का त्याग किया है। सिंह आदि क्रूर जीवों से व्याप्त वन में एकाकी विचरते हैं। इतना सब है तो भी वे भावसंयमरूप परिणाम के अधिकारी क्यों नहीं होते? इसके कारण का अनुसन्धान करने पर यही कहना पड़ता है कि उनमें भावसंयम को उत्पन्न करने की कार्यक्षम उपादान योग्यता ही नहीं है, इसलिए वे बाह्य तपश्चरण आदि व्यवहार साधन में अनुरागी होकर भावसंयम के अनुकूल प्रयत्न भले ही करते रहें, पर उस जाति की योग्यता के अभाव में मोक्ष-प्राप्ति के अनुरूप सम्यक् पुरुषार्थ के अभाव में न तो भावसंयम के पात्र होते हैं और न मोक्ष के ही अधिकारी हो पाते हैं। नियम यह है कि जहाँ राग की ओर अणुमात्र भी झुकाव है, वहाँ आत्मा की प्राप्ति नहीं और जहाँ आत्मा की प्राप्ति है, वहाँ रागानुभूति नहीं। राग का होना और बात है, पर स्वपने से राग की अनुभूति होना और बात है। ज्ञानी के विकल्पदशा में राग होता है, इसक निषेध नहीं, पर स्वपने से रागानुभूति से वह सर्वथा मुक्त रहता है, यह वस्तुस्थिति है। इस प्रकार इस उदाहरण को दृष्टिपथ में लेकर यदि हम अपने अन्तश्चक्षु को खोलकर देखें तो हमें सर्वत्र कार्य-करणक्षम इस योग्यता का ही साम्राज्य दिखलायी देता है। इसके होने पर जिसे लोक में छोटा-से-छोटा बाह्य साधन कहा जाता है, वह भी कार्योत्पत्ति का बाह्य साधन बन जाता है और इसके अभाव

में जिसे कार्योत्पत्ति का बड़े से बड़ा बाह्य साधन कहा जाता है, वह भी निष्फल हो जाता है। कार्योत्पत्ति में निश्चय उपादानगत योग्यता का अपना मौलिक स्थान है। हम ऐसे सैकड़ों उदाहरण बतला सकते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने निश्चय उपादान की स्थिति में पहुँचने पर कार्य अवश्य होता है, पर उसके अभाव में कितने ही बाह्य साधनों की अनुकूलता होने पर इष्ट कार्य के दर्शन नहीं होते।

(२) शास्त्रों में आपने 'तुष-मास' भिन्न की कथा भी पढ़ी होगी। वह प्रतिदिन नियमानुसार गुरु की सेवा करता है, अट्ठाईस मूलगुणों का नियमित ढंग से पालन करता है, फिर भी वह समग्ररूप से द्रव्यश्रुत का ज्ञाता नहीं हो पाता। इसके विपरीत वह 'तुष-मास भिन्न' पाठ का घोष करते हुए आत्मस्थ होने पर केवली तो हो जाता है, फिर भी उसे छद्मस्थ अवस्था में द्रव्यश्रुत की प्राप्ति नहीं होती। क्यों ? क्योंकि उसमें द्रव्यश्रुत को उत्पन्न करने की योग्यता ही नहीं थी। इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण तो समझ में आता नहीं। इससे कार्योत्पत्ति में निश्चय उपादानगत योग्यता का क्या स्थान है, यह समझ में आ जाता है।

(३) श्री जयधवला में तीर्थंकर देवाधिदेव भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने पर ६६ दिन तक दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरी, इस शंका को उपस्थित कर श्री जयधवला में कहा गया है कि दिव्यध्वनि को पूरी तरह से ग्रहण करने में समर्थ गणधर के न होने से दिव्यध्वनि नहीं खिरी। इस पर पुनः शंका की गयी कि देवेन्द्र ने उसी समय गणधर को लाकर क्यों उपस्थित नहीं कर दिया ? इसका जो समाधान किया गया है, उसका भाव यह है कि काललब्धि के बिना देवेन्द्र उसी समय गणधर को उपस्थित करने में असमर्थ था। जयधवला का वह उल्लेख इस प्रकार है —

दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थापउत्ती ? गणिंदाभावादो। सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किं ण ढोइदो ? ण, काललद्धीए विणा

असहेज्जस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो।

यह एक ऐसा उदाहरण है जिससे हम यह जानते हैं कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में निश्चय उपादानगत योग्यता का स्थान सर्वोपरि है।

(४) एक दूसरा उदाहरण देखिए—कर्मशास्त्र के नियमानुसार जिन ८२ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामवाले मिथ्यादृष्टि के होता है, उनमें मिथ्यात्व प्रकृति भी परिगणित की गयी है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहा भी है—

बादालं तु पसत्था विसोहिगुण मुक्कडस्स तिव्वाओ।
बासीदि अप्पसत्था मिच्छुक्कडसंकलिट्ठस्स॥१६४॥

जो ४२ प्रकृतियाँ पुण्यरूप कही गयी हैं, उनका उत्कृष्ट अनुभाग-बन्ध उत्कृष्ट विशुद्धिरूप परिणामवाले जीवों के होता है और शेष ८२ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेशरूप परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है।

यह उत्कृष्ट अनुभागबन्ध की व्यवस्था है। अब इसकी उदीरणा के विषय में देखिये। जयधवला में कहा है—

मिच्छत्तस्स उक्कसाणुभाग उदीरणा कस्स?

मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा किसके होती है?

यह एक प्रश्न है, इसका समाधान करते हुए यतिवृषभ आचार्य लिखते हैं—

मिच्छाइट्ठिस्स सण्णिस्स सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तयस्स उक्कस्ससंकिलिट्ठस्स।

जो मिथ्यादृष्टि संज्ञी जीव सब पर्याप्तियों से पर्याप्त है और उत्कृष्ट संक्लेश परिणामवाला है, उसके मिथ्यात्व के उत्कृष्ट अनुभाग की उदीरणा होती है।

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि जिस जीव ने पहले मिथ्यात्व का

उत्कृष्ट अनुभागबन्ध किया है, उसी के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट उदीरणा सम्भव है। और यह ठीक भी है, क्योंकि जिसकी सत्ता हो, उसी की उदीरणा हो सकती है। जिसकी सत्ता ही न हो, उसकी उदीरणा कहाँ से होगी।

इस प्रकार इस विधि से यह नियम बना कि मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामवाले मिथ्यादृष्टि के ही होता है। तभी उसके मिथ्यात्व के उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा के काल में उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम हो सकेंगे। तब प्रश्न होता है कि जो निगोदिया जीव निगोद से निकलकर क्रम से संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त होते हैं, उनके जब उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम होना सम्भव ही नहीं और उनके बिना मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अनुभाबन्ध भी होना सम्भव नहीं, तब उनके मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा कहाँ से होगी? और इसके अभाव में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट संक्लेश परिणामवाला भी कैसे हो सकेगा? अर्थात् नहीं हो सकेगा, यह एक प्रश्न है। इसका समाधान जयधवला में यह कहकर किया है कि चाहे उत्कृष्ट अनुभाग सत्कर्मवाला जीव हो या चाहे तत्प्रायोग्य अनुत्कृष्ट सत्कर्मवाला जीव हो, दोनों के उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम हो जाएगा। पूरा शंका समाधान इस प्रकार है —

थावरकापादो आगंतूण तसकाइएसुप्पणस्साणुभागसंत-कम्ममणुक्कस्सं होइ, विट्ठाणियत्तादो। पुणो एदं संतकम्ममुदीरेमाणो पंचिंदियो चउट्ठाणमणुक्कस्साणुभागं बंधदि। संपहि एवंविहाणेण बद्धचउट्ठाणियाणुक्साणुभागसंतकम्मेण सो चेव उक्कस्साणु-भागबंधपाओग्गो वि होइ, सव्वुक्कस्ससंकिलेसपरिणामेण परिणदस्स तस्स तदविरोहादो। जइ पुण उक्कस्साणुभागसंतकम्मेण विणा उक्कस्साणुभागुदयो उदीरणा वा ण होदि त्ति णियमो तो तस्स उक्कस्सोदयाभावेण तदविणाभाविउक्कस्ससंकिलेसाभावादो। उक्कस्साणुभागबंधो सव्वकालं ण होज्ज? ण च एवं, तहासंते

उक्कस्साणुभागुप्पत्तीए तत्थाभावपसंगादो। तदो उक्कस्साणु-भागसंतकम्मियस्स तप्पाओग्गाणुक्कस्साणुभागसंतकम्मियस्स वा सण्णिमिच्छाइट्ठिस्स सव्वसंकिलिट्ठस्स उक्कस्साणुभागु-दीरणासामित्तं होदि त्ति णिच्छेयव्वं। *जयधवला पृष्ठ ११, पृष्ठ ४८ ॥*

स्थावरकायिकों में से आकार त्रसकायिकों में उत्पन्न हुए जीव के अनुभाग सत्कर्म अनुत्कृष्ट होता है, क्योंकि वह द्विस्थानीय है। पुनः इस सत्कर्म की उदीरणा करनेवाला पंचेन्द्रिय जीव चतुःस्थानीय अनुभाग सत्कर्म का बन्ध करता है। अब इस विधि से बन्ध को प्राप्त हुए चतुःस्थानीय अनुभाग सत्कर्म के द्वारा वही जीव उत्कृष्ट बन्ध के योग्य भी होता है, क्योंकि सर्वोत्कृष्ट संक्लेश से परिणत हुए उस जीव के उसके होने में कोई विरोध नहीं है। किन्तु यदि उत्कृष्ट सत्कर्म के बिना उत्कृष्ट अनुभाग का उदय या उदीरणा नहीं होती है, ऐसा नियम हो तो उसके उत्कृष्ट उदय का अभाव होने से उसका अविनाभावी उत्कृष्ट संक्लेश का अभाव हो जाएगा और ऐसा होने पर उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सर्व काल नहीं होगा। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर वहाँ पर उत्कृष्ट अनुभाग की उत्पत्ति का अभाव प्राप्त होता है, इसलिए उत्कृष्ट अनुभाग सत्कर्मवाले या तत्प्रायोग्य अनुत्कृष्ट अनुभाग सत्कर्मवाले सर्वसंक्लिष्ट संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीव के उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का स्वामित्व है, ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए।

यहाँ उक्त उद्धरण में जो मुख्य बात कही गयी है, वह यह कि भले ही अनुभाग सत्कर्म उत्कृष्ट से कम हो, पर ऐसे जीव के भी उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम हो सकता है। दूसरी बात जो कही गयी है, वह यह कि यद्यपि स्थावरों के द्विस्थानीय अनुभाग सत्कर्म है, किन्तु जब संज्ञी पंचेन्द्रिय हुआ तो चतुःस्थानीय अनुभागबन्ध करने लगता है। सो क्यों? अतः इस उद्धरण से भी यही निरिक्त होता है कि जितने भी कार्य होते हैं, वे निश्चय उपादान के अनुसार ही होते हैं। बाह्य

वस्तु मे जो साधनता स्वीकार की गयी है, वह मात्र बाह्यव्याप्तिवश ही स्वीकार की गयी है।

यह वस्तुस्थिति है। ऐसा होने पर भी उसे स्वीकार नहीं करना और आगम का कल्पित ढंग से उपयोग करना, फिर भी श्रुतज्ञान और आगम की दुहाई देना केवल पाठकों और श्रोताओं के चित्त में भ्रम उत्पन्न करने के सिवाय और क्या हो सकता है। दर्शन-न्याय के ग्रन्थों को लीजिए या मात्र स्वसमय की प्ररूपणा करनेवाले ग्रन्थों को लीजिए, उनमें यह एक स्वर से स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय कार्यकरणक्षम योग्यता होती है। ऐसी अवस्था में वह किसी निश्चय उपादान में हो और किसी निश्चय उपादान में न हो, ऐसा नहीं है और न शास्त्रकार ऐसा कहते ही है। इसकी पुष्टि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के इस वचन से भी होती है —

क्रमभुवोः पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरूपादानोपादेयत्ववचनात्। न चैवंविधः कार्य-कारणभावः सिद्धान्तविरुद्धः। सहकारिकाणेन कार्यस्य कथं तत् स्यात्, एकद्रव्यप्रत्यासतेरभावादिति चेत्? कालप्रत्यासत्तिविशेषात्तत्सिद्धिः। पृष्ठ १५१।

क्रम से होनेवाली दो पर्यायों में एक द्रव्यप्रत्यासत्ति होने से उपादान-उपादेयपना कहा गया है और इस प्रकार का कार्य-कारणभाव सिद्धान्त-विरुद्ध नहीं है।

शंका—सहकारी कारण के साथ कार्य का वह कार्य-कारणभाव किस प्रकार होता है, क्योंकि इस कार्य-कारणभाव में एकद्रव्यप्रत्यासत्ति का अभाव है?

समाधान—कालप्रत्यासत्ति विशेष होने से उसके साथ भी कार्य-कारणभाव की सिद्धि होती है।

इस उद्धरण से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं—

१. एक तो इसमें एकद्रव्यप्रत्यासत्तिवश क्रम से होनेवाली दो पर्यायों में कार्य-कारणभाव स्वीकार किया गया है। जिसे कि आगम में निश्चय उपादानोपादेयभावरूप से सम्बोधित किया गया है। इससे जिन महाशयों का यह कहना है कि अव्यवहित पूर्व पर्याय के नाश होने पर अगले समय में कार्य होता है, इसलिए पूर्व पर्याय में कारणता नहीं बनती। उनके इस मत का खण्डन हो जाता है और साथ ही जो केवल द्रव्य में ही कारणता मानते हैं, उसका भी निषेध हो जाता है, क्योंकि उक्त उद्धरण में द्रव्यप्रत्यासत्ति को हेतुरूप से उपस्थित कर अव्यवहित पूर्वोत्तर दो पर्यायों में कार्यकारणभाव स्वीकार किया गया है।

२. उक्त उद्धरण से दूसरी यह बात सिद्ध होती है कि जिसे हम सहकारी कारण कहते हैं, उससे कार्यद्रव्य सर्वथा भिन्न होता है। उसके साथ कार्यद्रव्य की एकद्रव्यप्रत्यासत्ति का सर्वथा अभाव है। फिर भी जो उसे सहकारी कारण कहा गया है, सो वह कालप्रत्यासत्तिविशेषवश ही स्वीकार किया गया है। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रत्येक कार्य के प्रति आभ्यन्तर-बाह्य उपाधि की अपेक्षा अन्तर्व्याप्ति और बाह्यव्याप्ति का योग रहता ही है। उनमें किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होता।

७. आचार्य कुन्दकुन्द के वचन का तात्पर्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार गाथा १४ में कहा है—

पज्जाओ दुवियप्पो-स-परावेक्खो य णिरवेक्खो ॥१४॥

पर्यायें दो प्रकार की हैं—स्वपरसापेक्ष पर्यायें और निरपेक्ष पर्यायें ॥१४॥

इन्हीं को क्रम से विभाव पर्याय और स्वभाव पर्याय भी कहते हैं।

प्रकृत प्रकरण जीवों का है, इसलिए मात्र इस दृष्टि से दोनों प्रकार की पर्यायों का खुलासा करते हुए वे आगे लिखते हैं —

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सभावमिदि भणिदा॥१५॥

मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च और देवपर्याय, ये विभाव पर्यायें कही गयी हैं तथा कर्मोपाधि से रहित पर्यायें, स्वभाव पर्यायें कही गयी हैं॥१५॥

यहाँ मनुष्यादि पर्यायें उपलक्षण हैं। इनसे विभावपर्यायों में सभी कर्मोपाधिवाली अर्थपर्यायों और व्यंजनपर्यायों का ग्रहण हो जाता है तथा स्वभावपर्यायों में कर्मोपाधिरहित सभी अर्थपर्यायों और व्यंजन-पर्यायों का ग्रहण हो जाता है। प्रकृत में जो विभावपर्यायें हैं, वे ही स्व-परसापेक्ष पर्यायें कहलाती हैं और जो स्वभावपर्यायें हैं, वे ही निरपेक्ष पर्यायें कहलाती हैं। यद्यपि निरपेक्ष पर्यायों को सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५, सूत्र ७ में स्वप्रत्यय कहा गया है, पर जब अपेक्षा का अर्थ विकल्प किया जाता है, तब स्वभावपर्यायों की उत्पत्ति और अनुभव की दशा में जीव विकल्प रहित रहते हैं, यह ध्वनित करने के लिए ही आचार्य ने स्वभावपर्यायों को मात्र निरपेक्ष कहा है। उनके पीछे स्व और पर ऐसा कोई विशेषण नहीं लगाया है। तथा जब कर्मोपाधि से रहित की विवक्षा होती है, तब वे ही स्वप्रत्यय या स्वसापेक्षपर्यायें भी कहालाती हैं। नयविभाग गहन है। कब कौन नय से कौन बात कही गयी है, यह समझना उसी के लिए सम्भव है, जो उसमें पारंगत हो।

यह दो पर्यायों की व्यवस्था है। किन्तु आजकल इस तथ्य को समझे बिना कई महाशय एक नये मत का प्रचार कर रहे हैं। उनका कहना है कि अगुरुलघुगुण की षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप पर्यायें स्वप्रत्यय पर्यायें हैं। उनमें वे काल को भी व्यवहार हेतुरूप से नहीं स्वीकारते। एक विडम्बना और है और वह यह कि वे अगुरुलघुगुण की उक्त पर्यायों को छोड़कर और जितनी भी स्वभावपर्यायें हैं, उन्हें स्व-पर सापेक्ष कहते हैं।

स्वसापेक्ष पर्यायों के समर्थन में तो वे सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५, सूत्र ७ के उसी कथन को उद्धृत करते हैं, जहाँ पर्यायों के दो भेद करके उनका स्पष्टीकरण किया गया है और स्वभाव पर्यायों के स्व-परसापेक्ष कहने के समर्थन में वे यह युक्ति देते हैं कि जिन पर्यायों के होने में पर की सहायता की अपेक्षा होती है, वे स्व-परसापेक्ष पर्यायें हैं। इनमें विभाव और स्वभावरूप सभी पर्यायें ली गयी हैं।

यह उन महाशयों का कहना है। अब देखना यह है कि उन्होंने आगम के जिन वचनों को उद्धृत कर यह अभिप्राय व्यक्त किया है, वह कहाँ तक ठीक है। एक उद्धरण तो सर्वार्थसिद्धि का है जिसका हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं। प्रकरण धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य का है। उसकी टीका में लिखा है —

धर्मादानि द्रव्याणि यदि निष्क्रियाणि ततस्तेषामुत्पादो न भवेत्। क्रियापूर्व को हि घटादीनामुत्पादो दृष्टः। उत्पादाभावाच्च व्ययाभाव इति। ततः सर्वद्रव्याणामुत्पादादित्रयकल्पनाव्याघात इति? तन्न, किं कारणम्? अन्यथोपपत्तेः। क्रिया निमित्तोत्पादाभावेऽप्येषां धर्मादीना-मन्यथोत्पादः कल्प्यते। तद्यथा —

शंका—धर्मादिक द्रव्य यदि निष्क्रिय है तो उनकी उत्पाद पर्याय नहीं बनती, क्योंकि घटादि का क्रियापूर्वक उत्पाद देखा जाता है। और इनकी उत्पाद पर्याय नहीं बनी तो इनकी व्यय पर्याय का भी अभाव हो जाता है और इसलिए सब द्रव्यों के उत्पादादि तीनरूप होने का व्याघात प्राप्त होता है?

समाधान—ऐसा नहीं है।

शंका—इसका क्या कारण है?

समाधान—इनकी दूसरे प्रकार से उत्पाद पर्याय बन जाती है। क्रिया निमित्तक उत्पाद पर्याय का अभाव होने पर भी इन धर्मादिक द्रव्यों की अन्य प्रकार से उत्पाद पर्याय स्वीकार की गयी है। यथा—

इतने उल्लेख से यह स्पष्ट है कि प्रकृत में धर्मादिक तीन द्रव्यों के सम्बन्ध में ही ऊहापोह हो रहा है। यद्यपि सभी द्रव्यों की स्वभाव पर्यायें धर्मादिक द्रव्यों की स्वभाव पर्यायों के समान अनिमित्तक (आश्रय निमित्तों को गिना नहीं) ही होती हैं, फिर भी प्रकृत में धर्मादिक तीन द्रव्य ही विवक्षित हैं। आगे उन तीन द्रव्यों की स्वभाव पर्यायें किस प्रकार होती हैं, इसको बतलाते हुए वहाँ लिखा है—

द्विविध उत्पादः—स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रमाणादभ्युपगम्यमानानां षड्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावात्तेषामुत्पादो व्ययश्चः।

उत्पाद पर्याय दो प्रकार की होती है—स्वनिमित्तक और परप्रत्ययरूप। पहले स्वनिमित्तक कहते हैं—इन तीनों द्रव्यों में आगम प्रमाण से स्वीकार किये गए अनन्त अगुरुलघुगुण (अविभाग प्रतिच्छेद) होते हैं, जिनका छह स्थानपतित वृद्धि और हानि के द्वारा वर्तन होता रहता है। अतः इनकी स्वभाव से उत्पाद और व्ययरूप पर्याय बन जाती है।

इस प्रकार इन तीन द्रव्यों में स्वप्रत्यय पर्याय कैसे बनती है, यह सिद्ध किया। यही बात तत्त्वार्थवार्तिक में भी कही गयी है। साथ ही वहाँ इनमें परप्रत्यय पर्याय का व्यवहार कैसे होता है, यह स्पष्ट करते हुए लिखा है—

परप्रत्ययरोऽपि अश्वादेगर्तिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात्। क्षणे क्षणे तेषां भेदात् तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्षया उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते। *स०सि० तथा त० वा० अ० ५ सू० ५*

इन तीनों द्रव्यों में परनिमित्तक भी उत्पाद और व्यय होता है, क्योंकि अश्व आदि की गति, स्थिति और अवगाहत में क्रम से

धर्मादिक तीनों द्रव्य निमित्त होते हैं। यत: इन गति आदिक में क्षण -क्षण में अन्तर पड़ता है, इसलिए इनके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए। इस प्रकार इन धर्मादिक द्रव्यों में परप्रत्यय उत्पाद और व्यय व्यवहृत होता है।

यही बात '**कालश्च**' इस सूत्र की व्याख्या में भी दुहराई गयी है। यथा—

व्ययोदयौ परप्रत्ययौ अगुरुलघुगुणवृद्धिहान्यपेक्षया स्वप्रत्ययौ च।

कालद्रव्य की व्यय और उत्पाद पर्याय परनिमित्तक होती हैं तथा अगुरुलघु गुणों (अविभागप्रतिच्छेदों) की वृद्धि और हानि की अपेक्षा स्वप्रत्यय व्यय और उत्पाद पर्यायें होती हैं।

गुण शब्द पर्यायांश के अर्थ में भी व्यवहृत होता है, यह बात हम तत्वार्थसूत्र, अध्याय ५ के '**न जघन्यगुणानां**' इत्यादि तीन सूत्रों से तो जानते ही हैं। साथ ही तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय ५, सूत्र १ के इस वचन से भी इसकी सिद्धि होती है—

रूपरसगन्धस्पर्शयुक्ता हि परमाणवः एकगुणरूपादिपरिणताः द्वित्रिचतुः-संख्येयासंख्येयानन्तगुगणत्वेन वर्धन्ते। तथैव हानिमपि उपयान्तीति गुणपेक्षयापूरणगलनक्रियापपत्तेः परमाणुष्वपि पुद्गलत्वमविरुद्धम्।

जो एक अविभागप्रतिच्छेद को लिए हुए रूप आदि से परिणत रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले परमाणु हैं, वे दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदरूप से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। तथा उसी प्रकार हानि को भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार अविभाग-प्रतिच्छेदों की अपेक्षा पूरण-गलनक्रिया की उपपत्ति बन जाने से परमाणुओं में भी पुद्गलपना अविरोधरूप बन जाता है।

८. शंका-सामधान

शंका—परमार्थ से जब सभी पर्यायें स्व से ही उत्पन्न होती हैं, तब किन्हीं पर्यायों को स्वभावपर्याय की संज्ञा देना और किन्हीं का विभावपर्याय की संज्ञा देना, ऐसा भेद क्यों किया जाता है ?

समाधान—अन्य द्रव्यों की अपेक्षा तो यहाँ विशेष ऊहापोह नहीं करना है। मात्र जीवों की अपेक्षा विचार करना है। प्रत्येक जीव ज्ञान-दर्शन स्वभाव है, राग, द्वेष, मोहस्वभाव नहीं। यतः संसारी जीव अनादि काल से अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव को भूलकर पंचेन्द्रियों के विषयों में इष्टानिष्ट बुद्धि के साथ शरीरादि में ही एकत्वबुद्धि करता आ रहा है। परिणामस्वरूप 'मैं ज्ञान-दर्शन स्वभाव आत्मा हूँ' इस तथ्य को भूला हुआ है। यह वस्तुस्थिति है। इससे यह तथ्य फलित हुआ कि परपदार्थों की ओर झुकाव की भूमिका में जीव की जो-जो अवस्था या भाव होते हैं, वे विभावभाव हैं और अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव को निजरूप से लक्ष्य में लेने पर जीव की जो-जो अवस्था या भाव प्रगट होते हैं, वे सब स्वभावभाव हैं। इसी तथ्य को जानकर ही आचार्य अमृतचन्द्रदेव कलश काव्य में भव्यजनों को सम्बोधित करने के अभिप्राय से कहते हैं—

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः।
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्धि बुध्यध्वमन्धाः॥
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः।
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥१३६॥

हे अन्ध प्राणियो! अनादि संसार से लेकर ये रागी जीव प्रत्येक पर्याय में सदा मत्त वर्तते हुए जिस अवस्था में सो रहे हैं, वह अवस्था तुम्हारा स्वरूप नहीं है, तुम्हारा स्वरूप नहीं है, इसे तुम समझो। अतः अपने निज स्वरूप को उपलब्ध करने के लिए इस ओर आओ, इस ओर आओ, तुम्हारा स्वरूप यह है—यह है, जहाँ अतिशुद्ध चैतन्यधातु

निज रस से ठसाठस भरी होने के कारण स्थायीपने को प्राप्त है।

जिस तथ्य को आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समयसार गाथा २०१-२०२ में स्पष्ट किया है, इस कलश काव्य द्वारा उसी ओर इंगित किया गया है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस जीव के विभावरूप परिणमन का यथार्थ कारण स्वयं उसका अपराध है, परपदार्थ नहीं। कर्मादि परपदार्थों में तो निमित्तता तब स्वीकारी जाती है, जब यह जीव स्वभाव को भूलकर उनकी ओर झुकाववाला होता है। तभी उनमें कर्ता निमित्तपने का तो नहीं, कारण निमित्तपने का व्यवहार किया जाता है। देखो, समयसार, गाथा ६५-६६॥

इसलिए जैनदर्शन के अनुसार यदि देखा जाए तो निमित्तपने की अपेक्षा अन्य द्रव्यों में अन्य द्रव्यों के कार्यों को सम्पादित करने का कोई गुण न होने से सभी समान है, वह मात्र असद्भूतव्यवहार है। इस विषय में विशेष स्पष्टीकरण हम पहले ही कर आये हैं।

शंका—अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के कार्य में जब वास्तव में सहायक नहीं होता तो अध्यात्मवृत्त जीव के व्यवहार निमित्त गौण रहता है, ऐसा क्यों कहा गया है ?

समाधान—इस वचन द्वारा वहाँ पराश्रित विकल्प को छुड़ाने का ही उपदेश दिया गया है। यहाँ 'पर' शब्द का अर्थ राग है। जो अध्यात्म -वृत्त जीव है, वह राग के अधीन होकर लाभ-अलाभ की कल्पना नहीं करता, यह इसका तात्पर्य है।

शंका—प्राक् पदवी अर्थात् सविकल्पदशा में ज्ञानी के राग के अधीन होकर प्रवृत्ति तो देखी जाती है। आगम भी इसे स्वीकार करता है।

समाधान—ज्ञानी के आत्मा के लाभ की दृष्टि से वह प्रवृत्ति नहीं होती। उस प्रकार के राग के होने से ऐसी प्रवृत्ति का होना और बात है, पर उसे आत्मा के लिए हितकारी मानना और बात है। ज्ञानी जीव

उसे आत्मा के लिए हितकारी नहीं मानता, इसलिए अध्यात्म में ज्ञानी के ऐसे व्यवहार को अबुद्धिपूर्वक ही स्वीकार किया गया है। ज्ञानी के व्यवहार हेतु गौण है, उसका अर्थ भी यही है। वैसे जिस कार्य के होते समय जो बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि हेतु मानी गयी है, वह वहाँ भी नियम से होती ही है, उसका निषेध नहीं है।

शंका—स्वाश्रित प्रवृत्ति और पराश्रित प्रवृत्ति तथा स्वाधीन और पराधीन प्रवृत्ति में क्या अन्तर है?

समाधान—अज्ञान या मोहपूर्वक जितनी भी प्रवृत्ति होती है, उसी का नाम पराश्रित या पराधीन प्रवृत्ति है तथा मोह या मिथ्यात्व के अभाव में ज्ञानी के जितनी भी बाह्य प्रवृत्ति होती है, उसके होते हुए भी आत्महित गौण न होने से वह उसका कर्ता नहीं होता तथा स्वात्महित के कार्य में सदा युक्त रहता है, इसलिए स्वात्महितरूप से जितनी भी आत्मोन्मुख प्रवृत्ति होती है, वह स्वाधीन या स्वाश्रित प्रवृत्ति कहलाती है।

शंका—जबकि स्वप्रत्यय और स्वभाव पर्याय का अर्थ एक ही है, ऐसी अवस्था में प्रकृत में इनको परप्रत्यय क्यों कहा गया है?

समाधान—बात यह है कि पुद्गल का तो ऐसा स्वभाव है कि वह यथाविधि पर पुद्गल का योग मिलने पर स्वयं श्लेषबन्ध को प्राप्त हो जाता है, पर जीव की चाल इससे भिन्न है, क्योंकि वह मोह, कषाय, योगरूप परिणत अवस्था में ही स्वयं एक क्षेत्रावगाहरूप परिणाम को प्राप्त होता है और वह तब तक उसको प्राप्त होता रहता है, जब तक कि वह अपने उपयोग स्वभाव को लक्ष्य में लेकर स्वयं तत्स्वरूप होकर नहीं परिणमता। इन दो अवस्थाओं को छोड़कर जो परप्रत्यय शब्द का प्रयोग है, वह मात्र प्रत्येक द्रव्य की एक समय की पर्याय से दूसरे समय की पर्याय को भिन्नरूप से सूचन करने के लिए ही है और जिसके द्वारा इसका सूचन होता है, उसे निमित्त कहा

गया है। देखो, सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५, सूत्र ७ की टीका का अन्तिम भाग।

शंका—जीव के विषय और कषाय को बन्ध का हेतु बतलाते समय पंचेन्द्रियों के विषयों को भी बन्ध का हेतु कहा गया है, सो क्या बात है?

समाधान—पंचेन्द्रियों के विषयों में रागबुद्धि होने से ही उन्हें बन्ध का हेतु कहा गया है। वास्तव में बन्ध का हेतु तो राग ही है। पंचेन्द्रिय के विषय नहीं। जहाँ भी इन्हें बन्ध का हेतु कहा गया है, वहाँ जीव के बन्ध का हेतु राग और राग का बाह्य हेतु पंचेन्द्रिय के विषय यह समझकर ही कहा गया है। इसीलिए समयसार और तत्त्वार्थसूत्र आदि परमागम में जीव के बन्ध के हेतुओं की परिगणना करते समय मात्र मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को ही बन्ध का हेतु कहा है, पुद्गलादि अन्य पदार्थों को नहीं।

प्रकृत में वस्तुस्थिति यह है कि पुद्गल की तो विवक्षित पर्याय ही उसके बन्ध की हेतु है और जीव की मोहादिरूप परिणति ही उसके बन्ध की हेतु है, इसलिए ये दोनों द्रव्य स्वयं ही बन्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं, यह सिद्ध होता है।

शंका—आगम में जो यह कहा गया है कि जीव के अज्ञानादि को निमित्तकर कार्मणवर्गणाएँ कर्मरूप परिणम जाती हैं और उनके उदय को निमित्त कर जीव अज्ञानादिरूप परिणमता रहता है, सो क्या बात है?

समाधान—यह असद्भूतव्यवहारनय का कथन है। वह यथासम्भव बाह्य व्याप्ति को देखकर ही किया गया है, क्योंकि उपादान-उपादेयरूप कार्यकारण में जहाँ क्रमभावी अविनाभाव की मुख्यता है, वहाँ बाह्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धरूप कार्यकारण में कालप्रत्यासत्ति की मुख्यता है, वैसे परमार्थ से सभी कार्य होते तो हैं

परनिरपेक्ष ही। उन्हें परसापेक्ष असद्भूतव्यवहारनय से ही कहा जाता है।

श्री जयधवला, पुस्तक ७ में अल्पबहुत्व के कथन के प्रसंग से ये वचन आये हैं—

अणंताणुमाणे जहण्णपदेससंतकम्ममसखेज्जगुणं। कोहे जहण्णपदेससंतकम्मं विसेसाहियं। पयडिविसेसादो। मायाए जहण्ण-पदेससंतकम्मं विसेसाहियं। विस्ससादो। लोहे जहण्णपदेससंतकम्मं विसेसाहियं। एदाणि सुत्ताणि सुगमाणि। वज्झत्थकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो। पृष्ठ ११७.

यहाँ इष्ट प्रयोजन की दृष्टि से लिए गए हेतुवचन जयधवला टीका के हैं, शेष सब चूर्णिसूत्र हैं। उससे अनन्तानुबन्धी मान में जघन्य प्रदेश सत्कर्म असंख्यातगुणा है। उससे क्रोध में जघन्य प्रदेश सत्कर्म विशेष अधिक है। प्रकृतिविशेष के कारण ऐसा है। उससे माया में जघन्य प्रदेश सत्कर्म विशेष अधिक है। क्योंकि स्वभाव से ही ऐसा है। उससे लोभ में जघन्य प्रदेश सत्कर्म विशेष अधिक है। ये सब सूत्र सुगम हैं, क्योंकि वस्तु का परिणाम बाह्य कारणनिरपेक्ष ही होता है।

देखो, बन्ध के समय उक्त प्रकृतियों के अल्पबहुत्व की स्वभाव से ऐसी व्यवस्था बन जाती है। उन प्रकृतियों में यथासम्भव उत्कर्षण, अपकर्षण या संक्रमण के होने पर भी इस अल्पबहुत्व में अन्तर नहीं पड़ता। कोई कहे कि जो कर्मबन्ध के हेतु मिथ्यात्वादि कहे हैं, उनके कारण ऐसा होता होगा? इस पर आचार्य कहते हैं कि भाई! ऐसा नहीं है। इस रूप से उन प्रकृतियों का होना विस्रसा है। ऐसा होने में बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और जीव के परिणामविशेष इनका कोई हाथ नहीं है।

श्री धवलाजी, पुस्तक ६, पृष्ठ १६३-१६४ में जो नपुंसकवेद आदि कतिपय प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के प्रमाण का निर्देश किया है। इस पर किन्हीं प्रकृतियों का कम और किन्हीं का अधिक

उत्कृष्ट स्थितिबन्ध क्यों होता है। इसी शंका का समाधान करते हुए आचार्य वीरसेन लिखते हैं —

कुदो ? पयडिविसेसादो। ण च सव्वाइं कज्जाइं एयंतेणबज्झत्थ-मवेक्खिय चे उप्पज्जंति, सालिबीजादो जवंकुरस्स वि उप्पत्तिपसंगा। ण च तारिसाइं दव्वाइं तिसु वि कालेसु कहिं पि अत्थि, जेसिं बलेण सालिबीजस्स जवंकुरुप्पायणसत्ती होज्ज, अणवत्थापसंगादो। तम्हा कम्हि वि अंतरंगकारणादो चेव कज्जुप्पत्ती होदि त्ति णिच्छओ कायव्वो॥ पृष्ठ १६४॥

क्योंकि प्रकृति विशेष होने से इस सूत्र में कही गयी प्रकृतियों का उक्त प्रकार से उत्कष्ट स्थितिबन्ध होता है। सभी कार्य एकान्त से बाह्य कारण की अपेक्षा से नहीं उत्पन्न होते हैं, अन्यथा शालिधान्य के बीज से यवांकुर की उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होता है। किन्तु इस प्रकार के द्रव्य तीनों ही कालों में किसी भी क्षेत्र में नहीं पाये जाते जिनके बल से शालिधान्य के बीज में जौ के अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति होवे। यदि ऐसा होने लगे तो किससे किस कार्य की उत्पत्ति हो, इसकी कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। इसलिए किसी भी क्षेत्र में और किसी भी काल में अन्तरंग कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, ऐसा निश्चय करना चाहिए।

यह कितना तथ्यपूर्ण और स्पष्ट वचन है। इससे हम जानते हैं कि निश्चयनय वस्तुस्वरूप की दिग्दर्शन करनेवाला होने से निरपेक्ष ही होता है। यह तो व्यवहारनय की ही दुर्बलता है कि वह दूसरे बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से विवक्षित पदार्थ का निरूपण करता है। जैसे किसी पुरुष को महान कहा जाए तो निश्चयनय की ओर से तो यह कहा जाएगा कि वह अपने विनम्र और निष्कपट स्वभाव के कारण महान है, किन्तु व्यवहारनय की ओर से उसे महान उसके अनुयायियों को आदि को देखकर कहा जाएगा। और इसीलिए आगम में निश्चयनय को स्वाश्रित और व्यवहारनय को पराश्रित कहा गया है।

इस प्रकार जड़-चेतन सभी पदार्थों के प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति समय-समय के अन्य-अन्य निश्चय उपादान के अनुसार ही होती है, यह सिद्ध हो जाने पर सभी द्रव्यों की स्वभाव-विभावरूप सभी पर्यायें क्रमनियमित ही होती हैं, यह सुतरां सिद्ध हो जाता है।

९. कल्पित विपरीत मान्यताओं का निरसन

आगे कपितय महानुभाव जो आगम की दुहाई देकर अपनी कल्पित विपरीत मान्यताओं द्वारा स्वाध्याय प्रेमियों को गुमराह करने की चेष्टा करते रहते हैं, उनकी वे मान्यताएँ कैसे आगम बाह्य अतएव नि:सार हैं। इस पर विचार किया जाता है—

१. पहली बात उन महाशयों की अकालमरण के सम्बन्ध में है। इस सम्बन्ध में आगम क्या है, यह देखना है। कर्मशास्त्र के नियमानुसार देवादिक जीवों की आयु अनपवर्त्य होती है, इतना ही कहा है। इसका अर्थ इतना ही है कि उन जीवों की आयु के निषेक -स्थिति का अपवर्तन नहीं होता। अर्थात् इन जीवों की आयुस्थिति निधत्ति और निकाचित बन्धरूप होती है। इसीलिए इन जीवों की आयु को अनपवर्त्य कहा है। शेष जीवों की आयु के विषय में ऐसा कोई नियम नहीं है। यह वस्तुस्थिति है।

इसको दृष्टि ओझल करके यदि वे महाशय अपवर्त्य आयु का अर्थ क्रमनियमितपर्याय के निषेध के अर्थ में करके कहते हैं कि मरण के जब जैसे बाह्य निमित्त मिलते हैं, तब किसी भी जीव का मरण हो जाता है। उसके मरण का उपादान की अपेक्षा कोई नियत समय नहीं हो सकता। उपादान में कौन कार्य हो, यह बाह्य निमित्तों के मिलने और न मिलने पर निर्भर है। यह उन महाशयों का कथन है। उनके इस कथन को ध्यान में रखकर प्रकृत में अकालमरण के सम्बन्ध में ही विचार करना है।

(१) कर्मशास्त्र का नियम है कि आयुबन्ध के समय भुज्यमान

आयु जितनी शेष रहती है, उसका अपवर्तन के बिना पूरा भोग होकर ही जीव का मरण होता है। इसके लिए देखो, धवला पुस्तक ६ उत्कृष्ट स्थिति चूलिका सूत्र २४ और २८ तथा जघन्य स्थिति चूलिका सूत्र २९ और ३३।

(२) इन चारों सूत्रों में यह तथ्य स्पष्ट किया गया है कि आयुबन्ध के समय जितनी भुज्यमान आयु शेष रहती है, उसका न तो अपकर्षण ही सम्भव है और न उत्कर्षण ही सम्भव है। वह सब प्रकार की बाधाओं से रहित है। विषभक्षण आदि बाह्य निमित्तों के मिलने पर भी उक्त भुज्यमान आयु का अपकर्षण होकर ह्रास नहीं होता।

(३) यह कहना भी ठीक नहीं है कि परभवसम्बन्धी आयुबन्ध के पूर्व भुज्यमान आयु का विषभक्षण आदि के निमित्त से ह्रास होकर मरण हो जाएगा, क्योंकि जब तक परभवसम्बन्धी आयु का बन्ध होकर अबाधारूप भुज्यमान आयु का काल पूरा नहीं होता, तब तक मरण नहीं हो सकता।

(४) इसलिए कर्मशास्त्र के अनुसार यही निश्चित होता है कि जो चरमोत्तम देहवालों आदि से रहित कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंच हैं, उनकी भुज्यमान आयु का अपकर्षण परभवसम्बन्धी आयुबन्ध के पूर्व तक ही सम्भव है, आयुबन्ध के काल से लेकर नहीं।

(५) तत्त्वार्थसूत्रकार ने कालमरण और अकालमरण का उल्लेख न कर मात्र इतना कहा है कि उपपाद जन्मवाले, चरमोत्तर शरीरवाले और असंख्यात वर्ष की आयुवाले जीवों की आयु अनपवर्त्य होती है अर्थात् अपवर्तन (अपकर्षण) के अयोग्य होती है। इनकी निषेक स्थितियों का अपकर्षण नहीं होता। इससे यह फलित होता है कि शेष जीवों की आयु के निषेकों का अपकर्षण होना सम्भव है।

(६) तब यह प्रश्न होता है कि भुज्यमान आयु के निषेकों में अपकर्षण की योग्यता रहने पर ही विषभक्षण आदि को निमित्तकर

उन निषेकों का अपकर्षण होता है या बिना योग्यता के ही विषभक्षण आदि को निमित्तकर उन निषेकों का अपकर्षण हो जाता है। योग्यता के अभाव में भी कोई कार्य होता है, ऐसा तो वे महाशय भी स्वीकार नहीं करेंगे, अन्यथा जौ के बीज से ही शालिधान्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, अभव्य भी रत्नत्रय को उत्पन्न कर मोक्ष के पात्र हो जाएँगे। कार्य के अनुरूप योग्यता के स्वीकार करने पर भी उसका परिपाक काल आने पर ही वह फलित होती है, यह भी मानना पड़ेगा। इससे सिद्ध हुआ कि जिन जीवों की भुज्यमान आयु के अपकर्षण के योग्य काल की उपलब्धि जब प्राप्त होती है, उसी समय विषभक्षण आदि को निमित्त कर उसका अपकर्षण होता है। सो भी वह आगामी भवसम्बन्धी आयुबन्ध के पूर्व तक ही, उसके बाद नहीं।

(७) अतएव लोक में जिसे अकालमरण या कदलीघात कहा जाता है, शास्त्रीय दृष्टि से उसका इतना ही अर्थ है कि यह आयु अपकर्षण के योग्य थी, इसलिए विषभक्षण आदि को निमित्त कर इसका अपकर्षण हो गया और तदनन्तर पर भवसम्बन्धी आयु का बन्ध होकर आबाधा काल प्रमाण अपनी भुज्यमान आयु के समाप्त होने पर उसका अन्त हो गया। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि भुज्यमान आयु के अपकर्षण होने के तत्काल बाद परभवसम्बन्धी आयु का बन्ध हो सकता है या कालान्तर में परभवसम्बन्धी आयु का बन्ध हो सकता है। ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है कि भुज्यमान आयु के अपकर्षण के तत्काल बाद ही परभवसम्बन्धी आयु का बन्ध होना ही चाहिए। साथ ही इस प्रकार से आयुबन्ध के समय भुज्यमान आयु कितनी शेष रहती है, इस विषय में भी कोई एक नियम नहीं है। कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त भी शेष रह सकती है और अधिक से अधिक एक पूर्व कोटि के कुछ कम एक त्रिभाग-प्रमाण भी शेष रह सकती है।

इस प्रकार अनपवर्त्य और अपवर्त्य आयु का क्या तात्पर्य है, यह कर्मशास्त्र के अनुसार स्पष्ट होने पर भी यदि वे महाशय अपनी जिद का परित्याग किये बिना अपनी कल्पना के अनुसार अकाल - मरण का अर्थ करने में ही अपनी सफलता मानते हैं, तो उन्हें अकालमरण के समान अकाल जन्म भी मानना पड़ेगा, क्योंकि मरण कहो चाहे पूर्व पर्याय का व्यय कहो, दोनों का अर्थ एक ही है तथा व्यय और उत्पाद में मात्र लक्षणभेद होने से ही वे दो माने गये हैं। वैसे जो पूर्व पर्याय का व्यय है, वही अगली पर्याय का उत्पाद है। घट का विनाश ही कपालों की उत्पत्ति है। कभी भी है **कार्योत्पादः क्षयः।** आगम में जो हेतु दिया जाता है, वह विवक्षित अभिप्राय की पुष्टि की दृष्टि से ही दिया जाता है। एकान्त से उसे स्वीकार कर लेना युक्तियुक्त नहीं है। नय दो हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चयनय तो जो वस्तु जैसी है, उसे उसी प्रकार कहना है। किन्तु व्यवहारनय बाह्य संयोग आदि के आधार से उसका कथन करता है। यह इष्टार्थ की सिद्धि का तरीका है। किन्तु व्यवहारनय के कथन को ही परमार्थ मान लेना उचित नहीं है। परमार्थ से सामान्य-विशेष उभयरूप प्रत्येक वस्तु स्वाश्रित है, पराश्रित नहीं। मात्र पर के द्वारा उसकी सिद्धि की जाती है, इसलिए व्यवहारनय भले ही पराश्रित हो, पर इससे वस्तु को ही पराश्रित मानना आगम का अपलाप करना है। इसलिए यह निश्चित होता है कि अकालमरण का जो अर्थ दूसरे महानुभाव करते हैं, वह ठीक नहीं होकर यही मानना उचित है कि सब पर्यायों का काल अपने-अपने नियत उपादान के अनुसार निश्चित है,उसमें फेरफार नहीं हो सकता।

(२) वे महाशय अपने कल्पित अर्थ की सिद्धि में उदीरणा आदि को भी उपस्थित करते हैं, किन्तु क्या वे यह कहने का साहस कर सकते हैं कि जो कर्म परमाणु उपशमकरण अवस्था को प्राप्त हैं, उनकी कभी भी उदीरणा हो सकती है या जो कर्मपरमाणु निधत्तिकरण

अवस्था को प्राप्त हैं, उनकी कभी भी उदीरणा, संक्रम हो सकता है। या जो कर्म परमाणु निकाचितकरण अवस्था को प्राप्त है, उनकी कभी भी उदीरणा, संक्रम, उत्कर्षण और अपकर्षण हो सकता है। यदि नहीं तो उन्हें यह मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जिन कर्मपरमाणुओं में जैसी योग्यता होती है, उसका परिपाककाल आने पर वही कार्य होता है। इससे सभी पर्यायें क्रमनियमित ही होती हैं, यही सिद्ध होता है।

(३) जब संसार का अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल शेष रहता है, तब सम्यक्त्व की प्राप्ति होना सम्भव है, यह आगम का स्पष्ट निर्देश है। किन्तु वे महाशय अपने अभिप्राय की पुष्टि में इसका भी दुरुपयोग करते हैं। वे कहते हैं कि जब-जब अर्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रहता है, तब-तब सम्यक्त्व की प्राप्ति होना सम्भव है। किन्तु उन्हें समझना चाहिए कि जिस अर्धपुद्गल परिवर्तन के आदि में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, उसके बाद जब जीव इतने काल के बाद नियम से मुक्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में जब काल नियम बन जाता है, तब अनियम कहाँ रहा। इस प्रकार वे महाशय अपने कथन द्वारा कालनियम स्वीकार करके भी कथन में मात्र उसका निषेध करते हैं। दूसरे, सम्यग्दर्शन होते समय अनन्त संसार का छेद हो जाता है, आगम में जो यह कहा गया है, तो इसका इतना ही अभिप्राय है कि अनन्त संसार के कारण जो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय थे, उनका छेद हो गया है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार कर यह वचन कहा गया है।

(४) वे महाशय बाह्य निमित्त में कार्यकृत स्वभाव मानते हैं, अतः अव्यवहित पूर्वपर्याय में कारणता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। इस पर हमारा कहना यह है कि यदि यह बात है तो उपादान के लक्षण में 'अव्यवहित पूर्व पर्याय' यह विशेषण नहीं लगाया

जाना चाहिए था। यत: यह विशेषण लगाया गया है, इससे सिद्ध है कि आचार्यों ने अव्यवहित पूर्वपर्याय युक्त द्रव्य में निश्चित कारणता स्वीकार करने के लिए ही लक्षण में पहले यह विशेषण लगाया है। इसी तथ्य के समर्थन में आचार्य विद्यानन्दि, अष्टसहस्त्री, पृष्ठ १०० में लिखते हैं—

ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्रागभावस्तावत्कर्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वानन्तरात्मा।

ऋजुसूत्रनय की मुख्यता से तो अनन्तरपूर्व पर्यायरूप उपादान-परिणाम ही कार्य का प्रागभाव है।

देखो, दो समय में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव की व्यवस्था इस आधार पर बनती है कि जिस कार्य के अभाव से अगले समय का कार्य हुआ, वह प्रध्वंसाभाव है और उपादानरूप द्रव्य प्रागभाव है। इसी तथ्य को पृष्ठ १०१ में स्वीकार करते हुए वे लिखते हैं —

प्रागभाव-प्रध्वंसयोरुपादानोपादेयरूपतोपगमात्प्रागभावोप-मर्दनेन प्रध्वंसस्यात्मलाभात्।

प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में क्रम से उपादान और उपादेयरूपता स्वीकार की गयी है, इसलिए उपादान के उपमर्दन द्वारा प्रध्वंसाभाव की प्राप्ति होती है, यह निश्चित होता है।

ये आगम वचन हैं, इनका अपलापकर-अव्यवहित पूर्व पर्याय में कारणता का निषेध करना केवल उन महाशयों का मिथ्यात्व से दूषित मिथ्या श्रुतज्ञान ही कहा जाएगा। हम उन्हें इससे और अधिक उपालम्भ ही क्या दे सकते हैं। जो यह कहा जाता है कि यह बात उपादानस्वरूप द्रव्य के अवस्थित रहने पर भी यदि कार्य के अनुकूल बाह्य-सामग्री नहीं मिलती या प्रतिकूल सामग्री उपस्थित रहती है, तो कार्य नहीं होता, सो इसके समाधान के लिए हम तत्त्वार्थश्लोक -वार्तिक का एक उद्धरण उपस्थित कर देना पर्याप्त समझते हैं।

सम्यग्दर्शन के होने पर विशिष्ट सम्यक्ज्ञान का लाभ होता भी है और नहीं भी होता है, इसी प्रसंग में यह वचन आया है। नियम यह है कि उत्तरवर्ती विशिष्ट सम्यग्ज्ञान का लाभ होने पर सम्यग्दर्शन का लाभ नियत है, पर सम्यग्दर्शन का लाभ होने पर विशिष्ट सम्यग्ज्ञान का नियम से लाभ होना चाहिए, ऐसा कोई एकान्त नहीं है। इसी तथ्य को आचार्य इन शब्दों द्वारा व्यक्त करते है —

तत एव उपादानस्य लाभे नोत्तरस्य नियतो लाभः, कारणा-नामवश्यं कार्यवत्वाभावात्।

इसीलिए उपादान का लाभ होने पर उत्तर का लाभ नियत नहीं है, क्योंकि करण अवश्य ही कार्यवाले होते हैं, यह नहीं है।

इस पर प्रश्न हुआ कि यदि समर्थ कारण हो, तब कार्य होता है या नहीं। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त कथन समर्थ कारण की अविवक्षा को ध्यान में रखकर किया है। समर्थकारण की विवक्षा में तो पूर्व का लाभ होने पर उत्तर का लाभ भजनीय नहीं है। यथा—

समर्थस्य कारणस्य कार्यवत्त्वमेवेति चेत्? न, तस्येहाविव-क्षितत्वात्। तद्विवक्षायां तु पूर्वस्य लाभे नोत्तरं भजनीयमुच्यते, स्वयमविरोधात्।

इस प्रकार इस कथन से यह निश्चित होता है कि अव्यवहित पूर्व -पर्याययुक्त द्रव्य समर्थ उपादान कारण है, इसलिए वह अपने नियत -कार्य को नियम से उत्पन्न करता है और इसीलिए आचार्य विद्यानन्द ने उसे निश्चय उपादान की संज्ञा दी है। इतना ही नहीं, इससे यह भी सिद्ध होता है कि जब समर्थ उपादान अपने नियतकार्य को जन्म देता है, तब उसके अनुकूल ही बाह्य सामग्री उपस्थित रहती है, वहाँ उसके प्रतिकूल बाह्य सामग्री का सर्वथा अभाव रहता है। परीक्षामुख के सूत्र का भी यही आशय है।

(५) कुछ महानुभाव कर्म और आत्मा में संश्लेष सम्बन्ध वास्तविक है, इत्यादि कथन द्वारा उनके सम्बन्ध को वास्तविक मानकर कर्म की बलवत्ता सिद्ध कर पर्यायों के प्रतिनियत क्रम का निषेध करते हैं। उनका वह कथन कैसे आगम विरुद्ध है, यह इसी से स्पष्ट है कि कर्म और आत्मा में एक तो संश्लेष सम्बन्ध न होकर अन्योन्यावगाहसम्बन्ध होता है। दूसरे जब तक सम्बन्ध रहता है, तब तक ये एक-दूसरे का मात्र अनुसरण करते हैं। यदि कोई को यथार्थ प्रेरक मान लिया जाए तो यह जीव कभी भी मुक्ति का पात्र नहीं हो सकता। एक बात और है कि कर्म का उदय-उदीरणता हीनाधिक होने पर भी जीव अपने निश्चय उपादान के अनुसार ही कार्य करता है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण हम पहले ही कर आये हैं।

(६) जो महाशय यह कहते हैं कि विवक्षित कार्यरूप से परिणमन की उपादान योग्यता के रहने पर भी उसके उस रूप से परिणमन कराने में समर्थ जब बाह्य सामग्री मिलती है, तभी वह कार्य होता है, तो उनका यह कथन स्वाध्याय-प्रेमियों के चित्त में मात्र भ्रम को ही उत्पन्न करता है, क्योंकि उन्होंने उपादान योग्यता कहकर अपने पक्ष को प्रस्तुत किया है। यह नहीं स्पष्ट किया कि इस उपादान योग्यता से उन्हें कौन-सी योग्यता स्वीकार है—द्रव्यरूप या पर्यायरूप या उभयरूप। मात्र द्रव्य योग्यता कार्यजनक आगम भी स्वीकार नहीं करता। रही पर्याय योग्यता, सो वह अकेली होती नहीं। यदि उभयरूप योग्यता ली जाती है, तो उसके होने पर तदनुरूप कार्य के होने का नियम है। इसीलिए निश्चय उपादान के लक्षण में द्रव्य पर्याय दोनों प्रकार की योग्यता ली गयी है। और जब कार्य होता है, तब उसके अनुकूल बाह्य सामग्री नियम से रहती है, यह भी नियम है। अन्तर्व्याप्ति और बाह्यव्याप्ति के इस योग को आगम भी स्वीकार करता है। देखो, समयसार गाथा ८४ की टीका।

(७) वे महाशय जो यह कहते हैं कि मिट्टी के समान कुम्भकार व्यक्ति में भी कुम्भ निर्माण का कर्तृत्व विद्यमान है—इत्यादि, सो उनका यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जो परिणमता है, वह कर्ता कहलाता है। इस नियम के अनुसार कुम्भकार जब घटरूप परिणमन ही नहीं करता, तब उसमें कुम्भ का कर्तृत्व कैसे बन सकता है, अर्थात् नहीं बन सकता। अब रही मिट्टी, सो सामान्य मिट्टी में भी कुम्भ की सामान्य योग्यता ही होती है। कुम्भ का द्रव्य-पर्याय कर्तृत्व तो उसी मिट्टी में बनता है, जो मिट्टी कुशूल पर्याय से युक्त होकर स्वयं अन्तर्घट -भवन के सन्मुख होती है। वैसे कुशूल व्यञ्जनपर्याय होने से प्रति समय सदृश परिणाम द्वारा अनेक क्षणवर्ती भी हो सकती है, इसलिए घटपर्याय के सन्मुख हुई कुशूल पर्याययुक्त मिट्टी ही घट को जन्म देती है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

(८) एक तो वे महाशय षड्गुण हानि-वृद्धिरूप परिणमन मात्र अगुरुलघुगुण का मानते हैं और दूसरे वे उसे सर्वथा अनिमित्तक मानते हैं। किन्तु उनकी यह कथनी कितनी उपहासास्पद है, यह इसी से स्पष्ट है कि जिस नियमसार गाथा १४ में पर्यायों के स्व-परसापेक्ष और निरपेक्ष, ये भेद किये हैं, उसी नियमसार की अगली गाथा में स्वपर-सापेक्ष और निरपेक्ष पर्यायों से उन्हें क्या विवक्षित है, इसका भी संकेत कर दिया है। समग्र-जिनागम में स्वभावपर्यायों को परनिरपेक्ष -रूप में ही स्वीकार किया गया है। इस ओर वे ध्यान देते तो भी वे आगमविरुद्ध ऐसे भ्रामक कथन को करने का साहस ही नहीं करते। दूसरे यदि वे जीवकाण्ड की ज्ञानमार्गणा पर दृष्टि डाल लेते तो वे आगमविरुद्ध यह लिखने का भी साहस नहीं करते कि मात्र अगुरुलघु गुण का षड्गुण हानि-वृद्धिरूप परिणमन स्वप्रत्यय है। विशेष स्पष्टीकरण हम पहले ही कर आये हैं।

(९-१०) उन महाशयों का जो यह कहना है कि यद्यपि अन्तिम

संसाररूप पर्याय के अनन्तर मोक्षपर्याय अवश्य होती है, पर इसका कारण द्रव्य कर्मों का अभाव ही है, अन्तिम पर्याय नहीं। वे अपने इस मत की पुष्टि में यह तर्क देते हैं कि पूर्व पर्याय विनष्ट होकर ही उत्तर-पर्याय की उत्पत्ति होती है। सो उनका यह कहना भी केवल कपोल-कल्पित कल्पना ही है। उन्हें कम-से-कम यह तो समझना चाहिए था कि यदि पर्याय का अभाव होकर कार्य की उत्पत्ति होती है, इसलिए पर्याय में कारणता घटित नहीं होती तो द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का सर्वथा अभाव होकर ही मोक्ष की उत्पत्ति होती है, ऐसी अवस्था में इन तीनों में भी कारणता कैसे बन सकती है। जो कर्म वस्तु से सर्वथा भिन्न है, उसमें तो कारणता बन जाय और जो वस्तु के तादात्म्यरूप है, उसमें कारणता नहीं बने, यह मान्यता कैसी विडम्बनारूप है, इसको स्वयं वे जान सकते हैं, जिन्हें आगम के अनुसार उपादान-उपादेयपने का यत्किंचित् भी ज्ञान है।

दूसरी बात यह है कि आगम में मोक्षपर्याय की उत्पत्ति रत्नत्रय की पूर्णता में स्वीकार की गयी है। संसार पर्याय, रत्नत्रय के साथ है, यह दूसरी बात है। यदि वे महाशय कहें कि संसार पर्याय के अन्तिम समय में स्थित रत्नत्रय पर्याय का अभाव होकर ही मोक्ष की उत्पत्ति होती है, इसलिए उसमें भी कारणता हम नहीं मानते तो उन्हें चाहिए कि वे सर्वज्ञ कथित आगम की परम्परा के विरुद्ध स्वमत कल्पित स्वतन्त्र शास्त्र लिख डालें और साथ ही यह भी लिख दें कि आचार्यों ने जो कुछ लिखा है, वह उनकी मान्यता है। हमें वह स्वीकार नहीं है। आगम के नाम पर ऐसी उपहासास्पद विडम्बना क्यों करते हैं।

वस्तुतः उन्हें समझना चाहिए कि मोक्ष पर्याय की द्रव्य योग्यता तो निगोदिया जीव में भी पायी जाती है, पर वह उसी पर्याय से मोक्ष का पात्र नहीं बनता, इसीलिए आचार्यों ने जिस पर्याय के बाद जो कार्य नियम से होता है, उस पर्याय में अव्यवहित उत्तरपर्याय की

कारणता स्वीकार की है। प्रध्वंसाभाव के लक्षण में ही स्वीकार किया गया है कि एक पर्याय का व्यय (प्रध्वंस) ही उससे अगली पर्याय की उत्पत्ति है। जैसे घट का विनाश ही कपाल हैं। क्या यह सम्भव है कि घट का विनाश न हो और कपालों की उत्पत्ति हो जाए और क्या यह सम्भव है कि घट का विनाश हो और कपालों की उत्पत्ति न हो ? यदि नहीं, तो अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर कार्य-कारणभाव का अललाप करना कहाँ की बुद्धिमानी है।

शंका—इसी अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ही हम बाह्य सामग्री में कारणता स्वीकार करते हैं।

समाधान—इसे अस्वीकार तो हम करते नहीं। हमारा कहना तो इतना ही है कि बाह्य सामग्री में वास्तविक कारणता नहीं है। केवल अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ही उसमें कारणता कल्पित की जाती है। जबकि अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य में वास्तविक कारणता पायी जाती है।

देखो, परीक्षामुख में क्रमभावी अविनाभाव को बतलाते समय पूर्वोत्तर दो पर्यायों की अपेक्षा ही कार्य-कारणभाव स्वीकार किया गया है। वहाँ सहभावी बाह्य व्याप्ति की अपेक्षा कार्य-कारणभाव की कोई चर्चा ही नहीं की गयी है। सो क्यों ? उसका एकमात्र कारण यही है कि बाह्य सामग्री में वास्तविकरूप से कारणता नहीं पायी जाती।

(११) उनका जो यह कहना है कि यद्यपि निश्चयरत्नत्रय से ही जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है, परन्तु उसे निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति व्यवहाररत्नत्रय के आधार पर ही होती है, इसलिए व्यवहाररत्नत्रय मोक्ष का परम्परा कारण है आदि। सो उनका यह कहना भी इसलिए ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे मोक्षपर्याय जीव की स्वभाव पर्याय है, उसी प्रकार निश्चयरत्नत्रय भी जीव की स्वभाव पर्याय है। फिर क्या कारण है कि मोक्षरूप स्वभाव पर्याय की उत्पत्ति तो व्यवहाररत्नत्रय

के बिना ही हो जाए और निश्चयरत्नत्रय की उत्पत्ति व्यवहाररत्नत्रय के आधार पर हो। यदि निश्चयरत्नत्रय की उत्पत्ति व्यवहाररत्नत्रय के आधार पर मानी जाए तो मोक्ष की उत्पत्ति भी व्यवहाररत्नत्रय के आधार पर मानी जानी चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं। इससे सिद्ध है कि जैसे मोक्ष की उत्पत्ति व्यवहाररत्नत्रय के आधार पर नहीं होती, वैसे ही निश्चयरत्नत्रय की उत्पत्ति भी व्यवहाररत्नत्रय के आधार पर नहीं होती, यही मान लेना उपयुक्त है।

दूसरे मिथ्यादृष्टि के व्यवहाररत्नत्रय होता भी नहीं, फिर क्या कारण है कि वह उत्तर काल में यथासम्भव निश्चयरत्नत्रय का पात्र बन जाता है। मिथ्यादृष्टि के व्यवहाररत्नत्रय होता ही नहीं, इसे तो वे महाशय भी स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार चौथे और पाँचवें गुणस्थान की अपेक्षा भी समझ लेना चाहिए। चौथे गुणस्थानवाले के पाँचवें गुणस्थान का व्यवहाररत्नत्रय नहीं होता, फिर ये पाँचवें गुणस्थान के निश्चय-रत्नत्रय को कैसे प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार पाँचवें गुणस्थानवाला छटे गुणस्थान के व्यवहाररत्नत्रय के क्रम को छोड़कर सातवें गुणस्थान को जैसे प्राप्त करता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि भी यथासम्भव व्यवहाररत्नत्रय के बिना पाँचवें या सातवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं। क्या कभी अपने अभिमत को व्यक्त करने के पूर्व इन महाशयों ने इस बात का भी विचार किया। यदि नहीं तो उन्हें ऐसी आगमविरुद्ध बात तो नहीं लिखनी चाहिए जिससे आगम की मर्यादा ही समाप्त होती हो।

शंका—तो फिर आगम क्या है?

समाधान—बृहद्द्रव्यसंग्रह में बतलाया है कि दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग की प्राप्ति ध्यान में होती है, यह आगम है। यथा —

दुविहं पि मोक्खमग्गं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह॥४७॥

यत: दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग मुनि ध्यान में प्राप्त करता है, इसलिए तुम्हे प्रयत्न चित्त होकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।।४७।।

यहाँ मुनिपद ज्ञानी के अर्थ में आया है। उपलक्षण से जो योग्य पुरुषार्थ द्वारा आत्मा के सन्मुख है, उसका भी ग्रहण किया गया है। इसका अर्थ यह है कि जो अपने स्वत:सिद्ध, अनादि-अनन्त, निरन्तर उद्योतरूप और विशद् ज्योति ज्ञायकस्वरूप आत्मा के सन्मुख हो, उसमें उपयुक्त होता है, उसे निश्चय और व्यवहाररत्नत्रय की प्राप्ति एक साथ होती है। इसलिए निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति का वास्तविक उपाय अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप आत्मा में उपयुक्त होना ही है; व्यवहाररत्नत्रय नहीं, यह सिद्ध होता है।

शंका—तो फिर आगम में व्यवहाररत्नत्रय को निश्चयरत्नत्रय का साधक क्यों कहा गया है?

समाधान—व्यवहाररत्नत्रय, निश्चयरत्नत्रय को उत्पन्न करता है, इसलिए साधक नहीं कहा गया है। किन्तु व्यवहाररत्नत्रय, निश्चय-रत्नत्रय के सद्भाव का सूचक होने से उसे (व्यवहाररत्नत्रय को) निश्चयरत्नत्रय साधक (सिद्धि-अस्तित्व का हेतु) कहा गया है।

शंका—आगम में व्यवहाररत्नत्रय को जो परम्परामोक्ष का हेतु कहा गया है, सो क्यों?

समाधान—व्यवहारनय के मूल भेद दो हैं—सद्भूतव्यवहारनय और असद्भूतव्यवहारनय। सद्भूतव्यवहारनय से अव्यवहित पूर्व समयवर्ती रत्नत्रय से भिन्न चौथे आदि गुणस्थानवर्ती निश्चयरत्नत्रय को परम्परा मोक्ष का कारण कहा है, क्योंकि इसमें मोक्ष की हेतुता सद्भूत होकर भी वह अपने-अपने अव्यवहित उत्तर समय में मोक्ष को उत्पन्न करने में हेतु नहीं होता, इसलिए इसे परम्परा मोक्ष का हेतु कहा है। यह कथन अर्थगर्भ है, इसलिए परमार्थस्वरूप है।

अब रही असद्भूतव्यवहारनय से परम्परा मोक्षकारण की बात,

सो नियम यह है कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक जहाँ जितने अंश निश्चयरत्नत्रय सम्बन्धी विशुद्धि होती है, वहाँ उतने अंश में व्यवहाररत्नत्रय सम्बन्धी अविशुद्धि (प्रशस्त राग) अवश्य होती है। ऐसा ही ज्ञानधारा और कर्मधारा का एक साथ एक आत्मा में रहना आगम स्वीकार करता है। इस प्रकार इन दोनो के सहचर सम्बन्ध को देखकर इनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को आगम स्वीकार करता है।

देखो, यह बात तो हम पहले ही बतला आये हैं कि इन दोनों की उत्पत्ति एक साथ होती है, इसलिए इनमें से कोई किसी की उत्पत्ति का हेतु नहीं है। प्रत्युत इसके विपरीत स्थिति यह है कि निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति के पूर्व जितना भी व्रत, तप, यम, नियमरूप क्रियाकाण्ड होता है, वह सब संसार को बढ़ानेवाला ही माना गया है, क्योंकि उसके द्रव्यान्तर स्वभाव होने से वह बन्ध का ही हेतु है, मोक्षस्वरूप एकत्व की प्राप्ति का हेतु नहीं। समयसार में कहा भी है—

वद-णिभमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति॥१५३॥

जो जीव व्रत, नियम, शील और तप को करते हुए भी परमार्थ से बाहिर हैं अर्थात् ज्ञानस्वरूप स्वात्मा की अनुभूति से वंचित हैं, वे निर्वाण को नहीं प्राप्त होते॥१५३॥

इसकी आत्मख्याति टीका में लिखा है—

ज्ञानमेव मोक्षहेतुस्तदभावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्व्रत-नियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मसद्भावेऽवि मोक्षाभावात्। अज्ञानमेव बन्धहेतुः, तद्भावे स्वयंज्ञान-भूतानां ज्ञानिनां बहिर्व्रतनियमशीलतपः-प्रभृतिशुभकर्माभावेऽपि मोक्षसद्भावात्।

ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है, क्योंकि ज्ञान (ज्ञानधारा) के अभाव में स्वयं अज्ञानभाव को प्राप्त हुए अज्ञानियों के अन्तरंग व्रत, नियम,

शील और तप इत्यादि शुभकर्मों का सद्भाव होने पर भी मोक्ष का अभाव रहता है। तथा अज्ञान ही बन्ध का हेतु है, क्योंकि अज्ञान के अभाव में स्वयं ज्ञानभाव को प्राप्त हुए ज्ञानियों के बाह्य व्रत, नियम, शील और तप इत्यादि शुभकर्मों का अभाव होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है।

इस टीका से कई तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है —

(१) अज्ञानियों के व्रत, नियम आदि के पूर्व जो अन्तरंग विशेषण दिया है, उससे विदित होता है कि अज्ञानी जीव इन व्रत, नियम आदि को ही मोक्ष का अन्तरंग हेतु मानता है, इसलिए वह निरन्तर व्रताचरण आदि पर प्रमुखरूप से जोर देता रहता है। उसे यह मालूम ही नहीं कि जो ज्ञानभाव को प्राप्त होगा, उसे बाह्य परिकर के रूप में यथासम्भव ये व्रतादिक होते ही हैं। उसकी निरन्तर यह धारणा काम करती रहती है कि व्रताचरण करने से ही परम्परा मोक्ष की प्राप्ति होती है। वह अनुसंगी को आवश्यक मानता रहता है। यही उसका अज्ञान है, जिसके रहते हुए वह मोक्ष का अधिकारी नहीं हो पाता।

(२) ज्ञानी के व्रत, नियम आदि के पूर्व जो बाह्य विशेषण दिया है, उससे विदित होता है कि ज्ञानी के बाह्य परिकररूप में ये भले ही होते हों, पर वह उन्हें मोक्ष का अन्तरंग हेतु न मानकर एकमात्र ज्ञानरूप होने को ही मोक्ष का अन्तरंग हेतु मानता है। यह इसी से सिद्ध है कि ज्ञानी के ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में व्रत, नियम आदि का अभाव होने पर भी वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। इतना ही क्यों, यदि यह कहा जाए तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि राग और ज्ञान में भेदविज्ञान होने पर भी वह ज्ञानी हुआ है, इसलिए परमार्थ से उसके व्रत, नियमादि का असद्भाव होने पर भी वह एकमात्र ज्ञानभाव से मोक्षस्वरूप ही है। प्रकृत में इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए व्रत, नियमादि के पूर्व बाह्य विशेषण लगाया है और ज्ञानी के उनका असद्भाव कहा है।

शंका—एक बार तो ज्ञानी के बाह्यरूप में आप व्रत, नियमादि को स्वीकार करते हो और दूसरी बार वहीं उनका निषेध भी करते हो, सो क्यों?

समाधान—नय विभाग से ये दोनों कथन बन जाते हैं। पहला कथन असद्भूतव्यवहारनय से किया गया है और दूसरा कथन परमार्थ से किया गया है, इसलिए कोई बाधा नहीं है।

इस प्रकार इस कथन से यह स्पष्ट हो जाने पर कि चतुर्थ आदि गुणस्थानों का निश्चयरत्नत्रय मोक्ष का परम्परा हेतु है, सहचर सम्बन्ध वश उसके साथ होनेवाले व्यवहाररत्नत्रय को उपचरित असद्भूत-व्यवहारनय से परम्परा मोक्ष का कारण कहा है। जैसे निश्चयरत्नत्रय स्वरूप से मोक्ष का साक्षात् या परम्परा कारण है, वैसे व्यवहाररत्नत्रय स्वरूप से मोक्ष का न तो साक्षात् कारण है और न ही परम्परा कारण है, इतना स्पष्ट है, क्योंकि वह द्रव्यान्तर स्वभाववाला होने से मोक्ष अर्थात् अपने एकत्व की प्राप्ति का हेतु कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता।

अब रही व्यवहाररत्नत्रय के धर्म होने और न होने की बात, सो जब वह वस्तु के स्वभावरूप ही नहीं, तब वह निश्चयरत्नत्रय के समान धर्म कैसे हो सकता है? यदि उसे उपचरित असद्भूत-व्यवहारनय से मोक्ष का परम्परा कारण भी कहा जाए तो भी वह निश्चय-रत्नत्रय के समान किसी प्रकार भी धर्म नहीं हो सकता। परमार्थ से धर्म दो प्रकार का हो, एक निश्चय धर्म और दूसरा व्यवहार धर्म -ऐसा तो है नहीं। वास्तव में स्वभाव धर्म तो एक ही प्रकार का है, दो प्रकार का नहीं और उसी को निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयरत्नत्रय भी कहते हैं। जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, वे एकमात्र इसी धर्म को जीवन बनाकर मोक्ष के पात्र हुए हैं, मोक्ष प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। देखो, प्रवचनसार, ८१, ८२ गाथाएँ।

शंका—यदि यह बात है तो भगवान अरहन्तदेव को चरणानुयोग का उपदेश ही नहीं देना चाहिए था ?

समाधान—निश्चयरत्नत्रयरूप से परिणत हुए जीव के अविनाभाव सम्बन्धवश बाह्य में कहाँ किस प्रकार की मन, वचन और काय की प्रवृत्ति होती है, यह बतलाने के लिए भगवान, अरहन्तदेव के चरणानुयोग का उपदेश दिया है और इसीलिए ही उसे निश्चयरत्नत्रय का साधक कहा है।

(१२) केवलज्ञान स्वभाव के लक्ष्य से ही उत्पन्न होता है, पर की ओर झुकाव से नहीं; इसलिए वह स्व-परप्रत्ययपर्याय न होकर उसे आगम स्वप्रत्ययपर्याय ही स्वीकार करता है। जो अपने ज्ञायक -स्वभाव में समग्रभाव से लीनता करता है, उसे केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है, ऐसा नियम है। उसके ज्ञानावरणादि कर्मों का स्वयं अभाव हो जाता है, यह दूसरी बात है। आगम में जो ज्ञानावरणादि के क्षय से केवलज्ञान होता है, ऐसा कहा गया है, वह मात्र अविनाभाव सम्बन्ध को देखकर ही कहा गया है। इसका यह तात्पर्य तो है नहीं कि चाहे कोई अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव में समग्रभाव से लीनता न भी करे तो भी उसे ज्ञानावरणादि के क्षय से केवलज्ञान हो जाएगा। जब ऐसा नहीं है तो इस आत्मा का मुख्य कर्तव्य अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव में लीनता करना ही हो जाता है, क्योंकि ऐसा किये बिना उसके ज्ञानावरणादि के क्षयपूर्वक केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ऐसा करने से जहाँ उसे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, वहाँ उसके ज्ञानावरणादि कर्मों का स्वयं अभाव भी हो जाता है। मुख्य कर्तृव्य तो उसका अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव में लीनता करना ही है, ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय करना नहीं।

(१३) बाह्य निमित्त, कार्य को उत्पन्न नहीं करते; कार्य को उत्पन्न तो निश्चय उपादान ही करता है, इसलिए इस दृष्टि से बाह्य निमित्तों

की उपयोगिता नहीं है। किस समय किस द्रव्य ने क्या कार्य किया, यह सूचन करने की दृष्टि से यदि कोई बाह्य निमित्तों की उपयोगिता मानता है तो इसमें आगम से कोई बाधा भी नहीं आती। अब रही उपादान की बात, सो निश्चय उपादान की उपयोगिता भी कार्य उत्पन्न करने की दृष्टि से ही है, क्योंकि उसका ध्वंस होकर ही कार्य की उत्पत्ति होती है। कार्य होने पर भी उपादान बना रहता है, सो वह किसका? विवक्षित कार्य का या अन्य किसी का? यदि विवक्षित कार्य का कहा जाए तो इसका यह अर्थ हुआ कि अभी द्रव्य विवक्षित कार्य की दृष्टि से उपादान की भूमिका में ही आया है। उसके अव्यवहित उत्तर समय में कार्य होगा। यदि वह अन्य किसी का उपादान है तो उसे विवक्षित कार्य का उपादान नहीं कहना चाहिए। यदि कहा जाए कि हम कार्य होने के बाद भी निश्चय उपादान बना रहता है, यह नहीं कह रहे हैं, किन्तु जो द्रव्य निश्चय उपादान की भूमिका में आकर अव्यवहित उत्तर समय में विवक्षित कार्य को उत्पन्न करता है, उसकी बात कह रहे हैं। तो इस पर हमारा इतना ही कहना है कि केवल त्रिकाली द्रव्य तो कार्य को उत्पन्न करता नहीं, किन्तु तीनों काल में पूर्व-पूर्व पर्याय युक्त होकर ही द्रव्य उत्तर-उत्तर समय में कार्य को उत्पन्न करता है। इसलिए विवक्षित कार्य की अपेक्षा उसकी उपयोगिता वहीं समाप्त हो जाती है। आगम भी उपादान-उपादेयरूप से इसी तथ्य की प्ररूपणा करता है, इसे नहीं भूलना चाहिए। जिससे स्वाध्याय प्रेमी को भ्रम हो या विपरीत परम्परा चले, ऐसी प्ररूपणा किस काम की?—इसका विचार उन महाशयों को ही करना चाहिए, जो ऐसे भ्रमोत्पादक कथन करने में अपना द्रतिकर्तव्य समझते हैं।

(१४) द्रव्यपर्यायें दो प्रकार की हैं—स्वभावपर्याय और विभाव-पर्याय। स्वभावपर्यायों पर तो बद्धता और स्पृष्टता का व्यवहार ही नहीं होता। विभावपर्यायों पर बद्धता और स्पृष्टता का व्यवहार अवश्य

किया जाता है, परन्तु परमार्थ से वे होती स्वयं अपने निश्चय उपादान के अनुसार ही हैं। उन्हें परपदार्थ उत्पन्न नहीं करते और न वे परमार्थ से परपदार्थों से बद्ध और स्पृष्ट ही हैं। यदि उन्हें पर पदार्थों से बद्ध और स्पृष्ट परमार्थ से जान लिया जाए तो उनमें एकत्व प्राप्त हो जाए। किन्तु दो पदार्थ कभी भी बद्ध और स्पृष्ट होकर एक नहीं होते, इसलिए सभी पर्यायों को परमार्थ से अबद्ध और अस्पृष्ट ही मानना चाहिए।

शंका—समयसार, गाथा १४ में आत्मा को अबद्ध-अस्पृष्ट निश्चयनय से अवश्य कहा गया है, क्योंकि वह नय मात्र स्वात्माश्रित वस्तु का विवेचन करता है, पराश्रित वस्तु का विवेचन नहीं करता, जबकि पराश्रित बद्धस्पृष्टता भी भूतार्थ है। आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने इसे स्वीकार भी किया है और भूतार्थ तथा परमार्थ एकार्थवाची वचन हैं, इसलिए वस्तु को परमार्थ से बद्धस्पृष्ट मानना चाहिए। फिर क्या कारण है कि आप बद्धस्पृष्टता को परमार्थ स्वरूप होने का निषेध करते हैं ?

समाधान—मूलाचार चरणानुयोग का मूल ग्रन्थ है। आचार्य वीरसेन ने तो इसकी महत्ता को समझकर इसे आचारांग शब्द से ही सम्बोधित किया है। इसमें '**सव्वे संजोगलक्खणा**' पद में आये हुए संयोग शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है —

अनात्मनीनस्य आत्मभावः संयोगः ॥१-४८॥

जो अपना नहीं है, उसमें आत्मभाव का होना, इसका नाम संयोग है।

इससे विदित होता है कि प्रकृत में बद्धस्पृष्ट पद से अज्ञान राग-द्वेषरूप पर्याय को ही आचार्य अमृतचन्द्रदेव भूतार्थ कह रहे हैं। बाह्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को लक्ष्यकर आचार्य जयसेन प्रवचनसार गाथा २६५ की टीका में लिखते हैं —

बाह्यपंचेन्द्रियविषयभूते वस्तुनि सति अज्ञानभावात् रागाद्यध्य-वसानं भवति तस्मादध्यवसानाद् बन्धो भवतीति पारम्पर्येण वस्तु बन्धकारणं भवति न च साक्षात्।

पंचेन्द्रियों के बाह्य विषयभूत वस्तु के होने पर अज्ञानभाव से रागादि अध्यवसान होता है और उस अध्यवसान से बन्ध होता है, इसलिए बाह्य वस्तु परम्परा से बन्ध का कारण है, साक्षात् नहीं।

यह उद्धरण इतना स्पष्ट है जिससे हम जानते हैं कि साक्षात् बद्ध -स्पृष्टता तो अज्ञान, राग-द्वेषरूप ही है। जीवद्रव्य कर्म और शरीरादि नोकर्म से बद्ध स्पृष्ट है, यह कहना ऐसा ही है कि जैसे किसी का यह कहना कि हमें अपने कुटुम्बीजनों ने जकड़कर इतना बाँध रखा है कि हमें इस जन्म में तो उनसे छुटकारा पाना सम्भव ही नहीं। वस्तुतः विचारकर देखा जाए तो यहाँ उसका अज्ञानमूलक रागभाव ही इसका कारण है, कुटुम्बीजन नहीं। इसी प्रकार प्रकृत में भी जीव की बद्धस्पृष्टता अज्ञानभावरूप ही है, कर्म और नोकर्मरूप नहीं। उनसे जीव बँधा है, यह कथन मात्र असद्भूतव्यवहारनय से ही किया गया है।

शंका—तो फिर भेदविज्ञान के होने पर जीव को अज्ञानमूलक सभी पर्यायों से छुटकारा मिल जाना चाहिए?

समाधान—छुटकारा अवश्य मिल जाता है। अन्तर इतना ही है कि जब तक भेदविज्ञान के बल से जीव आत्मस्थ होकर पूर्णरूप से रत्नत्रयस्वरूप नहीं हो जाता, तब तक रागादि निमित्तक संसार बना रहता है। वैसे उसके संसार से मुक्त होने की प्रक्रिया चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रारम्भ हो जाती है। तद्योग्य द्रव्यकर्म की सत्ता रहते हुए सम्यग्दृष्टि जीव द्वितीयादि छह नरक, भवनत्रिक, नपुंसक, स्त्री, स्थावरकायिक और विकलेन्द्रियों में नहीं उत्पन्न होता। और आत्मविशुद्धि को दृढ़ करता हुआ, क्रमशः देवपर्याय और मनुष्यपर्याय का भी अन्त कर रागादिरूप संसारसम्बन्धी और अस्थायी सभी भावों का अन्त कर पूर्णरूप से अबद्धस्पृष्ट हो जाता है।

इस प्रकार इस विवेचन से यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि जो भी कार्य होता है, वह अपने निश्चय उपादान के अनुसार होकर भी क्रम-नियमित ही होता है। बाह्य सामग्री के बल से उसमें फेरफार होना त्रिकाल में सम्भव नहीं।

१०. बाह्य व्याप्ति और क्रमनियमितपर्याय

अब आगे बाह्य व्याप्ति अर्थात् बाह्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को ध्यान में रखकर क्रमनियमितपर्यायों की सम्यक् व्यवस्था कैसे बनती है, इस पर विस्तृतरूप से प्रकाश डाला जाएगा। सर्व प्रथम इस तथ्य को विशद्‌रूप से समझने के लिए हम पंचास्तिकाय की ८९वीं गाथा और उसकी अमृतचन्द्र आचार्यरचित टीका को लेते हैं। यथा—

विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरिणामेहि दु गमणं ठाणं च कुव्वंति॥८९॥

जिनकी गति होती है, उनकी पुनः स्थिति होती है (और जिनकी स्थिति होती है, उनकी यथासम्भव पुनः गति होती है।) इसलिए गति और स्थिति करनेवाले पदार्थ अपने परिणमन के सम्मुख हुए परिणामों के अनुसार ही गति और स्थिति करते हैं॥८९॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

धर्माधर्मयोरौदासीन्ये हेतुपन्यासोऽयम्। धर्मः किल न जीव-पुद्‌गलानां कदाचिद् गतिहेतुत्वमभ्यसति, न कदाचित् स्थितिहेतुत्वम-धर्मः। तौ हि परेषां गतिस्थित्योर्यदि मुख्यहेतू स्यातां तदा येषां गतिस्तेषां गतिरेव न स्थितिः, येषां स्थितिस्तेषां स्थितिरेव न गतिः। तत् एकेषामापि गति-स्थितिदर्शनादनुमीयते न तौ तयोर्मुख्यहेतू। किन्तु व्यवहारनयव्यवस्थापितौ उदासीनौ। कथमेवं गतिस्थितिमतां पदार्थानां गति-स्थिती भवत इति चेत्, सर्वे हि गति-स्थितिमन्तः पदार्थाः स्वपरिणामैरेव निश्चयेन गति-स्थिती कुर्वन्तीति॥८९॥

यह धर्म और अधर्मद्रव्य की उदासीनता के सम्बन्ध में हेतु कहा गया है। वास्तव में (निश्चय से) धर्मद्रव्य कभी भी जीवों और पुद्गलों की गति में हेतु नहीं होता और अधर्मद्रव्य कभी भी उनकी स्थिति में हेतु नहीं होता। यदि वे दूसरों की गति और स्थिति के मुख्य हेतु हों तो जिनकी गति हो, उनकी गति ही रहनी चाहिए, स्थिति नहीं होनी चाहिए और जिनकी स्थिति हो, उनकी स्थिति ही रहनी चाहिए, गति नहीं होनी चाहिए। किन्तु अकेले एक पदार्थ की भी गति और स्थिति देखी जाती है, इसलिए अनुमान होता है कि वे (धर्म और अधर्मद्रव्य) गति और स्थिति के मुख्य हेतु नहीं है। किन्तु व्यवहारनय से स्थापित उदासीन हेतु हैं।

शंका—यदि ऐसा है तो गति और स्थितिवाले पदार्थों की गति और स्थिति किस प्रकार होती है ?

समाधान—वास्तव में गति और स्थिति करनेवाले पदार्थ अपने-अपने परिणामों से ही निश्चय से गति और स्थिति करते हैं।

यह पंचास्तिकाय और उसकी टीका वक्तव्य है। इसके सन्दर्भ में नियमसार और तत्त्वार्थसूत्र के कथन को पढ़ने पर ज्ञात होता है कि उन (नियमसार और तत्त्वार्थसूत्र आदि) ग्रन्थों में जो यह कहा गया है कि सिद्ध जीव लोकान्त से ऊपर धर्मास्तिकाय न होने से गमन नहीं करते, सो यह व्यवहारनय (उपचारनय) का ही वक्तव्य है, जो केवल निश्चय उपादान के अनुसार गति की उतनी योग्यता की प्रसिद्धि के लिए किया गया है, क्योंकि मुख्य हेतु तो अपना-अपना निश्चय उपादान ही है। मुख्य हेतु कहो, निश्चय हेतु कहो या निश्चय उपादान कहो, एक ही तात्पर्य है। स्पष्ट है कि जिस काल में निश्चय उपादान को जितने क्षेत्र तक गमन करने की या जिस क्षेत्र में स्थित होने की योग्यता होती है, उस काल में वह पदार्थ उतने ही क्षेत्र तक स्वयं गमन करता है और उस क्षेत्र में स्वयं स्थित होता है। यह परमार्थ

सत्य है। परन्तु जब वह गमन करता है या स्थित होता है, तब धर्मद्रव्य गमन में और अधर्मद्रव्य स्थित होने में उपचरित हेतु होता है, इसलिए व्यवहार हेतु के समर्थन में प्रयोजन विशेषवश यह भी कह दिया जाता है कि सिद्ध जीव लोकान्त के ऊपर धर्मास्तिकाय न होने से गमन नहीं करते। यद्यपि इस कथन में उपचरित हेतु की मुख्यता से कथन किया गया है, पर इस पर से यह फलित करना उचित नहीं है कि उस काल में निश्चय उपादान की द्रव्य-पर्याय योग्यता तो आगे भी जाने की थी, पर उपचरित हेतु न होने से सिद्ध जीवों का और ऊपर गमन नहीं हुआ। उससे ऐसा अर्थ फलित करने पर जो अर्थ विपर्यास होता है, उसका वारण नहीं किया जा सकता। अतएव परमार्थरूप में यही मानना उचित है कि वस्तुतः प्रत्येक कार्य तो प्रत्येक समय में अपने-अपने निश्चय उपादान के अनुसार ही होता है। किन्तु जब कार्य होता है, तब अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव स्वयंमेव उसमें उपचरित हेतु होते हैं। परमार्थ से किसी कार्य का मुख्य हेतु हो और उपचरित हेतु न हो, ऐसा नहीं है। किन्तु जब जिस कार्य का मुख्य हेतु होता है, तब उसका उपचरित हेतु होता ही है, ऐसा नियम है। भावलिंग के होने पर उसके द्रव्यलिंग नियम से पाया जाता है, यह विधि इसी आधार पर फलित होती है। यह हम मानते हैं कि शास्त्रों में लोकालोक का विभाग उपचरित हेतु के आधार से बतलाया गया है। परन्तु वह व्याख्यान करने की एक शैली है, जिससे हमें यह बोध हो जाता है कि गतिमान जीवों और पुद्गलों का निश्चय से लोकान्त तक ही गमन होता है, लोक के बाहर स्वभाव से उनका गमन नहीं होता। और इसीलिए आगम में यह भी कहा गया है कि यह लोक अकृत्रिम, अनादि निधन और स्वभाव से निर्वृत्त हैं।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक निश्चय उपादान अपनी-अपनी स्वतन्त्र योग्यता सम्पन्न होता है और उसके

अनुसार उसका ध्वंस होकर प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति होती है। तथा इससे यह भी सिद्ध हुआ कि प्रत्येक समय का निश्चय उपादान पृथक्-पृथक् है, इसीलिए उनसे क्रमशः जो-जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे अपने-अपने काल में नियत हैं। वे अपने-अपने समय में ही होती हैं, आगे-पीछे नहीं होतीं, इस तथ्य का समर्थन स्वामी कार्तिकेय द्वादशानुप्रेक्षा की २२२-२२३ कारिका से भी होता है —

इसी बात को स्पष्ट करते हुए अमृतचन्द्र आचार्य प्रवचनसार गाथा ९९ की टीका में कहते हैं —

यथैव हि परिगृहीतद्राघिम्नि प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामिनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलषूत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयात् पूर्व-पूर्वमुक्ताफलानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रक्रस्यावस्थानात् त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति। तथैव हि परीगृहीतनित्यवृत्तिनिवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेषूच्चकासत्सु परिणामेषूत्तरोत्तरेषूत्तरोत्तरपरिणामानामुदयनात् पूर्वपूर्वपरिणामानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात् त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति।

जिस प्रकार विवक्षित लम्बाई को लिए हुए लटकती हुई मोती की माला में अपने-अपने स्थान में चमकते हुए सभी मोतियों में आगे-आगे के स्थानों में आगे-आगे के मोतियों के प्रगट होने से अतएव पूर्व-पूर्व के मोतियों के अस्तंगत होते जाने से तथा सभी मोतियों में अनुस्यूति के सूचक एक डोरे के अवस्थित होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रैलक्षण्य प्रसिद्धि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार स्वीकृत नित्यवृत्ति से निवर्तमान द्रव्य में अपने-अपने काल में प्रकाशमान होनेवाली सभी पर्यायों में आगे-आगे के कालों में आगे-आगे की पर्यायों के उत्पन्न होने से अतएव पूर्व-पूर्व पर्यायों का व्यय होने से तथा इन सभी पर्यायों में अनुस्यूति को लिए हुए एक प्रवाह के

अवस्थित होने से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप त्रैलक्षण्य प्रसिद्धि को प्राप्त होता है।

यह प्रवचनसार की टीका का उद्धरण है, जो कि प्रत्येक द्रव्य में उत्पादादि त्रय के समर्थन के लिए आया है। इसमें द्रव्य स्थानीय मोती की माला है, उत्पाद स्थानीय आगे का मोती है, व्यवस्थानीय अस्तंगत पिछला होती है और अन्वय (उर्ध्वतासामान्य) स्थानीय डोरा है। जिस प्रकार मोती की माला में सभी मोती अपने-अपने स्थान में चमक रहे हैं। गणनाक्रम से उनमें से पीछे-पीछे का एक-एक मोती अतीत होता जाता है और आगे-आगे का एक-एक मोती प्रगट हो जाता है। फिर भी सभी मोतियों में डोरा अनुस्यूत होने से उनमें अन्वय बना रहता है। इसलिए त्रैलक्षण्य की सिद्धि होती है। उसी प्रकार नित्य परिणाम-स्वभाव प्रत्येक द्रव्य में अतीत, वर्तमान, और अनागत सभी पर्यायें अपने-अपने काल में प्रकाशित हो रही हैं। अतएव उनमें से पूर्व-पूर्व पर्यायों के क्रम से व्यय को प्राप्त होते जाने पर आगे-आगे की पर्यायें उत्पादरूप होती जाती हैं और उनमें अनुस्यूति को लिए हुए अन्वयरूप एक अखण्ड प्रवाह (ऊर्ध्वता सामान्य) निरन्तर अवस्थित रहता है, इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रैलक्षण्य की सिद्धि होती है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

इसको यदि और अधिक स्पष्टरूप से देखा जाए तो ज्ञात होता है कि भूतकाल में पदार्थ में जो-जो पर्यायें हुई थीं, वे सब द्रव्यरूप से वर्तमान पदार्थ में अवस्थित हैं और भविष्यत् काल में जो-जो पर्यायें होंगी, वे भी द्रव्यरूप से वर्तमान पदार्थ में अवस्थित हैं। अतएव जिस पर्याय के उत्पाद का जो समय होता है, उसी समय में वह पर्याय उत्पन्न होती है और जिस पर्याय के व्यय का जो समय होता है, उसी समय वह विलीन हो जाती है। ऐसी एक भी पर्याय नहीं है, जो द्रव्यरूप से वस्तु में न हो और उत्पन्न हो जाए और ऐसी भी

कोई पर्याय नहीं है, जिसका व्यय होने पर द्रव्यरूप से वस्तु में उसका अस्तित्व ही न हो। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसा में स्वामी समन्तभद्र कहते हैं—

यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनिं खपुष्पवत्।
मोपादाननियामो भून्माश्वासः कार्यजन्मनि॥४२॥

यदि कार्य सर्वथा असत् है। अर्थात् जिस प्रकार वह पर्यायरूप से असत् है, उसी प्रकार वह द्रव्यरूप से भी असत् है, तो जिस प्रकार आकाश-कुसुम की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार कार्य की भी उत्पत्ति मत होओ तथा उपादान का नियम भी न रहे और कार्य के पैदा होने में समाश्वास भी न होवै॥४२॥

इसी बात को आचार्य विद्यानन्द ने उक्त श्लोक की टीका में इन शब्दों में स्वीकार किया है —

कथंचित्सत् एवं स्थितत्वोत्पन्नत्वघटनाद्विनाशघटनवद्।

जैसे कथंचित् सत् का ही विनाश घटित होता है, उसी प्रकार कथंचित् सत् का ही ध्रौव्य और उत्पाद घटित होता है।

प्रध्वंसाभाव के समर्थन के प्रसंग से इसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्द अष्टसहस्री, पृष्ठ ५३ में कहते हैं—

स हि द्रव्यस्य वा स्यात्पर्यायस्य वा? न तावद् द्रव्यस्य, नित्यत्वात्। नापि पर्यायस्य, द्रव्यरूपेण ध्रौव्यात्। तथाहि— विवादापन्नं मण्यादौ मलादि पर्यायार्थतया नश्वरमपि द्रव्यार्थतया ध्रुवम् सत्त्वान्यथानुपपत्तेः।

वह अत्यन्त विनाश द्रव्य का होता है या पर्याय का? द्रव्य का तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह नित्य है। पर्याय का भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह द्रव्यरूप से ध्रौव्य है। यथा—विवादास्पद मणि आदि में मल आदि पर्यायरूप से नश्वर होकर भी द्रव्यरूप से ध्रुव

है, अन्यथा उसकी सत्त्वरूप से उपपत्ति नहीं बन सकती।

यहाँ पर स्वामी समन्तभद्र ने और आचार्य विद्यानन्द ने प्रत्येक कार्य की द्रव्य में जो कथंचित् सत्ता स्वीकार की है, सो उसका यही तात्पर्य है कि प्रत्येक कार्य द्रव्य में शक्तिरूप से अवस्थित रहता है। यदि वह उसमें शक्तिरूप से अवस्थित न हो तो उसका उत्पाद ऐसे ही नहीं बनता जैसे आकाशकुसुम का उत्पाद नहीं बनता। इतना ही नहीं, जो निश्चय उपादान का नियम है कि इससे यही कार्य उत्पन्न होता है, उसके बिना यह नियम भी नहीं बन सकता है। तब तो मिट्टी से वस्त्र की और जीव से अजीव की भी उत्पत्ति हो जानी चाहिए। और यदि ऐसा होने लगे तो इससे यही कार्य होगा, ऐसा समाश्वास करना कठिन हो जाएगा। अतएव द्रव्य में शक्तिरूप से जो कार्य विद्यमान है, वही स्वकाल आने पर कार्यरूप से परिणत होता है, ऐसा निश्चय करना चाहिए।

कारण में कार्य की सत्ता को तो सांख्यदर्शन भी मानता है। किन्तु वह प्रकृति को सर्वथा नित्य और उसमें कार्य की सत्ता को सर्वथा सत् मानता है। इसलिए उसने कार्य का उत्पाद और व्यय स्वीकार न कर उसका आविर्भाव और तिरोभाव माना है। जैनदर्शन का सांख्यदर्शन से यदि कोई मतभेद है तो वह इसी बात में है कि वह कारण को सर्वथा नित्य मानता है, जैनदर्शन कथंचित् नित्य मानता है। वह कारण में कार्य का सर्वथा सत्त्व स्वीकार करता है, जैनदर्शन कथंचित् सत्त्व स्वीकार करता है। वह कार्य का आविर्भाव-तिरोभाव मानता है, जैनदर्शन कार्य का उत्पाद-व्यय स्वीकार करता है। कारण में यह कार्य सर्वथा नहीं है। उसके पूर्व उसका सर्वथा प्रागभाव है। यह मत नैयायिकदर्शन का है, किन्तु जैनदर्शन इसके भी विरुद्ध है। वह कारण में कार्य का कथंचित् प्रागभाव मानता है। यथा—द्रव्यरूप से कारण में कार्य है और पर्यायरूप से नहीं। वह न तो सर्वथा सांख्यदर्शन का

ही अनुसरण करता है और न सर्वथा नैयायिक-दर्शन का ही। और यह ठीक भी है, क्योंकि द्रव्य कथंचित् नित्यानित्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव प्रतीति में आता है। साथ ही उसमें कार्य की कारणरूप से सत्ता होने से जो जिस कार्य का स्वकाल होता है, उस काल में उसका जन्म होता है।

पर्यायें क्रमनियमित ही होती हैं, इस तथ्य का समर्थन आप्तमीमांसा के इस वचन से भी होता है—

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभाड्भावसम्बन्धः द्रव्यमेकमनेकधा॥१०७॥

तीनों कालों सम्बन्धी नयों और उपनयों के विषयभूत अनेक धर्मों (पर्यायों) के तादात्म्यसम्बन्ध का नाम द्रव्य है। वह सामान्य की अपेक्षा एक है और पर्यायों की अपेक्षा अनेक है॥१०७॥

यहाँ भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों काल लिए गये हैं। इससे सिद्ध है कि जितने काल के समय उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें। यत: वे पर्यायें द्रव्य के साथ तादात्म्यरूप से अवस्थित हैं, इसलिए जिस पर्याय के उदय का जो काल, उसी समय उसका उत्पाद होता है, इस प्रकार एक पर्याय का स्थान दूसरी पर्याय नहीं ले सकती, यह सुतरां सिद्ध हो जाता है। इसी तथ्य का समर्थन गोम्मटसार जीवकाण्ड से भी होता है।

इस विषय के पोषक अन्य उदाहरणों की बात छोड़कर यदि हम कार्मणवर्गणाओं के कर्मरूप से परिणमन की जो प्रक्रिया है और कर्मरूप होने के बाद उसकी जो विविध अवस्थाएँ होती हैं, उन पर ध्यान दें तो प्रत्येक कार्य स्वकाल में होता है, यह तत्त्व अनायास समझ में आ जाता है। साधारण नियम यह है कि प्रारम्भ के गुणस्थानों में आयुबन्ध के समय आठ कर्मों का और अन्य काल में सात कर्मों का प्रति समय बन्ध होता है। यहाँ विचार यह करना है कि कर्मबन्ध

होने के पहले सब कार्मणवर्गणाएँ एक प्रकार की होती हैं या सब कर्मों की अलग-अलग वर्गणाएँ होती हैं ? साथ ही यह भी देखना है कि कार्मवर्गणाएँ ही कर्मरूप क्यों परिणत होती हैं ? अन्य वर्गणाएँ बाह्य निमित्तों के द्वारा कर्मरूप परिणत क्यों नहीं हो जातीं ? यद्यपि ये प्रश्न थोड़े जटिल तो प्रतीत होते हैं, परन्तु शास्त्रीय व्यवस्थाओं पर ध्यान देने से इनका समाधान हो जाता है। शास्त्रों में बतलाया है कि योग के निमित्त से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होता है। अब थोड़ा इस कथन पर विचार कीजिए कि क्या योग सामान्य से कार्मणवर्गणाओं के ग्रहण में बाह्य निमित्त होकर ज्ञानावरणादिरूप से उनके विभाग में भी बाह्य निमित्त होता है या ज्ञानावरणादिरूप से जो कर्मवर्गणाएँ पहले से अवस्थित हैं, उनके ग्रहण करने में बाह्य निमित्त होता है ? इनमें से पहली बात तो मान्य हो नहीं सकती, क्योंकि कर्मवर्गणाओं में ज्ञानावरणादिरूप स्वभाव के पैदा करने में योग की बाह्य निमित्तता नहीं है। जो जिस रूप में है, उनका उसी रूप में ग्रहण हो, इसमें ही योग की बाह्य निमित्तता है। अब देखना यह है कि क्या बन्ध होने के पहले ही कर्मवर्गणाएँ ज्ञानावरणादिरूप से अवस्थित रहती हैं ? यद्यपि पूर्वोक्त कथन से इस प्रश्न का समाधान हो जाता है, क्योंकि योग जब ज्ञानावरणादिरूप प्रकृतिभेद में बाह्य निमित्त नहीं होता किन्तु ज्ञानावरणादिरूप प्रकृतिबन्ध में बाह्य निमित्त होता है, तब अर्थात् यह बात आ जाती है, कि प्रत्येक कर्म की कार्मणवर्गणाएँ ही अलग -अलग होती हैं। फिर भी इस बात के समर्थन में हम आगम प्रमाण उपस्थित कर देना आवश्यक मानते हैं। वर्गणाखण्ड बन्धन अनुयोग द्वार चूलिका में कार्मण द्रव्यवर्गणा किसे कहते हैं, इसकी व्याख्या करने के लिए एक सूत्र आया है। उसकी व्याख्या करते हुए वीरसेन आचार्य कहते हैं :—

णाणावरणीयस्स जाणि पाओग्गाणि दव्वाणि ताणि चेव

मिच्छत्तादिपच्चएहि पंचणाणावरणीयसरूवेण परिणमंति ण अण्णेसिं सरूवेण। कुदो ? अप्पाओग्गत्तादो। एवं सव्वेसिं कम्माणं वत्तव्वं, अण्णहा णाणावरणीयस्स जाणि दव्वाणि ताणि घेत्तूण मिच्छत्तादिपच्चएहि णाणावरणीयत्ताए परिणामेदूण जीवा परिणमंति त्ति सुत्ताणुववत्तीदो। जदि एवं तो कम्मईयवग्गणाओ अट्ठेव त्ति किण्ण परूविदाओ ? ण, अंतराभावेण तथोवदेसाभावादो।

इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीय के योग्य जो द्रव्य हैं, वे ही मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों के कारण पाँच ज्ञानावरणीयरूप से परिणमन करते हैं, अन्यरूप से परिणमन नहीं करते, क्योंकि वे अन्य कर्मरूप परिणमन करने के अयोग्य होते हैं। इसी प्रकार सब कर्मों के विषय में व्याख्यान करना चाहिए। अन्यथा 'ज्ञानावरणीय के जो द्रव्य हैं, उन्हें ग्रहण कर मिथ्यात्व आदि प्रत्ययवश ज्ञानावरणीयरूप से परिणमा कर जीव परिणमन करते हैं, यह सूत्र नहीं बन सकता है।'

शंका—यदि ऐसा है तो कार्मण वर्गणाएँ आठ हैं, ऐसा कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि आठों कर्मवर्गणाओं में अन्तर का अभाव होने से उस प्रकार का उपदेश नहीं पाया जाता।

यह षट्खण्डागम के उक्त सूत्र के कथन का सार है, जो अपने में स्पष्ट होकर उपादान की विशेषता को ही सूचित करता है। यहाँ यह भी कहा गया है कि ज्ञानावरण की वर्गणाएँ ही ऐसी द्रव्य-पर्याय योग्यतावाली होती हैं कि वे ज्ञानवरणरूप से परिणमन करती हैं। सो क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जिन वर्गणाओं में जिस समय ज्ञानावरणरूप से परिणमन की योग्यता होती है, उसी समय वे उसरूप से परिणमन करती हैं, अन्य समय में नहीं। सामान्य योग्यता मानना और विशेष योग्यता नहीं मानना केवल आत्मवंचना है।

ज्ञानावरण आदि कर्मों के अवान्तर भेदों का उसी के अवान्तर

भेदों में ही संक्रमण होता है, यह जो कर्मसिद्धान्त का नियम है, उससे भी उक्त कथन की पुष्टि होती है। यहाँ यह शंका होती है कि यदि यह बात है, तो दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर तथा चार आयुओं का परस्पर संक्रमण क्यों नहीं होता? परन्तु यह शंका इसलिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अन्य कर्मों के समान इन कर्मों की वर्गणाएँ भी अलग-अलग होनी चाहिए, इसलिए उनका परस्पर संक्रमण नहीं होता।

यहाँ निश्चय उपादान की विशेषता को समझने के लिए यह बात और ध्यान देने योग्य है कि प्रति समय जितना विस्रसोपचय होता है, जो कि सर्वदा आत्मप्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाही रहता है, वह सबका सब एक साथ कर्मरूप परिणत नहीं होता। ऐसी अवस्था में यह विस्रसोपचय इस समय कर्मरूप परिणत हो और यह कर्मरूप परिणत न हो, यह विभाग कौन करता है? योग द्वारा तो यह विभाग हो नहीं सकता, क्योंकि विस्रसोपचय के ऐसे विभाग में बाह्य निमित्त होना उसका कार्य नहीं है। जो विस्रसोपचय उस सयम कर्मपर्यायरूप से परिणत होनेवाले हों, उनके बन्ध में बाह्य निमित्त होना मात्र इतना योग का कार्य है। इस प्रकार कर्मशास्त्र में बन्ध, संक्रमण और विस्रसोपचय के सम्बन्ध में स्वीकार की गयी इन व्यवस्थाओं पर दृष्टिपात करने से यही विदित होता है कि कार्य में निश्चय उपादान ही नियामक है और जब निश्चय उपादान के कार्यरूप होने का स्वकाल होता है, तभी वह अन्य द्रव्य को निमित्तकर कार्यरूप परिणत होता है।

कर्म साहित्य में बद्ध कर्म की जो उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण आदि अवस्थाएँ बतलायी हैं, उन पर सूक्ष्मता से ध्यान देने पर भी उक्त व्यवस्था ही फलित होती है। उदय काल को प्राप्त हुए पूरे निषेक का अभाव हो जाता है, यह ठीक है। परन्तु उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण में ऐसा न होकर प्रति समय कुछ परमाणुओं

की विवक्षित निषेक में से उदीरणा होती है, कुछ का उत्कर्षण होता है, कुछ का अपकर्षण होता है और कुछ का संक्रमण होता है। तथा उसी निषेक में कुछ परमाणु ऐसे भी हो सकते हैं जो उपशमरूप रहते हैं, कुछ निधत्तिरूप और कुछ निकाचितरूप भी रहते हैं। सो क्यों? निषेक एक है। उसमें ये सब परमाणु अवस्थित हैं। फिर उनका प्रत्येक समय में यह विभाग कौन करता है कि इस समय यह उदीरणारूप होवे और यह उत्कर्षणरूप होवे आदि। यह बात तो स्पष्ट है कि प्रति समय इस प्रकार जो कर्मनिषेकों का यथासम्भव उदीरणा आदिरूप से बंटवारा होता रहता है, उसमें यथासम्भव प्रति समय के जीव के यद्यपि संक्लेशरूप या विशुद्धिरूप परिणाम निमित्त होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु वह अपने हस्त-पाद आदि का व्यापारकर बलात् उनमें से किन्हीं को उदीरित होने के लिए किन्हीं को उत्कर्षित होने के लिए, किन्हीं को अपकर्षित होने के लिए और किन्हीं को संक्रमित होने के लिए धकेलता रहता हो, सो ऐसी बात तो है नहीं। अतएव निष्कर्षरूप में यही फलित होता है कि जिस समय जिन कर्मपरमाणुओं की जिस रूप में होने की योग्यता होती है, वे कर्मपरमाणु उस समय हुए जीव के परिणामों को निमित्त करके उसरूप स्वयं परिणम जाते हैं।

कर्मसाहित्य में अपकर्षण के लिए तो एकमात्र यह नियम है कि उदयावलि के भीतर स्थित कर्मपरमाणुओं का अपकर्षण नहीं होता। जो कर्म-परमाणु उदयावलि के बाहर अवस्थित हैं, उनका वैसी योग्यता होने पर अपकर्षण हो सकता है। परन्तु उत्कर्षण उदयावलि के बाहार स्थित सभी कर्मपरमाणुओं का हो सकता हो, ऐसा नहीं है। उत्कर्षण होने के लिए नियम बहुत हैं और अपवाद भी बहुत हैं। परन्तु संक्षेप में एक यही नियम किया जा सकता है कि जिन परमाणुओं की उत्कर्षण के योग्य शक्तिस्थिति शेष है और वे उत्कर्षण के योग्य

काल में स्थित हैं तथा उस जाति का प्रकृति का बन्ध हो रहा हो तो उन्हीं का उत्कर्षण हो सकता है, अन्य का नहीं। यदि हम इन नियमों को ध्यान में लेकर विचार करें तो भी यही बात फलित होती है कि जो कर्मपरमाणु उत्कर्षण के योग्य उक्त योग्यता सम्पन्न हैं, वे ही जीव परिणामों को निमित्त करके उत्कर्षित होते हैं। उसमें भी वे सब परमाणु उत्कर्षित होते हों, ऐसा भी नहीं है। किन्तु जिनमें विवक्षित समय में उत्कर्षित होने की योग्यता होती है, वे विवक्षित समय में उत्कर्षित होते हैं और जिनमें द्वितीयादि समयों में उत्कर्षित होने की योग्यता होती है, वे द्वितीयादि समयों में उत्कर्षित होते हैं और जिन कर्मपरमाणुओं में उत्कर्षित होने की योग्यता नहीं होती, वे उत्कर्षित नहीं होते। यही नियम अपकर्षण आदि के लिए भी जान लेना चाहिए।

यह कर्मों और विस्रसोपचयों का विवक्षित समय में विवक्षित कार्यरूप होने का क्रम है। यदि हम कर्मप्रक्रिया में निहित इस रहस्य को ठीक तरह से जान लें तो हमें अकालमरण और अकालपाक आदि के कथन का भी रहस्य समझ में आने में देर न लगे। कर्मबन्ध के समय जिन कर्मपरमाणुओं में जितनी व्यक्तिस्थिति पड़ने की योग्यता होती है, उस समय उनमें उतनी व्यक्तिस्थिति पड़ती है और शेष शक्तिस्थिति रही आती है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उन कर्म-परमाणुओं को अपनी व्यक्तिस्थिति या शक्तिस्थिति के काल तक कर्मरूप नियम से रहना ही चाहिए और यदि वे उतने काल तक कर्मरूप नहीं रहते हैं तो उसका कारण वे स्वयं कथमपि नहीं हैं, अन्य ही है, यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर एक तो कारण में कार्य कथंचित् सत्तारूप से अवस्थित रहता है, इस सिद्धान्त का अपलाप होता है। दूसरे, कौन किसका समर्थ उपादान है, इसका कोई नियम न रहने से जड़-चेतन का भेद न रहकर अनियम से कार्य की उत्पत्ति प्राप्त होती है। इसलिए जब निश्चय उपादान की अपेक्षा कथन किया

जाता है, तब प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है, यही सिद्धान्त स्थिर होता है। इस दृष्टि से अकालमरण और अकालपाक जैसे वस्तु को परमार्थ से कोई स्थान नहीं मिलता। और जब उनका अतर्कितोप-स्थित या प्रयत्नोपस्थित बाह्य निमित्तों की अपेक्षाा कथन किया जाता है, तब वे ही कार्य अकालमरण या अकालपाक जैसे शब्दों द्वारा भी पुकारे जाते हैं। यह निश्चय और व्यवहार के आलम्बन से व्याख्यान करने की विशेषता है। इससे वस्तुस्वरूप दो प्रकार का हो जाता हो, ऐसा नहीं है। अन्यथा अकालमरण के समान अकाल जन्म को भी स्वीकार करना पड़ेगा और ऐसा मानने पर जन्म के अनुकूल नियत स्थान आदि की व्यवस्था भंग हो जाएगी।

यह तो हम मानते हैं कि वर्तमान में लौकिक विज्ञान के नये-नये प्रयोग दृष्टिगोचर हो रहे हैं। संहारक अस्त्रों की तीव्रता भी हम स्वीकार करते हैं। आज के मानव की आकांक्षा और प्रयत्न धरती और नक्षत्रलोक को एक करने की है, यह भी हमें ज्ञात है, पर इससे प्रत्येक कार्य अपने-अपने निश्चय उपादान के अनुसार स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होता है, इस सिद्धान्त का कहाँ व्याघात होता है और इस सिद्धान्त के स्वीकार कर लेने से उपदेशादि की व्यर्थता भी कहाँ प्रमाणित होती है ? सब बाह्य-आभ्यन्तर कार्य-कारणपद्धति से अपने-अपने काल में हो रहे हैं और होते रहेंगे।

लोक में तत्त्वमार्ग के उपदेष्टा और मोक्षमार्ग के प्रवर्तन कर्ता बड़े-बड़े तीर्थंकर हो गये हैं और आगे भी होंगे, पर उनके उपदेशों से कितने प्राणी लाभान्वित हुए ? जिन्होंने आसन्नभव्यता के परिपाक का स्वकाल आने पर भगवान का उपदेश स्वीकार कर पुरुषार्थ किया, वे ही कि अन्य सभी प्राणी। इसी प्रकार वर्तमान में या आगे भी जो आसन्न-भव्यता का परिपाक काल अपने पर भगवान का उपदेश स्वीकार कर पुरुषार्थ करेंगे, वे ही लाभान्वित होंगे कि अन्य सभी प्राणी।

विचार कीजिए। यदि बाह्य-निमित्तों में पदार्थों की कार्य निष्पादनक्षम योग्यता का स्वकाल आये बिना अकेले ही अनियत समय में कार्यों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य होती तो भव्याभव्य का विभाग समाप्त होकर संसार का अन्त कभी का हो गया होता।

सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थसूत्र की उत्थानिका लिखते समय आचार्य पूज्यपाद ने 'प्रत्यासन्ननिष्ठः' यह विशेषण इसीलिए दिया है कि जिन जीवों का मोक्ष जाने के योग्य पाककाल सन्निकट होता है, वस्तुतः वे ही उसके अनुरूप पुरुषार्थ करके मोक्षगामी होते हैं, अन्य नहीं।

हम यह तो मानते हैं कि जो लोग भगवान की वाणी के अनुसार विवेक और तर्क का आश्रय लेकर या बिना लिए स्वयं अपनी विवेक बुद्धि से तत्त्व का निर्णय तो करते नहीं और केवल सूर्यादि के नियत समय पर उगने और अस्त होने आदि उदाहरणों को उपस्थित कर या शास्त्रों में वर्णित कुछ भविष्यत्कथनसम्बन्धी घटनाओं को उपस्थित कर एकान्त नियति का समर्थन करना चाहते हैं, उनकी यह विचारधारा बाह्य-आभ्यन्तर कार्यकारणपरम्परा के अनुसार विवेक और तर्क मार्ग का अनुसरण नहीं करती, इसलिए वे उदाहरण अपने में ठीक होकर भी आत्मपुरुषार्थ को जागृत करने में समर्थ नहीं हो पाते। पण्डितप्रवर बनारसीदास जी के जीवन में ऐसा एक प्रसंग उपस्थित हुआ था। वे उसका चित्रण करते हुए स्वयं अपने अर्धकथानक में कहते है —

करणी का रस जान्यो नहिं नहिं आयो आतमस्वाद।
भई बनारसि की दशा जथा ऊँट कौ पाद॥

किन्तु मात्र इस उदाहरण को उपस्थित कर दूसरे विचारवाले मनुष्य यदि अपने पक्ष का समर्थन करना चाहें तो उनका ऐसा करना किसी भी अवस्था में उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी विचारधारा कार्योत्पत्ति के समय बाह्य निमित्त का क्या स्थान है, यह निर्णय करने की न होकर निश्चय उपादान को उपादान कारण न रहने देने की है।

मालूम नहीं, वे निश्चय उपादन और बाह्य निमित्त का क्या लक्षण कर इस विचारधारा को प्रस्तुत कर रहे हैं। वे अपने समर्थन में कर्मसाहित्य और दर्शन-न्यायसाहित्य के अनेक ग्रन्थों के नाम लेने से भी नहीं चूकते। पर वे एक बार इन ग्रन्थों के आधार से यह तो स्थिर करें कि इनमें निश्चय उपादानकारण और बाह्य निमित्तकारण के ये लक्षण किये गये हैं। फिर उन लक्षणों की सर्वत्र व्याप्ति बिठलाते हुए तत्त्व का निर्णय करें। हमारा विश्वास है कि वे यदि इस प्रक्रिया को स्वीकार कर लें तो यथार्थ तत्त्व-निर्णय होने में देर न लगे।

शुद्धद्रव्यों में तो सब पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, पर अशुद्धद्रव्यों में ऐसा कोई नियम नहीं है—केवल इतना प्रतिज्ञा वाक्य कह देने से क्या होता है ? यदि कोई बाह्य निमित्तकारण निश्चय उपादानकारण में निहित योग्यता की परवाह किये बिना उस समय निश्चय उपादान द्वारा न होनेवाले कार्य को कर सकता है, तो वह मुक्त जीव को संसारी भी बना सकता है। हमें विश्वास है कि वे इस तर्क के महत्त्व को समझेंगे।

कहीं-कहीं लौकिक दृष्टि से बाह्य निमित्त को कर्ता कहा गया है और कहीं कहीं उसे कर्ता न कहकर भी उस पर कर्तृत्व धर्म का आरोप किया गया है, यह हम मानते हैं। पर वहाँ वह उसी अर्थ में कर्ता कहा गया है, जिस अर्थ में परमार्थ उपादान कर्ता होता है या अन्य अर्थ में ? यदि हम इस फर्क को ठीक तरह से समझ लें तो भी तत्त्व की बहुत कुछ रक्षा हो सकती है। नैगमनय का पेट बहुत बड़ा है। उसमें कितनी विवक्षाएँ समायी हुई हैं, यह प्रकृत में ज्ञातव्य है। जब बाह्य निमित्त कुछ करता नहीं, यह कहा जाता है, तब वह 'यः परिणमति स कर्ता' इस अनुपचरित मुख्यार्थ को ध्यान में रखकर ही कहा जाता है। इसमें अत्युक्ति कहाँ है, यह हम अभी तक नहीं समझ पाये। यदि कोई कार्योत्पत्ति के समय 'जो बलाधान में निमित्त होता

है, वह कर्ता' इस प्रकार बाह्य निमित्त में कर्तृत्व का उपचार करके बाह्य निमित्त को कर्ता कहना चाहता है, जैसा कि अनेक स्थलों पर शास्त्रकारों ने उपचार से कहा भी है, तो उसका कोई निषेध भी नहीं करता। कार्योत्पत्ति में अन्य द्रव्य बाह्य निमित्त है, इसे तो किसी ने अस्वीकार किया नहीं। इतना अवश्य है कि मोक्षमार्ग में स्वावलम्बन की मुख्यता होने से कार्योत्पादन क्षम अपनी योग्यता के साथ पुरुषार्थ को ही प्रश्रय दिया गया है और प्रत्येक भव्य जीव को उसी अनुपचरित अर्थ को समझ लेने का मुख्यता से उपदेश दिया जाता है। क्या यह सच नहीं है कि अपने त्रिकाली आत्मस्वरूप को भूलकर अपने विकल्प द्वारा मात्र बाह्य निमित्त का अवलम्बन हम अनन्त काल से करते आ रहे हैं, पर अभी तक इष्टफल निष्पन्न नहीं हुआ और क्या यह सच नहीं है कि एक बार भी यदि यह जीव भीतर से पर का अवलम्बन छोड़कर श्रद्धा, ज्ञान और चर्या के मूल कारण अपने आत्मा का अवलम्बन स्वीकार कर ले तो उसे संसार से पार होने में देन न लगे। बाह्य-आभ्यन्तर कार्य-कारणपरम्परा का ज्ञान कार्यरूप से तत्त्व निर्णय के लिए होता है, आश्रय के लिए नहीं। आश्रय तो परनिरपेक्ष त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव अपने आत्मा का ही करना होगा। इसके बिना संसार का अन्त होना दुर्लभ है। बहुत कहाँ तक लिखें।

११. उपसंहार

इस प्रकरण का सार यह है कि प्रत्येक कार्य अपने स्वकाल में ही होता है, इसलिए प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें क्रमनियमित हैं। एक के बाद एक अपने-अपने स्वकाल में निश्चय उपादान के अनुसार होती रहती हैं। यहाँ पर 'क्रम' शब्द पर्यायों की क्रमाभिव्यक्ति को दिखलाने के लिए स्वीकार किया है और 'नियमित' शब्द प्रत्येक पर्याय का स्वकाल अपने-अपने निश्चय उपादान के अनुसार नियमित है, यह दिखलाने के लिए दिया गया है। वर्तमानकाल में जिस अर्थ

को 'क्रर्मबद्धपर्याय' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है, 'कर्मनियमित -पर्याय' का वही अर्थ है, ऐसा स्वीकार करने में आपत्ति नहीं। मात्र प्रत्येक पर्याय दूसरी पर्याय से बँधी हुई न होकर अपने में स्वतन्त्र है, यह दिखलाने के लिए यहाँ पर हमने 'क्रमनियमित' शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने समयप्राभृत गाथा ३०८ आदि की टीका में 'क्रमनियमित' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है, क्योंकि वह प्रकरण सर्वविशुद्धज्ञान का है। सर्वविशुद्धज्ञान कैसे प्रगट होता है, यह दिखलाने के लिए समयप्राभृत की गाथा ३०८ से ३११ तक की टीका में मीमांसा करते हुए आत्मा कर्म आदि परद्रव्यों के कार्य का अकर्ता है, यह सिद्ध किया गया है, क्योंकि अज्ञानी जीव अनादि काल से अपने को पर का कर्ता मानता आ रहा है। यह कर्तापन का भाव कैसे दूर हो, यह उन गाथाओं में बतलाने का प्रयोजन है। जब इस जीव को यह निश्चय होता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने क्रमनियमितपने से परिणमता है, इसलिए पर का तो कुछ भी करने का मुझमें अधिकार है नहीं, मेरी पर्यायों में भी मैं कुछ फेरफार कर सकता हूँ, यह विकल्प भी शमन करने योग्य है। तभी यह जीव निज आत्मा के स्वभावसन्मुख होकर ज्ञाता दृष्टारूप परिणमन करता हुआ निज को पर का अकर्ता वस्तुता स्वीकार करता है और तभी उसने 'क्रमनियमित' के सिद्धान्त को परमार्थरूप से स्वीकार किया, यह कहा जा सकता है। 'क्रमनियमित' का सिद्धान्त स्वयं अपने में मौलिक होकर आत्मा के परसम्बन्धी अकर्तापन को सिद्ध करता है। प्रकृत में अकर्ता का फलितार्थ ही ज्ञाता-दृष्टा है। आत्मा पर का अकर्ता होकर ज्ञातादृष्टा तभी हो सकता है, जब वह भीतर से 'क्रमनियमित' के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेता है, इसलिए मोक्षमार्ग में इस सिद्धान्त का बहुत बड़ा स्थान है, ऐसा प्रकृत में जानना चाहिए। इस विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र उक्त गाथाओं की टीका करते

हुए कहते हैं —

जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एक नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः काञ्चनवत्। एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमनस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिद्ध्यति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यान्तरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात्। तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिद्यति। तदसिद्धौ च कर्तृ-कर्मणोरनन्यापेक्ष-सिद्धत्वाद् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिद्ध्यति, अतो जीवोऽकर्ता-ऽवतिष्ठते॥३०८-३११॥

प्रथम तो जीव क्रमनियमित अपने परिणामों (पर्यायों) से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं, इसी प्रकार अजीव भी क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं, क्योंकि जैसे सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है, वैसे ही सब द्रव्यों का अपने-अपने परिणामों के साथ तादात्मय है। इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, अत: उसका अजीव के साथ कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सब द्रव्यों का अन्य द्रव्यों के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है और एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध न होने पर अजीव, जीव का कर्म है, यह सिद्ध नहीं होता और अजीव के जीव का कर्मत्व सिद्ध न होने पर कर्ता-कर्म परनिरपेक्ष सिद्ध होता है और कर्ता-कर्म के निरपेक्ष सिद्ध होने से जीव, अजीव का कर्ता सिद्ध नहीं होता, इसलिए जीव अकर्ता है, यह व्यवस्था बन जाती है।

इस उद्धरण में यह सिद्ध करके बतलाया गया है कि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमनियमितरूप से उसकी उत्पाद्य होती है और वह द्रव्य उसी विधि से उसका उत्पादक होता है। यह उत्पाद्य-

उत्पादकभाव ही वस्तुतः कारण-कार्यभाव है। इसके सिवाय अन्य सब उपचरित कथनमात्र है, जो उक्त प्रकार के निश्चय की सिद्धि के लिए किया जाता है।

इस प्रकार जीवन में 'क्रमनियमितपर्याय' के सिद्धान्त को स्वीकार करने का क्या महत्व है और उसकी सिद्धि किस प्रकार होती है, इसकी मीमांसा की।

●

सम्यक् - नियतिस्वरूपमीमांसा

उपादान निज गुण कहा 'नियति' स्वलक्षणद्रव्य।
ऐसी श्रद्धा जो गहै जानो उसको भव्य॥

१. उपोद्घात

अब प्रश्न यह है कि आत्मा परमार्थ से पर का अकर्ता होकर ज्ञाता-दृष्टा बना रहे, इस तथ्य को फलित करने के लिए 'क्रमनियमित पर्याय' का सिद्धान्त तो स्वीकार किया, पर उसे स्वीकार करने पर जो नियतिवाद का प्रसंग उपस्थित होता है, उसका परिहार कैसे होगा। यदि कहा जाए कि नियतिवाद का प्रसंग आता है, तो भले ही आओ, मात्र इस भय से 'क्रमनियमित पर्याय' के सिद्धान्त का त्याग थोड़े ही किया जा सकता है तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्रकारों ने नियतिवाद को एकान्त में सम्मिलित कर उसका निषेध ही किया है। इसका समर्थन गोम्मटसार कर्मकाण्ड के इस वचन से भी होता है—

जत्तु जहा जेण जस्ण य णियमेण होदि तदा।
तेण तहा तस्स हवे इति वादो णियदिवादो दु॥८८२॥

जो जब जिस रूप से जिस प्रकार जिसके नियम से होता है, वह उस रूप से उसके होता ही है, इस प्रकार जो वाद है, वह नियतिवाद॥८८२॥

यह एकान्त नियतिवाद का अर्थ है।

इस प्रकार एकान्त नियतिवाद का भय दिखलाकर तो महाशय 'क्रमनियमित पर्याय' के सिद्धान्त की अवहेलना करते हैं, उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिन एकान्त मतवालों ने सर्वथा नियतिवाद को स्वीकार किया है, वे न तो परमार्थस्वरूप कार्य-कारण परम्परा

को ही स्वीकार करते हैं और न तदनुषंगी उपचरित कार्य–कारण परम्परा को ही स्वीकार करते हैं। और यह हमारा कोरा कथन नहीं है, किन्तु वर्तमानकाल में इस विषय का प्रतिपादन करनेवाला जो भी साहित्य उपलब्ध होता है, उससे इसका समर्थन होता है।

तीर्थंकर भगवान महावीर के काल में भी ऐसे अनेक मत प्रचलित थे जो ऐसे अनेक एकान्त मतों का समर्थन करते थे। ऐसे कई मतों का उल्लेख गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी दृष्टिगोचर होता है। वे हैं एकान्त–कालवाद, एकान्त ईश्वरवाद, एकान्त आत्मवाद, एकान्त नियतिवाद और एकान्त स्वभाववाद। इसके लिए देखिये गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ८७९ से ८८३ तक। अब विचार कीजिए कि जैनदर्शन इनमें से कारणरूप से किसे नहीं स्वीकारता, अपितु वह किसी न किसी रूप में सभी को कारणरूप से स्वीकार करता है, क्योंकि वह कार्य के प्रति काल को भी कारण मानता है, ईश्वर के स्थान में अनुकूल बाह्य सामग्री को भी कारण मानता है। आत्मा के स्थान पर जीवादि प्रत्येक द्रव्यसामान्य को भी कारणरूप से स्वीकार करता है। नियति के स्थान क्रमनियमित प्रत्येक उपादान को भी कारणरूप से स्वीकार करता है[१] और स्वभाव को भी कारणरूप से स्वीकार करता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर पण्डितप्रवर बनारसीदासजी ने '**पदस्वभाव पूरब उदय**' इत्यादि दोहा लिपिबद्ध किया है। और साथ ही यह सूचना भी की है कि इनमें से मात्र किसी एक को कारण मानना मिथ्यात्व (अज्ञान) है। मोक्षमार्गी तो सबमें कारणता स्वीकार करता है। यह दूसरी बात है कि इनमें से कौन कारण कार्यरूप वस्तु का अंग होने से परमार्थस्वरूप हैं और कौन वास्तविक कारण न होने से बाह्य–व्याप्तिवश स्वीकार किया गया है।

हम देखते हैं कि लोक में यथा प्रयोजन किसी एक को मुख्य

१— आत्मा के स्थान में पुरुषार्थ और नियति के स्थान में निश्चय उपादान अर्थ जैनदर्शन में गृहीत है।

कर कथन करने और उसके अतिरिक्त सबको गौण कर देने की पद्धति है। जैसे किसानों को खेती में सफलता मिलने पर कोई ईश्वर को धन्यवाद देता है, कोई अपने परिश्रम को और कोई भाग्य को। विचार कर देखा जाए तो प्रयत्नपूर्वक खेत भी जुता हुआ था, उसमें खाद भी पड़ा था, बीज भी पुष्ट था, ॠतु भी अनुकूल थी और किसान ने परिश्रम भी खूब किया था। इस प्रकार बाह्य-आभ्यन्तर सामग्री की समग्रता थी, पर किसी एक को मुख्यकर और शेष को गौण कर यह कहा जाता है कि भाई! तुमने खूब परिश्रम किया, इसका यह फल है आदि।

यह गौण-मुख्यरूप से कथन करने की पद्धति आगम में भी स्वीकार की गयी है। कर्म की अपेक्षा जब कथन किया जाता है, तब यह कहा जाता है कि दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम से उपशम सम्यग्दर्शन होता है, मनुष्यायु के उदय से मनुष्य पर्याय मिलती है आदि। विचार कर देखा जाए तो यहाँ अन्य सब कारणों को गौण कर कर्म की मुख्यता से कथन किया गया है। यह कथन करने की शैली है, इसलिए हम इसे एकान्तपरक कथन नहीं मानते, उसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। इसके विपरीत यदि कोई यह मानकर चलता है कि इस जीव ने मात्र कर्म के उपशम से उपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया है, इसमें अन्य कोई कारण नहीं है, तो वह अवश्य ही अज्ञानभाजन बन जाएगा।

इस प्रकार विवेक से विचार करने पर यह निश्चित होता है कि प्रत्येक कार्य जब सब कारणों की समग्रता में होता है, तब उसका नियतिरूप निश्चय उपादान कारण भी स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है और इस प्रकार जैनदर्शन में कार्य-कारण परम्परा की अपेक्षा, कारणरूप से सम्यक् नियति को भी स्थान मिल जाता है। इसे और अधिक व्यापकरूप से देखा जाए तो मालूम पड़ता है कि ऐसा

वस्तुस्वभाव नियत है कि जो भव्य हैं, वे ही मोक्ष के पात्र होंगे, हुए या होते हैं, अभव्य नहीं। यह भी वस्तु का स्वभाव नियत है कि किसी भी द्रव्य का विवक्षित कार्य विवक्षित निश्चय उपादान की भूमिका पर पहुँचने पर ही होता है, अन्य निश्चय उपादान के होने पर नहीं। जैसे जो जीव प्रथमोपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न करता है, वह जब अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में निश्चय उपादान की भूमिका में पहुँचता है, तभी उसको वास्तव में प्राप्त करने का अधिकारी होता है। उसमें भी उसे तद्योग्य आत्मा के सन्मुख पुरुषार्थ करने पर ही यह भूमिका मिलती है, अन्य बाह्य पदार्थों को कारण मानकर उनमें उपयोगों के भ्रमाने से नहीं। इसमें हमें यह मालूम पड़ जाता है कि किस कार्य के होने की नियत व्यवस्था क्या है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन ने कार्य-कारण परम्परा को स्वीकार करके उसके अंगरूप में सम्यक् नियति को भी स्थान दिया है। इससे इतना अवश्य ही निश्चित होता है कि उसे एकान्त से निषतिवाद स्वीकार नहीं है। एक नियतिवाद ही क्या, उसे कालवाद, पुरुषार्थवाद, स्वभाववाद और ईश्वर (बाह्य कारण) वाद यह कोई भी वाद एकान्त से स्वीकार नहीं है, क्योंकि वह आत्मा के प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, बाह्य संयोग और नियति (निश्चय उपादान) इन सबकी यथासम्भव निश्चय-व्यवहाररूप कारणता स्वीकार करता है। इसलिए उसने जहाँ एकान्त से नियतिवाद का निषेध किया है, वहाँ उसने एकान्त से माने गये इन सब वादों का भी निषेध किया है। फलस्वरूप यदि कोई महाशय कर्मकाण्ड की पूर्वोक्त गाथा पर से यह अर्थ निकाले कि जैनदर्शन में सम्यक् नियति (निश्चय उपादान) को रंचमात्र भी स्थान नहीं है, तो उसका उस पर से यह अर्थ फलित करना अज्ञान ही कहा जाएगा, क्योंकि कार्य-कारण परम्परा में उपादान-उपादेय के अविनाभाव को स्वीकार

करने से तो सम्यक् नियति का समर्थन होता ही है। साथ ही जैनदर्शन में ऐसी व्यवस्थाएँ भी स्वीकार की गयी हैं, जिनसे स्पष्टतः सम्यक् नियति का समर्थन होता है। यथा—

द्रव्यों की अपेक्षा—सामान्य से सब द्रव्य छह हैं। विशेष की अपेक्षा जीवद्रव्य अनन्त है, पुद्गलद्रव्य उनसे भी अनन्त गुणे हैं, कालद्रव्य असंख्यात हैं तथा धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य एक-एक हैं। ये सब द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों में नियत हैं। किसी भी द्रव्य के गुण-पर्याय किसी दूसरे द्रव्य के नहीं होते। ये उत्पाद-व्यय स्वभाववाले होकर भी इनकी संख्या में वृद्धि-हानि नहीं होती। सदा अन्वय की अपेक्षा ध्रुवस्वभाव को लिए हुए बने रहते हैं। ये सब द्रव्य एक साथ रहते हैं, पर कोई भी द्रव्य अपना 'स्व' दूसरे को समर्पण नहीं करता और न ही दूसरे के 'स्व' को स्वीकार ही करता है। इसीलिए आगम में वस्तु का वस्तुत्व बतलाते हुए कहा गया है कि 'स्व' का उपदान और 'पर' का असोहन करके रहना ही वस्तु का वस्तुत्व है। द्रव्य कहो या वस्तु कहो, दोनों का अर्थ एक ही है। प्रत्येक द्रव्य के अनन्त गुण और कालद्रव्य के समयों के बराबर अनन्त पर्यायें हैं।

क्षेत्र की अपेक्षा-आकाश के दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। अलोकाकाश अनन्त प्रदेशी है और लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश है। ऐसा स्वयंसिद्ध नियम है कि छहों द्रव्य लोकाकाश में ही स्वयं अवस्थित रहते हैं। इन्हें किसी ने लाकर यहाँ रखा हो या धर्म-अधर्मद्रव्य ने उन्हें कैदकर रखा हो, ऐसा नहीं है।

लोकाकाश अखण्ड एक होकर भी प्रयोजन विशेष से उसके तीन भेद किये जाते हैं—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। स्वभावातः वैमानिक देव और सिद्धों के सदाकाल रहनेरूप क्षेत्र को ऊर्ध्वलोक कहते हैं। ऐसा स्वभावसिद्ध नियम है कि यहाँ एकेन्द्रिय जीवों की

उत्पत्ति तो होती है, पर अन्य द्वीन्द्रियादि जीव त्रिकाल में नहीं पाये जाते। चित्रा पृथिवी से लेकर ऋजु विमान के अधोभाग तक मध्य लोक है। यहाँ एकेन्द्रिय जीव तो पाये जाते हैं, अन्य द्वीन्द्रिय आदि जीव भी पाये जाते हैं। मनुष्यों का क्षेत्र ढ़ाई द्वीप और दो समुद्र है। इस मर्यादा को उल्लंघन करने में वे असमर्थ हैं। देव भी उन्हें मानषोत्तर पर्वत से उस भाग में ले जाने में असमर्थ हैं। वैमानिक देव भवनवासी और ज्योतिषी देव प्रयोजन विशेष से यहाँ आते अवश्य हैं, पर यहाँ उनकी उत्पत्ति नहीं होती। सो क्यों, क्योंकि ऐसा स्वभावसिद्ध नियम है। चित्रा पृथिवी के नीचे का भाग अधोलोक कहलाता है। इसमें मुख्यतया नारकियों की उत्पत्ति होती है और वे वहीं रहते भी हैं। उस क्षेत्र को छोड़कर उनका बाहर गमना-गमन होना सम्भव नहीं है, यह भी स्वयंसिद्ध नियम है। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। उनमें जहाँ कर्मभूमि या भोगभूमि या दोनों का जो क्रम नियत है, उसमें कभी भी व्यतिक्रम होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा हम विचार करते हैं, तो जहाँ जो व्यवस्था है, वह अपरिवर्तनीय है। लोक में कोई ऐसी बाह्य सामग्री नहीं पायी जाती, जो इस क्रम को भंग करने में समर्थ होती हो। क्षेत्र की अपेक्षा सब व्यवस्थाएँ सुनिश्चित हैं।

काल की अपेक्षा—ऊर्ध्वलोक और अधोलोक में तथा मध्यलोक के भोगभूमिसम्बन्धी क्षेत्रों में इसी प्रकार स्वयंभूरमण द्वीप के उत्तरार्ध और स्वयंरमण समुद्र में तथा विदेहक्षेत्र में जहाँ जिस काल की व्यवस्था है, वहाँ अनादि काल से उसी काल की प्रवृत्ति होती आ रही है और अनन्त काल तक उसी काल की प्रवृत्ति होती रहेगी। इसके सिवा कर्मभूमिसम्बन्धी जो भरत-ऐरावत क्षेत्र बचता है, उसमें कल्पकाल के अनुसार निरन्तर और नियमितरूप से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी की प्रवृत्ति होती रहती है। मात्र हुण्डावसर्पिणो इसका

अपवाद है, सो इसका भी नियम है कि कितने काल बाद यह काल आता है। अनियम कुछ भी नहीं है।

एक कल्पकाल 20 कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। उसमें से दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल उत्सर्पिणी के लिए और इतना ही काल अवसर्पिणी के लिए सुनिश्चित है। उसमें भी ये प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी छह-छह कालों में विभक्त हैं। उसमें भी जिस लिए जो काल नियत है, उसके पूरा होने पर स्वभावत: उसके बाद के काल का प्रारम्भ हो जाता है। उदाहरणार्थ अवसर्पिणी काल में जीवों की आयु और काय ह्रासोन्मुख होते हैं तथा उनके जब जितने बाह्य निमित्त कर्म और नोकर्म होते हैं, वे भी ह्रासोन्मुख पर्यायों के होने में बाह्य निमित्त होते हैं। किन्तु अवसर्पिणी काल का अन्त होकर उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय से यह स्थिति स्वयं बदल जाती है। तब कर्म और नोकर्म उसी प्रकार के जीवों के परिणमन में बाह्य निमित्त होने लगते हैं। विचार तो कीजिए कि जो औदारिकशरीर -नामकर्म उत्तम भोगभूमि में वहाँ प्राप्त होनेवाले शरीर के होने में बाह्य निमित्त होता है, वही औदारिकशरीरनामकर्म कर्मभूमि के अन्तिम काल में वहाँ प्राप्त होनेवाले शरीर के होने में भी बाह्य निमित्त होता है। दोनों का अनुभाग एक समान होते हुए भी ऐसा भेद क्यों पड़ता है ? विचार कीजिए ? यदि कहा जाए कि कालभेद से ऐसा होता है तो काल में अन्य द्रव्य के कार्य का कर्तृत्व स्वीकार करना पड़ेगा जो युक्तियुक्त नहीं है। अत: यही मानना पड़ता है कि प्रत्येक द्रव्य का ऐसा स्वभाव है कि अपने प्रति समय के नियत उपादान के अनुसार वह भिन्न-भिन्न प्रकार से परिणमन करता है, अत: यह स्वीकार कर लेना ही आगम सम्मत प्रतीत होता है कि मात्र बाह्य व्याप्तिवश ही बाह्य सामग्री में कारणता स्वीकार की गयी है।

इसी प्रकार इन कालों की अन्तर्व्यवस्था पर ध्यान दिया जाए तो

ज्ञात होता है कि उत्सर्पिणी के तृतीय काल में और अवसर्पिणी के चतुर्थ काल में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, नौ बलभद्र, ग्यारह रुद्र और चौबीस कामदेवों का उत्पन्न होना सुनिश्चित है। नियमानुसार होनेवाले ये पद कभी अधिक और कभी कम क्यों नहीं होते, विचार कीजिए। कर्मभूमि में आयुकर्म का बन्ध किसी के आठों अपकर्षकालों में और किसी के सात आदि अपकर्ष कालों में या मरण के अन्तर्मुहूर्त पहले ही क्यों होता है। इसके बन्ध के योग्य परिणाम उसी समय होते हैं सो क्यों, विचार कीजिए। आयुबन्ध के बाद भुज्यमान आयु जितनी शेष रहती है, उसका पूरा भोग होकर ही जीव का परभव गमन होता है, सो क्यों? विष, शस्त्रादि के बल से इसमें फेरफार क्यों नहीं होता, विचार कीजिए। जो इस व्यवस्था के भीतर कारण अन्तर्निहित है, उसे ध्यान में लीजिए। छह माह आठ समय में छह सौ आठ जीव नियम से मोक्ष जाते हैं और उतने ही जीव नित्य निगोद से निकलकर व्यवहारराशि में आते हैं, सो क्यों, विचार कीजिए। क्या इससे वस्तुस्वभाव के ऊपर सुन्दर प्रकाश नहीं पड़ता। विकल्प के अनुसार कुछ भी बोलना और लिखना और बात है। यदि मिथ्या श्रुतज्ञान के बल से होनेवाले विकल्प के अनुसार वस्तु का परिणमन मान लिया जाए तो यह भी कहा जा सकता है कि बाह्य सामग्री के बल से अभव्य भी भव्य बन जाते हैं आदि, क्योंकि जब प्रत्येक कार्य में निश्चय उपादन की मुख्यता न रहकर बाह्य सामग्री की मुख्यता मान ली जाती है, तब यह मान लेने में आपत्ति ही क्या हो सकती है? इसलिए इस आपत्ति से बचने के लिए आगम की साक्षी में यही स्वीकार कर लेना ही उचित प्रतीत होता है कि तीनों कालों की पर्यायों अपने निश्चय उपादान के अनुसार क्रमनियमित ही होती है। यही कालनियम है और इसीलिए प्रत्येक कार्य में काल की निमित्तता स्वीकार की गयी है।

भाव की अपेक्षा—कषायस्थान और अनुभागस्थान असंख्यात लोक-प्रमाण हैं तथा योगस्थान जगश्रेणि के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। ये न्यूनाधिक नहीं होते। स्थूलरूप से सब लेश्याएँ छह हैं। उनके अवान्तर भेदों का प्रमाण भी सुनिश्चित है। देवलोक में तीन शुभ लेश्याएँ और नरक लोक में तीन अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं। उसमें भी प्रत्येक देवलोक की और प्रत्येक नरकलोक की लेश्या सुनिश्चित है। यह भी नियम है कि मनुष्य या तिर्यंच जिस स्वर्ग या नरक में जाता है, उसकी मरण के अन्तर्मुहूर्त पहले वह लेश्या नियम से हो जाती है। ऐसा क्यों होता है? बाह्य सामग्री के बल से उसमें फेरफार क्यों नहीं हो पाता, विचार कीजिए। यदि किसी तिर्यंच या मनुष्य ने देवायु का बन्ध किया हो और मरण के समय वह अशुभलेश्या में मरे तो वह भवनत्रिक में ही उत्पन्न होता है, सो क्यों? विचार कीजिए। इसी प्रकार भोगभूमि के मनुष्यों और तिर्यंचों में भी लेश्या का नियम है। कर्मभूमि में और एकेन्द्रियादि जीवों में यथासम्भव लेश्या परिवर्तन होता है अवश्य, पर वह नियतक्रम से ही होता है, सो क्यों? विचार कीजिए।

गुणस्थानों में भी परिणामों का उतार-चढ़ाव शास्त्रोक नियतक्रम से ही होता है। अध:करण आदि परिणामों का क्रम नियत है। तथा उसमें किस परिणाम के सद्भाव में क्या कार्य होता है, यह भी नियत है। एक सप्तम नरक का नारकी और एक नौवें ग्रैवेयक का देव, ये दोनों जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं, तब इनके लेश्याभेद, गतिभेद आदि होने पर भी अध:करण आदि परिणामों की जाति में अन्तर नहीं होता। कोई इसका अन्तरंग कारण तो होना चाहिए? विचार कीजिए। उनके सद्भाव में जो कार्य होते हैं, वे किसी के हों और किसी के न हों, ऐसा न होकर स्थितिबन्धापसरण आदि कार्य सबके होते हैं, सो क्यों? विचार कीजिए। एक गुणितकर्मांशिक

जीव है और एक क्षपितकर्मांशिक जीव हैं। इन दोनों के अपूर्वकरण में पहुँचने पर जो स्थितिकाण्डक घात होते हैं, उनमें जमीन-आसमान का अन्तर रहता है, सो क्यों ? विचार कीजिए। ऐसे जीवों के इन कार्यों में अन्य द्रव्य, क्षेत्र आदि फेरफार नहीं कर सकते ? सो क्यों, क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपने -अपने नियत उपादान के अनुसार क्रमनियमित ही होता है। जो महाशय अपने विकल्पों के अनुसार नियत उपादान को तिलांजलि देकर बाह्य सामग्री के बल पर दूसरे द्रव्यों के कार्यों में फेरफार की कल्पना करके असत् कथन करते हैं, उन्हें उक्त तथ्यों पर विचार करना चाहिए।

धवला पुस्तक ६, पृष्ठ २०४-२०५ में पाँच लब्धियों का स्वरूप निर्देश कर यह कहा गया है कि इन पाँच लब्धियों के होने पर तीन करणयोग्य परिणामों की उपलब्धि होती है। तब प्रश्न किया गया है कि सूत्र में तो काललब्धि ही कही गयी है। ऐसी पृच्छा द्वारा शंकाकार यह जानना चाहता है कि जब काललब्धि के बल से ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है, तब क्षयोपशम आदि पाँच लब्धियों का उपदेश क्यों दिया गया है ? इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रतिसमय अनन्त गुणहीन अनुभाग की उदीरणा, अनन्त गुणितक्रम से वर्धमान विशुद्धि और आचार्य का उपदेश यह सब बाह्य सामग्री की प्राप्ति एक काललब्धि के होने पर ही होती है। इससे भी यही मालूम पड़ता है कि जिस कार्य का जो नियत समय है, उसी समय ही वह कार्य बाह्य-आभ्यान्तर सामग्री को निमित्तकर होता है। इन दोनों प्रकार की सामग्री के युगपत प्राप्त होने में कभी भी व्यवधान नहीं पड़ता, इतना सुनिश्चित है। धवलाजी का वह उद्धरण इस प्रकार है—

एदेसु सतेसु करणजोग्गभावुवलंभादो। सुत्ते काललद्धी चेव

परूविदा, तम्हि एदासिं लद्धीणं कथं संभवो ? ण, पडिसमयमणंत-गुणहीणअणुभागुदीरणाए अणतगुणकमेण वड्ढमाणविसोहीए आइरियोवदेसलंभस्स य तत्थेव संभवादो।

२. शंका-समाधान

शंका—स्वभावपर्यायें क्रमनियमित ही होती हैं, पर विभावपर्यायें भी क्रमनियमितरूप से ही होती हैं, ऐसा कोई एकान्त नहीं है ?

समाधान—जबकि परमागम में कार्य-कारणभाव का विचार एक ही प्रकार से किया गया है, ऐसी अवस्था में स्वभाव पर्यायों को क्रमनियमित मानना और विभाव पर्यायों के विषय में अनियम की बात करना युक्त प्रतीत नहीं होना।

शंका—अनगारधर्मामृत में विभाव का अर्थ निमित्त किया गया है, इसलिए विभावपर्याय और स्वभावपर्याय का यह अर्थ होता है कि जो पर्यायें बाह्य निमित्तों से होती हैं, वे विभावपर्यायें कहलाती हैं और जो स्वभाव से होती हैं, वे स्वभावपर्यायें कहलाती हैं। इस प्रकार उक्त पर्यायों का यह अर्थ करना ही संगत प्रतीत होता है ?

समाधान—यह ठीक नहीं है, क्योंकि आगम में यह बतलाया गया है कि आकाश के अवगाहन के लिए वही स्वयं निमित्त है और कालद्रव्य के परिणमन के लिए भी वही स्वयं निमित्त है। इसके अतिरिक्त लोक में जीवादि द्रव्यों के अन्य जितने भी कार्य होते हैं, उनके कोई न कोई बाह्य निमित्त अवश्य होते हैं, चाहे वे स्वभावपर्यायें ही क्यों न हों। वस्तुतः विभावपर्याय और स्वभावपर्याय ऐसा भेद होने का कारण अन्य है। पुद्‌गलद्रव्य की तो चाल ही निराली है, एक तो वह जड़ है और दूसरे योग्य स्थिति आने पर उसकी स्वभावपर्याय ही विभावपरिणमन की कारण होती है आदि। किन्तु जीवद्रव्य की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। अब प्रकृत में विचार यह करना है कि विभाव पर्यायों को जो बाह्य निमित्तों से होना कहा गया है, सो वे द्रव्य

यदि कर्ता होकर दूसरे द्रव्य का कार्य करते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि परिणमन कोई करता है और कार्य कोई दूसरा द्रव्य कहलाता है। किन्तु उन महाशयों को यदि यह अर्थ मान्य न हो तो फिर वे बाह्य निमित्तों से विभावपर्याय का होना क्यों कहते हैं, फिर तो उन्हें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि बलात् कोई किसी को विभावरूप परिणमाता नहीं है। इससे यह कार्य हुआ, यह केवल व्यवहारमात्र है, जो बाह्य व्याप्ति को देखकर किया जाता है। और इसी तथ्य को देखकर समयसार, गाथा ८० में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का उल्लेखकर ८३ गाथा द्वारा बाह्य निमित्त में परमार्थ से पर के कार्य के कर्तृत्व का निषेध कर दिया गया है।

शंका—यदि यह बात है तो इष्ट कार्य को सिद्धि के लिए तद्योग्य सामग्री का संयोजन क्यों किया जाता है ?

समाधान—बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता में प्रत्येक कार्य होता है, इस नियम के अनुसार इष्ट कार्य की सिद्धि के लिए प्रत्येक व्यक्ति उसके संयोजन में प्रत्यनशील होता है। कार्य होता है अपने काल में स्वयं ही, बाह्य सामग्री तो उसे उत्पन्न करती नहीं। आभ्यन्तर सामग्री भी जब तक वह स्वयं योग्य भूमिका में नहीं पहुँचती, तब तक बाह्य सामग्री की सन्निधि रहने पर भी वह इष्ट कार्यरूप नहीं परिणमती, इसीलिए कार्य अपने काल में स्वयं होता है, यह कहा गया है। उदाहरणार्थ अनन्तानन्त विस्रसोपचय आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह होकर रहते हैं, परन्तु वे सबके सब एक समय में कर्मरूप नहीं परिणमते। जब जिनका कर्मरूप होने का एक काल होता है, तभी वे स्वयं कर्मरूप परिणमते हैं। जीव के कषाय और योग उनको कर्मरूप नहीं परिणमाते।

शंका—हम यह नहीं कहते कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य करता है, किन्तु हमारा कहना यह है कि एक द्रव्य की सहायता से दूसरा द्रव्य अपना कार्य करता है ?

समाधान—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की सहायता से अपना कार्य करता है, इसका अर्थ क्या है? क्या यह अर्थ है कि जिस प्रकार हल्दी और चूना दोनों मिलकर (एक क्षेत्रवगाहरूप होकर) लाल रंगरूप परिणम जाते हैं, उसी प्रकार यदि विवक्षित द्रव्य बाह्य निमित्तरूप द्रव्य के साथ मिलकर कार्य करनेवाला मान लिया जाए तो दोनों द्रव्यों को एक प्रकार के परिणाम से परिणत दिखलायी देना चाहिए। और ऐसी अवस्था में रसोईया और चावल आदि दोनों द्रव्य रसोईरूप परिणम जाऐंगे। किन्तु ऐसा होता नहीं, इसलिए यही मानना चाहिए कि जिसे हम बाह्य निमित्त कहते हैं, उसके बिना ही प्रत्येक द्रव्य उससे पृथक् होकर ही स्वयं अपना कार्य करता है।

शंका—हम बाह्य निमित्त की सहायता का यह अर्थ करते हैं कि उसके बिना दूसरा द्रव्य अपना कार्य करने में असमर्थ है?

समाधान—प्रत्येक द्रव्य बाह्य निमित्त के बिना ही स्वयं अपना कार्य करता है। परन्तु त्रैकालिक बाह्य व्याप्ति को देखकर ही दो द्रव्यों में निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का व्यवहार किया गया है, इसलिए विवक्षित कार्य के समय उसके साथ अविनाभाव को प्राप्त बाह्य निमित्तभूत दूसरा द्रव्य होता ही है, अत: बाह्य निमित्तरूप द्रव्य के बिना दूसरा द्रव्य अपना कार्य करने में असमर्थ है, यह कहना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। जैसे यह कहा जाता है कि विवक्षित कार्य का बाह्य निमित्त होता है, तभी वह कार्य होता है, सो उसके स्थान पर हम यह भी कह सकते हैं कि जब विवक्षित कार्य होता है, तब उसका बाह्य निमित्त होता ही है, क्योंकि इन दोनों में रूप-रस के समान समव्याप्ति है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर हरिवंशपुराण में कहा भी है —

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥४४-१२॥

आत्मा स्वयं अपना कार्य करता है, स्वयं उसका फल भोगता है, स्वयं संसार में परिभम्रण करता है और स्वयं ही राग-द्वेष आदिरूप संसार से मुक्त होता है ॥४४-१२ ॥

प्रत्येक वस्तु अपना कार्य बाह्य सामग्री की अपेक्षा किए बिना ही करता है, यह हम पहले ही लिख आये हैं। सो इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य के समय बाह्य निमित्त को केवल बाह्य व्याप्तिवश ही स्वीकार किया गया है। वह विवक्षित कार्य में किसी प्रकार की सहायता करना है, इसलिए नहीं। जीव की विभाव पर्याय और स्वभाव पर्याय होने का यह कारण नहीं है कि जीव की विभाव पर्याय होते समय परद्रव्य उसमें कुछ करामत कर देता है। करता तो जीव उसे स्वयं ही है। किन्तु जब जीव का पर की ओर झुकावरूप परिणाम होता है, तब विभाव पर्याय होती है और जब स्वपर के भेद-विज्ञान के साथ स्व की ओर झुकाववाला परिणाम होता है, तब स्वभाव पर्याय होती है।

३. आगम के प्रकाश में सम्यक् नियति का समर्थन

इस प्रकार नियत स्वभाव के अन्तर्गत नियत उपादान से नियत कार्य होने के कारण द्रव्यादि की अपेक्षा पूर्व में कही गयी व्यवस्थाएँ कैसे नियत हैं, यह व्यवस्था बन जाती है। आगम में भी ऐसे प्रमाण विपुल मात्रा में उपलब्ध होते हैं, जिनसे उक्त तथ्यों के साथ सम्यक् नियति का स्पष्टरूप से समर्थन होता है। उदाहरणार्थ द्वादशानुप्रेक्षा में स्वामी कार्तिकेय कहते है—

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णाणं जिणेण णियदं जम्मं अहव मरणं वा॥३२१॥

तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चात्वेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा॥३२२॥

जिस जीव का जिस देश और जिस काल में विधि से जन्म

अथवा मरण जिनेन्द्रदेव ने नियत जाना है ॥३२१ ॥ उसका उस देश और उस काल में जन्म अथवा मरण उस विधि से नियम से होता है। चाहे इन्द्र हो अथवा स्वयं जिनेन्द्रदेव हों, इसे चलायमान कौन कर सकता है, अर्थात् कोई भी इसे चलायमान नहीं कर सकता ॥३२२ ॥

यहाँ जन्म और मरण ये उपलक्षण वचन हैं। इससे सभी कार्यों का नियत देश और नियत काल में नियत विधि से होना निश्चित होता है, जो नियत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के साथ प्रत्येक द्रव्य के अपने निश्चय उपादान के अनुसार नियत कार्य होने का समर्थन करता है।

यहाँ यह कहा जा सकता है, जिनदेव ने जिस कार्य को जिस देश और जिस काल में जिस विधि से जाना है, कार्य तो उस देश और उस काल में उसी विधि से होगा, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु श्रुतज्ञान की अपेक्षा विचार करते हैं, तो किस द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के योग में कौन कार्य हो, यह नियम नहीं किया जा सकता है। इसलिए श्रुतज्ञान की अपेक्षा कोई कार्य अपने नियत समय पर ही होता है और कोई कार्य नियत समय को छोड़कर आगे-पीछे भी होता है। निश्चय उपादान तो अनेक योग्यताओंवाला होता है, इसलिए बाह्य सामग्री जब जैसी मिलती है, उसी के अनुसार कार्य होता है।

किन्तु उक्त कथन को देखते हुए ऐसा लगता है कि कार्तिकेयस्वामी के सामने भी ऐसा अनर्गल कथन करनेवाले व्यक्ति रहे हैं। इसीलिए ही ऐसे कथन को लक्ष्य कर स्वामीजी के मुख से यह गाथा निकली है—

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥३२३ ॥

इस प्रकार जो निश्चय से सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों को

जानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो शंका करता है, वह कुदृष्टि (मिथ्यादृष्टि) है ॥३२३ ॥

यह कितनी मार्मिक दो टूक बात कही गयी है। केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में इतना ही अन्तर है कि केवलज्ञान सब द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष जानता है और श्रुतज्ञान उनको परोक्ष जानता है (आप्तमीमांसा १०५ का)। यह श्रुतज्ञान की मात्र प्रशंसा नहीं है, किन्तु वस्तुस्थिति है। जो केवलज्ञान का अनुसरण करनेवाला न हो, वह श्रुतज्ञान ही नहीं, मिथ्या श्रुतज्ञान है। इसलिए श्रुतज्ञान उसी प्रकार से जानता और मानता है, जैसा केवलज्ञान में झलकता है, प्रकृत में ऐसा निश्चय करना ही सम्यग्दृष्टि का बाह्य लक्षण है। यदि हम अपने अन्य शास्त्रों को देखते हैं तो उनसे भी इसी तथ्य पर पहुँचते हैं कि सभी पर्यायें सम्यक् नियति के पेट में समायी हुई हैं। पद्मपुराण से भी इसी तथ्य का समर्थन होता है। वहाँ कहा गया है—

यत्प्राप्तव्यं यदा येन यत्र यावद्यतोऽपि वा।
तत्प्राप्यते तदा तेन तत्र तावत्ततो ध्रुवम् ॥२९-८३ ॥

जिस जीव के द्वारा जहाँ जिस काल में जिस कारण से जिस परिणाम में जो प्राप्तव्य है, उस जीव के द्वारा वहाँ उस काल में उस कारण से उस परिणाम में वह नियम से प्राप्त किया जाता है ॥२९-८३ ॥

यह वस्तु व्यवस्था का उद्घोषण करनेवाला वचन है। इस द्वारा नियत बाह्य देश और काल के साथ नियत आभ्यन्तर कारण से होनेवाली नियत पर्याय के स्वरूप की मर्यादा बतलायी गयी है। सम्यक् नियति का कोई महाशय कितना ही निषेध क्यों न करें, तथा कितने ही स्वाध्याय प्रेमियों को कितने ही महाशय अपने पक्ष में करने का उपक्रम क्यों न करें, पर इतने मात्र से उसका निषेध नहीं हो जाएगा। किसी के द्वारा अपने कुतर्कों द्वारा उसका निषेध किये जाने पर भी वह वस्तु का अंग बना ही रहेगा, इसमें सन्देह नहीं। गोम्मटसार कर्मकाण्ड

में जहाँ एकान्त नियति का निषेध किया गया है, वहाँ एकान्त पुरुषार्थ आदि का भी निषेध किया गया है। इससे क्या यह माना जा सकता है कि जैनदर्शन में पुरुषार्थ आदि को यत्किंचित् भी स्थान नहीं है। यदि नहीं तो जैसे प्राणीमात्र के प्रत्येक कार्य में उनकी इहचेष्टा (पुरुषार्थ) आदि को स्थान प्राप्त है, वैसे ही प्रत्येक कार्य (पर्याय की उत्पत्ति) में पुरुषार्थ आदि के साथ स्वभाव नियति को भी स्थान प्राप्त है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में पुरुषार्थ आदि के साथ जो नियति का निषेध किया गया है, सो वह एकान्त नियति का ही निषेध किया गया है, सम्यक् नियति का नहीं। सर्वथा एक-एक नय की अपेक्षा जो ३६३ मत बनते हैं, उनकी वहाँ विस्तार से चर्चा करते हुए बतलाया है कि क्रियावादी एकान्तियों के १८०, अक्रियावादी एकान्तियों के ८४, अज्ञानी एकान्तियों के ६७ और एकान्ती वैनयिकों के ३२ ऐसे कुल मिलाकर ३६३ मत होते हैं। आगे इनका विस्तृत वर्णन करते हुए लिखा है कि —

जावदिया वयणपहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया॥८९४॥

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जेणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचिवयणादो॥८९५॥

जितने वचनपथ हैं, उतने ही नयवाद होते हैं और जितने नयवाद होते हैं, उतने ही परसमय (मिथ्या मत) होते हैं॥८९४॥ मिथ्या मतों के वचन सर्वथा वचन से युक्त होने के कारण मिथ्या होते हैं। किन्तु अनेकान्ती जैनों के वचन कथंचित् वचन से युक्त होने के कारण सम्यक् होते हैं॥८९५॥

यह जिनागम का निचोड़ है। इससे हम जानते हैं कि जो ३६३ एकान्त मत कहे गये हैं। सापेक्षारूप से वे सभी मत जैनों को मान्य है। जैनागम में यदि इन मतों का निषेध है, तो केवल एकान्त से ही

उनका निषेध हैं।

इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमांसा में कहते हैं—

मिथ्यासभूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्॥१००॥

मिथ्या समूह यदि मिथ्या है तो हम स्याद्वादियों के यहाँ मिथ्या एकान्त नहीं है, क्योंकि निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय वस्तु होते हैं और वे ही कार्यकारी माने गये हैं॥१०८॥

यह कारिका अर्थगर्भ है। इसमें सम्यक् नय, मिथ्यानय, सम्यक् प्रमाण और मिथ्या प्रमाण इन चारों के स्वरूप पर स्पष्टतः प्रकाश डाला गया है। तत्त्वार्थवार्तिक में इन चारों में क्या अन्तर है, इसे स्पष्ट किया गया है। उसके प्रकाश में इस कारिका को देखना-समझना चाहिए। वहाँ कहा है—

एकान्त दो प्रकार का है—सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त। प्रमाण भी दो प्रकार का है—सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। हेतु विशेष की सामर्थ्य की अपेक्षा करके प्रमाण के द्वारा कहे गये अर्थ के एक देश का निर्देश करनेवाला सम्यक् एकान्त है। एकान्त के निश्चयपूर्वक अन्य अशेष (धर्मों) के निराकरण में उद्यत मिथ्या एकान्त है। एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अस्ति, नास्ति आदि सप्रतिपक्ष धर्मों का निरूपण करनेवाला सम्यक् अनेकान्त है और तन्-अतन्स्वभावरूप वस्तु से शून्य परिकल्पित अनेकरूप कहनेवाला केवल वचन या जाननेवाला मात्र ज्ञान मिथ्या अनेकान्त है। उसमें से सम्यक् एकान्त का नाम नय है और सम्यक् अनेकान्त का नाम प्रमाण है।

यह उक्त चारों का स्वरूप निर्देश है। इससे हम जानते हैं कि कार्य-कारण परम्परा में जिन स्वभाव, नियति (निश्चय) बाह्य

निमित्त, काल और पुरुषार्थ इन पाँच कारणों का निर्देश किया जाता है, उनका समुच्चय होने पर कार्य नियम से होता है। उनका समुच्चय हो और कार्य न हो, यह भी नहीं है और कार्य हो और उनका समुच्चय न हो, यह भी नहीं है। यत: उत्पाद-व्ययरूप पर्याय प्रति समय होती है, अत: उनका समुच्चय प्रति समय होता रहता है।

पहले जो हम क्रियावादियों के १८० भेद बतला आये हैं। उनमें से एकान्त नियतिवादियों के ३६ भेद हैं और इसी प्रकार एकान्त पुरुषार्थवादी आदि प्रत्येक के ३६, ३६ भेद हैं। जो इस एकान्त नियति के अनुसार कार्यों की उत्पत्ति मानते हैं, उन्होंने कार्यों के प्रति अन्य बाह्याभ्यन्तर कारणों का निषेध किया और इसी प्रकार जो केवल बाह्य निमित्त आदि एक-एक से कार्यों की उत्पत्ति मानते हैं, उन्होंने भी कार्यों के प्रति अन्य कारणों का निषेध किया, इसलिए ये मिथ्या एकान्ती है। किन्तु जो प्रत्येक कार्य में इन पाँचों के समवाय को स्वीकार करते हैं, वे सम्यक् अनेकान्ती हैं। प्रयोजन विशेष से एक-एक कारण के द्वारा कार्य का कथन करना अन्य बात है। परन्तु प्रत्येक कार्य में होता है, इन पाँचों का समवाय ही। इतना अवश्य है कि पुरुषार्थ का विचार केवल जीवों की अपेक्षा ही किया जाता है, क्योंकि अजीवों में पुरुषार्थ का सर्वथा अभाव है। इसलिए अजीवों के सभी कार्य विस्रसा ही स्वीकार किये गये हैं। दूसरे इह चेष्टा द्वीन्द्रियादि जीवों में ही देखी जाती है, इसलिए उनके सभी कार्यों में गौण-मुख्य भाव से पुरुषार्थ को भी स्वीकार किया है। प्रायोगिक संज्ञा भी इन्हीं की है।

४. उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर जैनधर्म में एकान्त नियतिवाद का निषेध किया गया है, वहाँ दूसरी ओर सम्यक् नियति को स्थान भी मिला हुआ है, इसलिए इसे स्थान देने से हमारे पुरुषार्थ की हानि होती है और हमारे समस्त कार्य यन्त्र के समान सुनिश्चित

हो जाते हैं, यह कहकर सम्यक् नियति का निषेध करना उचित नहीं है। यहाँ सबसे पहले यह विचार करना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति का पुरुषार्थ क्या है ? हम इसका तो निर्णय करें नहीं और पुरुषार्थ की हानि बतलावें, क्या इसे उचित कहा जा सकता है ? वस्तुतः प्रत्येक चेतन द्रव्य अपने-अपने कार्य के प्रति प्रतिसमय पुरुषार्थ कर रहा है, क्योंकि वह अपने पुरुषार्थ से प्रत्येक समय में पुराने कार्य का ध्वंस कर नये कार्य का निर्माण करता है। इसके सिवा कोई भी व्यक्ति अन्य कोई कार्य उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता हो और अपने पुरुषार्थ द्वारा उसे उत्पन्न करता हो तो हमें ज्ञात नहीं।

सम्भवतः पुरुषार्थवादियों का यह कहना हो कि जो यह जीव अपने अज्ञानभाव के कारण अनादि काल से परतन्त्र हो रहा है, उसका अन्त करना ही इसका सच्चा पुरुषार्थ है, तो इसके लिए रुकावट ही कौन डालता है। किन्तु उसे अपने अज्ञानभाव का अन्त स्वयं करना होगा। यह कार्य बाह्य सामग्री का नहीं है। अन्य पर्याय के काल में यदि यह अज्ञानभाव का अन्त कर अपनी इच्छानुसार ज्ञानमय पर्याय को उत्पन्न करना भी चाहे तो इतना स्पष्ट है कि अपने चाहने मात्र से तो अज्ञानभाव का अन्त होकर ज्ञानमय पर्याय उत्पन्न होगी नहीं। न तो कभी ऐसा हुआ और न कभी ऐसा होगा ही, क्योंकि पर्याय की उत्पत्ति में जो स्वभाव आदि पाँच कारण बतलाये हैं, उनका समवाय होने पर ही कोई भी पर्याय उत्पन्न होती है, ऐसा नियम है। इसके साथ यह भी निश्चित है कि इनमें से कोई कारण पहले मिलता हो और कोई कारण बाद में, यह भी नहीं है, क्योंकि इनका समवाय प्रति समय एक साथ ही होता है और प्रति समय नियम से कार्य होता है। बाह्य निमित्त की निमित्तता भी तभी मानी जाती है। इसलिए पुरुषार्थ की हानि बतलाकर सम्यक् नियति का निषेध करना उचित नहीं है।

सम्यक् नियति का वास्तविक अर्थ है कि बाह्य द्रव्यादि की

नियत अवस्थिति के साथ जो कार्य जिस निश्चय उपादान से होनेवाला है, वह उस स्थिति में ही होगा अन्य स्थिति में नहीं होगा। इसमें सम्यक् नियति की स्वीकृति के साथ कार्य-कारण प्रक्रिया को भी स्वीकार कर लिया गया है। जैनधर्म में जो सम्यक् नियति को स्वीकार किया गया है, वह इसी अर्थ में स्वीकार किया गया है। यहाँ सम्यक् नियति का अन्य कोई अर्थ नहीं है। इसके स्थान में यदि कोई चाहे कि जो कार्य जिस निश्चय उपादान से होनेवाला है, उसके स्थान में अन्य निमित्त से उस कार्य की उत्पत्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा की जा सकती है, तो उसका ऐसा सोचना भ्रम है। अतएव सम्यक् नियति कोई स्वतन्त्र पदार्थ न होकर पूर्वोक्त विधि से कार्यकारणपरम्परा का एक अंग है—ऐसा श्रद्धान करके ही चलना चाहिए। इतना अवश्य है कि जैन साहित्य में नियति या नियत शब्द निश्चय, उपादान, योग्यता, नियम और स्वभाव के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। उदाहरणार्थ प्रवचनसार गाथा १०१ में आये हुए 'नियत' शब्द का अर्थ आचार्य जयसेन ने 'निश्चित' किया है। प्रवचनसार गाथा ४३ में आये हुए 'नियत' शब्द का अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र ने 'नियम' और आचार्य जयसेन ने 'स्वभाव' किया है। तथा प्रवचनसार की गाथा ४४ में आये हुए 'नियति' शब्द का अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र ने 'योग्यता' और 'स्वभाव' तथा आचार्य जयसेन ने 'स्वभाव' किया है। प्रतिक्रमण भक्ति में धर्म को नियतिलक्षणवाला बतलाया गया है। धर्म की विशेषता बतलाते हुए वहाँ पर लिखा है —

इमस्स णिग्गंथस्स पावयणस्स अणुत्तरस्स केवलियस्स केवलिपण्णत्तस्स धम्मस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठियस्स विणयमूलस्स खमाबलस्स अट्ठारससीलसहस्सपरिमंडियस्स चउरासीदिगुणसयसहस्सविहूसियस्स णवबंभचेरगुत्तस्स णियतिलक्खणस्स परिचायफलस्स उवसमपहाणस्स खंतिमग्गदेसियस्स मुत्तिमग्गपयासयस्स सिद्धिमग्गपज्जवसाहणस्स....।

यद्यपि आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपनी टीका में नियति का अर्थ विषय -व्यावृत्ति किया है, पर उन्होंने जिसे नियति (निश्चय) धर्म की प्राप्ति हो जाती है, वह सुतराँ विषयों से व्यावृत्त हो जाता है, इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही फलितार्थरूप में यह अर्थ किया है, इसलिए प्रकृत में उससे कोई बाधा नहीं आती।

लगभग इन्हीं विशेषणों के साथ धर्म का लक्षण करते हुए सर्वार्थसिद्धि (अध्याय ९, सूत्र ७) में भी कहा है —

अयं जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसालक्षणः सत्याधिष्ठितो विनयमूलः क्षमाबलो ब्रह्मचर्यगुप्त उपशमप्रधानो नियतिलक्षणो निष्परिग्रहता-वलम्बनः।

जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा गया यह धर्म अहिंसालक्षणवाला है। सत्य से अधिष्ठित है, विनय उसका मूल है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्य से रक्षित है, उपशमभाव की उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है और परिग्रह रहितपना उसका आलम्बन है।

यदि हम हिन्दी पद्यबन्ध ग्रन्थों का आलोडन करें तो उनमें भी निश्चय अर्थ में 'नियत' या 'नियति' शब्द की उपलब्धि हो जाती है। छहढाला की तृतीय ढाल में 'निश्चय' के अर्थ में 'नियत' शब्द आया है। इसलिए किस कार्य की उत्पत्ति में उपादान कौन है और उसका बाह्य निमित्त कौन है, इसकी निश्चित 'नियति' शब्द द्वारा ध्वनित होकर भी मुख्यार्थ की दृष्टि से उस द्वारा निश्चय उपादान का ही ग्रहण होता है—ऐसा निर्णय करना ही परमार्थभूत प्रतीत होता है। इन सब तथ्यों को दृष्टि में रखकर यदि मनुष्य के विवेक में यह बात आ जाये कि जिस निश्चय उपादान से जो कार्य होनेवाला है, उसे हम अपने तथाकथित प्रयत्न या बाह्य निमित्त द्वारा त्रिकाल में भी नहीं बदल सकते तो उसे 'सम्यक् नियति को स्वीकार करने में रंचमात्र भी अड़चन न रहे। समग्र कथन का तात्पर्य यह है कि नियति शब्द द्वारा

कोई भी द्रव्य या द्रव्यांश, गुण या गुणांश अन्य हेतुओं से अन्यथा परिणमन नहीं कर सकता, यह सूचित किया गया है। कोई भी कार्य पर्यायार्थिनय की अपेक्षा स्वयं होकर भी नैगम (व्यवहार) नय की अपेक्षा अपने निश्चय उपादान और बाह्य निमित्त के बिना अपने आप होता है, ऐसा नहीं है। इस प्रकार जैनधर्म में सम्यक् नियति का क्या स्थान है और वह किस रूप में स्वीकार की गयी है, इसका सम्यक् विचार किया।'

●

निश्चय-व्यवहारमीमांसा

गुण-पर्यय के भेद से भेदरूप व्यवहार।
द्रव्यदृष्टि से देखिये एकरूप निरधार॥
होता पर के योग से असत्‌रूप व्यवहार।
दृष्टि फिरे निश्चय लखे एकरूप अविकार॥

१. उपोद्घात

मुख्य, सो निश्चय; गौण, सो व्यवहार—इस नियम के अनुसार प्रकृत में हमें मोक्षमार्ग की दृष्टि से निश्चय-व्यवहार के निर्णय के साथ उनको विषय करनेवाले नयों का भी विचार करना है।

२. द्रव्य, गुण, पर्याय निर्देश

सामान्य से सब द्रव्य छह हैं—जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। विशेष की अपेक्षा विचार करने पर जीवद्रव्य अनन्त हैं, पुद्‌गलद्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं, धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य एक-एक हैं तथा कालद्रव्य लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर असंख्यात हैं। ये सब द्रव्य स्वत:सिद्ध और अनादि-अनन्त हैं। स्वरूप की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य की जो मर्यादा है, स्वभाव से ही वे उसका उल्लंघनकर अन्यरूप नहीं होते, इसलिए स्वभाव से स्वप्रतिष्ठ होने के कारण वे परनिरपेक्ष होकर ही अवस्थित है। जो जितने और जिस रूप में हैं, वे सदाकाल उतने और उस रूप में बने रहते हैं। न तो वे अपने त्रिकाली स्वभाव को ही बदलते हैं और न ही न्यूनाधिक होते हैं।

३. लक्षण की दृष्टि से द्रव्यविचार और उनके भेद

लक्षण की दृष्टि से विचार करने पर जो गुण-पर्यायवाला हो, वह द्रव्य है। एक लक्षण तो यह है और दूसरा लक्षण है जो उत्पाद-व्यय-

ध्रुव-स्वभाववाला हो, वह द्रव्य है। इन दोनों लक्षणों द्वारा द्रव्य के स्वरूप-सामान्य पर प्रकाश पड़ता है, इसलिए इनमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि उत्पाद-व्यय द्वारा पर्याय की अभिव्यक्ति होती है और ध्रौव्य द्वारा गुण की अभिव्यक्ति होती है। गुण अन्वयस्वभाववाले होते हैं, इसलिए उन्हें ध्रुवस्वरूप कहा गया है तथा पर्याय व्यतिरेक स्वभाव -वाली होती हैं, इसलिए उन्हें उत्पाद-व्ययरूप कहा गया है। ये दोनों लक्षण प्रत्येक द्रव्य में घटित होते हैं, इसलिए ये द्रव्य के सामान्य लक्षण हैं। छह द्रव्यों को जो अलग-अलग कहा गया है, सो उनके पृथक्-पृथक् लक्षण होने से ही पृथक्-पृथक् कहा गया है। जैसे जीव का विशेष लक्षण उपयोग है। यह जिनमें पाया जाता है, वे सब जीव कहलाते हैं। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पुद्गल का विशेष लक्षण है। यह जिनमें पाया जाता है, वे सब पुद्गल कहलाते हैं। गतिहेतुत्व धर्मद्रव्य का विशेष लक्षण है। यह जिसमें पाया जाता है, वह धर्मद्रव्य कहलाता है। स्थितिहेतुत्व अधर्मद्रव्य का विशेष लक्षण है। यह जिसमें पाया जाता है, वह अधर्मद्रव्य कहलाता है। अवगाहनहेतुत्व आकाश द्रव्य का विशेष लक्षण है। यह जिसमें पाया जाता है, वह आकाशद्रव्य कहलाता है तथा परिणमनहेतुत्व कालद्रव्य का विशेष लक्षण है। यह जिनमें पाया जाता है, वे कालद्रव्य कहलाते हैं। इस प्रकार जाति की अपेक्षा कुल द्रव्य छह हैं, यह सिद्ध होता है।

४. गुण का स्वरूप और भेद

यावद्द्रव्यभावी त्रिकाली शक्ति विशेष का नाम गुण है। प्रत्येक द्रव्य में ये अनन्त होते हैं। कहीं-कहीं इन्हें शक्तिशब्द द्वारा भी अभिहित किया गया है। समानजातीय द्रव्यों में गुण समान होते हैं और भिन्न जातीय द्रव्यों में ये समान भी होते हैं और भिन्न भी होते हैं।

५. पर्याय का स्वरूप

पर्याय की दृष्टि से विचार करने पर यावद्द्रव्यभावी प्रति समय

अन्य-अन्य होनेवाली अवस्था का नाम पर्याय है। द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय के भेद से पर्यायें दो प्रकार की होती हैं। इन्हें क्रमश: व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय भी कहते हैं। ये दोनों प्रत्येक विभावपर्याय और स्वभावपर्याय के भेद से दो-दो प्रकार की होती हैं। विभावपर्याय को संयोगीपर्याय और स्वभावपर्याय को असंयोगीपर्याय भी कहते हैं। संयोगीपर्यायें मात्र संसारी जीवों और पुद्‌गल स्कन्धों में ही होती हैं। जीवों की अपेक्षा जो आत्मीय पदार्थ नहीं हैं, अहंकार और ममकाररूप से उनमें आत्मभाव का होना संयोग है। जैसे-जैसे यह भाव विलय को प्राप्त होता जाता है, वैसे-वैसे जीवों के स्वभावपर्यायों का उदय होने लगकर वह सब प्रकार के संयोग से क्रमश: मुक्त होता जाता है। पुद्‌गलों में स्पर्शगुण की विशेष पर्याय ही संयोग है। जीवों में अपना अपराध ही संयोग का हेतु है तथा पुद्‌गलों में स्पर्शगुण की विशेष पर्याय ही संयोग का हेतु है। जीव में कोई दूसरा द्रव्य विकार को उत्पन्न कर उनकी पर्यायों को विकारी बनाता हो, ऐसा नहीं है। अपने त्रिकाली स्वभाव को विस्मृत करने पर उनका उदय होता है, इसलिए उन्हें विभावपर्याय या विकारीपर्याय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जीव का जानना-देखना स्वभाव है। इसको गौणकर जब जीव पर में ममकार और अहंकार करता है, तब इसने अपने स्वभाव के विरुद्ध परिणमन किया, इसलिए ऐसे परिणमन को ही विभावपर्याय या विकारीपर्याय शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। मोक्षमार्ग की दृष्टि से अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को लक्ष्य में लेने का प्रमुखता से जो उपदेश दिया जाता है, वह इसीलिए दिया जाता है।

६. प्रमाण-नयस्वरूप निर्देश

संक्षेप में यह ज्ञेयतत्त्व मीमांसा है। जो ज्ञान न्यूनता और अधिकता से रहित होकर संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के बिना यथावस्थित पदार्थ को उसी रूप में जानता है, वह सम्यग्ज्ञान है। दर्शनशास्त्र में ऐसे ज्ञान को 'प्रमाण' ज्ञान संज्ञा दी गयी है। प्रकृत में सम्यग्ज्ञान दर्पण

स्थानीय है। अविकल स्वच्छ दर्पण में जो पदार्थ जिसरूप में अवस्थित होता है, वह उसीरूप में प्रतिबिम्बित होता है। यही सम्यग्ज्ञान की स्थिति है। जिस प्रकार अपनी बनावट में ठीक स्वच्छ दर्पण में समग्र वस्तु अखण्डभाव से प्रतिबिम्बित होती है, उसी प्रकार प्रमाणज्ञान में भी समग्र वस्तु गुण-पर्याय का भेद किये बिना, अखण्डरूप से विषय -भाव को प्राप्त होती है। इसका भाव यह नहीं है कि प्रमाणज्ञान गुणों और पर्यायों को नहीं जानता। जानता अवश्य है, परन्तु वह इन सहित समग्र वस्तु को गौण-मुख्य का भेद किये बिना युगपत् जानता है।

इसके आश्रय से जब किसी एक वस्तु का किसी एक धर्म की मुख्यता से प्रतिपादन किया जाता है, तब उसमें अशेष धर्म अभेदवृत्ति या अभेदोपचार से अन्तर्निहित समझे जाते हैं। इसलिए प्रमाण सप्तभंगी में प्रत्येक भंग अशेष वस्तु का कथन करनेवाला स्वीकार किया गया है। यह तो प्रमाणज्ञान और उसके आधार से होनेवाले वचन व्यवहार की स्थिति है।

अब थोड़ा नयदृष्टि से इसका विचार कीजिए। यों तो सम्यग्दर्शन आदि के सद्भाव में जितना भी क्षायोपशमिक और क्षायिक ज्ञान होता है, वह सब प्रमाणज्ञान ही है, क्योंकि उसमें विकल्प द्वारा भेदादि द्वारा वस्तु का निर्णय करना मुख्य नहीं है। किन्तु प्रमाणज्ञान का श्रुतज्ञान एक ऐसा भेद है, जो श्रुतज्ञान के विषयभूत अर्थ को ग्रहण करनेवाले मन की मुख्यता से प्रवृत्त होता है। अत:एव विकल्पात्मक होने से वह (श्रुतज्ञान) प्रमाण और नय उभयरूप होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि में कहा भी है—

तत्र प्रमाणं द्विविधम्—स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः॥ *अध्याय १, सूत्र ६॥*

प्रकृत में प्रमाण दो प्रकार है—स्वार्थ प्रमाण और परार्थ प्रमाण।

श्रुत को छोड़कर शेष सब ज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं। परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञानात्मक स्वार्थ प्रमाण है और वचनात्मक परार्थ प्रमाण है॥ *अध्याय १, सूत्र ६*

तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों स्वार्थप्रमाण है, क्योंकि ये परनिरपेक्ष होकर समग्ररूप से अपने विषय को ग्रहण करते हैं। इनके अतिरिक्त जो मतिज्ञान है, वह यद्यपि इन्द्रिय और मन को निमित्तकर होता है, फिर भी वह अपने विषय को भेद किये बिना समग्रभाव से ग्रहण करता है, इसलिए वह भी स्वार्थ-प्रमाण है। अब रहा श्रुतज्ञान, सो वह विकल्पधारा के उभयात्मक होने से दोनोंरूप माना गया है। श्रुतज्ञान में मन का जो विकल्प अखण्डभाव से वस्तु को स्वीकार करता है, वह प्रमाणज्ञान है और जो विकल्प वस्तु को एक धर्म की मुख्यता से ग्रहण करता है, वह नयज्ञान है। सम्यक् श्रुत का भेद होने से नयज्ञान भी उतना ही प्रमाण है, जितना कि प्रमाणज्ञान। फिर भी शास्त्रकारों ने इसे जो अलग से परिगणित किया है, उसका कारण विवक्षाविशेष को दिखलाना मात्र है। जो ज्ञान समग्र वस्तु को अखण्डभाव से स्वीकार करता है, उसकी उन्होंने प्रमाणसंज्ञा रखी है और जो ज्ञान समग्र वस्तु के विवक्षित धर्म को मुख्यकर ग्रहण करता है, उसकी नयसंज्ञा रखी है। सम्यग्ज्ञान के प्रमाण और नय ऐसे दो भेद करने के यही कारण है। किन्तु इन भेदों को देखकर यदि कोई सर्वथा यह समझे कि सम्यग्ज्ञान के भेद होकर भी प्रमाणज्ञान यथार्थ है, नयज्ञान नहीं, तो उसका ऐसा समझना ठीक नहीं है, क्योंकि नयज्ञान भी संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के बिना प्रकृत वस्तु को ही उसीरूप में विषय करता है। तात्पर्य यह है कि नयज्ञान का प्रयोजन भी धर्मविशेष के द्वारा यथावस्थित वस्तु का ज्ञान करना है, इसलिए उसकी अप्रमाणकोटि में परिगणना नहीं की जा सकती। इन दोनों में यदि कोई अन्तर है तो इतना ही कि प्रमाणज्ञान में अंशभेद से वस्तु को जानना अविवक्षित रहता है, जबकि

नयज्ञान में अंशभेद मुख्य होकर उस द्वारा वस्तु को जाना जाता है। इसलिए नय का लक्षण करते हुए आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं —

वस्तुन्यनेकान्तात्मनि अविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः। *अध्याय १, सूत्र ३३*

अनेकान्तात्मक वस्तु में अविरोधपूर्वक हेतु की मुख्यता से साध्य -विशेष की यथार्थता के प्राप्त कराने में सयर्थ प्रयोग का नाम नय है।

आचार्य पूज्यपाद ने नय का यह लक्षण नयसप्तभंगी को लक्ष्य में रखकर वचननय की मुख्यता से किया है। तत्त्वार्थवार्तिक में भी यही सरणि अपनायी गयी है। ज्ञाननय का लक्षण करते हुए नयचक्र में यह वचन आया है—

जं णाणीण वियप्पं सुभमेयं वत्थुअंससंग्गहणं।
तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेण णाणेण॥१७३॥

वस्तु के एक अंश को ग्रहण करनेवाला जो ज्ञानी का विकल्प होता है, जो कि श्रुतज्ञान का एक भेद है, उसे प्रकृत में नय कहा गया है। यतः नयज्ञान सम्यक् श्रुत का अंश है, अतः उस ज्ञान से युक्त जीव ज्ञानी है॥१७३॥

शंका—वस्तु अनेकान्तात्मक होती है, इसलिए एक अंश को ग्रहण करनेवाले ज्ञान को सम्यक् नय कहना उचित नहीं है?

समाधान—अनेकान्त का द्योतक स्याद्वाद होता है और स्याद्वाद की प्रतिपत्ति नय के बिना हो नहीं सकती, इसलिए नयज्ञान को सम्यग्ज्ञान के अंगरूप में स्वीकार किया गया है। नयचक्र में कहा भी है—

जम्हा ण णयेण विणा होई णरस्स सियवायपडिवत्ती।
तम्हा सो णायव्वो एयंतं हंतुकामेण॥१७४॥

यतः नय के बिना मनुष्य को स्याद्वाद की प्रतिपत्ति नहीं होती,

अत: जो एकान्त के आग्रह से मुक्त होना चाहता है, उसे नय जानने योग्य है ॥१७४॥

इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं —

जह सद्धाणं[१] आई सम्मत्तं जह तवाई गुणणिलए।
झेओ वा एयरसो[२] तह णयभूलं अणैयंतो ॥१७६॥

जिस प्रकार सम्यक्त्व में श्रद्धान की मुख्यता है, गुणों में तप की मुख्यता है और ध्यान में एकरस ध्येय की मुख्यता है, उसी प्रकार अनेकान्त की सिद्धि में नयज्ञान की मुख्यता है ॥१७६॥

शंका—अनेकान्त की सिद्धि प्रमाण सप्तभंगी के द्वारा हो जाती है। उसके लिए नयसप्तभंगी की आवश्यकता नहीं, अतः सम्यग्ज्ञान प्रमाणरूप ही रहा आवे, उसका एक भेद नय भी है, ऐसा क्यों स्वीकार किया गया है?

समाधान—प्रमाणसप्तभंगी मेंभी प्रत्येक भंग नयात्मक ही होता है। मात्र उसमें 'स्यात्' पद द्वारा अनुक्त धर्मों को स्वीकार कर लिया जाता है, इसीलिए आगम में नयज्ञान को भी सम्यग्ज्ञान के भेदरूप से स्वीकार किया गया है।

तात्पर्य यह है कि जितना भी वचन प्रयोग होता है, वह सब नयात्मक ही होता है। लोक में ऐसा एक भी वचन उपलब्ध नहीं होता जो धर्म विशेष के द्वारा वस्तु का प्रतिपादन या द्योतन न करता हो। उदाहरणार्थ 'द्रव्य' शब्द ही लीजिए, इसे हम 'जो अपने गुण-पर्यायवाला हो या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप हो' इस अर्थ में रूढ़ करके द्रव्य की व्याख्या करते हैं, परन्तु इसका यौगिक अर्थ 'जो द्रवता है, अर्थात् व्यापता है' वह 'द्रव्य' यही होता है। इसलिए जितना वचन व्यवहार है, वह तो नयरूप ही है। फिर भी हम प्रमाण सप्तभंगी के

१— सत्थाणं नयचक्र मु० वी०वि० सं० 2497।
२— धादुवाए रसो वही।

प्रत्येक भंग में कहीं पर 'स्यात्' शब्द द्वारा अभेदवृत्ति करके और कहीं पर उसी द्वारा अभेदोपचार करके सब भंगों के समूह को प्रमाण सप्तभंगी कहते हैं। उनमें से प्रथम भंग द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता से कहा जाता है। यतः प्रकृत में 'द्रव्य' पद सामान्यवाची है, अतः अपने गुण-पर्यायों को व्यापने के कारण प्रथम भंग में अभेद वृत्ति की मुख्यता रहती है। दूसरा भंग पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से कहा जाता है, क्योंकि पर्याय एक समयवर्ती धर्मविशेष है, जिसके द्वारा पूरे द्रव्य का ग्रहण नहीं होता, किन्तु यह एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् करने में समर्थ है, इसलिए इसमें विवक्षित द्रव्य के शेष बहुभाग का अभेदोपचार किया जाता है। इनके अतिरिक्त शेष भंग क्रम से और अक्रम से दोनों नयों की मुख्यता से कहे जाते हैं, इसलिए उनमें उसी विधि से अभेदवृत्ति और अभेदोपचार की मुख्यता रहती है। यद्यपि प्रत्येक भंग नयात्मक ही होता है, परन्तु यह वक्ता की विवक्षा पर निर्भर है कि कहाँ किस वचन का किस अभिप्राय से प्रयोग कर रहा है। एक ही वचन प्रमाण सप्तभंगी को विषय करनेवाला हो सकता है और नयसप्तभंगी को विषय करनेवाला भी हो सकता है। अतः तत्त्व और तीर्थ की स्थापना करने के लिए नयप्ररूपणा भी सम्यग्ज्ञान का अंग है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। यहाँ तत्त्व पद से वस्तु व्यवस्था ली गयी है और तीर्थ पद से मोक्षमार्ग लिया गया है।

शंका—बाह्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में जो एक द्रव्य की विवक्षित पर्याय को दूसरे द्रव्य की विवक्षित पर्याय का निमित्त कहकर तथा उसे असद्भूतव्यवहारनय का विषय बतलाकर उसकी भी जो सम्यक् नय में परिगणना की गयी है सो क्यों?

समाधान—इष्ट प्रयोजन की सिद्धि के अभिप्राय से सत्त्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य धर्मों के द्वारा दो द्रव्यों में बुद्धि द्वारा एकत्व स्थापित करके यह कहा जाता है कि इसको निमित्त कर यह कार्य हुआ। वस्तुतः कोई भी कार्य अन्य को निमित्त कर नहीं होता, परन्तु दो द्रव्यों की

उन पर्यायों में कालप्रत्यासत्ति होने से लोक में और आगम में प्रयोजनवश इस व्यवहार को स्वीकृति मिली हुई है, इसलिए ही ऐसे असद्भूत-व्यवहार को उपनयरूप से सम्यक् नयों में परिगणित किया गया है।

७. नयों के भेद

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि प्रत्येक द्रव्य न तो सामान्यात्मक ही होता है और न विशेषात्मक ही होता है। किन्तु वह अंश द्वारा दोनों को ग्रहण करनेवाला होता है, अतः इनके द्वारा वस्तु को ग्रहण करनेवाले नय भी दो प्रकार के हैं—द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। जो विकल्पज्ञान पर्याय को गौण करके द्रव्य के सामान्य धर्म द्वारा उसे जानता है, वह द्रव्यार्थिकनय है और जो विकल्प ज्ञान द्रव्य के सामान्य अंश को गौणकर उसके विशेष धर्म द्वारा उसे ग्रहण करता है, वह पर्यायार्थिकनय है।

इस प्रकार नैगमनय आदि सात नयों और उनके भेद-प्रभेदों के आधारभूत मुख्य नय दो ही हैं और उनके आधार से प्रवृत्त होनेवाला वचन व्यवहार भी दो ही प्रकार से प्रवृत्त होता है—द्रव्य के सामान्य अंश को मुख्य कर और विशेष अंश को गौणकर प्रवृत्त होनेवाला वचन व्यवहार तथा द्रव्य के विशेष अंश को मुख्य कर और सामान्य अंश को गौण कर प्रवृत्त होनेवाला वचन व्यवहार। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो नय मूल हैं, शेष नय उनके भेद-प्रभेद हैं, इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए नयचक्र में कहा भी है —

दो चेव य मूलणया भणिया दव्वत्थ-पज्जयत्थगया।
अण्णे असंखसंखा ते तब्भेया मुणेयव्वा॥१८३॥ पृष्ठ१०८

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो मूल नय कहे गये हैं। असंख्यात संख्या को लिए हुए अन्य जितने नय हैं, वे सब उन दोनों के भेद जानने चाहिए॥१८३॥

शंका—आगम में वचन व्यवहार की मुख्यता से पर्यायार्थिकनय

के भेद शब्दादिक तीन नय ही माने गये हैं, इसलिए जब द्रव्य के सामान्य अंश का प्रतिपादन करनेवाले किसी वचन व्यवहार की उपलब्धि ही नहीं होती, तब द्रव्य के सामान्य अंश को मुख्य कर और विशेष अंश को गौण कर वचन व्यवहार होता है, ऐसा क्यों कहा गया ?

समाधान— बात यह है कि शब्दादिक तीन नयों में एक अर्थ में लिंगादिक के भेद से जो वचन प्रयोग होता है या रौढ़िक और यौगिक अर्थ में जो वचन प्रयोग होता है, वह किस नय की अपेक्षा किस रूप में मान्य है मात्र इतना विचार किया जाता है। जबकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से जो वचन व्यवहार होता है, उसमें द्रव्य-सामान्य की विवक्षा से यह वचन प्रयोग किया गया है या पर्याय -विशेष की विवक्षा से यह वचन प्रयोग किया गया है, इसकी मुख्यता रहती है। जैसे अध्यात्म में आत्मा शब्द अनन्त धर्म-गर्भ सामान्य अर्थ की मुख्यता से कहकर यह कहा गया है—**'एगो मे सासदो आदा'** मेरा आत्मा एक और शाश्वत है। पर्यायदृष्टि को गौण कराना इसका प्रयोजन है, क्योंकि पर्यायार्थिकनय में समग्रवस्तु को मुख्यता से एक अंशरूप स्वीकार किया जाता है और द्रव्यार्थिकनय में सब धर्मों में व्याप्त व्यापक वस्तु स्वीकार की जाती है।

तात्पर्य यह है कि पर्याय की दृष्टि से किस अर्थ में किस प्रकार का प्रयोग करना उचित है, यह विचार शब्दादिक नयों में किया जाता है और यहाँ किस अपेक्षा से यह वचन बोला गया है, इसकी मुख्यता है, इसलिए दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है।

८. अध्यात्मनय

यह नयदृष्टि से विवक्षित वस्तु का निर्णय करने की पद्धति है, जिसे पदार्थ व्यवस्था के अंगरूप में आगम में स्वीकार किया गया है। कर्म-शास्त्र में मुख्यतया यही पद्धति अंगीकार की गयी है। (देखो कषायपाहुड संक्रम अनुयोगद्वार)। इसके सिवाय अध्यात्म आगम

में व्यवहृत होनेवाली एक नयपद्धति और है जो मोक्षमार्ग की प्ररूपणा में मुख्य है।

तात्पर्य यह है कि जहाँ पर शब्द व्यवहार की मुख्यता से या उसकी मुख्यता किये बिना उपचरित और अनुपचरित कथन को समान भाव से स्वीकार करके द्रव्य, गुण और पर्याय की दृष्टि से सब पदार्थों के भेदाभेद का विचार किया जाता है, वहाँ पर वैसा विचार करने के लिए नैगमादि नयों की पद्धति स्वीकार की गयी है। किन्तु जहाँ पर आत्मसिद्धि में प्रयोजनीय दृष्टि सम्पादित करने के लिए उपयोगिता और अनुपयोगिता की दृष्टि से विचार किया जाता है, वहाँ पर दूसरे प्रकार से नयदृष्टि स्वीकार की गयी है। प्रकृत में इस नयपद्धति की मीमांसा करना मुख्य प्रयोजन होने से इसकी अपेक्षा विचार किया जाता है। इसका उल्लेख करते हुए नयचक्र में लिखा है —

णिच्छय-ववहारणया भूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ पज्जय-दव्वत्थियं मुणह ॥१८३॥

पृष्ठ १०४

निश्चयनय और व्यवहारनय ये दोनों सब नयों के मूल भेद हैं। पर्यायार्थिकनय और द्रव्यार्थिकनय को निश्चय की सिद्धि का हेतु जानो ॥१८३॥

नयचक्र में सद्भूतव्यवहारनय और असद्भूतव्यवहारनय को निश्चयनय की सिद्धि का हेतु कहा गया है, सो इसका भी वही अर्थ है जो पूर्वोक्त गाथा में कहा गया है। इसी तथ्य का निर्देश करते हुए नयचक्र में यह गाथा उपलब्ध होती है —

णो ववहारेण विणा णिच्छयसिद्धी कया वि णिद्दिट्ठा।
साहणहेऊ जम्हा तस्स य सो भणिय ववहारो ॥२९६॥ पृष्ठ १४५

व्यवहार के बिना कदाचित् भी निश्चय की सिद्धि नहीं होती,

इसलिए जो निश्चय की सिद्धि का हेतु है, वह व्यवहार कहा गया है ॥२९६ ॥

यहाँ उक्त कथन द्वारा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकरूप नैगमादिक सात नयों और उनके भेद-प्रभेदों को व्यवहार कहकर उसे निश्चय की सिद्धि का हेतु कहा गया है, सो इसका यह तात्पर्य है कि जिसने नैगमादिनयों द्वारा आगम के अनुसार वस्तु का यथार्थ निर्णय कर लिया है, वही आत्म-स्वरूप के निर्णयपूर्वक उसे प्राप्त करने का अधिकारी होता है। इसलिए प्रकृत में निश्चयनय और व्यवहारनय का क्या अर्थ है इस पर आगम के अनुसार विचार किया जाता है—

९. निश्चयनय का स्वरूपनिरूपण

अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयते इति निश्चयः। अलापप०

अभेदरूप से और अनुपचाररूप से वस्तु का निश्चय करना निश्चयनय है।

'अभेदरूप से निश्चय करना' इसका अर्थ है कि गुण-पर्याय का भेद किये बिना वस्तु के स्वरूप को समझना। तथा 'अनुपचाररूप से निश्चय करना' इसका अर्थ है कि बाह्य-अभ्यन्तर उपाधिसे शून्य 'वस्तुस्वरूप को जानना।' इसे स्पष्ट करते हुए नयचक्र में यह वचन आया है—

गेह्वइ दव्वसहावं असुद्ध-सुद्धोवयारपरिचत्तं।
सो परमभावगाहौ णायव्वो सिद्धिकामेण॥१९८॥ *पृष्ठ १०९*

जो अशुद्ध, शुद्ध और उपचारस्वभाव से रहित परमभावरूप द्रव्य के स्वभाव को ग्रहण करता है। (ध्येयरूप से स्वीकरता है) सिद्धि के इच्छुक जीव द्वारा वह परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय जानने योग्य है॥१९८॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि नयचक्र के उक्त वचन द्वारा निश्चयनय के स्वरूप पर ही प्रकाश डाला गया है।

उक्त गाथा में आया हुआ 'सिद्धिकामेण' पद ध्यान देने योग्य है। इस पद द्वारा यह सूचित किया गया है कि जो पुरुष आत्मसिद्धि के इच्छुक हैं, उन्हें एकमात्र इस नय का विषय ही ध्येय बनाने योग्य है। किन्तु इस नय के विषय को ध्येय बनाना तभी सम्भव है, जब इस जीव की दृष्टि न तो सम्यग्यर्शनादिरूप शुद्धपर्याय पर रहती है, न रागादि, मनुष्यादि और मतिज्ञानादिरूप अशुद्ध अवस्था पर रहती है और न ही अतिरिक्त अन्य पदार्थों पर रहती है।

इस निश्चयनय के विषयभूत आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते हुए अनगारधर्मामृत में यह वचन आया है —

सर्वेऽपि शुद्ध-बुद्धैकस्वभावाश्चेतना इति।
शुद्धोऽशुद्धश्च रागाद्याा एवात्मेत्यस्ति निश्चयः॥१-१०३॥

सभी जीव शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाववाले हैं, यह शुद्ध निश्चयनय है तथा राग-द्वेष आदिरूप मानना अशुद्ध निश्चयनय है॥१-१०३॥

यहाँ जिसे अशुद्ध निश्चयनय का विषय कहा गया है, वह अध्यात्म में असद्भूतव्यवहारनय का विषय है, यह आगे स्पष्ट करेंगे, क्योंकि मोक्षमार्ग में ध्येय एकमात्र शुद्ध निश्चयनय का विषय ही होता है, इस तथ्य का निरूपण करते हुए आगे उसी में यह कथन उपलब्ध होता है—

अत्र तु शुद्धनिश्चये शुद्ध-बुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठतीति शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते। स च भावसवर इत्युच्यते॥ अध्याय १, ११०॥

संवर की अपेक्षा शुद्ध निश्चयनय में शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव अपना आत्मा ध्येय है, क्योंकि शुद्ध ध्येय होने से, शुद्ध का अवलम्बन होने से और शुद्ध आत्मस्वरूप होने से शुद्धोपयोग घटित होता है। भावसंवर इसी का नाम है।

सो इस कथन से भी त्रिकाली ज्ञायक आत्मा ही निश्चयनय का विषय है, यही सिद्ध होता है।

यहाँ यह संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि अनगार-धर्मामृत चरणानुयोग का ग्रन्थ है। तब भी उसमें भावसंवर में प्रयोजनीय निश्चयनय के विषय का निरूपण करते हुए शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव आत्मा को ही ध्येयरूप से स्वीकार किया गया है, जबकि वह शुभाचार को मुख्यता से मोक्षमार्ग कहकर उसका निरूपण करता है। उक्त वचन में शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव आत्मा ही ध्येयरूप से क्यों स्वीकार किया गया है, इसका प्रयोजन क्या है, यह भी स्पष्ट कर दिया गया है। बात यह है कि चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग दोनों ही परमागम शुभाचार को आस्रवतत्त्व में गर्भित करते हैं। और आस्रव, संवर की उत्पत्ति का यथार्थ कारण हो नहीं सकता। यही कारण है कि मोक्षमार्ग में शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव आत्मा ही ध्येय हो सकता है, अन्य नहीं।

शंका—जबकि चरणानुयोग भी शुभाचार को आस्रवतत्त्व में गर्मित करता है, तब वहाँ उसे मोक्षमार्ग क्यों कहा गया है, क्योंकि आस्रव सवंर-निर्जरा-मोक्ष विरोधी भाव हैं?

समाधान—प्राक्भूमिका में सहचर होने से ही उपचार से उसे मोक्षमार्ग कहा गया है। परमार्थ से देखा जाए तो मोक्षमार्ग एक ही है, दो नहीं।

१०. निश्चयनय के दो भेद और उनका कार्य

अब प्रश्न यह है कि शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव आत्मा को ध्येय बनाकर जो उसका चिन्तन करता है, उसे क्या भावसंवर की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रश्न का समाधान जहाँ उक्त वचन से हो जाता है, वहीं समयसार परमागम इस विषय पर क्या कहता है, इस पर विचार करने के पहले निश्चयनय के भेद और उनके कार्यों को स्पष्ट कर

देना आवश्यक प्रतीत होता है। नयचक्र में इसके भेदों का निरूपण इस प्रकार दृष्टिगोचर होता है —

सवियप्पं णिव्वियप्पं पमाणरूवं जिणेहि णिद्दिट्ठं।
तह विह णया वि भणिया सवियप्पा णिव्वियप्पा त्ति॥

जिनेन्द्रदेव ने सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से प्रमाण दो प्रकार का कहा है। उसी प्रकार सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से नय भी दो प्रकार के हैं।

जितने भी व्यवहारनय हैं, वे सविकल्प ही होते हैं। एकमात्र निश्चयनय ही सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से दो प्रकार का है।

शंका—जिस प्रकार निश्चयनय को दो प्रकार का कहा गया है, उसी प्रकार व्यवहारनय को भी सविकल्प और निर्विकल्प मानने में क्या आपित्त है?

समाधान—शंका महत्त्वपूर्ण है। समाधान यह है कि गुण-पर्यायों से द्रव्य में अभेद होने पर भेदकल्पना करना सद्भूतव्यवहारनय है। यही तथ्य द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग दोनों ही आगम स्वीकार करते हैं। समयसार, गाथा ७ की आत्मख्याति में इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार करता है —

धर्म-धर्मिणोः स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः।

धर्म और धर्मी में स्वभाव से अभेद होने पर भी संज्ञा से भेद उत्पन्न करके व्यवहारमात्र से ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है और चारित्र है, ऐसा उपदेश है।

'व्यपदेशतो' यह उपलक्षण वचन है। इससे लक्षण, प्रयोजन आदि का ग्रहण हो जाता है। इसी तथ्य को आप्तमीमांसा दर्शनशास्त्र इन शब्दों में स्वीकार करता है —

द्रव्य-पर्याययोरैक्यं　　तयोरव्यतिरेकतः।
परिणाामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः॥७१॥
संज्ञा-संख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा॥७२॥

द्रव्य और पर्याय में अभेद होने से उनमें ऐक्य है। किन्तु परिमाण के भेद से, शक्तिमान और शक्ति के भेद से, संज्ञा और संख्या के भेद से, स्वलक्षण के भेद से और प्रयोजन आदि के भेद से उनमें नानापन है, सर्वथा नहीं॥७१-७२॥

यहाँ यह कहा गया है कि जब हम गुण-पर्याय से द्रव्य को भिन्न कहते हैं, तब परिमाण, लक्षण आदि की मुख्यता से ही कहते हैं जो भेदकल्पना करने पर ही सम्भव है।

इसी तथ्य को चरणानुयोग शास्त्र इन शब्दों में व्यक्त करता है—

सद्भूतेतरभेदव्यवहारः स्याद् द्विधा भिदुपचारः।
गुणगुणिनोरभिदायामपि सद्भूतो विपर्यआदितरः॥१०४॥

अनगार, अध्याय १ अ०

सद्भूतव्यवहार और असद्भूतव्यवहार के भेद से व्यवहार दो प्रकार का है। गुण-गुणी में अभेद होने पर भी भेदोपचार सद्भूतव्यवहार है और दो द्रव्यों में सत्ताभेद होनेपर भी अभेदरूप उपचार असद्भूत -व्यवहार है।

यहाँ 'भिदुपचारः' पद का अर्थ भेदकल्पना किया गया है। असद्भूतव्यवहार में तो विकल्प की मुख्यता है ही। इससे मालूम पड़ता है कि ये दोनों नय एकमात्र विकल्प को आधार बनाकर ही कहे गये हैं, जो स्वात्मस्वरूप के भान में किसी भी प्रकार से उपयोगी नहीं है। इसी से आत्मा के निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होने में एकाग्ररूप से आत्मानुभूति मुख्यतया स्वीकार की गयी है।

इसी तथ्य को कलश काव्य में इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। यथा —

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्प-विकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०॥

जो परद्रव्य, परभाव तथा पर को निमित्त कर हुए विभाव भाव, इस प्रकार समस्त परभावों से भिन्न है, आपूर्ण है अर्थात् अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त कर अवस्थित है, आदि और अन्त से रहित है, एक है अर्थात् चिन्मात्र आकार के कारण क्रम और अक्रमरूप प्रवर्तमान समस्त व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता तथा जिसमें समस्त संकल्प और विकल्पों का समूह विलय को प्राप्त हो गया है, ऐसे आत्मस्वभाव को प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय उदित होता है ॥१०॥

शुद्धनय कहो चाहे निर्विकल्प निश्चयनय कहो, दोनों का एक ही अर्थ है। इसी तथ्य का समर्थन समयसार की इस गाथा से स्पष्टत: होता है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध-पुट्ठमणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥१४॥

जो अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्मा को अनुभवता है, उसे शुद्धनय जानो ॥१४॥

यहाँ कर्मोपाधि से भिन्न आत्मा की अनुभूति के अर्थ में अबद्धस्पृष्ट पद आया है, नर-नारकादि पर्यायों से भिन्न आत्मा की अनुभूति के अर्थ में अन्य पद आया है, मति-श्रुत आदि के षड्गुणहानि-वृद्धिरूप पर्यायों से भिन्न आत्मा की अनुभूति के अर्थ में नियत पद आया है, ज्ञान-दर्शनादि गुणों से भिन्न आत्मा की अनुभूति के अर्थ में अविशेष पद आया है और मोहभाव से संयुक्त अवस्था से भिन्न आत्मा की अनुभूति के अर्थ में असंयुक्त पद आया है। ऐसे आत्मा को अनुभवता ही शुद्धनय है, यह इसका तात्पर्य है। ऐसे आत्मा का विशदरूप से

कथन समयसार की ६वीं और ७वीं गाथा और उनकी आत्मख्याति टीका में प्रांजलपने से किया गया है, सो हम इसको पहले ही स्पष्ट कर आये हैं। इस विषय पर आगे और भी प्रकाश डालेंगे।

शंका—पुद्गलादि जितने अन्य द्रव्य हैं, वे भी अपने-अपने त्रिकाली स्वभावपने की अपेक्षा अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत अविशेष और असंयुक्त होते हैं, अत: ऐसी अनुभूति को आत्मानुभूतिमात्र कहना ठीक नहीं, यह सत्सामान्यपने की अपेक्षा सर्वानुभूति क्यों न मानी जाए?

समाधान—उक्त सूत्रगाथा में 'अप्पाणं' पद आया है। और आत्मा पद का अर्थ है ज्ञान-दर्शनस्वभाव वस्तु। इसलिए इस पद द्वारा अन्य पुद्गलादि अशेष वस्तुओं का वारण सुतरां हो जाता है, क्योंकि अबद्ध -स्पृष्ट अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ज्ञान-दर्शन स्वभाव वस्तु की अनुभूति को प्रकृत में स्वात्मानुभूतिरूप से स्वीकार किया गया है।

शंका—जब व्यवहारनय के विषय को अनुपादेय बतलाकर उस पर दृष्टि केन्द्रित न करने के लिए कहा जाता है, तब सविकल्प निश्चयनय के विषय को भी अनुपादेय क्यों नहीं कहा जाता, क्योंकि स्वभाव निमग्न होने के लिए विकल्पमात्र से परावृत होना आवश्यक है?

समाधान—स्वभाव निमग्न होने पर इस जीव के किसी प्रकार का भी विकल्प नहीं होता, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु सविकल्प निश्चयनय और व्यवहारनय में विषय की अपेक्षा स्वाश्रित और पराश्रितपने का भेद है। सविकल्प निश्चयनय जहाँ स्वाश्रित विकल्प है, वहाँ व्यवहारनय पराश्रित विकल्प है। इसलिए अध्यात्म में पराश्रित विकल्प को सर्वथा हेय बतलाकर उससे परावृत होने का उपदेश दिया गया है। अब रही स्वाश्रित विकल्प की बात, सो निर्विकल्प

निश्चयनयस्वरूप होने के पूर्व ऐसे विकल्प का होना अवश्यंभावी है, क्योंकि निरन्तर ऐसी भावना होने पर ही जीव निर्विकल्प होता है। अत: व्यवहारनय की तरह पराश्रित कहकर इसका निषेध नहीं किया गया है। फिर भी कोई ऐसे विकल्प को परमार्थ की प्राप्ति समझ ले तो उसका भी अध्यात्म में निषेध ही किया गया है। इस तथ्य को विशेषरूप से समझने के लिए पंचास्तिकाय गाथा १७२ की समय टीका पर दृष्टिपात कीजिए।

११. भूतार्थ और अभूतार्थ पदों का अर्थ

भूतार्थ और अभूतार्थ के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए समयसार परमागम में लिखा है—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

आगम में व्यवहारनय को अभूतार्थ और निश्चयनय को भूतार्थ कहा है। भूतार्थ का आश्रय (अनुभव) करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है ॥११॥

इस गाथा की आत्मख्याति टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं —

व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतते। शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वाद् भूतार्थं प्रद्योतते।

समस्त व्यवहारनय नियम से अभूतार्थ है, वह अभूत अर्थ को ही द्योतित करता है। तथा शुद्धनय एकमात्र भूतार्थ है, वह भूत अर्थ को ही द्योतित करता है।

आगे इसकी आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने भूतार्थ अभूतार्थ शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करते हुए जो कुछ लिपिबद्ध किया है, उसका भाव यह है कि जिस प्रकार कीचड़ से युक्त अवस्था में जल का सहज स्वरूप तिरोहित रहता है, इसलिए ऐसी अवस्था युक्त

जल को मात्र जल समझना अभूतार्थ है और निर्मली के निक्षेप द्वारा कीचड़ से पृथक् किया गया जल सहज जल होने से भूतार्थ है। उसी प्रकार कर्म संयुक्त अवस्था में जीव का सहज स्वरूप तिरोहित रहता है, इसलिए ऐसी अवस्थायुक्त जीव को मात्र जीव समझना अभूतार्थ है और शुद्ध दृष्टि के द्वारा कर्मसंयुक्त अवस्था से त्रिकाली ज्ञायक -स्वभाव आत्मा को पृथक् करके उसे ही आत्मा समझना (अनुभवना) भूतार्थ है। इस प्रकार भूतार्थ क्या है और अभूतार्थ क्या है, इसका स्पष्टीकरण करके जीव को अपने सहज कर्तव्य का बोध कराते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जो अपनी निर्विकार अवस्था को प्राप्त करने के मार्ग पर आरूढ़ हैं अर्थात् कर्मसंयुक्त अवस्था से भिन्न आत्मा का अनुभव करनेवाले सम्यग्दृष्टि हैं या उस मार्ग पर आरूढ़ हुए हैं, उन्हें कर्मसंयुक्त अवस्था को आत्मा कहनेवाले व्यवहारनय का अनुसरण करना योग्य नहीं है, क्योंकि जो कर्म-संयुक्त अवस्था को ही आत्मा समझकर उसका अनुसरण करते रहते हैं, वे कभी भी संसार का अन्त का परमार्थ प्राप्ति के मार्ग को उद्घाटित करने में समर्थ नहीं होते।

यहाँ यह प्रश्न है कि संसार की भूमिका में जीव कर्मसंयुक्त अवस्थावाला अभूतार्थ ही उपलब्ध होता है, ऐसी अवस्था में भूतार्थ की उपलब्धि न होने से उसका अनुसरण करना कैसे सम्भव है। यह एक मौलिक प्रश्न है, जिसका समाधान यद्यपि उक्त कथन से ही हो जाता है, पर उसका विशद विवेचन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने भगवान अरहन्तदेव की जिस वाणी को लिपिबद्ध किया है, उसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

ण वि होदि अपमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति शुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव॥६॥

जो ज्ञायकभाव है, वह न अप्रमत्त है और न प्रमत्त है। इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं और इस विधि से जो ज्ञात हुआ वह तो वही है॥६॥

आचार्यदेव कहते हैं कि प्रमत्त और अप्रमत्त ये दोनों कर्मसंयुक्त अवस्थाएँ हैं, इसलिए अभूतार्थ हैं। इन दोनों से भिन्न जो आत्मा को अनुभवता है, उसे शुद्ध कहते हैं। यहाँ अनुभव करनेवाला आत्मा और अनुभव का विषयभूत आत्मा ये दो हुए, ऐसे प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते है कि जो अनुभव करनेवाला है और जिसका अनुभव किया गया है, ये दो नहीं है, कर्ता-कर्म में अभेद होने से दोनों एक ही हैं।

यहाँ ज्ञान-दर्शन स्वभाववाला होने से ही आत्मा को ज्ञायक कहा गया है। और स्वभाव त्रिकाली होता है, इसलिए उसका यह स्वरूप फलित होता है कि जो स्वत:सिद्ध होने से अनादि-अनन्त हैं, निरन्तर उद्योतरूप है और विशदज्योति है, उसका नाम ज्ञायक है। विचार कर देखा जाए तो यहाँ ज्ञायकभाव स्पष्ट करने के लिए जितने विशेषण दिए गए हैं, वे सब सार्थक हैं। सर्व प्रथम उसे स्वत:सिद्ध होने से अनादि-अनन्त कहा है, सो किसी भी वस्तु का त्रिकाली स्वभाव किसी बाह्याभ्यन्तर उपाधि को निमित्त कर उत्पन्न नहीं होता, इसलिए तो वह स्वत:सिद्ध होने से अनादि-अनन्त कहा गया है। जब वह अनादि-अनन्त है, ऐसी अवस्था में कर्मसंयुक्तपने को निमित्त कर जो मलिनता आती है, ऐसी मलिनता भी सम्भव नहीं है, अत: उसे नित्य उद्योतरूप कहा गया है। यत: वह सब प्रकार की मलिनता से मुक्त है, अत: उसका विशदज्योति स्वरूप होना स्वाभाविक है। इस प्रकार जो अपने ज्ञायकस्वरूप आत्मा को अनुभवता है, उसने शुभाशुभभावरूप प्रमत्त और अप्रमत्त अवस्था से भिन्न आत्मा का अनुभव किया, यह सिद्ध होता है। इस प्रकार आत्मा पर अनादि काल से जो प्रमत्त और अप्रमत्तपने का व्यवहार होता आ रहा है, ऐसे अनुभव की दशा में वह उस व्यवहार से मुक्त हुआ। तथा आत्मा ने उक्त प्रकार से जो अपने को अनुभवा, सो वह अनुभव इन्द्रियादिक को निमित्त कर न उत्पन्न होने के कारण स्वाश्रित सिद्ध हुआ, इसलिए

ऐसे आत्मा पर न तो पराश्रितपने का ही व्यवहार लागू होता है और न ही अशुद्धपने का व्यवहार लागू होता है, अत: ऐसा आत्म उपचरित और अनुपचरित असद्‌भूतव्यवहार तथा उपचरित सद्‌भूतव्यवहार से मुक्त होने के कारण भूतार्थ है, यह सिद्ध होता है।

अब प्रश्न यह है कि गुणभेद आदि कल्पनारूप अनुभव को स्वभावानुभव मानने में तो आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि गुण भी स्वयं सिद्ध होने से अनादि-अनन्त हैं। आगे इसी का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं —

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥७॥

ज्ञानी के चारित्र है, दर्शन है और ज्ञान है, यह व्यवहार से कहा जाता है। किन्तु वह ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है। वह तो शुद्ध (भेदकल्पना निरपेक्ष) ज्ञायक ही है।

यहाँ पर भेदकल्पना की अपेक्षा ज्ञायक आत्मा को ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहने का निषेध किया गया है, क्योंकि वह अनन्त धर्मों में व्याप्त एक धर्मी है। आगम में विविध धर्मों द्वारा जो उक्त कथन किया गया है, सो वह आत्मतत्त्व के जिज्ञासुजनों की दृष्टि से ही किया गया है। वस्तुत: देखा जाए तो धर्म और धर्मी में स्वभाव से अभेद है, फिर भी भेदकल्पना द्वारा ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानी ज्ञान है, दर्शन है और चारित्र है। वस्तुत: वह अनन्त धर्मों को पिये हुए एक धर्मी है। अतएव ऐसा अनुभव करनेवाले के दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप से ज्ञायक आत्मा अनुभव में नहीं आकर भेदकल्पना निरपेक्ष ज्ञायक आत्मा ही अनुभव में आता है। इस प्रकार इस कथन द्वारा अनुपचरित सद्‌भूतव्यवहार क्यों अभूतार्थ है, यह सिद्ध किया गया है।

पण्डित प्रवर टोडरमलजी सा० भूतार्थ और अभूतार्थ के अर्थ की स्पष्ट करते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखते हैं —

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥५ ॥

इस ग्रन्थ में निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ वर्णन करते हैं। प्रायः भूतार्थ अर्थात् निश्चयनय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय है, वह समस्त ही संसारस्वरूप है ॥५ ॥

टीका—'इह निश्चयं भूतार्थं व्यवहारं अभूतार्थं वर्णयन्ति' आचार्यः इन दोनों नयों में निश्चयनय को भूतार्थ कहते हैं और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते हैं।

भावार्थ—भूतार्थ नाम सत्यार्थ का है। भूत जो पदार्थ में पाया जावे, और अर्थ अर्थात् 'भाव'। उनको जो प्रकाशित करे तथा अन्य किसी प्रकार की कल्पना न करे, उसे भूतार्थ कहते हैं। जिस प्रकार कि सत्यवादी सत्य ही कहता है, कल्पना करके कुछ भी नहीं कहता। वही यहाँ बताया जाता है। यद्यपि जीव और पुद्गल का अनादि काल से एक क्षेत्रावगाहसम्बन्ध है और दोनों मिले हुए जैसे दिखायी पड़ते हैं, तो भी निश्चयनय आत्मद्रव्य को शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न ही प्रकाशित करता है। वही भिन्नता मुक्तदशा में प्रकट होती है। इसलिए निश्चयनय सत्यार्थ है।

अभूतार्थ नाम असत्यार्थ का है। अभूत अर्थात् जो पदार्थ में न पाया जावे और अर्थ अर्थात् भाव। उनको जो अनेक प्रकार की कल्पना करके प्रकाशित करे, उसे अभूतार्थ कहते हैं। जैसे कोई असत्यवादी पुरुष जरा से भी कारण का बहाना छल पाकर अनेक कल्पना करके असदृश को भी सदृश कर दिखाता है। उसी को कहते हैं। जैसे यद्यपि जीव-पुद्गल की सत्ता भिन्न है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न है, तथापि एक क्षेत्रावगाहसम्बन्ध का छल (बहाना) पाकर 'आत्मद्रव्य को शरीरादिक परद्रव्य से एकत्वरूप कहता है।' मुक्त दशा में प्रकट भिन्नता होती है। तब व्यवहारनय स्वयं ही भिन्न-भिन्न प्रकाशित करने

को तैयार होता है। अत: व्यवहारनय असत्यार्थ है।'**प्राय: भूतार्थबोध-विमुख: सर्वोऽपि संसार:**' अतिशयपने सत्यार्थ जो निश्चयनय है, उसके परिज्ञान से विपरीत जो परिणाम (अभिप्राय) है, वह समस्त संसरास्वरूप ही है।

भावार्थ—इस आत्मा का परिणाम निश्चयनय के श्रद्धान से विमुख होकर, शरीरादिक परद्रव्यों के साथ एकत्व श्रद्धानरूप होकर प्रवर्तन करे, उसी का नाम संसार है। इससे जुदा संसार नाम का कोई पदार्थ नहीं है। इसीलिए जो जीव संसार से मुक्त होने के इच्छुक हैं, उन्हें शुद्धनय के सन्मुख रहना योग्य है। इसी को उदाहरण देकर समझाते हैं। जिस प्रकार बहुत पुरुष कीचड़ के संयोग से जिसको निर्मलता आच्छादित हो गयी है, ऐसे गँदले जल को ही पीते हैं। और कोई अपने हाथ से कतकफल (निर्मली) डालकर कीचड़ और जल को अलग-अलग करता है। वहाँ निर्मल जल का स्वभाव ऐसा प्रकट होता है, जिसमें अपना पुरुषाकार प्रतिभासित होता है, उसी निर्मल जल का वह आस्वादन करता है। उसी प्रकार बहुत से जीव कर्म के संयोग से जिसका ज्ञानस्वभाव ढँक गया है, ऐसे अशुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं। कुछ ज्ञानी जीव अपनी बुद्धि से शुद्ध निश्चयनय के स्वरूप को जानकर कर्म और आत्मा को भिन्न-भिन्न करते हैं, तब निर्मल आत्मा का स्वभाव ऐसा प्रकट होता है, जिससे अपने चैतन्य पुरुष का आकार स्वरूप प्रतिभासित हो जाता है। इस प्रकार वह निर्मल आत्मा का स्वानुभवरूप आस्वादन करते हैं। अत: शुद्धनय कतकफल समान है, उसी के श्रद्धान से सर्वसिद्धि होती है॥५॥

शंका—गाथा १३ में भूतार्थनय से जाने गये जीवादि नव पदार्थ सम्यग्दर्शन हैं, ऐसा कहा गया है और गाथा ६-७ में उन्हें अभूतार्थ कहकर सम्यग्दर्शन की प्रसिद्धि में जीवादि नौ पदार्थों के अनुभव का निषेध किया गया है सो क्यों?

समाधान— भूतार्थरूप से जीवादि नौ पदार्थों का जानना यही है कि इन नौ पदार्थों में व्याप्त एक ही जीवतत्त्व है और उसका जानना अर्थात् अनुभवना सम्यग्दर्शन है। आगम में जो इन्हें भूतार्थ कहा गया है, सो वह सद्भूत-असद्भूतव्यवहारनय से ही कहा गया है।

शंका— नव पदार्थों में अजीव पद से तो पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों का ग्रहण होता है। उनमें व्याप्त जीव पदार्थ को मानना कैसे सम्भव है?

समाधान— अज्ञानी जीव के परपदार्थों में एकत्वबुद्धि और इष्टानिष्ट बुद्धि देखी जाती है। अज्ञान और राग-द्वेष से तन्मय होने के कारण वह इन्हें अपना स्वरूप मानता आ रहा है। वह इनकी हानि में अपनी हानि और इनकी वृद्धि में अपनी वृद्धि मानता रहता है। विचारकर देखा जाए तो वास्तव में उसका यह भाव ही अजीव पदार्थ है और इसीलिए ही जीव-अजीव आदि नव पदार्थों में व्याप्त जीवतत्त्व कहा गया है।

शंका— यदि यह बात है तो अजीव पदार्थ में पुद्गलादिक का ग्रहण होता है या नहीं?

समाधान— ऐसी मान्यता में पुद्गलादि का ग्रहण तो सुतरां हो जाता है, क्योंकि उनको लक्ष्य कर ही ऐसे भाव होते हैं।

शंका— पुद्गलादिक द्रव्य लोक में सदाकाल अवस्थित रहते हैं इसलिये जीव के ये भाव सदाकाल होते रहते हैं, ऐसा मानने में क्या आपत्ति है?

समाधान— नहीं; उनका सद्भाव इन भावों के होने का मुख्य कारण नहीं है, क्योंकि जो अर्थहीन है, उसके भी अर्थसम्बन्धी लालसा देखी जाती है। मुख्यत: यह स्वयं जीव का अपराध है। इस अपराधवृत्ति के कारण ही वह ऐसे भाव करता है। हाँ, जिन पदार्थों

को लक्ष्यकर करता है, उनमें उन भावों के होने में निमित्त व्यवहार हो जाता है।

शंका—जीव की यह अपराधवृत्ति कब से देखी जाती है?

समाधान—अनादि काल से।

शंका—तब तो इस वृत्ति को जीव का स्वभाव मान लेना चाहिए?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो अनादि हो, वह वस्तु का स्वभाव होना ही चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। कारण कि स्वभाव अनादि-अनन्त होता है। अत: स्वत:सिद्ध उसे अपना अनुभव करने पर अपराधवृत्ति सुतरां टल जाती है। इसीलिए आगम में पराश्रितभाव को आगन्तुक भाव भी कहा गया है।

शंका—जो आगन्तुक होता है, वह कारणपूर्वक होने से अनादि नहीं हो सकता?

समाधान—बीज वृक्ष की सन्तान की तरह उसे अनादि स्वीकार किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो इसमें कारण की मुख्यता है और न ही काल की मुख्यता है। किसी ने ऐसा पहले प्रारम्भ किया हो, ऐसा नहीं है; इसलिए सन्तान की दृष्टि से अनादिता अकृत्रिम है। किन्तु प्रत्येक पर्याय की दृष्टि से वह सकारण कही जाती है। अनादि काल से स्वयं ऐसा ही बनाव बन रहा है। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हुए जयधवला, पुस्तक १, पृष्ठ ५५ में कहा भी है —

अकट्टिमत्तादो कम्मसंताणे ण वेच्छिज्जदि त्ति ण वोत्तुं जुत्तं, अकट्टिमस्स वि बीजंकुरसंताणस्सेव वोच्छेदुपलंभादे।

अकृत्रिम होने से कर्मसन्तान व्युच्छिन्न नहीं होती, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि अकृत्रिम होते हुए भी बीज और अंकुर की सन्तान का जैसे विच्छेद पाया जाता है, वैसे कर्म सन्तान अकृत्रिम होने पर भी उसका विच्छेद हो जाता है।

शंका—सविकल्प निश्चयनय में राग की चरितार्थता होने से उसे स्वाश्रित कहना ठीक नहीं है, अन्यथा सविकल्प दशा में भी सम्यग्दर्शन आदि की उत्पत्ति होने लगेगी ?

समाधान—सविकल्प निश्चयनय को जो स्वाश्रित कहा गया है, वह ध्येय की अपेक्षा ही कहा गया है, अन्यथा उसे निश्चयनय कहना नहीं बन सकता है। विकल्प की अपेक्षा विचार किया जाए तो वह राग से अनुरंजित उपयोग परिणाम ही है। देखो, प्रकृत में उपयोग क्षयोपशम भाव है, इसलिए यह उसकी स्वतन्त्रता है कि वह स्वतन्त्रपने से अपने विषय को जाने तथा अनुभवे, अन्यथा राग के बुद्धिपूर्वक राग और अबुद्धिपूर्वकराग, ये भेद नहीं बन सकते। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर जयधवला, पुस्तक १, पृष्ठ ५ पर एक गाथा द्वारा यह तथ्य स्पष्ट किया गया है —

ओदइया बंधयरा उपशम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु परिणामिओ करणोभयवज्जिओ होइ॥

औदयिकभावों से कर्मबन्ध होता है, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भावों से मोक्ष होता है तथा पारिणामिकभाव, बन्ध और मोक्ष इन दोनों के कारण नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि क्षयोपशमभाव स्वयं स्वाश्रित है। सविकल्प निश्चयनय में जो विकल्प अर्थात् राग है, वही पराश्रितभाव है।

शंका—यहाँ औदयिकभाव को बन्ध हेतु कहा है, सो क्या मनुष्य गति आदि भी औदयिक होने से बन्ध के हेतु हैं ?

समाधान—यह सामान्य वचन है। विशेष यह है कि दर्शमोहनीय और चारित्रमोहनीय के उदय में जो औदयिकभाव होता है, मात्र उसे ही बन्ध का हेतु माना गया है। धवला पुस्तक ६, पृष्ठ १२ में इसी तथ्य का समर्थन करते हुए लिखा भी है —

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
ण य णाणपरिणदो पुण जीवो कम्मं समासियदि ॥

जीव के मिथ्यात्व आदि परिणामों को निमित्त कर पुद्गल कर्मरूप से परिणत होते हैं। किन्तु ज्ञानभाव से परिणत हुआ जीव कर्मबन्ध को नहीं प्राप्त होता है।

यहाँ जीव परिणाम पद से मिथ्यात्व आदि प्रत्यय लिए गये हैं, यह इसी से स्पष्ट है कि कर्मबन्ध के कारणों में ज्ञानभाव को ग्रहण नहीं किया गया है। साथ ही इससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि औदयिक भावों में मात्र मिथ्यात्व आदि का ही ग्रहण हुआ है, मनुष्यगति आदि का नहीं।

समयसार परमागम में जो सम्यग्दृष्टि को अबन्धक कहा गया है, सो वह ज्ञानधारा की मुख्यता से ही कहा गया है। उसके कर्मधारा गौण है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव सविकल्प अवस्था में भी रागादि भावों को आत्मरूप से 'स्व' नहीं मानता। रागादिभाव शरीर के ज्वर आदि के समान रोग है, जिससे ज्ञानधारारूप परिणत होकर वह मुक्त होने के उपाय में निरन्तर प्रत्यनशील रहता है।

१२. निश्चयनय का विषय

यद्यपि अभी तक हम जो कुछ भी लिख आये हैं, उससे निश्चयनय के विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। फिर भी पञ्चाध्यायीकार की दृष्टि को सामने रखकर उस पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। वहाँ निश्चयनय के विषय का निर्देश करते हुए लिखा है —

व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः।
व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात् ॥१-५९८॥

व्यवहारः यथा स्यात् सद् द्रव्य, ज्ञानवांश्च जीवो वा।
नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः ॥१-५९९॥

सद्भूत और असद्भूत जितना भी व्यवहार है, वह प्रतिषेध्य है अर्थात् निश्चयनय परिणत आत्मा के अनुभव में उसका स्वयं निषेध हो जाता है अथवा ध्येय की दृष्टि से भी वह प्रतिषेध्य है—व्यवहारनय का विषय ध्येयरूप से स्वीकार करने योग्य नहीं है, अत: निश्चयनय स्वरूप से उसका प्रतिषेध करनेवाला है। इसलिए व्यवहारनय का प्रतिषेधरूप जो भी पदार्थ है, वही निश्चयनय का वाच्य है ॥१-५९८॥ जैसे यह कहना कि 'द्रव्य सत् है या जीव ज्ञानवान है' यह व्यवहारनय है और इसका प्रतिषेध करनेवाला 'न' यह निश्चयनय है। यह सब नयों का राजा है ॥१-५९९॥

यहाँ व्यवहारनय का जितना भी वाच्य (विषय) है, वह निश्चयनय का वाच्य नहीं है, मात्र इसलिए निश्चयनय का वाच्य 'न' कहा गया है तथा इन दोनों नयों में जो प्रतिषेध्य और प्रतिषेधकपना स्वीकार किया गया है, उसका भी कारण यही है। इसका अर्थ यह नहीं कि निश्चयनयस्वरूप अनुभूति की दशा में 'मैं व्यवहारनय स्वरूप नहीं हूँ' ऐसा अनुभव होता है, क्योंकि आत्मा का अनुभव तो विधिरूप से ही होता है, परन्तु वह अनुभव व्यवहारनयस्वरूप नहीं है तथा आत्मा परमार्थ से व्यवहारनयस्वरूप नहीं है, ऐसे निर्णयपूर्वक विधिरूप से ही आत्मा अनुभूत होता है। यही कारण है कि श्री समयसार में विधिरूप से आत्मा का ख्यापन करने के लिए सर्वत्र व्यवहारनय को प्रतिषेध्य बतलाया गया है। इसके लिए मुख्यरूप से गाथा १४-१५ द्रष्टव्य है। इसी तथ्य को नयचक्र में '**गेण्हइ दव्वसहावं**' इस गाथा द्वारा स्पष्ट किया गया है। इसका विशेष स्पष्टीकरण इसी अध्याय में हम पहले कर ही आये है।

बात यह है कि संसार और मुक्ति ये परस्पर विरुद्ध भाव है। संसाररूप आत्मा को अनुभवने पर जीव मुक्त नहीं हो सकता और मुक्ति आदि व्यावहारिक पदों से अत्यन्त भिन्न आत्मा के अनुभवने पर संसार का अन्त हुए बिना रहता नहीं। दूसरी बात यह है कि जितना

भी व्यवहारनय है, वह सब विकल्परूप है। वस्तुतः न तो वस्तु में किसी भी प्रकार के उपचरित धर्म का अस्तित्व है और न ही गुणादि की अपेक्षा वह खण्ड खण्डरूप ही है। कार्यादिक की दृष्टि से या वस्तुस्वरूप को समझने की दृष्टि से विकल्परूप ऐसा व्यवहार होता है और इसीलिए आगम में व्यवहारनय की स्वीकृति है। जब मोक्ष को प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील जीव अपने त्रिकाली स्वभाव को अनुभवता हुआ निर्विकल्प होता है, तब उक्त प्रकार के विकल्पों का अभाव होकर आत्मा का एकरस अनुभव होता है, जो व्यवहार (विकल्प) के निषेधरूप होने से प्रकृत में निश्चय को प्रतिषेधक और व्यवहार को प्रतिषेध्य कहा गया है।

जब हम निश्चयनय से विधि को मुख्य कर आत्मा के स्वरूप का विचार करते हैं तो वह हमें स्वरूप से ज्ञायक प्रतीति में आता है। आत्मा स्वभाव से जाननेवाला है, यह अनुजीवी धर्म है, यह इसका तात्पर्य है। ज्ञान के कारण वह जाननेवाला है, ऐसा विकल्प या कहना व्यवहार है, क्योंकि ऐसा मानने पर ज्ञान के कारण आत्मा की प्रसिद्धि माननी पड़ती है, स्वरूप से नहीं। धर्मी क्या है, ऐसी जब जिज्ञासा की जाए, तब अनन्त धर्मों से भिन्न उसके स्वतन्त्र स्वरूप को स्वीकार करना ही पड़ता है, क्योंकि धर्मी के आत्मभूत लक्षण से धर्म का आत्मभूत लक्षण अत्यन्त भिन्न है। धर्मी सब धर्मों में व्यापक है, जबकि यदि सहभावी धर्म भी हो तो वह सब धर्मों में व्यापक नहीं है, अन्य धर्म उससे भिन्न हैं। व्यतिरेकी धर्मों की तो बात ही अलग है। और इसी आधार पर धर्म और धर्मी में कथंचित् भेद स्वीकार किया गया है। आप्तमीमांसा में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा भी है—

धर्म-धर्म्यविनाभावः सिद्ध्यत्यन्योन्यविक्षया।
न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारक-ज्ञापकांगयोः ॥७५॥

धर्म और धर्मी का अविनाभाव (एक के बिना दूसरे का नहीं पाया जाना) परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होता है, उनका स्वरूप नहीं।

निश्चय से वह तो कारक के अंग कर्ता और कर्म तथा ज्ञापक के अंग बोध्य और बोधक के समान स्वत:सिद्ध है।

इस आगम प्रमाण से हम जानते हैं कि जैसे कर्ता का स्वरूप स्वत:सिद्ध है और कर्म का स्वरूप स्वत:सिद्ध है। यदि परस्पर की अपेक्षा से इनका स्वरूप माना जाता है, तो दोनों का अभाव प्राप्त होता है। अथवा जैसे बोधक (प्रमाण) का स्वरूप स्वत:सिद्ध है और बोध्य (प्रमेय) का स्वरूप स्वत:सिद्ध है। यदि परस्पर की अपेक्षा से इनका स्वरूप माना जाता है तो दोनों का अभाव प्राप्त होता है। उसी प्रकार धर्म और धर्मी के विषय में भी जानना चाहिए। यही कारण है कि आगम में विधिरूप से आत्मा का ख्यापन करते हुए वह स्वरूप से ज्ञायक स्वीकार किया गया है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अपेक्षापूर्वक कथन करना, वह व्यवहार है। इसलिए ऐसे कथन में या अपेक्षा पूर्वक जानने में मात्र व्यवहार को स्वीकार किया गया है। वस्तु तो स्वरूप से स्वयं और निरपेक्ष ही होती है।

इस प्रकार प्रकृत में विधिरूप से निश्चयनय के विषय को स्वीकार करने पर वह ज्ञायक आत्मा ही प्रतीति में आता है और निषेधरूप से उसके विषय का विचार करने पर वह पराश्रित विकल्परूप व्यवहार के निषेधरूप से प्रतीति में आता है, यह सिद्ध हुआ। विचार कर देखा जाए तो ध्येय की अपेक्षा स्वाश्रित विकल्प भी अनुभव की दशा में निषिद्ध हो जाता है।

इसको और अधिक स्पष्ट करके देखा जाए तो पराश्रित विकल्प का तो बुद्धिपूर्वक निषेध किया जाता है। निषेध किया जाता है, इसका यह अर्थ है कि मैं ये नहीं हूँ, ऐसा बुद्धिपूर्वक स्वीकार किया जाता है। परन्तु जैसे-जैसे आत्मा अनुभव के सन्मुख होकर स्वयं अनुभूतिरूप से परिणत होता है, वैसे-वैसे उसका विवक्षित

ध्येयाश्रित विकल्प स्वयं मन्द-मन्द होता हुआ अनुभूति की दशा में स्वयं छूट जाता है।

१३. उपचार पद का अर्थ

आत्मख्याति टीका में उपचार पद का अर्थ करते हुए लिखा है—

यत्तु व्याप्य-व्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वत्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणमथत्युत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः।

और जो व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने पर भी प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य पुद्गलद्रव्यरूप कर्म को आत्मा ग्रहण करता है, परिणमाता है, उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है, इस प्रकार जो विकल्प होता है, वह उपचारस्वरूप है।

इस गाथा में व्यवहार का वक्तव्य बतलाया और आत्मख्याति टीका में उक्त प्रकार के विकल्प को उपचार कहा है। तथा आगे की गाथा की आत्मख्याति टीका में भी जीव दूसरे द्रव्य के दोष-गुण का उत्पादक है, ऐसा जो भी व्यवहार होता है, उसे विकल्प कहकर उपचार कहा गया है।

इससे मालूम पड़ता है कि उक्त प्रकार के विकल्प का नाम ही व्यवहार या उपचार है। इतना अवश्य है कि यह उपचार निराधार न किया जाकर किसी प्रकार के निमित्त और प्रयोजन के होने पर ही किया जाता है, यह भी इससे ज्ञात होता है कि इसीलिए आगम में उपचार की प्रवृत्ति किस स्थिति में होती है। इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते।

मुख्य का अभाव होने पर अर्थात् मुख्य की विवक्षा न होने पर तथा किसी भी निमित्त और प्रयोजन के होने पर उपचार (इसने इसको किया या इससे यह हुआ इत्यादि विकल्प) प्रवृत्त होता है।

इसीलिए आगम में असद्भूतव्यवहार का यह लक्षण दृष्टिगोचर होता है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूत व्यवहारः। स किल उपचारः।

कोई धर्म अन्य वस्तु में प्रसिद्ध हो, उसे अन्य वस्तु में आरोपित करना, यह असद्भूतव्यवहार है और इसी का नाम उपचार है।

अब विचार कीजिए कि एक वस्तु के धर्म को अन्य वस्तु में कैसे आरोपित किया जाएगा। वह या तो विकल्प द्वारा सम्भव है या विकल्प -पूर्वक वचन द्वारा सम्भव है। इससे सिद्ध हुआ कि वह विकल्प या उक्त प्रकार वचन ही तो उपचाररूप होगा। यह उस विकल्प या वचन की विशेषता है, जिससे हम उसे उपचाररूप स्वीकार करते हैं। जैसे जब हम किसी के कारण-धर्म का अविनाभाव सम्बन्धवश अन्य वस्तु में आरोप करते हैं तो वह कारण की अपेक्षा विकल्प के द्वारा आरोपित कारण कहलाता है और विकल्प द्वारा जिसका वह आरोपित कारण स्वीकार किया जाता है, उसका वह आरोपित कार्य कहलाता है। इसीलिए व्यवहारहेतु को आगम में अपरमार्थभूत स्वीकार किया गया है। यहाँ वन्ध्यापुत्र का उदाहरण लागू इसलिए नहीं होता है, कारण कि वन्ध्या तो है, पर उसका पुत्र नहीं है। जबकि आरोपित कार्य-कारणभाव में दो पदार्थ स्वतन्त्र हैं। किन्तु जिस मुख्य कारण का वह कार्य है, उसे गौणकर दिया गया है और जिसका वह कार्य नहीं है, उसका उसे कार्य कहा गया है।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार या उपचार का अर्थ ही विवक्षित विकल्प है और इस आधार पर जो कार्य-कारण कहा जाता है, वह व्यावहारिक, उपचरित और कल्पित कार्य-कारण कहलाता है।

शंका—स्थापना निक्षेप में भी विकल्प की मुख्यता और द्रव्य

निक्षेप में तथा उसके भेद कर्म-नोकर्म में भी विकल्प की मुख्यता है। फिर इन्हें अलग-अलग परिगणित क्यों किया गया है?

समाधान—स्थापना निक्षेप में अविनाभाव और कालप्रत्यासत्ति की मुख्यता नहीं है, जबकि द्रव्यनिक्षेप के भेद कर्म और नोकर्म में अविनाभाव के साथ कालप्रत्यासत्ति की मुख्यता है। देखो, कोई व्यक्ति या पदार्थ सामने हो तो मात्र उसी समय उसकी किसी अन्य वस्तु में कल्पना द्वारा स्थापना नहीं की जाएगी। किन्तु कार्य-कारण में विवक्षित वस्तु अपना कार्य कर रही है, फिर भी उसे गौणकर कालप्रत्यासत्तिवश वह कार्य अन्य का कहा जाता है या उससे उत्पन्न हुआ कहा जाता है। इस प्रकार इन दोनों में महान भेद है।

शंका—प्रतिकृति तैयार करते समय कभी-कभी वह व्यक्ति या वस्तु सामने होती है या बुद्धिपूर्वक उसे सामने रखकर उसकी प्रतिकृति बनायी जाती है?

समाधान—उस समय वह व्यक्ति या वस्तु उस प्रतिकृतिरूप कार्य का निमित्त है, इसलिए वहाँ द्रव्यनिक्षेप की मुख्यता है, स्थापना-निक्षेप की नहीं। इतना अवश्य है कि नाम, स्थापना और द्रव्यनिक्षेप ये तीनों विकल्प प्रधान होने से व्यवहार का विषय है। इसी दृष्टि से आगम में इन्हें द्रव्यार्थिकनय में परिगणित किया गया है। इसी प्रकार भेदव्यवहार में भी विकल्प की मुख्यता होने से वह भी व्यवहारनय में परिगणित किया गया है।

अध्यात्म में भेदव्यवहार को जो स्थान मिला हुआ है, वह इसीलिए नहीं कि भेदव्यवहार के विषय को लक्ष्य में लेने से स्वाभावभूत आत्मा की प्राप्ति होती है, बल्कि इसलिए कि चाहे असद्भूतव्यवहारनय हो या सद्भूतव्यवहारनय हो, दोनों ही परमार्थ की प्रात्ति में उपेक्षणीय हैं, क्योंकि उनके विषय को लक्ष्य में लेने पर विकल्प की चरितार्थता बनी रहती है। इसलिए ये दोनों प्रकार के ही व्यवहार कर्मबन्ध के

हेतु माने गये हैं। यदि यह कहें कि वे कर्मबन्धस्वरूप हैं तो भी कोई अत्युक्ति नहीं है। इस प्रकार उपचार पद से क्या अर्थ ग्रहण किया गया है, इसका स्पष्टीकरण किया।

१४. व्यवहारनय का विवेचन

इस प्रकार विवक्षित विकल्प, उपचार और व्यवहार ये तीनों एकार्थक होने से प्रकृत में आगम में व्यवहारनय के जो भेद दृष्टिगोचर होते हैं, उनकी यहाँ सांगोपांग मीमांसा कर लेना चाहते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि चाहे मोक्षफलरूप कार्य हो या लौकिक कोई अन्य कार्य हो, वह परमार्थ से जैसे स्वयं एक है, वैसे ही उसका परमार्थ हेतु भी स्वयं एक ही होता है, क्योंकि वह कार्य एक वस्तु का परिणाम है। और प्रत्येक वस्तु परिणामस्वभावी होने से वह प्रति समय अपने उपस्थित परिणाम के व्यय के साथ दूसरे परिणामरूप स्वयं परिणमती है और इस प्रकार उसका यह क्रम अनादि काल से अनन्त काल तक प्रवर्तित रहता है। ऐसा होने पर भी लोक में और आगम में जो बाह्य कारणों की स्वीकृति है, वह इसलिए नहीं कि प्रति समय कार्यरूप परिणमते समय वह वस्तु अपने से भिन्न अन्य वस्तु की सहायता लेती है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वरूप से स्वसहाय होती है। जैसे वह अपने अस्तित्व के लिए स्वसहाय है, वैसे ही वह अपने परिणाम के लिए भी स्वसहाय है, क्योंकि अस्तित्व का अर्थ ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप से वस्तु का सदाकाल बना रहना है। जहाँ प्रत्येक वस्तु ध्रौव्यरूप से अस्तिस्वरूप है, वहाँ वह उत्पाद-व्ययरूप से भी अस्तिस्वरूप है। और यह हो नहीं सकता कि उसका ध्रौव्यरूप अस्तित्व तो स्वसहाय हो और उत्पाद-व्ययरूप अस्तित्व पराश्रित हो, क्योंकि इन तीनों में कथंचित् अव्यतिरेक है, इनमें जो भेद माना जाता है वह संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन आदि की अपेक्षा ही भेद माना जाता है। यदि ऐसा न स्वीकार किया जाए तो प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता।

यह वस्तुस्थिति है। इसके ऐसा होते हुए भी लोक में और आगम में प्रत्येक कार्य के होते समय जो बाह्य वस्तु में कारणता स्वीकार की गयी है, वह विवक्षित कार्य की प्रसिद्धि का हेतु होने मात्र से ही स्वीकार की गयी है, उस कार्य का जनक होने से या उसकी उत्पत्ति में सहायक, उपकारक आदि होने से नहीं। यह मात्र व्यवहार है जो अन्वय-व्यतिरेक या कालप्रत्यासत्तिवश विकल्परूप से प्रवृत्त होता है। इतना ही नहीं, ऐसा व्यवहार मात्र संयोग होने से या विकल्पवश भी प्रवृत्त होता हुआ देखा जाता है।

यह तो स्पष्ट है कि परमार्थ से स्वाश्रितपने का भान होने पर उसके पूर्ण स्वाश्रित होने के लिए यह व्यवहार अनुपादेय होने से त्यागनेयोग्य ही है। अन्यथा उसे स्वाश्रितपने का भान ही नहीं हुआ, यह कहा जाएगा। इसीलिए अध्यात्मवृत्त जीव 'मैं ऐसे कल्पित व्यवहार के परवश अनादि काल से क्यों बना चला आया' इसके मूल कारण को जानकर उसमें हेयबुद्धि स्वीकारता है और जो स्वाश्रित होने का साक्षात् उपाय है, उसमें उपादेयबुद्धि करके उसरूप होने के प्रयत्न में जागरूक रहता है।

यहाँ पर हमने 'साक्षात्' शब्द का प्रयोग किया है, सो इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जो सर्वथा हेय है, वह परम्परा से स्वाश्रित होने का उपाय है। किन्तु जो स्वाश्रित होने का उपाय है, वह एक ही है, उसके साथ दूसरा अन्य किसी भी प्रकार का उपाय नहीं, यह दिखलाने के लिए प्रकृत में उपाय पद के पूर्व साक्षात् पद का प्रयोग किया है।

तत्त्वार्थसूत्र में '**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः**' यह सूत्र आया है। इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ ६४ में लिखा है—

निश्चयनयात्तूभयावधारणमपीष्टमेव, अनन्तरसमयनिर्वाणजनन

-समर्थानामेव सद्दर्शनादीनां मोक्षमार्गत्वोपपत्तेः परेषामनुकूलमार्ग-ताव्यावस्थानात्। एतेन मोक्षस्यैव मार्गो मोक्षस्य मार्ग एवेत्युभया-वधारसमपीष्टमेव प्रत्यायनीयम्।

निश्चयनय की अपेक्षा तो दोनों ओर से अवधारण करना इष्ट ही है, अभ्यभिहित अनन्तर उत्तर समय में निर्वाण के उत्पन्न करने में समर्थ सम्यग्दर्शनादि में मोक्षमार्गपना बनता है तथा इनसे भिन्न जो पूर्व समीपवर्ती सम्यग्दर्शनादिक है, उनमें अनुकूल मोक्षमार्गपने की व्यवस्था हो जाती है। इससे सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शनादिक मोक्ष का ही मार्ग है या सम्यग्दर्शनादिक मोक्ष का मार्ग ही है, इस प्रकार दोनों ओर से एव पद द्वारा अवधारण करना इष्ट ही है, ऐसा निश्चय करना चाहिए।

इसी तथ्य का निर्देश करते हुए प्रवचनसार गाथा ८२ की तत्त्व-दीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने जो कुछ कहा है—उसका भाव यह है कि अतीत काल में जितने तीर्थंकर हुए, उन्होंने कर्मनाश का अन्य कोई उपाय नहीं होने से एकमात्र इसी निश्चयनयस्वरूप मोक्षमार्ग के द्वारा कर्मनाश कर परमात्मदशा प्राप्त की और अन्य जीवों को भी उसी मार्ग का उपदेश दिया। इसलिए मोक्ष प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है, यह निश्चित होता है।

इतने वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसे हम व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं, वह वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है। सहचर मात्र सम्बन्धवश उसमें निमित्तता का व्यवहार करके उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है, वस्तुतः वह मोक्षमार्ग नहीं है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए पण्डितप्रवर टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ में लिखते हैं—

अन्तरंग में तो आपने निर्धार करके यथावत् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग को पहिचाना नहीं, जिन-आज्ञा मानकर, निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग दो प्रकार मानते हैं। सो मोक्षमार्ग दो नहीं हैं,

मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जाए, सो निश्चयमोक्षमार्ग है और जहाँ मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाए, सो व्यवहारमोक्षमार्ग है, क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण हो, सो निश्चय; उपचार निरूपण, सो व्यवहार; इसलिए निरूपण अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग —इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। तथा निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानता है, वह भी भ्रम है, क्योंकि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोधसहित है। कारण कि समयसार में ऐसा कहा है—

ववहारोऽभूदात्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।

अर्थ—व्यवहार अभूतार्थ है, सत्यस्वरूप का निरूपण नहीं करता, किसी अपेक्षा उपचार से अन्यथा निरूपण करता है तथा शुद्धनय जो निश्चयनय है, वह भूतार्थ है, जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा निरूपण करता है। इस प्रकार इन दोनों का स्वरूप तो विरुद्धता सहित है।

[पृष्ठ २४८-२४९]

इस प्रकार पराश्रित विकल्प का नाम व्यवहारनय है या उपचारनय है। यह सिद्ध होने पर आगे नयचक्र व आलाप-पद्धति आदि में अनेक प्रकार से जो नयों की प्ररूपणा दृष्टिगोचर होती है, उसे ध्यान में रखकर हम देखेंगे कि अध्यात्म में किस नय पद्धति से तत्त्वप्ररूपणा दृष्टिगोचर होती है और चरणानुयोग में किस नय पद्धति को अंगीकारकर आचारादि की प्ररूपणा की गयी है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि नय, निक्षेप और प्रमाण के स्वरूप और उनके भेदों का कथन द्रव्यानुयोग का विषय है। पर उनमें से किस नय से किस अनुयोग में किस विषय की प्ररूपणा की गयी है, यह दिखलाने के लिए उस अनुयोग में भी उन नयों का निर्देश किया जाता

है, यह पद्धति पुरानी है। षट्खण्डागम और कषायप्राभृत में इस पद्धति के स्थल-स्थल पर दर्शन होते हैं। उसी सरणि का अनुसरणकर अनगारधर्मामृत में भी उसमें वर्णित विषय को नयपद्धति से समझने के लिए कतिपय नयों का दिग्दर्शन कराया गया है। तदनुसार वहाँ शुद्ध निश्चयनय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है —

सर्वेऽपि शुद्ध-बुद्धैकस्वभावाश्चेतना इति

सभी जीव शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाववाले हैं, इस प्रकार निश्चय करना शुद्ध निश्चयनय है।

यहाँ 'शुद्ध-बुद्धैकस्वभावा' पद का अर्थ करते हुए लिखा है—

शुद्ध-बुद्धैकस्वभावाः शुद्धो रागादिरहितो बुद्धो ज्ञानपरिणतः एकः केवलः स्वभावो येषां ते।

शुद्ध पद का अर्थ है कि निश्चय से सभी जीव रागादिरहित हैं और बुद्ध पद का अर्थ है कि सभी जीव ज्ञानपरिणत हैं। निश्चय से देखा जाए तो उनका एकमात्र यही स्वभाव है, यह एक स्वभाव पद देकर स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अध्यात्म में निश्चयनय का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, दूसरे शब्दों में उसे ही यहाँ स्वीकार किया गया है। विचार कर देखा जाए तो सभी अनुयोगों की रचना का मुख्य प्रयोजन वीतरागता ही है। शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव आत्मा की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब यह आत्मा अपने त्रिकाली स्वभाव के सन्मुख हो, उसमें तन्मय होता है। इससे हम जानते हैं कि ज्ञानी के बाह्य में जो मन-वचन-काय की प्रवृत्ति देखी जाती है, वह स्वर्गादिक की कामना या ऐहिक सुख की कामना से नहीं होती है। बाह्य प्रवृत्ति के मूल में राग की मुख्यता है, इसलिए उसको निमित्तकर पुण्यबन्ध और उसके फलस्वरूप स्वर्गादिक की प्राप्ति होने पर भी वह उसकी

अभिलाषा से सर्वथा मुक्त रहता है। और इसीलिए आगम में सम्यग्दृष्टि के लक्षण में उसे निदान से मुक्त स्वीकार किया गया है।

यद्यपि चरणानुयोग में व्रतों के अन्य दो शल्यों के समान उसे निदान शल्य से रहित ही बतलाया गया है। सम्यग्दृष्टि के विषय में वहाँ कुछ भी नहीं कहा गया है। परन्तु वह विवक्षा विशेष के कारण ही ऐसा कहा गया समझना चाहिए। बात यह है कि चरणानुयोग मुख्यतया ज्ञानी गृहस्थों और मुनियों की बाह्य प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर ही लिपिबद्ध हुआ है, इसलिए उसमें व्रतों की मुख्यता से निदान करने का निषेध किया गया है। वस्तुतः जो सम्यग्दृष्टि होता है, उसके पर वस्तु के ग्रहण-त्याग में सहज ही उदासीनता बर्तती रहती है, ज्ञानधारा का ऐसा ही कुछ माहात्म्य है, जिससे वह ऐसी वासना से सहज ही मुक्त रहता है। इसलिए जो सम्यग्दृष्टि है, वह न तो ऐहिक कामना से देवभक्ति आदि कार्य में प्रवृत्त होता है और न ही परलोक में मुझे स्वर्गादि की प्राप्ति होओ, ऐसी कामना के साथ देवभक्ति, तीर्थ वन्दना, दान आदि कार्यों में प्रवृत्त होता है।

इस प्रकार चरणानुयोग में विवक्षित प्रयोजन से जो प्रतिपादनशैली स्वीकार की गयी है, उसे लक्ष्य में रखकर मुख्यतया औदायिक आदि भावों को भी आत्मा का स्वीकार कर प्ररूपणा भी गयी है। आगे अशुद्ध निश्चय के स्वरूप का निर्देश करते हुए वहाँ लिखा है —

शुद्धोऽशुद्धश्च रागाद्या एव आत्मेत्यस्ति निश्चयः ॥१०३॥

रागादिक ही आत्मा है, यह अशुद्ध निश्चयनय है।

इस श्लोक के उत्तरार्ध की टीका इस प्रकार है —

तथाऽशुद्धनिश्चयोऽस्ति। कथम्। इति किमिति? भवति, कोऽसौ? आत्मा। के? रागद्या एव—रागद्वेषादिपरिणात्मक इत्यर्थः।

राग-द्वेषादि परिणामवाला आत्मा है, बुद्धि में ऐसा स्वीकारना अशुद्ध निश्चयनय है।

यहाँ निश्चयनय के शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय, ऐसे दो भेद दिखलाने का कारण यह है कि साध्य की दृष्टि से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव आत्मा को स्वीकार करके भी प्रयोजन विशेष से आत्मा को रागादिरूप स्वीकार किया गया है। अब आगे इस दृष्टि से व्यवहारनय के भेदों को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए वहाँ बतलाया है—

सद्भूतेतरभेदद्व्यवहारः स्याद् द्विधा भिदुपचारः।
गुण-गुणिनोरमिथ्यायामाथि सद्भूतो विपर्ययादितरः ॥१०४॥

सद्भूत और असद्भूत के भेद से व्यवहार दो प्रकार का है। गुण-गुणी में अभेद होने पर भी भेदरूप उपचार करना सद्भूतव्यवहार है। तथा दो द्रव्यों में भेद होने पर भी अभेदरूप उपचार करना असद्भूतव्यवहार है ॥१०४॥

सद्भूतः शुद्धेतरभेदाद् द्वेधा तु चेतनस्य गुणाः।
केवलबोधादय इति शुद्धोऽनुपचरित संज्ञोऽसौ ॥१०५॥

शुद्ध सद्भूतव्यवहार और अशुद्ध सद्भूतव्यवहार के भेद से सद्भूतव्यवहार दो प्रकार है। केवलबोधादिक अर्थात् असहाय ज्ञान-दर्शनादि जीव के हैं, ऐसा स्वीकार करना शुद्ध सद्भूतव्यवहार है। इसे अनुपचरित सद्भूतव्यवहार भी कहते हैं ॥१०५॥

मत्यादिविभावगुणाश्चित इत्युपचरितकः स चाशुद्धः।
देहो मदीय इत्यनुपचरितसंज्ञस्त्वसद्भूतः ॥१०६॥

मतिज्ञान आदिक जीव के गुण हैं, ऐसा स्वीकार करना अशुद्ध सद्भूतव्यवहार है। इसी का दूसरा नाम उपचरित सद्भूतव्यवहार है। संश्लेषसम्बन्ध होने से शरीर मेरा है, ऐसा स्वीकार करना अनुपचरित असद्भूतव्यवहार है ॥१०६॥

देशो मदीय इत्युपचरितसमाह्वः स एव चेत्युक्तम्।
नयचक्रमूलभूतं नयषट्कं प्रवचनपटिष्ठैः ॥१०७॥

संश्लेष सम्बन्ध का अभाव होने से 'देश मेरा है' ऐसा जानना उपचरित असद्भूतव्यवहार है। जो प्रवचन में पटु हैं, उन्होंने नयचक्र के मूलभूत ये छह नय कहे हैं।

नैगमादिक सात नय यहाँ क्यों नहीं कहे गये, इसका समाधान पण्डितप्रवर आशाधरजी इन शब्दों में करते हैं कि जो प्रवचनपटु हैं अर्थात् अध्यात्मतन्त्र के रहस्य को जाननेवाले हैं, उन्होंने ये छह नय कहे हैं। इसका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि ये छह नय स्वल्पस्वरूप में अध्यात्मभाषा की दृष्टि से कहे गए हैं और आगम-भाषा की दृष्टि से नैगमादि सात नय हैं।

इससे आत्मस्वरूप की प्राप्ति में परम साधक अध्यात्म को लक्ष्य में रखकर चरणानुयोग में क्या प्रतिपादन शैली स्वीकार की गयी है, इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि चरणानुयोग सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक अशुभाचार के निरोधपूर्वक शुभाचाररूप प्रवृत्ति को जो मुख्यता से स्वीकार करता है, वह इसलिए नहीं स्वीकार करता कि वह आत्मा का परमार्थस्वरूप धर्म है या उसका परमार्थ साधन है। यह दिखलाना उसका प्रयोजन भी नहीं है। वह तो केवल प्राक्पदवी में सहचर सम्बन्धवश ही स्वीकार किया गया है, और इसीलिए आगम में कही उसे साधक कहा गया है और कहीं निमित्त भी कहा गया है। जिसने अध्यात्म के रहस्य को जाना है, वही इस तथ्य को समझता है और इसीलिए ही पण्डितप्रवर आधाधरजी ने 'प्रवचनपरिष्टैः' इस पद का 'अध्यात्मतन्त्ररहस्यज्ञैः' यह अर्थ किया है।

१५. अध्यात्मवृत्त होने का उपाय

यही कारण है कि जो जीवन में अध्यात्मवृत्त होने के मार्ग का अनुसरण कर रहा है, वह यह अच्छी तरह से जानता है कि आत्मा की

सहज शुद्ध अवस्था प्राप्त करने के लिए उसमें एकाग्र होने का आलम्बनभूत आत्मा भी सहज शुद्ध ही होना चाहिए, क्योंकि सहज स्वभावरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मा का हो जाना तभी सम्भव है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए समयसार परमागम में यह सूत्रगाथा लिपिबद्ध हुयी है—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु॥४१२॥

भव्य जीव को लक्ष्यकर आचार्य कहते हैं कि तू मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यानकर, उसी का अनुभव कर और उसी में निरन्तर रमणकर, अन्य द्रव्यों में इष्टानिष्ट बुद्धि द्वारा रममाण मत हो॥४१२॥

अभेददृष्टि से स्वभावभूत ज्ञान, दर्शन और चारित्रस्वरूप आत्मा अखण्ड और एक ही है। इसका अर्थ है कि प्रज्ञा के बल से जो तत्स्वरूप अपने आत्मा में रममाण होता है, वही तत्स्वरूप होने का अधिकारी होता है। परमार्थ से ऐसा ही आत्मा साध्य है और ऐसा ही ही आत्मा साधन है। ये दो नहीं है। इस रूप से वर्तनेवाले जीव के परद्रव्यस्वरूप जो रागद्वेषादि हैं, उनमें अणुमात्र भी प्रवृत्ति नहीं होती। इतना ही नहीं, अन्य द्रव्यों को जाननेरूप प्रवृति से भी वह मुक्त रहता है। परम ध्यानरूप होने का यदि कोई उपाय है तो वह एकमात्र यही है और इसीलिए ही इसे आगम में निर्विकल्प समाधि शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। अध्यात्म की दृष्टि से आगम में समाधि के दो ही भेद हैं—सविकल्प समाधि और निर्विकल्प समाधि। सविकल्प समाधि आत्मा के लक्ष्य से होने पर भी उसमें विकल्प की चरितार्थता रहती है, परन्तु निर्विकल्प समाधि परनिरपेक्ष ज्ञानभाव से आत्मा को अनुभवने पर ही प्राप्त होती है। मोक्ष प्राप्ति की दृष्टि से आगे बढ़ने का यदि कोई मार्ग है तो वह निर्विकल्प समाधि ही है। नयचक्र आदि

जिनवाणी में इसीलिए ही धर्म्यध्यान को सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से दो प्रकार का स्वीकार किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्विकल्प आत्मा की प्राप्ति के लिए निर्विकल्प ध्यान का आलम्बनभूत स्वात्मा निर्विकल्प ही स्वीकार किया गया है। इसी को कतिपय आचार्यों ने कारणपरमात्मा भी कहा है, क्योंकि बीजरूप में वह ऐसी शक्ति सम्पन्न होता है जो उत्तर काल में स्वयं परमात्मा बन जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार, गाथा ७२ की आत्मख्याति टीका में इसीलिए ही उसे भगवान आत्मा शब्द द्वारा सम्बोधित किया है। यत: निर्विकल्प समाधि में विकल्प के लिए अणुमात्र भी स्थान नहीं है, इसलिए विकल्प की उत्पत्ति में जितनी भी बाह्याभ्यन्तर सामग्री स्वीकार की गयी है, वह पर हो जाती है। न तो उसे निर्विकल्प आत्मा में किसी भी अपेक्षा से स्थान प्राप्त है और न ही उसके आलम्बन से निर्विकल्प समाधिरूप से परिणत स्वात्मा में ही उसे किसी प्रकार का स्थान प्राप्त है।

इस प्रकार स्व-पर का विवेक प्राप्त होने पर जो पर है, उसमें सद्भूत क्या है और असद्भूत क्या है और जो सद्भूत है, वह क्यों सद्भूत हैं और जो असद्भूत है, वह क्यों असद्भूत है—ऐसी जिज्ञासा के समाधान-स्वरूप समयसार, गाथा ६ और ७ तथा उसकी आत्मख्याति टीका में जो प्ररूपणा की गयी है, उसका स्पष्टरूप से निर्देश हम पहले ही कर आये हैं। फिर भी पूरे प्रकरण पर पंचाध्यायी आदि अन्य आगमों के प्रकाश में हम पुन: सांगोपांग विचार करेंगे।

१६. निश्चयनय एक है

पंचाध्यायी में निश्चयनय के भेदों का निषेध करते हुए लिखा है—

शुद्धद्रव्यार्थिक इति स्यादेकः शुद्धनिश्चयो नाम।
अपरोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति तदशुद्धनिश्चयो नाम॥१-६६०॥

इत्यादिकाश्च बहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते।
स हि मिथ्यादृष्टिः स्यात् सर्वज्ञावमानतो नियमात्॥१-६६१॥

शुद्धनिश्चयनय संज्ञक एक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है और अशुद्ध-निश्चयसंज्ञक एक अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है॥१-६६०॥

—इत्यादिरूप से जिसके मत में निश्चयनय के बहुत से भेद कल्पित किये गये हैं, वह नियम से सर्वज्ञ का तिरस्कार करनेवाला होने से मिथ्यादृष्टि है॥१-६६१॥

बात यह है कि वस्तुस्वभाव की दृष्टि से उसका स्वरूप एक ही प्रकार का है। वस्तु के त्रिकाली स्वरूप में न तो उसका अपेक्षा भेद से भेद करना सम्भव है और न ही उसे शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का ही कहा जा सकता है। इस नय के कथन में तीन विशेषताएँ होती है। एक तो वह अभेदग्राही होता है। दूसरे वह अनन्त धर्मों को गौण कर धर्मी की मुख्यता से प्रवृत्त होता है और तीसरे वह विशेषण रहित होता है। अतः इस दृष्टि से निश्चयनय के भेद करना आगम बाह्य है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

यद्यपि अन्यत्र निश्चयनय के अनेक भेद दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु वहाँ पर वस्तु के परनिरपेक्ष त्रिकाली स्वरूप को गौण करके ही ये भेद किये गये हैं, इसलिए त्रिकाली वस्तुस्वरूप को ध्यान में लेने पर उन सबको निश्चयनय कहना आगम बाह्य हो जाता है, यह स्पष्ट ही है।

शंका—जबकि चरणानुयोग के अनुसार भी ध्येयरूप से शुद्ध-बुद्ध आत्मा को ही स्वीकारा जाता है। ऐसी अवस्था में निश्चयनय के दो भेदों का कथन क्यों दृष्टिगोचर होता है?

समाधान—चरणानुयोग बाह्य मन, वचन, काय की प्रवृत्ति प्रधान आगम है। उसमें ध्येय के अनुकूल कहो या मोक्षमार्ग के अनुकूल

कहो, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति की मुख्यता है और इसीलिए उसकी शुभाचार संज्ञा है। अत: इसमें तदनुकूल राग की चरितार्थता है और ऐसा नियम है कि यह जीव जब जिस भावरूप से परिणमता है, उस समय तन्मय होता है। प्रवचनसार का सूत्र वचन है—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेंण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो॥९॥

परिणामस्वभावी होने से जीव जब शुभ या अशुभभावरूप से परिणमता है, तब शुभ या अशुभ होता है और जब शुद्धभावरूप से परिणमता है, तब शुद्ध होता है॥९॥

यह वस्तुस्थिति है। इसे ध्यान में रखकर ही चरणानुयोग में निश्चयनय के दो भेदों की अपेक्षा विषय विवेचन दृष्टिगोचर होता है। किन्तु अध्यात्मवृत्त होने की कथन पद्धति इससे सर्वथा भिन्न है। स्वभावभूत आत्मा को गौण कर या उससे विमुख होकर अन्य किसी भी पदार्थ में उपयुक्त होना संसार की परिपाटी को जीवित रखना है, इस तथ्य को हृदयंगम कर स्वभावभूत आत्मा की प्राप्ति में साधक अध्यात्म-आगम पराश्रितपने का पूर्ण निषेध करता है। अत: उसके अनुसार निश्चयनय में किसी भी प्रकार का भेद करना स्वीकार नहीं किया गया है। यत: ध्येय एक प्रकार है, अत: उसे स्वीकार करनेवाला निश्चयनय भी एक ही प्रकार का है। कलशकाव्य में कहा भी है—

इममेवात्र तात्पर्यं हेयो शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्त्यागाद् बन्ध एव हि॥१०२॥

प्रकृत में यही तात्पर्य है कि शुद्धनय किसी भी प्रकार हेय नहीं है, क्योंकि समरस होकर उसरूप परिणमने से बन्ध नहीं होता और उसके विरुद्ध परिणमने से नियम से बन्ध होता है॥१०२॥

इस प्रकार उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुमुक्षु जीव

मोक्ष की प्राप्ति में परम साधक ध्येय के प्रति सतत् जागरूक रहता है। विकल्प की भूमिका में भी होनेवाली पराश्रित प्रवृत्ति को वह अपना कार्य नहीं अनुभवता। गुणस्थान प्रक्रिया में जो विकल्प की भूमिका को प्रमाद में परिगणित किया है, सो उसका भी यही आशय है। जैसे कोई व्यक्ति शरीर के रुग्ण होने पर नीरोग होने में अत्यन्त साधक सामग्री के प्रति निरन्तर जागरूक रहता है। वह रोग को हितकारी या उपादेय मानकर उसकी उपासना नहीं करता, वैसे ही संसार रोग से पीड़ित व्यक्ति मुक्त होने में परम साधक सामग्रीस्वरूप अपने ध्येय के प्रति निरन्तर जागरूक रहता है। वह संसार और संसार की कारणभूत सामग्री को हितकारी या उपादेय मानकर उनकी उपासना नहीं करता।

कहीं-कहीं 'ऐसा कहा गया है कि अशुभ का' निरोध करने के लिए यह जीव शुभ प्रवृत्ति करता है, पर वस्तुस्थिति यह है कि जो शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की परिणतियों को समानरूप से संसार का कारण जानकर उक्त भेद नहीं करता और निरन्तर स्वभाव प्राप्ति के प्रति सन्नद्ध रहता है, वही क्रमशः मोक्ष का अधिकारी होता है।

१७. व्यवहारनय

इस प्रकार उक्त विधि से निश्चयनय का स्वरूप स्पष्ट होने पर अब व्यवहारनय की अपेक्षा विचार करते हैं।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि अध्यात्म में व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है। वहाँ अभूतार्थ का क्या अर्थ स्वीकृत है, यह भी हम पहले बतला आये हैं। अब उसी आधार से यहाँ पर इस नय का और उसके भेदों का सांगोपांग विचार करते हैं। प्रकृत में व्यवहार यह यौगिक शब्द है। यह 'वि' और 'अब' उपसर्गपूर्वक 'हृ' धातु से निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है कि भेद करके या समारोप करके मूल वस्तु का अपहरण करना। एक तो यह वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्यकर वस्तु को जाननेरूप ज्ञान-परिणाम है और दूसरे पराश्रितपने

से वस्तु को जाननेरूप ज्ञानपरिणाम है। इसलिए जितना भी व्यवहारनय है, वह उदाहरणसहित विशेषण-विशेष्यरूप ही होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए पंचाध्यायी में कहा भी है—

सोदाहरणो यावान्नयो विशेषण-विशेष्यरूपः स्यात्।
व्यवहारापरनामा पर्यायार्थो नयो न द्रव्यार्थः ॥१-५९६॥

उदाहरणसहित विशेषण-विशेष्यरूप जितना भी नय है, वह व्यवहार नामक पर्यायार्थिकनय है, वह द्रव्यार्थिकनय नहीं है।

पंचाध्यायी में इसी विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

पर्यायार्थिक नय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति।
एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात् ॥१-५२१॥

व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शब्दार्थतो न परमार्थः।
स यथा गुण-गुणिनोरिह सदभेदे भेदकरणं स्यात् ॥१-५२२॥

साधारण गुण इति यदि वासाधारणः सतस्तस्य।
भवति विवक्ष्यो हि यथा व्यवहारनयस्तदा श्रेयान् ॥१-५२३॥

पर्यायार्थिकनय यह संज्ञा अथवा व्यवहारनय यह संज्ञा एकार्थक है, क्योंकि इसमें समस्त व्यवहार उपचार मात्र है ॥१-५२१॥ व्यवहरण करने का नाम व्यवहार है, यह उसका मात्र शब्दार्थ है, वह परमार्थरूप नहीं है। जैसे कि गुण-गुणी में सत्तारूप से अभेद होने पर भेद करना व्यवहारनय है ॥१-५२२॥ जिस समय सत् का साधारण या असाधारण गुण विवक्षित होता है, उस समय व्यवहारनय ठीक माना गया है ॥१-५२३॥

इसे और भी स्पष्ट करते हुए वहाँ लिखा है—

इदमत्र निदानं किल गुणवद् द्रव्यं यदुक्तमिह सूत्रे।
अस्ति गुणोऽस्ति द्रव्यं तद्योगादिह लब्धमित्यर्थात् ॥१-६३४॥

तदसन्न गुणोऽस्ति यतो न द्रव्यं नोभयं न तद्योगः।
केवलमद्वैतं तद् भवति गुणो वा तदैव सद्द्रव्यम् ॥१-६३५॥

तस्मान्न्यायागत इति व्यवहारः स्यान्नयोऽप्यभूतार्थः।
केवलमनुभवितारस्तस्य च मिथ्यादृशो हतोस्तेऽपि ॥१-६३६॥

व्यवहार को अभूतार्थ कहने का कारण यह है कि सूत्र में द्रव्य को जो गुणवाला कहा है, सो उसका तात्पर्य यह है कि गुण है, द्रव्य है और उनके योग से एक द्रव्य है ॥१-६३४॥

परन्तु यह मानना असत् है, क्योंकि न गुण है, न द्रव्य है, न दोनों हैं और न उनका संयोग ही है, किन्तु सत् केवल अद्वैत है, वह चाहे गुण होओ, सत् होओ और चाहे द्रव्य होओ, है वह अद्वैतरूप ही ॥१-६३५॥

इसलिए न्याय से यह प्राप्त हुआ कि व्यवहारनय नय होकर भी अभूतार्थ है। जो केवल व्यवहारनय को अनुभवते हैं अर्थात् स्वीकारते हैं, वे मिथ्यादृष्टि और पथ भ्रष्ट हैं ॥१-६३६॥

इस प्रकार यहाँ पर सामान्य और विशेष में भेद का उपचार कर जो वस्तु को विषय करता है, वह अभूतार्थ है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। सद्भूतव्यवहारनय इसी की संज्ञा है। इसके मुख्य भेद दो हैं—अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय और उपचरित सद्भूत-व्यवहारनय। जिस पदार्थ का जो धर्म है, यह नय उसे उस पदार्थ का कहता है। यह सद्भूतव्यवहारनय है। जैसे यह कहना कि जीव के ज्ञान हैं, यह सद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण है। यद्यपि विवक्षित धर्मस्वरूप जीव पदार्थ है, इसलिए सद्भूत है। किन्तु जीव के विवक्षित धर्मस्वरूप होने पर भी उसका जीव से भेद करके कथन किया गया है, इसलिए व्यवहार है। इसीलिए ही यह नय सद्भूतव्यवहारनय कहलाता है। इतनी विशेषता और है कि यदि बाह्य पदार्थ को निमित्त आदि कर इस नय के विषय को विशेषण सहित नहीं किया जाता है तो यही उदाहरण अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय का हो जाता है और यदि इसे परयोग से विशेषण सहित कर दिया जाता है, तो वह उपचरित

सद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण हो जाता है। जैसे जीव के ज्ञान है, उसे स्व-परप्रकाशक कहना। यद्यपि जीव स्वयं ज्ञानस्वरूप होने से वह सहज ही प्रकाशकस्वभाव है, तथापि पर के योग से उसे परप्रकाशक कहना, यह उपचार है, इसलिए यह उपचरित सद्भूत-व्यवहारनय का उदाहरण है। उनमें से अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए पंचाध्यायी में कहा है—

स्यादादिमो यथान्तर्लीना शक्तिरस्ति यस्य सतः।
तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद् विशेषनिरपेक्षम्॥१-५३५॥

इदमत्रोदाहरणं स्यात् जीवोपजीविजीवगुणः।
ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवि स्यात्॥१-४३६॥

घटसद्भावे हि यथा घटनिरपेक्षम् चिदेव जीवगुणः।
अस्ति घटाभावेऽपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः॥१-५३७॥

जिस पदार्थ की जो अन्तर्लीन स्वभावभूत शक्ति है, उसे जो नय अवान्तर भेद किए बिना सामान्यरूप से उस पदार्थ की बतलाता है, वह अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय है॥१-५३५॥ इस विषय में यह उदाहरण है कि जिस प्रकार ज्ञानगुण जीवोपजीवी होता है, उस प्रकार वह जानने में ज्ञेय के ज्ञापक निमित्त होते समय ज्ञेयोपजीवी नहीं होता॥१-५३६॥ जैसे घट के सद्भाव में जीवगुण घट की अपेक्षा किये बिना चित्स्वरूप ही है, वैसे घट के अभाव में भी जीवगुण ज्ञान घट की अपेक्षा किये बिना चित्स्वरूप ही है॥१-५३७॥

तात्पर्य यह है कि जीवद्रव्य अनन्त धर्मों को अन्तर्लीन किए हुए एक अखण्ड चित्स्वरूप पदार्थ है। उसमें एक स्वभावभूत धर्म के भेद द्वारा उसे जानना अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय है। उपचरित सद्भूतव्यवहानय का निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है —

उपचरितः सद्भूतो व्यवहारः स्यान्नयो यथा नाम।
अविरुद्धं हेतुवशात् परतोऽप्युपचर्यते यथा स्वगुणः॥१-५३७॥

अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेऽधुनापि यथा।
अर्थः स्व-परनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारम्॥१-५३८॥

असदपि लक्षणमेंतत्सन्मात्रत्वे सुनिर्विकल्पत्वात्।
तदपि न विनालम्बान्निर्विषयं शक्यते वक्तुम्॥१-५३९॥

तस्मादनन्यशरणं सदपि ज्ञानं स्वरूपसिद्धत्वात्।
उपचरितं हेतुवशात् तदिह ज्ञानं तदन्यशरणमिव॥१-५४०॥

यतः हेतुवश स्वगुण का पररूप से अविरोधपूर्वक उपचार करना उपचरित सद्भूतव्यवहारनय है॥१-५४०॥ जैसे अर्थविकल्परूप ज्ञान -प्रमाण है, यह प्रमाण का लक्षण है, सो यहाँ पर स्व-पर समुदाय का नाम अर्थ है और चैतन्य का तदाकार होना, इसका नाम विकल्प है॥१-५४१॥ सत्सामान्य निर्विकल्प होता है, इस दृष्टि से यद्यपि यह लक्षण असत् है, तथापि ज्ञापक निमित्त के बिना विषय-रहित उसका कथन नहीं किया जा सकता॥१-५४२॥ इसलिए स्वरूप सिद्ध होने से अन्य की अपेक्षा किए बिना ही ज्ञान सत्स्वरूप है तथापि हेतुवश वह 'ज्ञान अन्य की सहायता से होता है' ऐसा मानकर उपचरित किया जाता है॥१-५४३॥

तात्पर्य यह है कि अखण्ड होने से विवक्षित पदार्थ का स्वरूप-सिद्ध (असाधारण) धर्म द्वारा भेदकर तथा विशेषण सहित कर उस द्वारा विवक्षित पदार्थ का कथन करना, यह उपचरित सद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण है।

१८. प्रयोजन के अनुसार नयों की प्ररूपणा

इस प्रकार विविध आगमों में उदाहरण सहित नयों के जो लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, उनका प्रयोजन के अनुसार प्रकृत में ऊहापोह कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है—

(१) नयप्ररूपणा का अर्थप्ररूपणा के साथ निकट का सम्बन्ध

है, क्योंकि ज्ञानियों के अर्थ के निमित्त से जो ज्ञान विकल्प होते हैं, उन्हें ही आगम में नय कहा गया है। अन्तर इतना है कि जब वह विकल्प सकलग्राही होता है, तब उसे प्रमाण में गर्भित किया जाता है और जब एकांशग्राही होता है, तब उसे नय कहा जाता है। यह ज्ञानविकल्प वस्तु तक पहुँचाने का प्रमुख साधन है। यदि नयविवक्षा को गौण कर दिया जाए तो कभी-कभी युक्त भी अयुक्त की तरह प्रतिभासित होने लगता है और अयुक्त भी युक्त की तरह प्रतिभासित होता है, इसलिए नयविवक्षा को समझकर वस्तु का निर्णय करना, यह आगमसम्मत मार्ग है।

(२) उसमें भी जितने भी नय और उनके उत्तर भेद आगम में दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब प्रयोजन के अनुसार ही निर्दिष्ट किये गये हैं। आजकल आगम बाह्य जो एक परिपाटी चल पड़ी है कि कोई भी कल्पित दो युगल ले लिए और उनमें से एक को निश्चय कहना और दूसरे को व्यवहार कहना, ऐसा नहीं है। जयपुरखानिया तत्त्वचर्चा के समय ही हमें इस नये मत का भान हो गया था। उस समय हमने इस पर आपत्ति भी की थी। पर ऐसा लगता है कि ऐसे महाशयों को आगम -सम्मत मार्ग से कोई प्रयोजन नहीं है। जो अपने मन में विकल्प उठा, उसको लिखना और उसे ही आगम कहना, यह इनका एक प्रकार से उद्देश्य बन गया है। अस्तु, यहाँ हमें इतना ही लिखना है कि आगम में जो भी तत्त्वप्ररूपणा हुई है, वह कहाँ किस दृष्टिकोण से की गयी है, इसे स्पष्ट करने के लिए ही आगम में नयों के भेद-प्रभेद दृष्टिगोचर होते हैं और इसीलिए ही आलापपद्धति और नयचक्र आदि में उन नयों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उनके आगम सम्मत उदाहरण भी दे दिये गये हैं। अनगारधर्मामृत में भी इसीलिए उन नयों के भेद-प्रभेदों का उदाहरण सहित निर्देश किया गया है।

(३) प्रकृत में खासकर स्वरूप प्राप्ति के परम साधनभूत अध्यात्म

और तदनुषंगी चरणानुयोग की दृष्टि से विचार करना है। यह तो सुविदित बात है कि जो प्ररूपणा अभेद और अनुपचरितरूप से की जाती है, शुद्ध निश्चयनय का विषय वही प्ररूपणा मानी जाती है, इस दृष्टि से विचार करने पर अध्यात्मप्ररूपणा और चरणानुयोग की प्ररूपणा में जो अन्तर है, वह हमारी समझ में आ जाता है। और इसीलिए समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थों में एकत्व की प्राप्ति में परम साधक जितनी भी प्ररूपणा हुई है, वह एक शुद्ध निश्चनय के अन्तर्गत ही मानी गयी है। तथा इससे अतिरिक्त शेष समस्त प्ररूपणा को व्यवहारनय के विषय के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु चरणानुयोग की प्ररूपणा की यह स्थिति नहीं है, क्योंकि उसमें आत्मा को शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूप में स्वीकार करके प्ररूपणा हुई है। यही कारण है कि यहाँ शुद्ध-बुद्ध एक आत्मा को शुद्ध निश्चयनय का विषय स्वीकार किया गया है और रागादिरूप आत्मा को अशुद्ध निश्चयनय का विषय स्वीकार किया गया है। उसका भी कारण यह है कि चरणानुयोग में मोक्ष प्राप्ति के साधनभूत स्वतन्त्र मार्ग का निर्देश न होते हुए भी वह ज्ञानी की सविकल्प अवस्था में सहज सीमा का ख्यापन करने के प्रयोजन से ही लिपिबद्ध हुआ है।

अध्यात्म में तो यह स्वीकार किया ही गया है कि जो परमार्थ से बाह्य है, वह चाहे जितने व्रत धारण करे, नियमों का पालन करे, पर वह निर्वाण का अधिकारी नहीं हो सकता। चरणानुयोग भी इसे स्वीकार करता है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है कि जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न है, वही राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए व्रत-नियम आदिरूप चारित्र धारण करने का अधिकारी होता है। संयममार्गणा का ख्यापन करते हुए इसी तथ्य का निर्देश धवला पुस्तक १ में भी दृष्टिगोचर होता है। यह कोई सोनगढ़ या किसी व्यक्ति विशेष की दृष्टि का उद्घाटन नहीं है, किन्तु अनादि काल से चला

आ रहा सनातन यथार्थ मार्ग है। वर्तमान में सोनगढ़ उसी सनातन और यथार्थ मोक्षमार्ग का मात्र दिग्दर्शन करा रहा है।

(४) मोक्षमार्ग की दृष्टि से ज्ञान आत्मा है, इसे परमभावग्राही अध्यात्म के अनुसार स्वीकार करके भी चरणानुयोग में राग को भी आत्मा का स्वीकार किया गया है। इसलिए जहाँ अध्यात्म के अनुसार बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक राग असद्भूतव्यवहारनय से आत्मा के कहे जाते हैं। वहाँ चरणानुयोग रागमात्र को उपचरित सद्भूत-व्यवहारनय से आत्मा का स्वीकार करता है। यही कारण है कि चरणानुयोग में निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक जितनी भी मन-वचन-काय की प्रवृत्ति होती है, वह ज्ञानी के किस प्रकार की होती है, इसकी प्ररूपणा की गयी है। इस विषय में अध्यात्म इतना ही कहता है कि जब तक आत्मा ज्ञानमार्ग की परिपक्व अवस्था को प्राप्त नहीं होता, तब तक ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग का साथ-साथ होना भले ही विहित रहे, पर इतना निश्चित समझना चाहिए कि ज्ञानमार्ग पर सम्यक् प्रकार से आरूढ़ हुआ व्यक्ति ही कर्मबन्ध से मुक्त होता है। रागरूप मन-वचन-काय की प्रवृत्ति तो एकमात्र बन्ध का ही कारण है।

(५) इस प्रकार दोनों ही अनुयोगद्वारों के अनुसार व्यवहारनय की प्ररूपणा में एक भेद तो यह है। दूसरो भेद यह है कि जब अध्यात्म राग को आत्मा का स्वीकार ही नहीं करता, तब वह शरीर और बाह्य दूसरे संयोगों को आत्मा का कैसे स्वीकार कर सकता है। अर्थात् नहीं कर सकता। किन्तु चरणानुयोग राग, आत्मा का सद्भूत धर्म है-ऐसा स्वीकार करके, वह राग के माध्यम से शरीर और पर पदार्थ इनको भी आत्मा का स्वीकार कर लेता है। जबकि वे आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ द्रव्यानुयोग की प्ररूपणा मात्र अन्तर्मुखी होने से आत्मा के निजभाव को उद्घाटित करने में समर्थ है, वहाँ चरणानुयोग की प्ररूपणा विषय-कषाय से कथंचित् परावृत

करनेवाली होनेपर भी आत्मा के निजभाव को उद्घाटित करने में समर्थ नहीं हो पाती।

शंका—समयसारादि में भी व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को स्वीकार किया गया है, सो क्यों?

समाधान—असद्भूतव्यवहारनय से ही ये स्वीकार किये गये हैं। इसका अर्थ है कि ज्ञानभाव की दृष्टि से वे आत्मा के होते ही नहीं। मात्र ज्ञानी के प्राक्पदवी में ऐसा व्यवहार किया जाता है।

शंका—तो ज्ञानी को देवपूजा, जिनागम का पठन-पाठन और व्रताचरण, इनमें सावधानी वर्तने की कुछ भी आवश्यकता नहीं, ऐसा माना जाए?

समाधान—उक्त सविकल्प अवस्था में ये सहज होते हैं। इसी का नाम सावधानी वर्तना है। मुख्य बात यह है कि ये भूमिकानुसार होओ। ज्ञानभाव की दृष्टि से ज्ञानी के इनका स्वामित्व नहीं होता। तथा कर्तृत्व और स्वामित्व का योग है। जिसका स्वामित्व नहीं, उसका कर्तृत्व भी नहीं। ज्ञानी तो एकमात्र ज्ञानभाव का ही कर्ता है। कलश -काव्य में यही कहा है—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः॥

चित्स्वरूप आत्मा का जैसे परपदार्थ का भोगना स्वभाव नहीं है, वैसे ही परपदार्थ का करना भी उसका स्वभाव नहीं है। वह अज्ञान से ही परपदार्थ का कर्ता कहा जाता है। अज्ञान का अभाव होने पर वह अकर्ता ही है॥१९४॥

इसी अर्थ को सूचित करनेवाला दूसरा कलशकाव्य देखिए—

यः करोति स करोति केवलम्, यस्तु जानाति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्, यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्॥९६॥

जो करता है अर्थात् मैंने यह किया, वह किया, इस भाव से ग्रसित रहता है, वह मात्र करता ही है और जो जानता है अर्थात् जाननरूप परिणमता है, वह मात्र जानता ही है। जो करता है, वह कभी जानता नहीं और जो जानता है, वह कभी करता नहीं॥९६॥

आशय यह है कि करने का विकल्प अज्ञानी के होता है, ज्ञानी के नहीं। ज्ञानी तो जाननक्रियारूप ही परिणमता है।

शंका—तो ऐसा क्या समझा जाए कि ज्ञानमार्ग में बाह्य निमित्त को कुछ भी स्थान नहीं है। यदि ऐसा एकान्त से मान लिया जाए तो समयसार परमागम में यह क्यों कहा कि एक-दूसरे के निमित्त से दोनों का परिणाम होता है। (८१)?

समाधान—यह ज्ञानमार्ग की कथनी नहीं है, इस बात को वहीं गाथा ८३ में स्पष्ट कर दिया है। अत: ऐसा समझना चाहिए कि आगम में कर्ता आदिरूप से बाह्य निमित्त का जितना भी कथन दृष्टिगोचर होता है, वह सब योग और विकल्प को ध्यान में रखकर ही किया गया है, ज्ञानमार्ग की मुख्यता से नहीं। वैसे विविध पदार्थों का योग नियत -क्रम से बनता रहता है और उनके नियत काल में परिणामन भी होते रहते हैं। उसी नियतक्रम का अविनाभाव देखकर यह कहने की पद्धति है कि इससे यह हुआ आदि।

शंका—यदि ऐसा है तो आगम में जो यह वचन या इसी प्रकार के अन्य वचन उपलब्ध होते हैं कि उभय निमित्त के वश से आत्मा का उत्पन्न होनेवाला परिणाम उत्पाद कहलाता है इत्यादि। सो क्या यह सब कथन अपरमार्थभूत है?

समाधान—यह वस्तुस्वरूप तो नहीं है। अब रही ऐसे कथन की बात, सो प्रत्येक कार्य के समय नियत बाह्य-अभ्यन्तर उपाधि नियम से होती है और उससे नियत कार्य की सिद्धि होती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आगम में उक्त प्रकार के वचन पाये जाते हैं।

शंका—बाह्य निमित्त को यदि आगम में कर्ता आदिरूप से नहीं स्वीकार किया गया है तो किस रूप में स्वीकार किया गया है ?

समाधान—जैसे कोई व्यक्ति देवाधिदेव तीर्थंकर जिनका दर्शन कर रहा है, तो दर्शन करनेवाला या दूसरा देखनेवाला यह जानता है कि इस व्यक्ति के दर्शन में देवाधिदेव तीर्थंकर जिनमें ज्ञापक निमित्तपने का व्यवहार होता है। वैसे ही जिस समय जो कार्य होता है, उस समय अन्य जिस पदार्थ का उस कार्य के साथ अविनाभाव होता है, उसमें कारक निमित्तपने का व्यवहार होता है। यहाँ जिस प्रकार देवाधिदेव ने उस व्यक्ति के दर्शन (श्रद्धा) को नहीं उत्पन्न किया है। वह अपने काल में स्वयं उत्पन्न हुआ है, वैसे ही उस बाह्य पदार्थ ने कार्य को नहीं उत्पन्न किया है, वह अपने काल में स्वयं उत्पन्न हुआ है। इसलिए उस समय बाह्य पदार्थ में निमित्त व्यवहार बन जाने पर भी कर्ता आदि व्यवहार करने के लिए पुन: उपचार करना पड़ता है। वास्तव में देखा जाए तो इस प्रकार का जितना भी व्यवहार किया जाता है, वह सब परमार्थ की परिधि से बाह्य है। अर्थात् वस्तुस्वरूप में यह सब व्यवहार घटित नहीं होता।

१९. असद्भूतव्यवहारनय

आगम का वचन है—

पराश्रितो व्यवहारनयः

जो पर के आश्रय (लक्ष्य) से होता है, अर्थात् यह मेरे लिए हितकर है, यह अहितकर है, इस प्रकार के रुझान से अन्य के गुण-धर्म को अन्य का स्वीकारता है, वह व्यवहारनय है।

निश्चयनय जीव को इसी प्रकार के रुझान से परावृत करता है। उससे जीव की यह श्रद्धा दृढ़ होती है कि न तो अन्य पदार्थ अन्य का भला ही करने में समर्थ है और न ही बुरा करने में समर्थ है। जो जिस

समय होता है, वह सब कर्मानुसार ही होता है। कर्मानुसार होता है, इसका यह अर्थ है कि इस जीव ने स्वयं भला-बुरा जैसा किया है, उसका ही यह फल है। द्वात्रिंशतिका में कहा भी है—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥३०॥

इस जीव ने पहले अपने लिए हितकारी या अहितकारी मानकर स्वयं जो जो कार्य किया, उत्तर काल में उसके अनुसार शुभाशुभ फल को भोगता है। दूसरे के द्वारा दिये गये फल को यदि जीव भोगे तो उस समय स्वयं किये गये कर्म निरर्थक हो जाएँ, पर ऐसा नहीं है, इसलिए यही स्वीकार कर लेना न्याय प्राप्त है कि जब जिस भाव से जो कार्य यह जीव करता है, उत्तर काल में उसी के अनुरूप फल का भागी होता है ॥३०॥

शंका—कर्म का अर्थ प्रकृत में द्रव्यकर्म करना चाहिए?

समाधान—उक्त श्लोक में 'स्वयम्' पद आया है। उससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह जीव जब जैसे परिणाम करता है, उसके अनुसार उसका उत्तर जीवन बनता और बिगड़ता है। द्रव्यकर्म तो मात्र माध्यम है जिससे उक्त तथ्य की सूचना मिलती है। द्रव्यकर्म इस जीव का स्वयं किया गया कार्य नहीं है, वह पुद्गल का किया हुआ कार्य है, अन्यथा इस जीव को अपनी सम्भाल करने का उपदेश देना निरर्थक हो जाएगा।

शंका—आगम में तो यह बतलाया है कि मिथ्यात्व आदि परिणामों के अनुसार द्रव्यकर्म का बन्ध होता है और द्रव्यकर्म के उदयानुसार जीव को शुभाशुभ फल मिलता है, इसलिए ऐसा मानना आगमसम्मत प्रतीत होता है?

समाधान—यह परमार्थ कथन नहीं है। व्यवहार कथन है। परमार्थ तो यही है कि प्रत्येक जीव अपने द्वारा किए हुए कार्य के

अनुसार ही उत्तर काल में उसका फल भोगता है। उसमें भी यह नैगमनय का कथन है। पर्यायार्थिकनय से विचार करने पर जो जिस समय जो परिणामरूप कार्य होता है, वह स्वयं ही होता है। नयदृष्टि को समझ कर निर्णय लेने पर यह सब कथन सुसंगत प्रतीत होने लगता है। इससे प्रत्येक द्रव्य, उसके गुण और पर्यायों को स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहती है। विचार कर देखा जाए तो ऐसा निर्णय करना ही जैनधर्म का आत्मा है।

पराश्रित व्यवहारनय है, इस द्वारा जो कुछ कहा गया है, वह मुख्यरूप से असद्भूतव्यवहारनय है। यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्द का पर के आश्रय से इस जीव के जो अध्यवसानभाव होते हैं, उन्हें छुड़ाने का अभिप्राय है। उसी प्रसंग से आचार्य अमृतचन्द्र ने व्यवहारनय का यह लक्षण कहा है।

यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि जितने भी पराश्रित विकल्प होते हैं, वे असद्भूत हैं। अर्थात् असद्भूत अर्थ को विषय करनेवाले हैं। इसीलिए जीव भाव से भिन्नरूप से उन्हें स्वीकार कर उन्हें आगम में मूर्त भी कहा गया है। फिर भी उन्हें जीव का कहना, यह असद्भूत -व्यवहारनय है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर पंचाध्यायी में असद्भूतव्यवहार का यह लक्षण दृष्टिगोचर होता है—

अपि चासद्भूतादिव्यवहारान्तो भवति यथा।
अन्यद्रव्यस्य गुणाः संजायन्ते बलादन्यत्र॥१-५२९॥

अन्य द्रव्य के गुणों की बलपूर्वक (उपचार सामर्थ्य से) अन्य द्रव्य में संयोजना करना, यह असद्भूतव्यवहारनय है।

इस नय का उदाहरण देते हुए पंचाध्यायी में कहा है—

स यथा वर्णादिमतो मूर्तद्रव्यस्य कर्म किल मूर्तम्।
तत्संयोगत्वादिह मूर्ताः क्रोधादयोऽपि जीवभवाः॥१-५३०॥

उदाहरणार्थ वर्ण आदिवाले मूर्त द्रव्य का कर्म एक भेद है, अतः वह नियम से मूर्त है। उसके संयोग से क्रोधादिक भी मूर्त हैं। फिर भी उन्हें जीव में हुए कहना असद्भूतव्यवहारनय है ॥१-५३० ॥

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि ऐसा नियम है कि एक द्रव्य के गुण-धर्म अन्य द्रव्य में संक्रमित नहीं होते। ऐसी अवस्था में प्रकृत में जीव के रागादि भावों को मूर्त क्यों कहा गया है, क्योंकि मूर्त यह धर्म पुद्गलों का है। वह पुद्गलों को छोड़कर जीव में त्रिकाल में संक्रमित नहीं हो सकता और जब वह जीव में संक्रमित नहीं हो सकता, तब जिन क्रोधादिभावों का उपादान कारण जीव है, उनमें वह त्रिकाल में नहीं पाया जा सकता। यदि उन भावों के नैमित्तिक होने मात्र से उनमें मूर्त धर्म की उपलब्धि होती है, तो अज्ञान दशा में भी क्रोधादि भावों का कर्ता जीव न होकर पुद्गल हो जाएगा और इस प्रकार इन भावों का कर्तृत्व पुद्गल में घटित होने से पुद्गल ही उन भावों का उपादान ठहरेगा, जो युक्त नहीं है। अतएव रागदि भावों को मूर्त मानकर असद्भूतव्यवहारनय का जो लक्षण किया जाता है, वह नहीं करना चाहिए। यह एक **प्रश्न** है।

समाधान यह है कि प्रकृत में जीव की रागादिरूप अवस्था से त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव जीव को भिन्न करना है, इसलिए सब वैभाविक भावों की व्याप्ति पुद्गल कर्मों के साथ घटित हो जाने के कारण उन्हें आध्यात्मशास्त्र में पौद्गलिक कहा गया है। दूसरे उनका वेदन पररूप से होता है, स्वानुभूति में वे भासते नहीं, अतः इस प्रकार वे पौद्गलिक हैं, ऐसा निश्चित हो जाने पर उन्हें मूर्त मानने में भी कोई आपत्ति नहीं आती, क्योंकि मूर्त कहो या पौद्गलिक कहो, दोनों का एक ही अर्थ है। ये भाव पौद्गलिक हैं, इसका निर्देश स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने समयप्राभृत गाथा ५० से लेकर ५५ तक किया है। वे गाथा ५५ में उपसंहार करते हुए कहते हैं—

णेव य जीवट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा॥५५॥

जीव के... जीवस्थान नहीं है और न गुणस्थान हैं, क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं॥५५॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं —

तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्॥५५॥

ये जो जीवस्थान और गुणस्थान आदि भाव हैं, वे सब जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे सब पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से आत्मानुभूति से भिन्न हैं॥५५॥

यहाँ पर परभावों के समान रागादि विभावरूप भावों से त्रिकाली ज्ञायकभाव का भेदज्ञान कराना मुख्य प्रयोजन है किन्तु इस प्रयोजन की सिद्धि त्रिकाली ध्रुवस्वभावरूप ज्ञायकभाव में उनका तादात्म्य मानने पर नहीं हो सकती, क्योंकि त्रिकाली ध्रुवस्वभाव में उनका अस्तित्व ही उपलब्ध नहीं होता, ये तो पर्यायधर्म हैं। यदि त्रिकाली ध्रुवस्वभाव में भी उनका अस्तित्व माना जाए तो उसमें से ज्ञान के समान उनका कभी भी अभाव नहीं हो सकता। अतएव ये जिसके सद्भाव में होते हैं, उसी के परिणाम हैं, ऐसा यहाँ कहा गया है, यह उक्त कथन का तात्पर्य समझना चाहिए। इसी भाव को पुष्ट करने के अभिप्राय से समयप्राभृत में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं गुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा॥५७॥

इन वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त भावों के साथ जीव का सम्बन्ध दूध और पानी के संयोगसम्बन्ध के समान जानना चाहिए। इसलिए वे भाव के जीव नहीं है, क्योंकि वह उपयोग गुण के द्वारा उनसे पृथक् है॥५७॥

यहाँ पर आचार्य महाराज ने परस्पर मिश्रित क्षीर और नीर का दृष्टान्त देकर यह बतलाया है कि जिस प्रकार मिले हुए क्षीर और नीर में संयोगसम्बन्ध होता है, अग्नि और उष्ण गुण के समान तादात्म्य -सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार वर्ण से लेकर, इन गुणस्थानपर्यन्त सब भावों का जीव के साथ संयोगसिद्ध सम्बन्ध जानना चाहिए, तादात्म्यसम्बन्ध नहीं।

जिस प्रकार जीव के साथ वर्णादि का संयोगसम्बन्ध है, उस प्रकार जीव में उत्पन्न हुए इन रागादि भावों का जीव के साथ संयोगसिद्ध सम्बन्ध कैसे हो सकता है, इस प्रश्न को उठाकर आचार्य जयसेन ने इसका समाधान किया। वे कहते हैं —

ननु वर्णादयो बहिरंगास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत् संश्लेष-सम्बन्धो भवतु, न चाभ्यन्तराणां रागादीनां। तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यम् ? नैवम्, द्रव्यकर्मबन्धापेक्षया योऽसौ असद्भूतव्यवहार-स्तदपेक्षया। तारतम्यज्ञानपनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते। वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोऽपि व्यवहार ऐवित भावार्थः।

शंका—वर्णादिक जीव से अलग हैं, इसलिए उनके साथ जीव का व्यवहारनय से क्षीर और पानी के समान संश्लेषसम्बन्ध रहा आओ, आभ्यन्तर रागादिक का जीव के साथ संयोगसम्बन्ध नहीं बन सकता। इन दोनों में तो अशुद्ध निश्चयरूप सम्बन्ध होना चाहिए।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि द्रव्यकर्मबन्ध की अपेक्षा जो यह असद्भूतव्यवहार है, उसकी अपेक्षा इनमें संयोगासिद्धसम्बन्ध माना गया है। यद्यपि रागादिभावों का जीव में तारतम्य दिखलाने के लिए इन्हें अशुद्ध निश्चयरूप कहा जाता है। परन्तु वास्तव में शुद्ध निश्चय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार ही है, यह उक्त कथन का भावार्थ है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १६ की टीका में भी इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

तथैवाशुद्धनिश्चयनयेन योऽसौ रागादिरूपो भावबन्धः कथ्यते सोऽपि शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलबन्धः एव।

उसी प्रकार अशुद्ध निश्चयनय से जो यह रागादिरूप भावबन्ध कहा जाता है, वह भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा पुद्गलबन्ध ही है।

इनका जीव के साथ संयोगसिद्धसम्बन्ध क्यों कहा गया है, इस विषय को स्पष्ट करने के लिए मूलाचार गाथा ४८ की टीका में आचार्य वसुनन्दि संयोगसम्बन्ध का लक्षण करते हुए कहते हैं—

अनात्मनीनस्यात्मभावः संयोगः। संयोग एवं लक्षणं येषां ते संयोगलक्षणा विनश्वरा इत्यर्थः।

अनात्मीय पदार्थ में आत्मभाव होना संयोग है। संयोग ही जिनका लक्षण है, वे संयोग लक्षणवाले अर्थात् विनश्वर माने गये हैं।

प्रकृत में आचार्य कुन्दकुन्द ने रागादिभावों को जो संयोग लक्षण -वाला कहा है, वह इसी अपेक्षा से कहा है, क्योंकि ये बन्धपर्यायरूप होने से अनात्मीय हैं, अतएव मूर्त हैं। तात्पर्य यह है कि रागादिभावों को आत्मा से संयुक्त बतलाने में उपादान की मुख्यता न होकर बन्धपर्याय की मुख्यता है, क्योंकि वे पौद्गलिक कर्मों के सद्भाव में परलक्षी ही होते हैं। अतः इन्हें मूर्तरूप से स्वीकार करना न्यायसंगत ही है। प्रकृत में दृष्टियाँ दो हैं—एक उपादानदृष्टि और दूसरी संयोगदृष्टि। रागादिक को अनात्मीय कहने में संयोगदृष्टि की ही मुख्यता है, अन्यथा त्रिकाली ध्रुवस्वभाव आत्मा में उपादेयबुद्धि होकर इनका त्याग करना नहीं बन सकता। प्रकृत में इन्हें मूर्त या पौद्गलिक मानने का यही कारण है।

इस प्रकार जीव में होकर भी क्रोधादिभाव मूर्त कैसे हैं, यह

सिद्ध हुआ और यह सिद्ध हो जाने पर मूर्त क्रोधादिक को जीव का कहना असद्भूतव्यवहारनय है, ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए।

सद्भूतव्यवहारनय के समान यह असद्भूतव्यवहारनय भी दो प्रकार का है—अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय और उपचरित असद्भूतव्यवहारनय। अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय का लक्षण करते हुए पंचाध्यायी में कहा है —

अपि वासद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा।
क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवाः ॥१-५४६ ॥

जो बुद्धि में न आनेवाले (अव्यक्त) क्रोधादिक भाव होते हैं, उन्हें जीव के स्वीकार करनेवाला नय अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय है ॥१-५४६ ॥

मूर्तक्रोधादिक को जीव के कहना, यह असद्भूतव्यवहारनय है। यह तो हम पहले ही बतला आये हैं। उसमें भी जो नय अन्य विशेषण से रहित होकर ही उन्हें जीव का स्वीकार करता है, उसमें विशेषण द्वारा उपचार को स्थान नहीं मिलता है। यतः अबुद्धिपूर्वक क्रोधादिक सूक्ष्म होने से उस समय का ज्ञानोपयोग उन्हें नहीं जान सकता, इसलिए इसे अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय कहा गया है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

उक्त कथन को ध्यान में रखकर उपचरित असद्भूतव्यवहारनय का लक्षण पंचाध्यायी में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा।
क्रोधाद्याः औदयिकाश्चितश्चेद् बुद्धिजा विवक्ष्याः स्युः ॥१-५४९ ॥
बीजं विभावभावां स्वपरोभयहेतवस्तथा नियमात्।
सत्यपि शक्तिविशेषे न परिनिमिमित्ताद्विना भवन्ति यतः ॥१-५५० ॥

जब जीव के क्रोधादिक औदयिकभाव बुद्धि में आये हुए विवक्षित

होते हैं, तब उस रूप में उन्हें स्वीकार करनेवाला उपचरित असद्भूत -व्यवहारनय होता है ॥१-५४९ ॥ इस नय की प्रवृत्ति में यह कारण है कि जितने भी विभावभाव होते हैं, वे नियम से स्व और परहेतुक होते हैं, क्योंकि द्रव्य में विभावरूप से परिणमन करने की शक्ति-विशेष के होने पर भी वे परनिमित्त के बिना नहीं होते ॥१-५५० ॥

मूल में बुद्धिजन्य क्रोधादिक को उपचरित असद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण बतलाया गया है, सो यहाँ समझना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि के उपयोग में ज्ञान और बुद्धिपूर्वक क्रोधादिक ये दोनों अलग-अलग परिलक्षित होते हैं, तो भी बुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादिक को आत्मा का कहना, यह उपचार है। इसी उपचार को ध्यान में रखकर उक्त उदाहरण को उपचरित असद्भूतव्यवहानय का विषय माना गया है।

यहाँ पर अन्य द्रव्य के गुणधर्म की अन्य द्रव्य में संयोजना करना इसे असत्भूतव्यवहारनय बतलाया है। इस पर से यह शंका होती है कि इस प्रकार तो 'जीव वर्णादिवाला है' इसे स्वीकार करनेवाली दृष्टि को भी असद्भूतव्यवहारनय मानना पड़ेगा, क्योंकि इस उदाहरण में भी अन्य द्रव्य के गुणधर्म का अन्य द्रव्य में आरोप किया गया है। परन्तु विचारकर देखने पर यह शंका ठीक प्रतीत नहीं होती, क्योंकि वास्तव में नय का लक्षण तो जिस वस्तु के जो गुण-धर्म हैं, उन्हें उसी का बतलाना ही हो सकता है। यदि कोई भी नय एक वस्तु के गुणधर्म को अन्य वस्तु का बतलाने लगे तो वह नय नहीं होगा। अतः जीव वर्णादिवाला है, ऐसे विचार को समीचीन नय नहीं माना जा सकता, क्योंकि वर्णीदवाला तो पुद्गल ही होता है, जीव नहीं। जीव में तो उनका अत्यन्ताभाव ही है। फिर भी प्रकृत में अन्य द्रव्य में आरोप करने को जो असद्भूतव्यवहारनय कहा गया है, सो इस कथन का अभिप्राय ही दूसरा है। बात यह है कि रागादिभाव जीव में उत्पन्न होकर भी नैमित्तिक होते हैं, इसलिए बन्धपर्याय की दृष्टि से अतद्गुण मानकर

जिस प्रकार उनका जीव में आरोप करना बन जाता है, उस प्रकार पुद्‌गल से तादात्म्य को प्राप्त हुए वर्णादि गुणों का जीव में आरोप करना त्रिकाल में घटित नहीं होता। यदि व्यवहार का आश्रय लेकर जीव को वर्णादिवाला माना भी जाता है तो उसे स्वीकार करनेवाला नय मिथ्या नय ही होगा। उसे सम्यक्‌नय मानना कथमपि सम्भव नहीं है, क्योंकि वह नय जो पृथक् सत्ता के दो द्रव्यों में एकत्वबुद्धि का जनक हो, सम्यक् नय नहीं हो सकता। जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है, उसे उसी रूप में स्वीकार करनेवाला ज्ञान ही प्रमाण माना गया है और नयज्ञान प्रमाणज्ञान का ही भेद है। यदि इन ज्ञानों में कोई अन्तर है, तो इतना ही कि प्रमाणज्ञान अंशभेद किये बिना पदार्थ को समग्रभाव से स्वीकार करता है, और नयज्ञान एक-एक अंश द्वारा उसे स्वीकार करता है। अतः प्रकृत में यही समझना चाहिए कि जो नयज्ञान विवक्षित पदार्थ के गुणधर्म को उसी के बतलाता है, वही नयज्ञान सम्यक् कोटि में आता है, अन्य नयज्ञान नहीं। पंचाध्यायी में नय का लक्षण तद्‌गुणसंविज्ञानरूप करने का यही कारण है।

२०. अध्यात्मनयों की सार्थकता

यदि कहा जाए कि यदि ऐसी बात है तो अन्यत्र (अनगारधर्मामृत और आलापद्धति आदि ग्रन्थों में) अतद्‌गुण आरोप को असद्‌भूत-व्यवहारनय बतलाकर 'शरीर मेरा है' इसे स्वीकार करनेवाले विकल्प-ज्ञान को अनुपचरित असद्‌भूतव्यवहारनय और 'धन मेरा है' इसे स्वीकार करनेवाले विकल्पज्ञान को उपचरित असद्‌भूतव्यवहारनय क्यों माना गया है?

समाधान यह है कि मिथ्यादृष्टि के अज्ञानवश और सम्यग्दृष्टि के रागवश शरीर आदि परद्रव्यों में ममकाररूप विकल्प होता है, इसमें सन्देह नहीं। पर क्या इस विकल्प के होनेमात्र से वे अनात्मभूत

शरीरादि पदार्थ उसके आत्मभूत हो जाते हैं? यदि कहा जाए कि रहते तो वे हैं अनात्मभूत ही, वे (शरीरादि पदार्थ) आत्मभूत त्रिकाल में नहीं हो सकते। फिर भी मिथ्यादृष्टि की बात छोड़िए, सम्यग्दृष्टि के भी रागवश 'ये मेरे' इस प्रकार का विकल्प तो होता ही है। इसे मिथ्या कैसे माना जाए? समाधान यह है कि सम्यग्दृष्टि के लोकव्यवहार की दृष्टि से रागवश 'ये मेरे' इस प्रकार का विकल्प होता है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ सम्यग्दृष्टि के इस प्रकार का विकल्प ही नहीं होता, यह बतलाने का प्रयोजन नहीं है। किन्तु यहाँ देखना यह है कि जहाँ सम्यग्दृष्टि के 'ये मेरे' इस विकल्प को ही 'स्व' नहीं बतलाया है, वहाँ शरीरादि परद्रव्यों को उसका 'स्व' कैसे माना जा सकता है। अर्थात् त्रिकाल में नहीं माना जा सकता। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर समयप्राभृत में कहा भी है —

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्ण जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा॥२०॥

आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो वि मज्झं एयस्स अहं पि होस्सामि॥२१॥

एवं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदर्थ्थ जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो॥२२॥

जो पुरुष सचित्त, अचित्त और मिश्ररूप अन्य परद्रव्यों के आश्रय से ऐसा असद्भूत (मिथ्या) आत्मविकल्प करता है कि मैं इन शरीर (धन और मकान आदि) रूप हूँ, ये मुझ स्वरूप है, मैं इनका हूँ, ये मेरे हैं, ये मेरे पहले थे, मैं इनका पहले था, ये मेरे भविष्य में होंगे और मैं भी इनका भविष्य में होऊँगा, वह मूढ़ है किन्तु जो पुरुष भूतार्थ को जानकर ऐसा असद्भूत आत्मविकल्प नहीं करता, वह ज्ञानी है॥२०-२२॥

इसलिए जितने भी रागादि वैभाविकभाव आत्मा में उत्पन्न होते

हैं, उन्हें आत्मा का मानना तो अध्यात्ममूलक ज्ञाननय की अपेक्षा असद्भूतव्यवहारनय का विषय हो सकता है। किन्तु इस दृष्टि से 'शरीर मेरा' और 'धन मेरा' ये उदाहरण असद्भूतव्यवहारनय के विषय नहीं हो सकते। पंचाध्यायी में इसी तथ्य का विवेक कर रागादि को असद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण बतलाया गया है। शरीरादि और धनादि पर पदार्थ हैं, इसलिए वे तो आत्मा में असद्भूत हैं ही। इनके योग से 'ये मेरे' इत्याकारक जो आत्मविकल्प होता है, वह भी ज्ञायक-स्वभाव और उसकी अनुभूति में असद्भूत है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द ने ऐसा विकल्प करनेवाले को मूढ़-अज्ञानी कहा है और यह बात ठीक भी है, क्योंकि जो परद्रव्य हैं, उनमें इस जीव की यदि आत्मबुद्धि बनी रहती है, तो वह ज्ञानी कैसे हो सकता है। इतना अवश्य है कि सम्यग्दृष्टि के शरीरादि परद्रव्यों में आत्मबुद्धि तो नहीं होती, पर जहाँ तक प्रमाददशा है, वहाँ तक राग अवश्य होता है। उसका निषेध नहीं।

यद्यपि वह राग भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए उसे परभाव बतलाया गया है, पर होता वह आत्मा में ही है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि इस तथ्य को जानता है। जानता ही नहीं है, ऐसा उसका निर्णय भी रहता है कि यह राग आत्मा में उत्पन्न होकर भी कर्म (और नोकर्म) के सम्पर्क में ही उत्पन्न होता है, उनके अभाव में उत्पन्न नहीं होता, अत: यह मेरा स्वभाव न होने से पर है, अतएव हेय हैं और ये जो सम्यक्त्वादि स्वभावभूत आत्मा के गुण हैं, वे आत्मा के स्वभाव-सन्मुख होने पर ही उत्पन्न होते हैं, पर का आश्रय लेने से त्रिकाल में उत्पन्न नहीं होते, अत: मुझे पर का आलम्बन छोड़कर मात्र अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का ही आलम्बन लेना श्रेयस्कर है। सम्यग्दृष्टि की ऐसी श्रद्धा होने के कारण वह आत्मा में रागादि वैभाविक भावों को स्वीकार तो करता है, किन्तु परभावरूप से ही स्वीकार करता है। इस प्रकार रागादि परभाव हैं, फिर भी वे आत्मा कहे गये,

इसलिए जो अन्य वस्तु के गुणधर्म को अन्य में आरोपित करता है, वह असद्भूतव्यवहारनय है, इस लक्षण के अनुसार तो 'रागादि जीव के' इसे असद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण मानना ठीक है, पर 'शरीरादि मेरे' और 'धनादि मेरे' ऐसे विशेषण युक्त विकल्प को असद्भूत -व्यवहारनय का उदाहरण मानना ठीक नहीं है।

फिर भी यह चरणानुयोग के अंगरूप (अनगारधर्मामृत और तदनुषंगी आलापद्धति आदि में) 'शरीर मेरा, धन मेरा' इसे स्वीकार करनेवाला जो असद्भूतव्यवहारनय बतलाया गया है, सो सम्यग्दृष्टि के वह लौकिक व्यवहार को स्वीकार करनेवाले ज्ञान की मुख्यता से बतलाया गया है, अध्यात्मदृष्टि को मुख्यकर नहीं। बात यह है कि लोक में 'यह शरीर मेरा, यह धन या अन्य पदार्थ मेरा' ऐसा अज्ञानमूलक बहुजन-सम्मत व्यवहार होता है और सम्यग्दृष्टि भी इसे जानता है। यद्यपि यह व्यवहार मिथ्या हैं, क्योंकि जिन शरीरादिक के आश्रय से लोक में यह व्यवहार प्रवृत्त होता है, उनका आत्मा में अत्यन्ताभाव है। फिर भी सम्यग्दृष्टि के ज्ञान में लोक में ऐसा व्यवहार होता है, इसकी स्वीकृति है। अत: इसी बात को ध्यान में रखकर अन्यत्र 'शरीर मेरा, धन मेरा' इस व्यवहार को स्वीकार करनेवाले नय को असद्भूत -व्यवहारनय कहा गया है। लोक में इसी प्रकार के और भी बहुत से व्यवहार प्रचलित हैं। जैसे परद्रव्य के आश्रय से कर्ता-कर्मव्यवहार, भोक्ता-भोग्यव्यवहार, और आधार-आधेव्यवहार आदि, सो इन सब व्यवहारों के विषय में भी इसी दृष्टिकोण से विचार कर लेना चाहिए। अध्यात्मदृष्टि से यदि विचार किया जाता है, तो न तो 'आत्मा कर्ता है और अन्य पदार्थ उसका कर्म है' यह व्यवहार बनता है, तथा न 'आमा भोक्ता है और अन्य पदार्थ भोग्य है' यह व्यवहार बनता है, तथा न 'घटादि पदार्थ आधार हैं और जलादि पदार्थ आधेय हैं' यह व्यवहार बनता है, क्योंकि एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अत्यन्ताभाव

होने से निश्चय से सब पदार्थ स्वतन्त्र है। कर्ता-कर्म आदिरूप जो भी व्यवहार होता है, वह अपने में ही होता हैं। दो द्रव्यों के आश्रय से इस प्रकार का व्यवहार त्रिकाल में नहीं हो सकता, इसलिए वह अपने श्रद्धान में इन सब व्यवहारों को परमार्थरूप से स्वीकार नहीं करता, परन्तु निमित्तादि की दृष्टि से ये व्यवहार होते हैं, ऐसा वह जानता है, इतना अवश्य है; अत: अध्यात्म में इन सब व्यवहारों का किसी नय में अन्तर्भाव न होकर भी ज्ञान की अपेक्षा इनका असद्भूत -व्यवहारनय में अन्तर्भाव हो जाता है। पंचाध्यायी में इन व्यवहारों को स्वीकार करनेवाले नय को नयाभास बतलाने का और अन्यत्र इन्हें नयरूप से स्वीकार करने को यही कारण है।

२१. उपसंहार

इस प्रकार मोक्षमार्ग की दृष्टि से निश्चयनय और व्यवहारनय का स्वरूप क्या है, इसका विचार किया। इससे ही हमें यह ज्ञान होता है, कि जीवन संशोधन में निश्चयनय क्यों तो उपादेय है और व्यवहारनय क्यों हेय है। आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षमार्ग में उपादेयरूप से व्यवहारनय का आश्रय करनेवाले जीव को पर्यायमूढ़ कहते हैं, उसका कारण भी यह है। वे प्रवचनसार में अपने इस भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं —

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुण पज्जाया पज्जयमूढ़ा हि परसमया॥९३॥

प्रत्येक पदार्थ द्रव्यस्वरूप है, द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं और उन दोनों से पर्याय होती हैं। जो पर्यायों में मूढ़ हैं, वे परसमय हैं॥९३॥

प्रवचनसार की उक्त गाथा द्वारा यह ज्ञान कराया गया है कि वस्तु स्वरूप का निर्णय करते समय जिस प्रकार अभेदग्राही द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय उपयोगी है, उसी प्रकार भेदग्राही (पर्यायार्थिक) नय भी उपयोगी है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु यह संसारी जीव अनादि काल

से अपने निश्चयरूप आत्मस्वरूप को भूलकर मात्र पर्यायमूढ़ हो रहा है, अर्थात् पर्याय को ही अपना स्वरूप समझ रहा है। एक तो अज्ञानवश वह अपने स्वरूप को जानता ही नहीं, जब जो मनुष्यादि पर्याय मिलती है, उसे ही आत्मा मानकर यह उसी की रक्षा में प्रयत्नशील रहता है। यदि उसकी हानि होती है, तो यह अपनी हानि मानता है और उसकी प्राप्ति में अपना लाभ मानता है। यदा कदाचित् उसे आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराया भी जाता है, तो भी यह अपनी पुरानी टेक को छोड़ने में समर्थ नहीं होता। फलस्वरूप यह जीव अनादि काल से पर्यायमूढ़ बना हुआ है और जब तक पर्यायमूढ़ बना रहेगा, तब तक उसके संसार की ही वृद्धि होती रहेगी। इसलिए इस जीव को उन पर्यायों में अभेदरूप अनादि-अनन्त एक भाव जो चेतनाद्रव्य है, उसे ग्रहण करके और उसे निश्चयनय का विषय कहकर जीवद्रव्य का ज्ञान कराया गया है और पर्यायाश्रित भेदनय को गौण कराया गया है। साथ ही अभेददृष्टि में वे भेद अनुभव में नहीं आते, इसलिए अभेददृष्टि की दृढ़ श्रद्धा कराने के लिए कहा गया है कि जो पर्यायनय है, सो व्यवहार है, अभूतार्थ है और असत्यार्थ है। वह मोक्षमार्ग में अनुसरण करनेयोग्य नहीं है, अर्थात् मोक्षमार्ग में लक्ष्यरूप से स्वीकार करनेयोग्य नहीं है।

इसी प्रकार बाह्य निमित्तादि की अपेक्षा जो व्यवहार की प्रवृत्ति होती है, वह भी उपचरित होने से मोक्षमार्ग में अनुसरण करनेयोग्य नहीं है। यद्यपि यह तो हम मानते हैं कि बाह्य निमित्तादि की अपेक्षा लोक में जो व्यवहार होता है, वह उपचरित होने पर भी इष्टार्थ का बोध कराने में सहायक है। जैसे 'घी का घड़ा' कहने पर उसी घड़े की प्रतीति होती है, जिसमें घी भरा जाता है या 'कुम्हार को बुला लाओ' ऐसा कहने पर उसी मनुष्य की प्रतीति होती है, जो घट की उत्पत्ति में निमित्त होता है, परन्तु इस व्यवहार को मोक्षमार्ग में उपादेयरूप

से स्वीकार करने पर स्वावलम्बिनी वृत्ति का अन्त होकर मात्र परावलम्बिनी वृत्ति को ही प्रश्रय मिलता है, अतएव अभूतार्थ (असत्यार्थ) होने से वह व्यवहार भी अनुसरणीय नहीं माना गया है।

यहाँ पर ऐसा समझना चाहिए कि जिसने अभेददृष्टि का आश्रय कर पर्यायदृष्टि और उपचारदृष्टि को हेय समझ लिया है, वह अपनी श्रद्धा में तो ऐसा ही मानता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता आदि त्रिकाल में नहीं हो सकता। जो मेरी संसार पर्याय हो रही है, उसका कर्ता एकमात्र मैं हूँ और मोक्षपर्याय को मैं ही अपने पुरुषार्थ से प्रगट करूँगा। इसमें अन्य पदार्थ अकिंचित्कर है। फिर भी जब तक उसके विकल्पज्ञान की प्रवृत्ति होती रहती है, तब तक उसे भूमिका में स्थित रहने के लिए अन्य सुदेव, सुगुरु और आप्तोपदिष्ट आगम आदि हस्तावलम्ब (बाह्यनिमित्त) होते रहते हैं। तभी तो उसके मुख से ऐसा वाणी प्रगट होती है—

मुझ कारज के कारण सु आप। शिव करहु हरहु मम मोहताप।

फिर भी वह इस प्रकार की प्रवृत्ति को उपादेय नहीं मानता, क्योंकि बाह्य आचाररूप प्रवृत्ति होना अन्य बात है और शुभाचार को आत्मकार्य या मोक्षमार्ग मानना अन्य बात है। सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्ग तो स्वभावदृष्टि की प्राप्ति और उसमें स्थिति को ही समझता है। यदि उसकी यह दृष्टि न रहे तो वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं हो सकता। यही कारण है कि मोक्षमार्ग में व्यवहारदृष्टि आश्रय करनेयोग्य नहीं है, यह कहा गया है। यह बात थोड़ी विचित्र तो लगती है कि स्वभावदृष्टि के सद्भाव में सम्यग्दृष्टि की प्रवृत्ति प्राथमिक अवस्था में रागरूप होती रहती है, परन्तु इसमें विचित्रता की कोई बात नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार किसी विद्यार्थी के पढ़ने का लक्ष्य होने पर भी वह सोता है, खाता है, चलता-फिरता है, और मनोविनोद के अन्य कार्य भी करता है, फिर भी वह अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि

जीव भी मोक्ष की उपायभूत स्वभावदृष्टि को ही अपना लक्ष्य बनाता है। कदाचित् उसके राग के आश्रय से सच्चे देव, गुरु और शास्त्र की उपासना के भाव होते हैं, कदाचित् धर्मोपदेश देने और सुनने के भाव होते हैं, कदाचित् आजीविका के साधन जुटाने के भाव होते हैं और कदाचित् उसकी अन्य भोजनादि कार्यों में भी रुचि होती है, तो भी वह अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता। यदि वह अपने लक्ष्य से च्युत होकर अन्य कार्यों को ही उपादेय मानने लगे तो जिस प्रकार लक्ष्य से च्युत हुआ विद्यार्थी कभी भी विद्यार्जन करने में सफल नहीं होता, उसी प्रकार मोक्षप्राप्ति की उपायभूत स्वभावदृष्टि से च्युत हुआ सम्यग्दृष्टि कभी भी मोक्षरूप आत्मकार्य के साधने से सफल नहीं होता। तब तो जिस प्रकार विद्यार्जनरूप लक्ष्य से भ्रष्ट हुआ विद्यार्थी, विद्यार्थी नहीं रहता; उसी प्रकार मोक्षप्राप्ति की उपायभूत स्वभावदृष्टि से भ्रष्ट हुआ जीव सम्यग्दृष्टि ही नहीं रहता। अतएव प्रकृत में यही समझना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि के व्यवहारनय ज्ञान करने के लिए यथापदवी प्रयोजनवान् होने पर भी वह मोक्षकार्य की सिद्धि में रंचमात्र भी आश्रयणीय नहीं है। आचार्यों ने जहाँ भी व्यवहारदृष्टि को बन्धमार्ग और स्वभावदृष्टि को मोक्षमार्ग कहा है, वहाँ वह इसी अभिप्राय से कहा है। इसका यदि कोई यह अर्थ करे कि इस प्रकार व्यवहारदृष्टि के बन्धमार्ग सिद्ध हो जाने पर न तो सम्यग्दृष्टि के देवपूजा, गुरुपास्ति, दान और उपदेश आदि देने के भाव ही होना चाहिए और न उसके शुभाचाररूप प्रवृत्ति ही होना चाहिए, सो उसका ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि के स्वभावदृष्टि हो जाने पर भी रागरूप प्रवृत्ति होती ही नहीं, यह तो कहा नहीं जा सकता। कारण कि जब तक उसे रागांश के सद्भाव में शुभोपयोग होता है, तब तक उसके रागरूप प्रवृत्ति भी होती रहती है और जब तक उसके रागरूप प्रवृत्ति होती रहती है, तब तक उसके फलस्वरूप

देवपूजादि व्यवहारधर्म का उपदेश देने के भाव भी होते रहते हैं और उसरूप आचरण करने के भी भाव होते रहते हैं। फिर भी वह अपनी श्रद्धा में उसे मोक्षमार्ग नहीं मानता, इसलिए उसका स्वामित्व न होने से उसका कर्ता नहीं होता। आगम में सम्यग्दृष्टि को अबन्धक कहा है, सो वह स्वभावदृष्टि की अपेक्षा ही कहा है, रागरूप व्यवहारधर्म की अपेक्षा से नहीं। सम्यग्दृष्टि एक ही काल में बन्धक भी है और अबन्धक भी है, इस विषय को स्वयं आगम में स्पष्ट किया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहते हैं—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१२॥

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१३॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१४॥

जिस अंश से यह जीव सम्यग्दृष्टि है, उस अंश से इसके बन्धन नहीं है। किन्तु जिस अंश से राग है, उस अंश से इसके बन्धन है॥२१२॥ जिस अंश से यह जीव ज्ञान है, उस अंश से इसके बन्धन नहीं है। किन्तु जिस अंश से राग है, उस अंश से इसके बन्धन है॥२१३॥ जिस अंश से यह जीव चारित्र है, उस अंश से इसके बन्धन नहीं है। किन्तु जिस अंश से राग है, उस अंश से इसके बन्धन है॥२१४॥

२२. उपदेश देने की पद्धति

इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय के विवेचन द्वारा यह निर्णय हो जाने पर कि मोक्षमार्ग में क्यों तो मात्र निश्चयनय उपादेय है और क्यों यथापदवी जानने के लिए प्रयोजनवान् होने पर भी व्यवहारनय अनुपादेय है, यहाँ उनके आश्रय से उपदेश देने की पद्धति

की मीमांसा करनी है। यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि निश्चयनय में अभेद कथन की मुख्यता होने से वह पर से भिन्न ध्रुवस्वभावी एकमात्र ज्ञायकभाव आत्मा को ही स्वीकार करता है। प्रकृत में पर का पेट बहुत बड़ा है। उसमें स्वात्मातिरिक्त अन्य द्रव्य अपने गुण-पर्याय के साथ तो समाये हुए हैं ही। साथ ही जिन्हें व्यवहारनय (पर्यायार्थिकनय) स्वात्मारूप से स्वीकार करता है, वे भी इस नय में पर हैं, इसलिए निश्चनय स्वात्मारूप से न तो गुणभेद को स्वीकार करता है, न पर्यायभेद को ही स्वीकार करता है और न बाह्य निमित्ताश्रित विभावभावों को ही स्वीकार करता है। संयोग पर उसकी दृष्टि ही नहीं है। ये सब उसकी दृष्टि में पर है, इसलिए वह इन सब विकल्पों से मुक्त अभेदरूप और नित्य एकमात्र ज्ञायकस्वभाव आत्मा को ही स्वीकार करता है।

कार्यकारण पद्धति अपेक्षा विचार करने पर जब वह ज्ञायकस्वभाव आत्मा के सिवा अन्य सबको पर मानता है, तब वह अन्य के आश्रय से कार्य होता है, इस दृष्टिकोण को कैसे स्वीकार कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता; इसलिए उसकी अपेक्षा एकमात्र यही प्रतिपादन किया जाता है कि जो कुछ भी कार्य होता है, वह उपादान में स्वाश्रय से ही होता है। जो इसका निज भाव है,वही अपनी परिणमनरूप सामर्थ्य के द्वारा कार्यरूप परिणत होता है। यह तो निश्यचनय की तत्वविवेचन की पद्धति है।

किन्तु व्यवहारनय की तत्त्वविवेचन की पद्धति इससे भिन्न प्रकार की है। यह गुणभेद और पर्यायभेदरूप तो आत्मा को स्वीकार करता ही है। साथ ही जो विभावभाव और संयोगी अवस्था है, उनरूप भी आत्मा को मानता है। इस नय का बल बाह्य निमित्तों पर अधिक है। इसलिए इस नय की अपेक्षा यह कार्य इन निमित्तों से हुआ, यह कहा जाता है। यह कथन इसी नय में शोभा पाता है कि यदि निमित्त न हों

तो कार्य भी नहीं होगा, निश्चनय में नहीं। निश्चयनय से तो यही कहा जाएगा कि जब तक निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती, तब तक पूर्व के किसी भी भाव को व्यवहाररत्नत्रय कहना संगत नहीं है और जब निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति हो जाती है, तब उसके पूर्व जो नवतत्त्वों की श्रद्धा और ज्ञान आदि भाव होते हैं, उन्हें भी भूतनैगमनय से व्यवहार –रत्नत्रय कहा जाता है, क्योंकि जब तक निश्चय प्रगट नहीं होता, तब तक व्यवहार किसका ? अभव्यों ने अनन्त बार द्रव्य मुनिपद को धारण किया, पर उनका चित्त राग में अटका रहने से उन्हें इष्टार्थ की प्राप्ति नहीं हुई। अतएव व्यवहाररत्नत्रय कार्यसिद्धि में वस्तुतः साधक है, ऐसी श्रद्धा छोड़कर त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की उपासना द्वारा निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति होती है—ऐसी श्रद्धा करनी चाहिए।

इस जीव को निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति होने पर व्यवहाररत्नत्रय होता ही है। उसे प्राप्त करने के लिए अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ता। व्यवहाररत्नत्रय स्वयं धर्म नहीं है। निश्चयरत्नत्रय के सद्भाव में उसमें धर्म का आरोप होता है, इतना अवश्य है। उसी प्रकार रूढ़िवश जो जिस कार्य का निमित्त कहा जाता है, उसके सद्भाव में भी तब तक कार्य की सिद्धि नहीं होती, जब तक जिस कार्य का वह निमित्त कहा जाता है, उसके अनुरूप उपादान की तैयारी न हो। अतएव कार्यसिद्धि में बाह्य सामग्री का होना अकिंचित्कार है। जो संसारी प्राणी बाह्य सामग्री को मिलाने के भाव तो करते हैं, पर निजात्मा की सम्हाल नहीं करते, वे इष्टार्थ की सिद्धि में सफल नहीं होते और अनन्त संसार के पात्र बने रहते हैं। अतएव बाह्य सामग्री कार्यसिद्धि में साधक हैं, ऐसी श्रद्धा छोड़कर अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव को मुख्यरूप से लक्ष्य में लेना चाहिए। उसको लक्ष्य में लेने पर बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि की अनुकूलता रहती ही है। उन बाह्य द्रव्यादि को मिलाना नहीं पड़ता। बाह्य द्रव्यादिक स्वयं कार्यसाधक नहीं है, किन्तु

उपादान के कार्य के अनुरूप व्यवहार करने पर जो बाह्य सामग्री में उसमें हेतु होती है, उसमें निमित्तपने का व्यवहार किया जाता है। निमित्त-नैमित्तिकभाव की यह व्यवस्था अनादि काल से बन रही है। कोई उसमें उलट-फेर नहीं कर सकता, अतएव प्रत्येक कार्य स्वकाल में उपादान के अनुसार अपने पुरुषार्थ से होता है, यही श्रद्धा करती हितकारी है। इस प्रकार दोनों नयों को अपेक्षा विवेचन करने की यह पद्धति है, अत: जहाँ जिस नय की अपेक्षा विवेचन किया गया हो, उसे उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए। उसमें अन्यथा कल्पना करना उचित नहीं है। निश्चय कथन यथार्थ है और व्यवहार कथन उपचरित (अयथार्थ) है, अत: उपचरित कथन से दृष्टि को परावृत्त करने के लिए वक्ता यदि मोक्षप्राप्ति में परम साधक निश्चयरत्नत्रय की दृष्टि से तत्त्व का विवेचन करता है, तो इससे व्यवहारधर्म का कैसे लोप होता है, यह हमारी समझ के बाहर है। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि निश्चयरत्नत्रय के अनुरूप तत्त्व का निर्णय हो जाने पर उसकी यथापदवी उपासना करनेवाले व्यक्ति की जब जो व्यवहार धर्मरूप प्रवृत्ति होती है, वह शुभरूप पुण्यवर्धक ही होती है। प्राय: अशुभ में तो उसकी प्रवृत्ति होती ही नहीं। इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय क्या है, उनके अनुसार तत्त्व-विवेचन की पद्धति क्या है और मोक्षमार्ग में क्यों तो निश्चयनय आश्रयणीय है और क्यों व्यवहारनय आश्रयणीय नहीं है, इसका सांगोपांगा ऊहापोह किया।

●

अनेकान्त-स्याद्वादमीमांसा

एक काल में देखिए अनेकान्त का रूप।
एक वस्तु में नित्य ही विधि-निषेधस्वरूप॥

१. उपोद्घात

पिछले प्रकरण में यद्यपि हमने निश्चयनय और व्यवहारनय तथा इनके उत्तर भेदों का विचार किया। इनका विवेचन करने के साथ इस बात का भी विचार किया कि मोक्षमार्ग में परमभावग्राही निश्चयनय क्यों आश्रयणीय है और सभी प्रकार का व्यवहारनय क्यों आश्रयणीय नहीं है। फिर भी प्रकृत में अनेकान्त और उसके स्वरूप को लक्ष्य में रखकर इस तत्त्व की गवेषणा करना प्रयोजनीय है, क्योंकि मोक्षमार्ग में सब प्रकार का व्यवहार दृष्टि में हेय होने से गौण होने पर उसे आश्रय करने योग्य न मानने के कारण एकान्त का प्रसंग आता है, ऐसा व्यवहाराभासियों का मत है। किन्तु उनका ऐसा कहना इसलिए ठीक नहीं है, क्योंकि आगम में ऐसे अनेक वचन उपलब्ध होते हैं, जिनके बल पर यह निश्चित होता है कि मोक्षसिद्धि के लिए मोक्षमार्ग में मात्र निश्चयनय का अवलम्बन लेना ही कार्यकारी है। उदाहरणार्थ समयप्राभृत में आचार्य कुन्दकुन्द मोक्ष का हेतु एकमात्र परमार्थ (निश्चयनय) का अवलम्बन लेना ही है, इस तथ्य का समर्थन करते हुए कहते हैं—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुला पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ॥१५६॥

विद्वज्जन निश्चयनय के विषय को छोड़कर व्यवहार से प्रवृत्ति करते हैं, परन्तु परमार्थ का आश्रय करनेवाले यतियों (ज्ञानियों) का ही कर्मक्षय होता है॥१५६॥

जो परमार्थस्वरूप मोक्षहेतु के अतिरिक्त व्रत, पूजा, दान, पर दया, व्यवहार, तप आदिस्वरूप मोक्षहेतु मानते हैं, उनका यहाँ आचार्यदेव ने विद्वान पद द्वारा उल्लेख किया है। क्योंकि वे ही आगम की दुहाई देकर इन व्रत, तप आदि की खेंच करते हैं। वे यह स्वीकार ही नहीं करना चाहते कि यथापदवी परमार्थ के साथ गौणरूप से उसका व्यवहार स्वतः होता ही है।

गाथा में आया हुआ यति पद ज्ञानियों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। कारण कि लोक में साधु, यति, मुनि आदि जितने भी शब्द प्रयुक्त होते हैं, अध्यात्म में वे सब भेदविज्ञान सम्पन्न जीव के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। यह इसी से स्पष्ट है कि जो ज्ञानी है, उसने अपने अभिप्राय में सब प्रकार के परभावों से अपने को जुदा कर लिया है।

२. भेदविज्ञान की कला का निर्देश

आचार्य कुन्दकुन्द ने उक्त सूत्रगाथा में जो कुछ कहा है, उसे स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं —

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वात् मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥
वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

ज्ञान एक द्रव्य का स्वभाव है, इसलिए ज्ञान का ज्ञानरूप से होना एकमात्र वही मोक्ष का हेतु है ॥१०६॥ किन्तु कर्म का (राग का) स्वभाव अन्य द्रव्यरूप है, इसलिए ज्ञान का उस रूप से नहीं होने के कारण कर्म मोक्ष का हेतु नहीं है ॥१०७॥

यह भेदविज्ञान की कला है। इस कला के प्राप्त होने पर ही आत्मा अज्ञानभाव से मुक्त होकर मोक्ष का पात्र होता है। इसकी प्राप्ति में अज्ञानभाव का अणुमात्र भी योगदान नहीं है। वे पुनः इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं —

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्यात्यं यदुक्तं जिनैः
तन्मन्ये व्यवहार एक निखिलोऽन्याश्रिततस्त्याजितः।
सम्यक् निश्चयमेकभेव परमं निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम्॥१७३॥

बाह्य सभी पदार्थों के आलम्बन से जो अध्यवसान भाव होते हैं, उन सभी को जिनेन्द्रदेव ने त्यागने योग्य कहा है, इसलिए हम मानते हैं कि जिनेन्द्रदेव ने पर को निमित्तकर होनेवाले सभी प्रकार के व्यवहार को छुड़ाया है। फलस्वरूप जो सत्पुरुष हैं, वे सम्यक् प्रकार से एक निश्चय (ज्ञायकस्वरूप आत्मा) को ही निश्चलरूप से अंगीकार कर शुद्ध (केवल) ज्ञानघनस्वरूप अपनी महिमा में स्थिरता को क्यों नहीं धारण करते॥१७३॥

परपदार्थों में आत्मबुद्धि होना अध्यवसानभाव है। यह सामान्य निर्देश है। वस्तुतः देखा जाए तो पर को परमार्थ से आत्मकार्य में साधक मानना, यह भी अध्यवसानभाव है। ऐसे पराश्रित जितने प्रकार के भाव होते हैं, अध्ययवसानभाव भी उतने ही प्रकार के होते हैं। ये आत्मा से आत्मा को विलग करके परपदार्थों से आत्मा को युक्त करते हैं, इसलिए जिनेन्द्रदेव ने ऐसे सभी प्रकार के अध्यवसानभावों को छोड़ने का उपदेश दिया है। ऐसा होने पर ही संसारी प्राणी आत्म-कार्य के सन्मुख होकर आत्मा में स्थिति करने में समर्थ हो सकता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

मोक्षमार्ग की सिद्धि निश्चयनयस्वरूप उपयोग परिणाम के होने पर ही होती है, इस बात का स्पष्ट निर्देश करते हुए नयचक्र में भी कहा है—

णिच्छयदो खलु मोक्खो बंधो ववहारचारिणो जम्हा।
तम्हा णिव्वुदिकामो ववहारं चयदु तिविहेण॥३८२॥

यतः निश्चयनयस्वरूप होने से मोक्ष होता है और व्यवहारचारी

अर्थात् पराश्रित प्रवृत्ति करनेवाले के बन्ध होता है, अतः मोक्षप्राप्ति की रुचि जिसके चित्त में जागृत हुई है, उसे मन, वचन और काय से व्यवहार का त्याग कर देना चाहिए अर्थात् सब प्रकार के अध्यवसान-भावों से मुक्त हो जाना चाहिए। तथा ज्ञानी के चतुर्थादिगुणस्थान में जो शुभाचार-सम्बन्धी पराश्रित विकल्प होते हैं, उनमें भी हेयबुद्धि कर लेनी चाहिए॥१८१॥

शंका—ज्ञानी के शुभाचार में हेयबुद्धि होती ही है। ऐसी अवस्था में उसे शुभाचार में हेयबुद्धि कर लेनी चाहिए, ऐसा क्यों कहा?

समाधान—यह सच है कि ज्ञानी के शुभाचार में स्वयं हेयबुद्धि होती ही है, क्योंकि निश्चयनय के समान यदि उसमें उपादेयबुद्धि हो जाए तो उसे ज्ञानी कहना ही नहीं बनता। फिर भी समझाने की दृष्टि से ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानी को शुभाचार में हेयबुद्धि कर लेनी चाहिए।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए वहाँ पुनः कहा है —

मोत्तूण बहिविसयं आदा वि वट्टदे काउं।
तइया संवर णिज्जर मोक्खो विय होइ साहुस्स॥३८३॥

जब साधु (ज्ञानी) बाह्य विषय को छोड़कर आत्मा में स्थित होता है, तब उसे संवर, निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति होती है॥३८३॥

३. तर्कपूर्ण शैली में व्यवहार का निषेध

निश्चयनय के आश्रय से ही धर्म होता है, व्यवहारनय के आश्रय से नहीं, इस विषय को तर्कपूर्ण शैली द्वारा स्पष्ट करते हुए भ० देवसेनकृत नयचक्र की टीका (प्रकाशक श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री सोलापुर १९४९) में कहते हैं —

खलु प्रमाणलक्षणो योऽसौ व्यवहारः स व्यवहार निश्चयमनुभयं च गृह्णनप्यधिकविषयत्वात्कथं न पूज्यनीयः? नैवम् नपपक्षातीत-

मात्मानं कर्तुमशक्यत्वात्। तद्यथा—निश्चयं गृह्णन्नपि अन्ययोग-व्यवच्छेदं न करोतीत्यन्ययोगव्यवच्छेदाभावे व्यवहारलक्षणभाव-क्रियां निरोद्धुमशक्तः, अतएव ज्ञानचैतन्ये स्थापयितुमशक्य एवासावात्मानमिति। तथा प्रोच्यते—निश्चयनयस्त्वेकत्वे समुपनीय ज्ञानचैतन्ये संस्थाप्य परमानन्दं समुत्पाद्य वीतरागं कृत्वा स्वयं निवर्तमानो नयपक्षातिक्रान्तं करोति तमिति पूज्यतमः। अतएव निश्चयनयः परमार्थप्रतिपादकत्वात् भूतार्थः अत्रैवाविश्रान्तदृष्टि-र्भवत्यात्मा।

शंका—जो यह प्रमाणलक्षण व्यवहार (विकल्प) है, वह व्यवहार, निश्चय और अनुभय को ग्रहण करता हुआ अधिक विषयवाला होने से पूज्य क्यों नहीं?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रमाणलक्षण व्यवहार (विकल्प) आत्मा को नयपक्ष से अतिक्रान्त करने में समर्थ नहीं है। खुलासा इस प्रकार है—प्रमाणलक्षण व्यवहार निश्चयनय को ग्रहण करके अभी अन्ययोगव्यवच्छेद नहीं करता और अन्ययोगव्यवच्छेद के अभाव में वह व्यवहारलक्षण भावक्रिया (पराश्रित विकल्प) को रोकने में असमर्थ है। अतएव वह आत्मा को ज्ञानस्वरूप चैतन्य में स्थापित करने के लिए असमर्थ ही है। उसी को समझाते हुए कहते हैं—निश्चयनय तो एकत्व को प्राप्त करने के साथ आत्मा को ज्ञानस्वरूप चैतन्य में स्थापित कर परमानन्द को उत्पन्न करता हुआ, उसे वीतराग करके स्वयं निवृत्त होता हुआ उसे (आत्मा को) नयपक्ष से अतिक्रान्त करता है, इसलिए वह सब प्रकार से पूज्य है। तथा निश्चयनय परमार्थ का प्रतिपादक होने से भूतार्थ है, क्योंकि इसी विधि से आत्मा स्वयं में अविश्रान्तरूप से अन्तर्दृष्टि होता है।

यहाँ प्रमाण सप्तभंगी का कोई भी भंग मोक्षमार्ग में अनुपादेय है, यह स्पष्ट करके नयसप्तभंगी का प्रथम भंग ही प्रयोजनीय है, यह सुस्पष्ट किया गया है।

शंका—मोक्षमार्ग में नयसप्तभंगी के द्वितीयादि भंग क्यों प्रयोजनीय नहीं है ?

समाधान—क्योंकि एकत्व को बतलानेवाले निश्चयनय का जो अवलम्बन लेकर एकत्वस्वरूप आत्मा के अनुभव के सन्मुख होने का उद्यम कर रहा है, उसके अन्य सब विकल्प स्वयं छूट जाते हैं।

शंका—जब यह आत्मा निर्णय करने के सन्मुख होता है, तब क्या विचार करता है ?

समाधान—तब अवश्य ही यह विचार करता है कि मोक्षमार्ग में निश्चय का अवलम्बन लेना ही प्रयोजनीय है, अन्य नहीं। और जब यह जीव ऐसा निर्णय कर लेता है, तभी वह निश्चयस्वरूप एकत्व के सन्मुख होने का उद्यम करने में समर्थ होता है।

इसीलिए नयचक्र में यह कहा गया है—

ववहारादो वन्धो मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो।
तम्हा कुरु तं गउणं सहावमाराहणाकाले॥३४२॥

यत: व्यवहार से (पराश्रित विकल्प से) बन्ध होता है और स्वभाव में लीन होने से मोक्ष होता है, इसलिए स्वभाव की आराधना के समय व्यवहार को गौण करना चाहिए॥३४२॥

और भी कहा है—

जीवो सहावमओ कहं पि सो चेव जादपरसमओ।
जुत्तो जइ ससहावे तो परभावं खु मंचेदि॥४०२॥

जीव अपने स्वभावमय है, किसी प्रकार वह परसमय हो गया है। यदि वह अपने स्वभाव में लीन हो जाए तो परभाव को छोड़ देता है, अर्थात् परभाव से स्वयं मुक्त हो जाता है॥४०२॥

परभाव से मुक्त होना ही मोक्ष है। इससे सिद्ध हुआ कि स्वभाव में लीन होना ही मोक्ष का उपाय है, अन्य नहीं।

इसी तथ्य को दूसरे प्रकार से स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकाय में लिखा है—

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओध परसमओ।
जइ कुणइ सगसमयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो॥१०५॥

जीव स्वभावनियत होने पर भी संसार अवस्था में अनियत गुण–पर्यायवाला होने से परसमय है। यदि वह स्वसमयरूप परिणमता है, तो द्रव्य–भाव उभयरूप कर्मबन्ध से छूट जाता है।

जीव ज्ञान–दर्शनस्वभाव है। किन्तु संसार अवस्था में अनादि काल से मोहोदय का अनुसरणकर उपरक्त उपयोगवाला होकर राग–द्वेषादिरूप अनियत गुणपर्यायपने को प्राप्त होने से परसमय अर्थात् परचरित हो रहा है। किन्तु जब वह अनादि मोहोदय के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणति से वियुक्त होता हुआ शुद्ध उपयोगवाला होता है, तभी अपने ज्ञान–दर्शनस्वभाव में स्थित होने के कारण स्वसमय अर्थात् स्वचरित होता है।

स्वभाव की आराधना कहो या मोक्षमार्ग कहो, दोनों का अर्थ एक ही है। तदनुसार उक्त कथन का यह अभिप्राय है कि एकमात्र स्वभाव की आराधना करने से ही जीवन में मोक्षमार्ग की प्रसिद्धि होती है। अतएव स्वभाव उपादेय है और जीवादि नौ पदार्थस्वरूप परभाव हेय हैं, ऐसा समझकर सदा स्वभाव पर अपनी दृष्टि स्थिर रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। चित्त की अस्थिरतावश कदाचित् रागादिरूप विकल्प उत्पन्न हों तो उन्हें अनुपादेय अर्थात् अहितकारी समझकर स्वभाव के आलम्बन द्वारा निवृत्त होने का सतत् प्रयत्न (पुरुषार्थ) करते रहना चाहिए।

रागादिभावों का अवलम्बनकर प्रवृत्ति करना उपादेय नहीं है, ऐसी दृढ़प्रतीति के साथ जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होता है, वही समस्त

औपाधिकभावों से निवृत्त होकर मोक्ष का अधिकारी होता है। प्रकृत में निश्चयनय के आश्रय करने का और व्यवहारनय के आश्रय छोड़ने का यही तात्पर्य है।

इस प्रकार उक्त प्रमाणों के प्रकाश में हम देखते हैं कि मोक्षमार्ग में एकमात्र निश्चयनय को ही आश्रय करनेयोग्य बतलाया गया है, व्यवहारनय को नहीं। फिर भी कतिपय व्यवहाराभासी जन इसे एकान्त कहकर परमार्थमार्ग के विरोध में प्रचार करते रहते हैं, उनका ऐसा करना कैसे आगमविरुद्ध है, इसे स्पष्ट करने के अभिप्राय से सर्व प्रथम यहाँ अनेकान्त क्या है, इसका निर्णय करते हैं। साथ ही इस मीमांसा में यह भी स्पष्ट करेंगे कि जैनदर्शन में अनेकान्त किस दृष्टि से स्वीकार किया गया है और किस प्रकार की प्रवृत्ति के लिए कौन-सी दृष्टि अपनाना श्रेयस्कर है। तत्त्वनिर्णयपूर्वक मोक्षमार्ग में उपयुक्त होने का मार्ग भी यही है।

४. अनेकान्त का स्वरूपनिर्देश

अनेकान्त शब्द अनेक और अन्त, इन दो शब्दों के मेल से बना है। उसका सामान्य अर्थ है—अनेके अन्ता: धर्मा: यस्यासौ अनेकान्त:। जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म पाये जाते हैं, उसे अनेकान्त कहते हैं। जो भी जीवादि पदार्थ हैं, वे सब अनेकान्तस्वरूप हैं, यह इस कथन का तात्पर्य है। जो कोई पदार्थ अस्तिरूप है, वह प्रत्येक त्रैकालिक होने के साथ अर्थक्रियाकारी भी है। और वह तभी उक्त विधि से अर्थक्रियाकारी बन सकता है, जब उसे अनेकान्तस्वरूप स्वीकार किया जाए। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए स्वामी कार्तिकेय स्वचरित द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं —

जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेदि णियमेण।
बहुधम्मजुदं अत्थं कज्जकरं दीसदे लोए॥२२५॥

जो वस्तु अनेकान्त स्वरूप है, वही नियम से कार्य करने में समर्थ है, क्योंकि लोक में बहुत धर्मवाला अर्थ ही कार्यकारी देखा जाता है ॥२२५॥

शंका—वस्तु बहुत धर्मोंवाली होती है, इसका क्या अर्थ है? जैसे जीवद्रव्य लीजिए। वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख और वीर्य आदि अनन्त धर्मोंवाला है या अस्तित्व, वस्तुत्त्व आदि अनन्त धर्मोंवाला है। इस प्रकार वस्तु बहुत धर्मोंवाली है, अनेकान्त का क्या यह अर्थ लिया जाए या इसका कोई दूसरा अर्थ है।

समाधान—विचार कर देखा जाए तो प्रत्येक वस्तु केवल उक्त विधि से ही अनेकान्तस्वरूप नहीं स्वीकार की गयी है। किन्तु प्रत्येक वस्तु को अनेकान्तस्वरूप स्वीकार करने का प्रयोजन ही दूसरा है। बात यह है कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए जैनदर्शन में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक वस्तु जैसे स्वद्रव्यादि की अपेक्षा अस्ति-स्वरूप है, वैसे वह परद्रव्यादि की अपेक्षा अस्तिस्वरूप नहीं है, क्योंकि एक द्रव्य में अन्य सजातीय और विजातीय अन्य द्रव्यों का अत्यन्ताभाव है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाए तो न तो प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व ही सिद्ध होता है और न ही प्रत्येक जीव की बन्ध-मोक्ष व्यवस्था ही बन सकती है। यह तो है ही, इसके साथ ही एक वस्तु में भी धर्मी और अनन्त धर्मों की अपेक्षा विचार करने पर उनमें से भी प्रत्येक का अपने अपने विवक्षित स्वरूपादि की अपेक्षा स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंकि जैसे प्रत्येक धर्मी स्वरूप से सत् है, वैसे ही गुण-पर्यायरूप प्रत्येक धर्म भी स्वरूप से सत् हैं। कोई किसी के कारण स्वरूपसत् हो, ऐसा नहीं है। जैनदर्शन में स्वरूप से सत् और पररूप से असत् इत्यादि तथ्य को स्वीकार कर जो अनेकान्त की प्रतिष्ठा है, उसका प्रमुख कारण यही है। भेदविज्ञान जैनदर्शन का प्राण है, इसलिए उक्त विधि से

अनेकान्त को हृदयंगम करने पर ही भेदविज्ञान में निपुणता प्राप्त होना सम्भव है, अन्य प्रकार से नहीं। उदाहरणार्थ जब यह कहा जाता है कि रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है, तब उसका अर्थ होता है कि रत्नत्रय को छोड़कर अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। इसे और खुलासा कर समझा जाए तो यह कहा जाएगा कि यद्यपि जीव वस्तु अनन्त धर्मगर्भित एक पदार्थ है, परन्तु उसमें भी मोक्षमार्गता मात्र रत्नत्रयपरिणत आत्मा में ही घटित होती है, अन्य अनन्त धर्मपरिणत आत्मा में नहीं। इस प्रकार विविध दृष्टिकोणों से देखने पर एक ही वस्तु कैसे अनेकान्त-स्वरूप है, यह स्पष्ट हो जाता है, इसलिए उसके स्वरूप का ख्यापन करते हुए समयसार आत्मख्याति टीका में कहा भी है—

तत्र यदेव तत् तदेव अतत् यदेवैकं तदेवानेकं यदेव सत् तदेव असत् यदेव नियं तदेव अनित्यं इत्येकस्मिन् वस्तुत्वनिष्पादक-परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।

स्वतन्त्र सत्ता की वस्तुऐं अनन्त हैं। उन्हें बुद्धिगम्य करके विविध दृष्टिकोणों से देखने पर प्रत्येक वस्तु कैसी प्रतीति में आती है, इसी का ख्यापन करते हुए परमागम में कहा है—

जो तत् है, वही अतत् है; जो एक है, वही अनेक है; जो सत् है, वही असत् है तथा जो नित्य है, वही अनित्य है। इस प्रकार एक ही वस्तु में वस्तुत्व की प्रतिष्ठा करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों के प्रकाशन का नाम अनेकान्त है।

५. चार युगलों की अपेक्षा अनेकान्त की सिद्धि

यद्यपि जीवद्रव्य अनन्त हैं। पुद्गलद्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं। धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य प्रत्येक एक-एक हैं तथा कालद्रव्य लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, तत्प्रमाण हैं। उनमें से यहाँ उदाहरण-स्वरूप एक जीवद्रव्य की अपेक्षा विचार करते हैं। उसमें भी अनेकान्त के स्वरूप का ख्यापन करते समय जिन परस्पर विरुद्ध चार युगलों

का निर्देश कर आये हैं, उनको ध्यान में रखकर क्रम से मात्र आत्मतत्त्व का निरूपण करेंगे —

१. पहला युगल है—आत्मा तत्स्वरूप ही है और अतत्स्वरूप ही है, क्योंकि अन्तरंग में अपने सहज ज्ञानस्वरूप के द्वारा तत्स्वरूप ही है और बाहर अनन्त ज्ञेयों को जानता है, इस अपेक्षा वह अतत्स्वरूप ही है।

२. दूसरा युगल है—आत्मा एक ही और अनेक ही है, क्योंकि सहप्रवृत्तमान गुण और क्रमशः प्रवृत्तमान पर्यायों स्वरूप अनन्त चैतन्यरूप अंशों के समुदायपने की अपेक्षा वह एक ही है और सहज ही अविभक्त एक द्रव्य में व्याप्त सह प्रवृत्तमान गुण और क्रमशः प्रवृत्तमान पर्यायस्वरूप अनन्त चैतन्य अंशरूप पर्यायों की अपेक्षा वह अनेक ही है। यहाँ भेद-कल्पना में गुणों को पर्याय कहा गया है।

३. तीसरा युगल है—आत्मा सत् ही है और असत् ही है, क्योंकि वह अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से होने की शक्तिरूप स्वभाववाला है, इसलिए सत् ही है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप न होने की शक्तिरूप स्वभाववाला है, इसलिए असत् ही है।

४. चौथा युगल है—आत्मा नित्य ही है और अनित्य ही है, क्योंकि अनादि-निधन-अविभाग एकरस परिणत होने के कारण वह नित्य ही है और क्रमशः प्रवर्तमान एक समय की मर्यादावाले अनेक वृत्त्यंशरूप से परिणत होने के कारण वह अनित्य ही है।

इस प्रकार एक ही आत्मा तत् है और अतत् है, एक है और अनेक है, सत् और असत् है तथा नित्य है और अनित्य है। इसलिए वह अनेकान्तस्वरूप है, यह निश्चित होता है। इसी प्रकार जितना भी द्रव्यजात है, उनमें से प्रत्येक को अनेकान्तस्वरूप घटित कर लेना चाहिए।

शंका—श्री समयसार परमागम में आत्मा को ज्ञानमात्र कहा गया है, सो यदि आत्मद्रव्य ज्ञानमात्र होने से स्वयं ही अनेकान्तस्वरूप है तो फिर आत्मतत्त्व की सिद्धि के लिए पृथक् से अनेकान्त की प्ररूपणा क्यों की जाती है ?

समाधान—अज्ञानीजन आत्मतत्त्व को ज्ञानमात्र नहीं मानते, इसलिए आत्मतत्त्व ज्ञानमात्र है, यह उपदेश दिया जाता है। वस्तुतः अनेकान्त के बिना ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की सिद्धि होना सम्भव नहीं है, इसलिए पृथक् अनेकान्त को प्ररूपणा की जाती है।

शंका—जैसे प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मगर्भित एक वस्तु है, वैसे ही आत्मा भी अनन्त धर्मगर्भित एक वस्तु है। फिर प्रकृत में उसे ज्ञानमात्र क्यों बतलाया गया है।

समाधान—लक्ष्य-लक्षण में अभेद करके आत्मा को ज्ञानमात्र कहने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। यद्यपि आत्मा भी अन्य द्रव्यों के समान अनन्त-धर्मगर्भित एक वस्तु है। किन्तु उसमें साधारण और असाधारण दोनों प्रकार के धर्म हैं। जो साधारण धर्म हैं, वे अन्य द्रव्यों से आत्मद्रव्य के भेदक नहीं हो सकते। जो असाधारण होकर भी पर्यायरूप हैं, वे भी एक त्रिकालवर्ती आत्मद्रव्य का ख्यापन करने में असमर्थ हैं। और जो असाधारण होकर भी त्रिकाल व्याप्ति समन्वित है, जैसे चारित्र, सुख और वीर्य आदि, सो वे भी बोधगम्य होने पर ही माने जाते हैं। अत: वे स्वयं आत्मतत्त्व को अन्य द्रव्यों से पृथक् करने में असमर्थ है। रहा दर्शन, सो वह अनाकारस्वरूप है। एक ज्ञान ही ऐसा है, जो अनुभवगोचर है, इसलिए उस द्वारा आत्मतत्त्व को अन्य द्रव्यों से पृथक् करना सम्भव है, इसलिए जिनागम में आत्मा को ज्ञानमात्र स्वीकार किया गया है।

तत्त्वार्थवार्तिक में लक्षण किसे कहते हैं, इसका निर्देश करते हुए बतलाया है—

परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्।

सभी पदार्थ (परक्षेत्रपने की अपेक्षा) परस्पर मिलकर रहते हैं, इसलिए जिसके द्वारा एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से जुदा किया जाता है, उसे लक्षण कहते हैं।

इस दृष्टि से विचार करने पर द्रव्य, (सामान्य) गुण (प्रत्येक द्रव्य -व्यापी त्रिकाली विशेष धर्म) और पर्याय (प्रत्येक द्रव्यव्यापी एक समयवर्ती धर्मविशेष) का लक्षण स्वतन्त्ररूप से प्रतीति में आता है। यही कारण है कि प्रकृत में इसी दृष्टि को माध्यम बनाकर अनेकान्त -स्वरूप वस्तु की व्यवस्था की गयी है। एक ही वस्तु दूसरी वस्तु से अत्यन्त भिन्न है, यह तो है ही। उसे दिखलाना यहाँ मुख्य प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो एक ही वस्तु द्रव्य, गुण और पर्यायपने की अपेक्षा कैसे तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत् और नित्य-अनित्यस्वरूप है, यह दिखलाया है। जैनदर्शन में प्रत्येक वस्तु को अनेकान्तस्वरूप दिखलाना यह मुख्य प्रयोजन है। अन्यथा प्रत्येक वस्तु स्वयं में अनेकान्तस्वरूप नहीं सिद्ध होती।

तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय ४, सूत्र ४२ में जीव पदार्थ अनेकान्तात्मक कैसे है, इसका विचार करते हुए लिखा है—

जीव पदार्थ एक होकर भी अनेकरूप हैं, क्योंकि वह अभाव से विलक्षण स्वरूपवाला है। वस्तुत: देखा जाए तो अभाव में कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। उसके विपरीत भाव में तो अनेक धर्म और अनेक भेद दृष्टिगोचर होते हैं। जो घट का उत्पाद है, वही पट आदि अनन्त पदार्थों का उत्पाद नहीं है। इस प्रकार स्व की अपेक्षा उत्पाद एक होकर भी उसमें पर की अपेक्षा अनन्तरूपता घटित हो जाती है। यह एक उदाहरण है। पर से भेद दिखलाने की अपेक्षा इस प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार लोक में जितने भी सद्भावरूप पदार्थ हैं, उनमें से प्रत्येक कैसे अनेकान्तस्वरूप है, इसका संक्षेप में ऊहापोह किया।

६. स्याद्वाद और अनेकान्त

अब अनेकान्तस्वरूप वस्तु का वचन मुख से विचार करते हैं। अनेकान्तस्वरूप एक ही वस्तु का शब्दों द्वारा कथन दो प्रकार से होता है—एक क्रमिकरूप से और दूसरा यौगपद्यरूप से। इनके अतिरिक्त कथन का तीसरा कोई प्रकार नहीं है। जब अस्तित्त्व आदि अनेक धर्म कालादि की अपेक्षा भिन्न-भिन्नरूप से विवक्षित होते हैं, तब एक शब्द में अनेक धर्मों के प्रतिपादन की शक्ति न होने से उनका क्रम से प्रतिपादन किया जाता है। इसी का नाम विकलादेश है। परन्तु जब वे ही अस्तित्वादि धर्म कालादि की अपेक्षा अभेदरूप से विवक्षित होते हैं, तब एक ही शब्द द्वारा एक धर्ममुखेन तादात्म्यरूप से एकत्व को प्राप्त सभी धर्मों का अखण्डरूप से युगपत कथन हो जाता है। इसी का नाम सकलादेश है। विकलादेश नयरूप है और सकलादेश प्रमाणरूप है। कहा भी है—विकलादेश नयाधीन है और सकलादेश प्रमाणाधीन है।

७. सकलादेश की अपेक्षा ऊहापोह

जिस समय एक वस्तु अखण्डरूप से विवक्षित होती है, उस समय वह अस्तित्वादि धर्मों की अभेदवृत्ति या अभेदोपचार करके पूरी की पूरी एक शब्द द्वारा कही जाती है। इसी का नाम सकलादेश है, क्योंकि द्रव्यार्थिकनय से सभी धर्मों में अभेदवृत्ति घटित हो जाने से अभेद है तथा पर्यायार्थिकनय से प्रत्येक धर्म में दूसर धर्मों से भेद होने पर भी अभेदोपचार कर लिया जाता है। जिसे स्याद्वाद कहते हैं, उसमें इस दृष्टि से प्रत्येक भंग समग्र वस्तु को कहनेवाला माना जाता है, इसी को आगे सप्तभंगी के द्वारा स्पष्ट करते हैं—

८. सप्तभंगी का स्वरूप और उसमें प्रत्येक भंग की सार्थकता

सप्तभंगी कहने से इसके अन्तर्गत सात भंगों का बोध होता है। वे हैं—(१) स्यात् है ही जीव, (२) स्यात् नहीं ही है जीव, (३) स्यात् अवक्तव्य ही है जीव, (४) स्यात् है और नहीं है, जीव, (५) स्यात् है और अवक्तव्य है जीव, (६) स्यात् नहीं है और अवक्तव्य है जीव तथा, (७) स्यात् है, नहीं है और अवक्तव्य है जीव।

प्रश्न के वश होकर एक वस्तु में अविरोधपूर्वक विधि-प्रतिषेध कल्पना का नाम सप्तभंगी है। किसी वस्तु को जानने के लिए जिज्ञासा सात प्रकार की होती है, इसलिए एक सप्तभंगी में भंग भी सात ही होते हैं। ये भंग पूर्व में दिये ही हैं।

शंका—उक्त सात भंगों में यदि 'स्यादस्त्येव जीवः' यह भंग सकलादेशी है, तो इसी एक भंग से जीवद्रव्य के सभी धर्मों का संग्रह हो जाता है, इसलिए आगे के सभी भंग निरर्थक है।

समाधान—गौण और मुख्य विवक्षा से सभी भंग सार्थक हैं। द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता और पर्यायार्थिकनय की गौणता में प्रथम भंग सार्थक है। तथा पर्यायार्थिकनय की मुख्यता और द्रव्यार्थिकनय की गौणता में दूसरा भंग सार्थक है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि यहाँ प्रधानता केवल शब्द प्रयोग की है। वैसे प्रमाण सप्तभंगी की अपेक्षा वस्तु तो प्रत्येक भंग में पूरी ही ग्रहण की जाती है। जो शब्द से कहा नहीं गया है अर्थात् गम्य मात्र हुआ है, वह प्रकृत में अप्रधान है। तृतीय भंग में कहने की युगपत् विवक्षा होने से दोनों ही अप्रधान हो जाते हैं, क्योंकि दोनों को एक साथ प्रधानभाव से कहनेवाला कोई शब्द नहीं है। चौथे भंग में क्रमशः उभयधर्म प्रधान होते हैं। इसी सरणि से आगे के तीन भंगों का विचार कर लेना चाहिए।

८. प्रत्येक भंग में 'अस्ति' आदि पदों की सार्थकता

'स्यादस्त्येव जीव:' इस वाक्य में 'जीव' पद विशेष्य है—द्रव्यवाची है और 'अस्ति' पद विशेषण है—गुणवाची है। उनमें परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव है, इसके द्योतन के लिए 'एव' पद का प्रयोग किया गया है। इससे इतर धर्मों की निवृत्ति का प्रसंग प्राप्त होने पर उन धर्मों के सद्भाव को द्योतन करने के लिए उक्त वाक्य में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ 'स्यात' तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। प्रकृत में इसका अर्थ अनेकान्त लिया गया है।

शंका— जबकि 'स्यात्' पद से ही अनेकान्त का द्योतन हो जाता है, तो फिर 'अस्त्येव जीव' या 'नास्त्येव जीव:' इत्यादि पदों के प्रयोग की कोई सार्थकता नहीं रह जाती है?

समाधान— माना कि 'स्यात्' पद से अनेकान्त का द्योतन हो जाता है, फिर भी विशेषार्थी विशेष शब्दों का प्रयोग करते हैं। जैसे जीव कहने से मनुष्यादि सभी का ग्रहण हो जाता है, फिर भी विवक्षित पर्यायविशिष्ट जीव को जाननेवाला उस-उस शब्दों का प्रयोग करता है। इसलिए पूर्वोक्त कोई दोष नहीं है।

एक बात और है। वह यह कि यद्यपि 'स्यात्' पद अनेकान्त का द्योतक होता है और जो द्योतक होता है, वह किसी वाचक शब्द के द्वारा कहे गये अर्थ को ही अनेकान्तरूप द्योतन करता है, अत: वाचक द्वारा प्रकाश्य धर्म की सूचना के लिए इतर शब्दों का प्रयोग किया जाता है। बात यह है कि जब हम किसी विवक्षित धर्म के द्वारा वस्तु का कथन करते हैं, तब वस्तु में रहनेवाले अन्य सब धर्म अविवक्षित रहते हैं, इसलिए उनके सूचित करने के लिए 'स्यात्' पद का प्रयोग किया जाता है। यदि 'स्यात्' पद का प्रयोग न किया जाए तो सभी प्रयोग अनुक्ततुल्य हो जाते हैं। 'स्यात्' पद अनेकान्त का द्योतक है, इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसा में आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तत्र केवलिना मपि॥१०३॥

हे भगवन! आपके शासन में 'स्यादस्त्येव जीव:' या 'स्यान्नास्त्येव जीव:' इत्यादि वाक्यों में अर्थ के सम्बन्धवश 'स्यात्' पद अनेकान्त का द्योतक होता है और गम्य अर्थ का विशेषण होता है। प्रकृत में 'स्यात्' पद निपात है। यह केवलियों और श्रुतकेवलियों दोनों को अभिमत है।

यहाँ आचार्य समन्तभद्र ने यह स्पष्ट किया है कि सप्तभंगी के प्रत्येक भंग को 'स्यात्' पद से युक्त करने के दो प्रयोजन हैं। प्रथम प्रयोजन के अनुसार तो प्रत्येक वाक्य में 'स्यात्' पद अनेकान्त का द्योतक होता है, क्योंकि निपात द्योतक होते हैं, ऐसा वचन है। दूसरे, प्रयोजन के अनुसार जिस वाक्य में जो गम्य अर्थ है, उसका विशेषण होने से वह अपेक्षा विशेष को सूचित करता है। इससे हम जानते हैं कि प्रथम भंग में 'जीव है ही' यह जो कहा गया है, वह अपेक्षा विशेष से ही कहा गया है और दूसरे भंग में 'जीव नहीं ही है' यह जो कहा गया है, वह भी अपेक्षा विशेष से ही कहा गया है। इस प्रकार प्रत्येक भंग में 'स्यात्' पद का प्रयोग होने से एक तो अनुक्त धर्मों का स्वीकार हो जाता है, दूसरे विवक्षित भंग किस अपेक्षा से कहा गया है, इसका सूचन हो जाता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। सप्तभंगी में सात भंगों के प्रत्येक पद की सार्थकता का निर्देश हम पहले ही कर आये हैं।

एक बात यहाँ विशेष जाननी चाहिए कि कहीं किसी वक्ता ने स्यात् पद का प्रयोग नहीं भी किया हो तो वहाँ वह है ही, ऐसा समझ लेना चाहिए, क्योंकि ऐसा वचन भी है कि 'स्यात्' शब्द के प्रयोग का आशय रखनेवाला वक्ता कदाचित् 'स्यात्' शब्द का प्रयोग नहीं भी करता है, तो भी वह प्रकरण आदि को ध्यान में रखकर समझ लिया जाता है। कहा भी है—

तथा प्रतिज्ञाशयतोऽप्रयोगः।

जिसके अभिप्राय में उस प्रकार की प्रतिज्ञा है, वह 'स्यात्' शब्द का प्रयोग नहीं करता तो भी कोई दोष नहीं है।

९. कालादि आठ की अपेक्षा विशेष खुलासा

पहले हम यह बतला आये हैं कि प्रथम भंग में यतः द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता रहती है, इसलिए उसके द्वारा कालादि की अपेक्षा अभेद वृत्ति करके पूरी वस्तु स्वीकार कर ली जाती है और दूसरे भंग में यतः पर्यायार्थिकनय की प्रधानता रहती है, इसलिए वहाँ कालादि की अपेक्षा अभेदोपचार करके उसके द्वारा समग्र वस्तु स्वीकार कर ली जाती है। अतः प्रकृत में उन कालादि आठ का निर्देश करके उन द्वारा प्रकृत विषय पर विशेष प्रकाश डालते हैं। वे कालादि आठ ये हैं—काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द, इन आठ की अपेक्षा खुलासा इस प्रकार है —

(१) 'कथंचित् है ही जीव' यहाँ अस्तित्वविषयक जो काल है, वही काल अन्य अशेष धर्मों का है, इसलिए समस्त धर्मों की एक वस्तु में काल की अपेक्षा अभेदवृत्ति बन जाती है। (२) जैसे अस्तित्व वस्तु का आत्मस्वरूप है, वैसे अन्य अनन्त धर्म वस्तु के आत्मस्वरूप हैं, इसलिए समस्त धर्मों की एक वस्तु में आत्मस्वरूप की अपेक्षा अभेदवृत्ति बन जाती है। (३) जो द्रव्य अस्तित्व का आधार है, वही अन्य अनन्त धर्मों का आधार है, इसलिए अनन्त धर्मों का आधार होने से अर्थ की अपेक्षा समस्त धर्मों की एक वस्तु में अभेदवृत्ति बन जाती है। (४) वस्तु के साथ अस्तित्व का जो तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध है, वही अन्य समस्त धर्मों का भी है, इसलिए सम्बन्ध की अपेक्षा समस्त धर्मों की एक वस्तु में अभेदवृत्ति पायी जाती है। (५) गुणी से सम्बन्ध रखनेवाला जो देश अस्तित्व का है, वही देश अन्य समस्त धर्मों का है, इसलिए गुणिदेश की अपेक्षा समस्त धर्मों

की एक वस्तु में अभेदवृत्ति बन जाती है। (६) जो उपकार अस्तित्व के द्वारा किया जाता है, वही अनन्त धर्मों के द्वारा किया जाता है, इसलिए उपकार की अपेक्षा एक वस्तु में समस्त धर्मों की अभेदवृत्ति बन जाती है। (७) एक वस्तुरूप से अस्तित्व का जो संसर्ग है, वही अनन्त धर्मों का है, इसलिए संसर्ग की अपेक्षा एक वस्तु में समस्त धर्मों की अभेदवृत्ति बन जाती है। (८) जिस प्रकार 'अस्ति' यह शब्द अस्तित्व धर्मरूप वस्तु का वाचक है, उसी प्रकार वह अशेष धर्मात्मक वस्तु का भी वाचक है, इसलिए शब्द की अपेक्षा एक वस्तु में समस्त धर्मों की अभेदवृत्ति बन जाती है। यह सब व्यवस्था पर्यायार्थिकनय को गौणकर द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता से बनती है।

परन्तु पर्यायार्थिकनय की प्रधानता रहने पर अभेदवृत्ति सम्भव नहीं है। खुलासा इस प्रकार है—बात यह है कि पर्यायार्थिकनय की प्रधानता रहनेपर अभेद वृत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि (१) इस नय की विवक्षा से एक वस्तु में एक समय अनेक धर्म सम्भव नहीं हैं। यदि एक काल में अनेक धर्म स्वीकार भी किये जाएं तो उन धर्मों की आधारभूत वस्तु में भी भेद स्वीकार करना पड़ता है। (२) एक धर्म के साथ सम्बन्ध रखनेवाला जो वस्तुरूप है, वह अन्य का नहीं हो सकता और जो अन्य से सम्बन्ध रखनेवाला वस्तुरूप है, वह उसका नहीं हो सकता। यदि ऐसा न माना जाए तो उन धर्मों में भेद नहीं हो सकता। (३) एक धर्म का आश्रयभूत अर्थ भिन्न है और दूसरे धर्म का आश्रयभूत अर्थ भिन्न है। यदि धर्मभेद से आश्रयभेद न माना जाए तो एक आश्रय होने से धर्मों में भेद नहीं रहेगा। (४) सम्बन्धी के भेद से सम्बन्ध में भी भेद देखा जाता है, क्योंकि नाना सम्बन्धियों की अपेक्षा एक वस्तु में एक सम्बन्ध नहीं बन सकता है। (५) अनेक उपकारियों के द्वारा जो उपकार किये जाते हैं, वे अलग-अलग होते हैं, उन्हें एक नहीं माना जा सकता है। (६) प्रत्येक धर्म का गुणिदेश

भिन्न-भिन्न होता है, वह एक नहीं हो सकता। यदि अनन्त धर्मों का एक गुणिदेश मान लिया जाए तो वे धर्म अनन्त न होकर एक हो जाएंगे। अथवा भिन्न-भिन्न वस्तुओं के धर्मों का भी एक गुणिदेश हो जाएगा। (७) अनेक संसर्गों की अपेक्षा संसर्ग में भी भेद है, वह एक नहीं हो सकता। (८) तथा प्रतिपाद्य विषय के भेद से प्रत्येक शब्द जुदा-जुदा है। यदि सभी धर्मों को एक शब्द का वाच्य माना जाएगा तो वाचक के अभेद से उन वाच्यभूत धर्मों में भी भेद नहीं रहेगा। इस प्रकार पर्यायदृष्टि से विचार करने पर कालादि की अपेक्षा अर्थभेद स्वीकार किया जाता है। फिर भी उनमें अभेद का उपचार कर लिया जाता है। अत: इस विधि से जिस वचन प्रयोग में अभेदवृत्ति और अभेदोपचार की विविक्षा रहती है, वह वचन प्रयोग सकलादेश है, यह निश्चित होता है। यद्यपि प्रमाण सप्तभंगी का प्रत्येक भंग सुनय वाक्य है, फिर भी वह प्रमाणाधीन है, क्योंकि उसके द्वारा अशेष वस्तु कही जाती है।

यह प्रमाण सप्तभंगी के दो भंगों की मीमांसा है। शेष पाँच भागों की मीमांसा भी इसी विधि से कर लेनी चाहिए। इन भंगों को विशेषरूप से समझने के लिए तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय ४ के अन्तिम सूत्रवृत्ति पर दृष्टिपात करना चाहिए।

१०. पूर्वोक्त विषय का सुबोध शैली में खुलासा

यहाँ तक हमने शास्त्रीय दृष्टि से अनेकान्त के स्वरूप का विचार किया। आगे उस पर सुबोध शैली में विशेष प्रकाश डाला जाता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जो वस्तु तत्स्वरूप हो, वही अतत्स्वरूप कैसे हो सकती है, क्योंकि एक ही वस्तु को तत्-अतत् स्वरूप मानने पर विरोध दिखायी देता है। परन्तु विचारकर देखा जाए तो इसमें विरोध की कोई बात नहीं है। खुलासा इस प्रकार है—

यहाँ पर वस्तु को जिस अपेक्षा से तत्स्वरूप स्वीकार किया है,

उसी अपेक्षा से उसे अतत्स्वरूप नहीं स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ एक ही व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है और अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है, इसलिए जिस प्रकार एक ही व्यक्ति में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से पितृत्व और पुत्रत्व आदि विविध धर्मों का सद्भाव बन जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ द्रव्यार्थिक दृष्टि से तत्स्वरूप है, क्योंकि अनन्त काल पहले वह जितना और जैसा था, उतना और वैसा ही वर्तमान काल में भी दृष्टिगोचर होता है और वर्तमान काल में वह जितना और जैसा है, उतना और वैसा ही वह अनन्त काल तक बना रहेगा। उसमें से कोई एक प्रदेश या गुण खिसक जाता हो और उसका स्थान कोई अन्य प्रदेश या गुण ले लेता हो, ऐसा नहीं है, इसलिए तो वह सदाकाल तत्स्वरूप ही है।

किन्तु इस प्रकार उसके तत्स्वरूप सिद्ध होने पर भी पर्यायरूप से भी वह नहीं बदलता हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि जो बालक जन्म के समय होता है, कालान्तर में वह वही होकर भी अन्यरूप भी हो जाता है, अन्यथा उसमें बालक, युवा और वृद्ध इत्यादिरूप से विविध अवस्थाएँ दृष्टिगोचर नहीं हो सकतीं, इसलिए विवक्षाभेद से तत् और अतत् इन दोनों धर्मों को एक ही वस्तु में स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं आती। मात्र अन्वय को स्वीकार करनेवाले द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से विचार करने पर तो प्रत्येक पदार्थ हमें तत्स्वरूप ही प्रतीत होता है और उसी पदार्थ को व्यतिरेक को स्वीकार करनेवाले पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से देखने पर वह मात्र अतत्स्वरूप ही प्रतीत होता है। इसलिए प्रत्येक पदार्थ द्रव्यार्थिकनय से तत्स्वरूप ही है और पर्यायार्थिकनय से अतत्स्वरूप ही है।

इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सत् भी है और असत् भी है। प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप से अस्तिरूप ही है, इसलिए तो वह सत् ही है और उसमें परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल

और परभाव का सर्वथा अभाव है, इसलिए इस दृष्टि से वह असत् ही है। प्रत्येक पदार्थ की नित्यानित्यता और एकानेकता इसी प्रकार साध लेनी चाहिए, क्योंकि जब हम किसी पदार्थ का द्रव्यदृष्टि से अवलोकन करते हैं तो वह जहाँ हमें एक और नित्य प्रतीत होता है, वहाँ उसे पर्यायदृष्टि से देखने पर उसमें अनेकता और अनित्यता भी प्रमाणित होती है।

शास्त्रों में प्रकृत विषय को पुष्ट करने के लिए अनेक उदाहरण दिये गये हैं। विचार करने पर विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्य एक अखण्ड पदार्थ है। इस दृष्टि से उसका विचार करने पर उसमें द्रव्यभेद, क्षेत्रभेद, कालभेद, और भावभेद, सम्भव नहीं है, अन्यथा वह अखण्ड एक पदार्थ नहीं हो सकता, इसलिए द्रव्यार्थिकदृष्टि (अभेददृष्टि) से उसका अवलोकन करने पर वह तत्वस्वरूप, एक, नित्य और अस्तिरूप ही प्रतीति में आता है। किन्तु जब उसका नाना अवयव, अवयवों का पृथक्-पृथक् क्षेत्र, प्रत्येक समय में होनेवाला उनका परिणमालक्षण स्वकाल और उसके रूप-रसादि या ज्ञान दर्शनादि विविध भाव, इन सबकी दृष्टि से विचार करते हैं तो वह एक अखण्ड पदार्थ अतत्वरूप, अनेक, अनित्य और नास्तिरूप ही प्रतीति में आता है।

प्रत्येक पदार्थ तद्भिन्न अन्य अनन्त पदार्थों से पृथक् होने के कारण उसमें उन अनन्त पदार्थों का अत्यन्ताभाव है, यह तो स्पष्ट है ही, अन्यथा उसका स्वद्रव्यादि की अपेक्षा स्वरूपास्तित्व आदि ही सिद्ध नहीं हो सकता और न उन अनन्त पदार्थों में अपने-अपने द्रव्यादि की अपेक्षा भेदक रेखा ही खींची जा सकती है। आचार्य समन्तभद्र ने अत्यन्ताभाव के नहीं मानने पर किसी भी द्रव्य का विवक्षित द्रव्यादिरूप से व्यपदेश करना सम्भव नहीं है, यह जो आपत्ति दी है, वह इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही दी है। साथ ही गुण-पर्यायों के किंचित् मिलित

स्वभावरूप वह स्वयं ही एक है और एक नहीं है, नित्य है और नित्य नहीं है, तत्स्वरूप है और तत्स्वरूप नहीं है तथा अस्तिरूप है और अस्तिरूप नहीं है, क्योंकि द्रव्यार्थिकदृष्टि से उसका अवलोकन करने पर जहाँ वह एक, नित्य, तत्स्वरूप और अस्तिरूप प्रतीति में आता है, वहाँ पर्यायार्थिकदृष्टि से उसका अवलोकन करने पर वह एक नहीं है अर्थात् अनेक है, नित्य नहीं है अर्थात् अनित्य है, तत्स्वरूप नहीं है अर्थात् अतत्स्वरूप है और अस्तिरूप नहीं है, अर्थात् नास्तिरूप है, ऐसा भी प्रतीति में आता है। अन्यथा उसमें प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव की सिद्धि न हो सकने के कारण न तो उसका विवक्षित समय में विवक्षित आकार ही सिद्ध होगा और न उसमें जो गुणभेद और पर्यायभेद की प्रतीति होती है, वह भी बन सकेगी। आचार्य समन्तभद्र ने प्रागभाव के नहीं मानने पर कार्यद्रव्य अनादि हो जाएगा, प्रध्वंसाभाव के नहीं मानने पर कार्यद्रव्य अनन्तता को प्राप्त हो जाएगा और इसरेतराभाव के नहीं मानने पर वह एक सर्वात्मक हो जाएगा, यह जो आपत्ति दी है, वह इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही दी है। स्वामी समन्तभद्र 'प्रत्येक पदार्थ कथंचित् सत् है और और कथंचित् असत् है' इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

सदैव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदैव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥१५॥

ऐसा कौन पुरुष है, जो, चेतन और अचेतन समस्त पदार्थ जात स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा सत्स्वरूप ही हैं, ऐसा नहीं मानता और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा असत्स्वरूप ही हैं, ऐसा नहीं मानता, क्योंकि ऐसा स्वीकार किये बिना किसी भी इष्टतत्त्व की व्यवस्था नहीं बन सकती॥१५॥

उक्त व्यवस्था को स्वीकार नहीं करने पर इष्ट तत्त्व की व्यवस्था

किस प्रकार नहीं बन सकती, इस विषय को स्पष्ट करते हुए विद्यानन्द-स्वामी उक्त श्लोक की टीका में कहते हैं —

स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनि वस्तुत्वस्य, स्वरूपादिव पररूपादपि सत्त्वे चेतनादेरचेतनादित्वप्रसंगात् तत्स्वात्मवत्, पररूपादिकव स्वरूपादप्यसत्त्वे सर्वथा शून्यतापत्तेः, स्वद्रव्यादिव परद्रव्यादपि सत्त्वे द्रव्यप्रतिनियम-विरोधात्।

इसमें सर्व प्रथम तो वस्तु का वस्तुत्व क्या है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य विद्यानन्द ने कहा है कि जिस व्यवस्था से स्वरूप का उपादान और पररूप का अपोहन हो, वही वस्तु का वस्तुत्व है। फिर भी जो इस व्यवस्था को नहीं मानना चाहता, उसके सामने जो आपत्तियाँ आती हैं, उनका खुलासा करते हुए वे कहते हैं —

(१) यदि स्वरूप के समान पररूप से भी वस्तु को अस्तिरूप स्वीकार किया जाता है, तो जितने भी चेतनादिक पदार्थ हैं, वे जैसे स्वरूप से चेतन हैं, वैसे ही वे अचेतन आदि भी हो जावेंगे।

(२) पररूप से जैसे उनका असत्त्व है, उसी प्रकार स्वरूप से भी यदि उनका असत्त्व मान लिया जाता है, तो स्वरूपास्तित्व के नहीं बनने से सर्वथा शून्यता का प्रसंग आ जाएगा।

(३) तथा स्वद्रव्य के समान परद्रव्यरूप से भी यदि सत्त्व मान लिया जाता है, तो द्रव्यों का प्रतिनियम होने में विरोध आ जाएगा।

यतः उक्त दोष प्राप्त न हों, अतः प्रत्येक चेतन-अचेतन द्रव्य को स्वरूप से सद्रूप ही और पररूप से असद्रूप ही मानना चाहिए।

११. उदाहरण द्वारा उक्त विषय का स्पष्टीकरण

एक घट के आश्रय से भट्टाकलंकदेव ने घट का स्वात्मा क्या और परात्मा क्या, इस विषय पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। इससे समय-प्राभृत आदि शास्त्रों में स्वसमय और परसमय का जो स्वरूप

बतलाया गया है, उस पर मौलिक प्रकाश पड़ता है, इसलिए यहाँ पर घट का स्वात्मा क्या और परात्मा क्या इसका विविध दृष्टियों में ऊहापोह करना इष्ट समझकर तत्त्वार्थवार्तिक, (अध्याय १, सूत्र ६) में इस सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है, उसके भाव को यहाँ उपस्थित करते हैं —

(1) जो घट बुद्धि और घट शब्द की प्रवृत्ति का हेतु है, वह स्वात्मा है और जिसमें घट बुद्धि और घट शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती, वह परात्मा है। घट स्वात्मा की दृष्टि से अस्तित्वरूप है और परात्मा की दृष्टि से नास्तित्वरूप है।

(२) नामघट, स्थापनाघट, द्रव्यघट और भावघट, इनमें से जब जो विवक्षित हो, वह स्वात्मा और तदितर परात्मा। यदि उस समय विवक्षित के समान इतररूप से भी घट माना जाए या इतररूप से जिस प्रकार वह अघट है, उसी प्रकार विवक्षितरूप से भी वह अघट माना जाए तो नामादि व्यवहार के उच्छेद का प्रसंग आता है।

(३) घट शब्द के वाच्य समान धर्मवाले अनेक घटों में से विवक्षित घट के ग्रहण पर जो प्रतिनियत आकार आदि है, वह स्वात्मा और उससे भिन्न अन्य परात्मा। यदि इतर घटों के आकार से वह घट अस्तित्वरूप हो जाए तो सभी घट एक घटरूप हो जाएंगे और ऐसी अवस्था में सामान्य के आश्रय से होनेवाले व्यवहार का लोप ही हो जाएगा।

(४) द्रव्यार्थिकदृष्टि से अनेक क्षणस्थायी घट में जो पूर्णकालीन कुशूलपर्यन्त अवस्थाएँ होती हैं, वे और जो उत्तरकालीन कपालादि अवस्थाएँ होती हैं, वे सब परात्मा और उनके मध्य में अवस्थित घटपर्याय स्वात्मा। मध्यवर्ती अवस्थारूप से वह घट है, क्योंकि घट के गुण-क्रिया आदि उसी अवस्था में होते हैं। यदि कुशूलान्त और कपालादिरूप से भी घट होवे तो घट अवस्था में भी उनकी उपलब्धि

होनी चाहिए। और ऐसी अवस्था में घट की उत्पत्ति और विनाश के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसके अभाव का प्रसंग आता है। इतना ही क्यों, यदि अन्तरालवर्ती अवस्थारूप से भी वह अघट हो जावे तो घटकार्य और उससे होनेवाले फल की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए।

(५) उस मध्य कालवर्ती घटस्वरूप व्यंजनपर्याय में भी घट प्रति समय उपचय और अपचयरूप होता रहता है, अत: ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से एक क्षणवर्ती घट ही स्वात्मा है और उसी घट की अतीत और अनागत पर्यायें परात्मा हैं। यदि प्रत्युत्पन्न क्षण की तरह अतीत और अनागत क्षणों से भी घट का अस्तित्व माना जाए तो सभी घट वर्तमान क्षणमात्र हो जाएंगे। या अतीत अनागत के समान वर्तमान क्षणरूप से भी असत्त्व माना जाए तो घट के आश्रय से होनेवाले व्यवहार का ही लोप हो जाएगा।

(६) अनेक रूपादि के समुच्चयरूप उसी वर्तमान घट में पृथुबुध्नोदराकार से घट अस्तित्वरूप है, अन्यरूप से नहीं, क्योंकि उक्त आकार से ही घट व्यवहार होता है, अन्य से नहीं। यदि उक्त आकार से घट न होवे तो उसका अभाव ही हो जाएगा और अन्य आकार से रहित पदार्थों में भी घट व्यवहार होने लगेगा।

(७) रूपादि के सन्निवेशविशेष का नाम संस्थान है। उसमें चक्षु से घट-ग्रहण होने पर रूपमुख से घट का ग्रहण हुआ, इसलिए रूप स्वात्मा है और रसादि परात्मा हैं। वह घटरूप से अस्तित्वरूप है और रसादिरूप से नास्तित्वरूप है। जब चक्षु से घट को ग्रहण करते हैं, तब यदि रसादि भी घट हैं, ऐसा ग्रहण हो जाए तो रसादि भी चक्षुग्राह्य होने से रूप हो जाएंगे और ऐसी अवस्था में अन्य इन्द्रियों की कल्पना ही निरर्थक हो जाएगी। अथवा चक्षु इन्द्रिय से रूप भी घट है, ऐसा ग्रहण न होवे तो वह चक्षु इन्द्रिय का विषय ही न ठहरेगा।

(८) शब्दभेद से अर्थभेद होता है, अत: घट, कुट आदि शब्दों

का अलग-अलग अर्थ होगा। जो घटनक्रिया से परिणत होगा वह घट कहलायेगा और जो कुटिलरूप क्रिया से परिणत होगा वह कुट कहलायेगा। ऐसी अवस्था में घटनक्रिया का कर्तृभाव स्वात्मा है और अन्य परात्मा। यदि अन्यरूप से भी घट कहा जाए तो पटादि से भी घट व्यवहार होना चाहिए और इस तरह सभी पदार्थ एक शब्द के वाच्य हो जाएंगे। अथवा घटनक्रिया को करते समय भी वह अघट होवे तो घट व्यवहार की निवृत्ति हो जाएगी।

(९) घट शब्द के प्रयोग के बाद उत्पन्न हुआ घटरूप उपयोग स्वात्मा है, क्योंकि वह अन्तरंग है और अहेय है तथा बाह्य घटाकार परात्मा है, क्योंकि उसके अभाव में भी घटव्यवहार देखा जाता है। वह घट उपयोगाकार से है, अन्यरूप से नहीं। यदि घट उपयोगाकार से भी न हो तो वक्ता और श्रोता के उपयोगरूप घटाकार का अभाव हो जाने से उसके आश्रय से होनेवाला व्यवहार लुप्त हो जाएगा। अथवा इतररूप से भी यदि घट होवे तो पटादि को भी घटत्व का प्रसंग आ जाएगा।

(१०) चैतन्यशक्ति के दो आकार होते हैं—ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार। प्रतिबिम्ब से रहित दर्पण के समान ज्ञानाकार होता है और प्रतिबिम्बयुक्त दर्पण के समान ज्ञेयाकार होता है। उसमें घटरूप ज्ञेयाकार स्वात्मा है, क्योंकि इसी के आश्रय से घट व्यवहार होता है और ज्ञानाकार परात्मा है, क्योंकि वह सर्व साधारण है। यदि ज्ञानाकार से घट माना जाए तो पटादि ज्ञान के काल में भी ज्ञानाकार का सन्निधान होने से घटव्यवहार होने लगेगा और यदि घटरूप ज्ञेयाकार के काल में घट नास्तित्वरूप माना जाए तो उसके आश्रय से इतिकर्तव्यता का लोप हो जाएगा।

यह एक ही पदार्थ में एक काल में नयभेद से सत्त्वधर्म और असत्त्वधर्म की व्यवस्था है। आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ में जब

जो धर्म विवक्षित होता है, तब उसकी अपेक्षा वह अस्तित्वरूप होता है और तदितर अन्य धर्मों की अपेक्षा वह नास्तित्वरूप होता है। अस्तित्व धर्म का नास्तित्व धर्म अविनाभावी है, इसलिए जहाँ किसी एक विवक्षा से अस्तित्व घटित किया जाता है, वहाँ तद्भिन्न अन्य विवक्षा से नास्तित्व धर्म होता ही है। न तो केवल अस्तित्व ही वस्तु का स्वरूप है और न केवल नास्तित्व ही। सत्ता का लक्षण करते हुए आचार्यों ने उसे सप्रतिपक्ष कहा है, वह इसी अभिप्राय से कहा है।

उदाहरणार्थ जब हम किसी विवक्षित मनुष्य को नाम लेकर बुलाते हैं, तो उसमें उससे भिन्न अन्य मनुष्यों के बुलाने का निषेध गर्भित रहता ही है। या जैसे हम किसी विवक्षित पर्याय के ऊपर दृष्टि डालते हैं, तो उसमें तद्भिन्न पर्यायों का अभाव गर्भित रहता ही है। या जब हम किसी के भव्य होने का निर्णय करते हैं, तो उसमें अभव्यता का अभाव गर्भित है ही। इसलिए कहीं पर मात्र विधि द्वारा किसी धर्म विशेष का सत्त्व स्वीकार किया गया हो, तो उसमें तदितर का अभाव गर्भित ही है, ऐसा समझना चाहिए। एक वस्तु में विवक्षित धर्म की अपेक्षा से अस्तित्व और अन्य की अपेक्षा से नास्तित्व, यही अनेकान्त है। इससे विवक्षित वस्तु में धर्मविशेष की प्रतिष्ठा होकर उसमें अन्य का उसरूप से होने का निषेध हो जाता है। यहाँ जिस प्रकार सदसत्त्व की अपेक्षा अनेकान्त का निर्देश किया है, उसी प्रकार तदतत्त्व, एकानेकत्व और भेदाभेदत्व आदि की अपेक्षा भी उसका निर्देश कर लेना चाहिए। इस विषय को स्पष्ट करते हुए नाटक समयसार के स्याद्वाद अधिकार में पण्डितप्रवर बनारसीदासजी कहते हैं —

द्रव्य क्षेत्र काल भाव चारों भेद वस्तु ही में
अपने चतुष्क वस्तु अस्तिरूप मानिये।
पर के चतुष्क वस्तु न अस्ति नियत अंग
ताको भेदद्रव्य परयाय मध्य जानिये॥

दरव जो वस्तु क्षेत्र सत्ताभूमि काल चाल
स्वभाव सहज मूल सकति बखानिये।
याही भाँति पर विकलप बुद्धि कलपना
व्यवहार दृष्टि अंश भेद परमानिये॥१०॥

प्रवचनसार ज्ञेयाधिकार गाथा १०३ से ११५ तक विशेष दृष्टव्य हैं। इसमें एक ही द्रव्य कैसे तत्–अतत्स्वरूप आदि है, यह स्पष्ट करने के साथ सप्तभंगी का भी निर्देश किया गया है।

१२. जिनागम में मूल दो नयों का ही उपदेश है

प्रवचनसार और तत्त्वार्थसूत्र आदि में द्रव्य का गुणपर्ययवद्द्रव्यम् —यह लक्षण दृष्टिगोचर होता है। इस पर तत्त्वार्थवार्तिक में शंका-समाधान करते हुए भट्टाकलंकदेव कहते हैं—

गुणा इति संज्ञा तन्त्रान्तराणाम्, आर्हतानां तु द्रव्यं पर्यायश्चेति द्वितीयमेव तत्त्वम्, अतश्च द्वितीयमेव तद्द्वयोपदेशात्। द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिक इति द्वावेव मूलनयौ। यदि गुणोऽपि कश्चित् स्यात्, तद्विषयेण मूलनयेन तृतीयेन भवितव्यम्। न चास्त्यसाविति अतो गुणाभावात् गुणपर्यायवदिति निर्देशो न युज्यते? तन्न, किं कारणम्, अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्। उक्तं हि अर्हत्प्रवचने 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' इति। अन्यत्र चोक्तम्—

गुण इदि दव्वविधाणं दव्ववियारो य पज्जयो भणिदो।
तेहिं अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवदि णिच्चं॥

यदि गुणोऽपि विद्यते, ननु चोक्तम्—तद्विषयस्तृतीयो मूलनयः प्राप्नोति? नैष दोषः, द्रव्यस्य द्वावात्मानौ सामान्यं विशेषश्चेति। तत्र सामान्यमुत्सर्गोऽन्वयः गुण इत्यनर्थान्तरम्। विशेषो भेदः पर्याय इति पर्यायशब्दः। तत्र सामान्यविषयो नयो द्रव्यार्थिकः। विशेषविषयः पर्यायार्थिकः। तदुभयं समुदितमयुतसिद्धरूपं द्रव्यमित्युच्यते। न तद्विषयस्तृतीयो नयो भवितुमर्हति, विकल्पादेशत्वान्नयानाम्। तत्समुदायोऽपि प्रमाणगोचरः, सकलादेशत्वात् प्रमाणस्य। गुणा एव

पर्याया इति वा निर्देशः। अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्याणि न पर्यायाः। न तेभ्योऽन्ये गुणा सन्ति। ततो गुणा एवं पर्याया इति सति समानाधि-करण्ये मतौ सति गुण-पर्याय-वदिति निर्देशो युज्यते। *पृष्ठ २४३॥*

शंका—गुण यह संज्ञा अन्य दर्शनों की है। आर्हत दर्शन में तो द्रव्य और पर्याय इस प्रकार दो रूप ही तत्त्व है और इसलिए तत्त्व को दो रूप स्वीकार कर उन दो का उपदेश दिया गया है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो मूल नय हैं। यदि गुण भी कोई पृथक् तत्त्व है, तो उसको विषय करनेवाला तीसरा नय होना चाहिए। परन्तु तीसरा नय नहीं है, इसलिए गुण का अभाव होने से 'गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्' यह निर्देश नहीं बन सकता?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि अर्हत्प्रवचन आदि आगमों में गुण का उपदेश है। अर्हत्प्रवचन में कहा भी है—जो द्रव्य के आश्रय से हों और स्वयं गुणरहित हों, वे गुण हैं। अन्यत्र भी कहा है—

प्रत्येक द्रव्य के त्रिकाली स्वरूप का ख्यापन करनेवाला गुण है और द्रव्य का विकार पर्याय कहा गया है। इन दोनों से सदा काल अयुतसिद्ध द्रव्य है।

शंका—यदि गुण अस्तिरूप है, तो हम जो कह आये हैं कि उसको विषय करनेवाला तीसरा नय होना चाहिए?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि द्रव्य, सामान्य और विशेष इन दो रूप है। उनमें से सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण, ये एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं। तथा विशेष, भेद और पर्याय, ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं। उनमें से सामान्य को विषय करनेवाले नय का नाम द्रव्यार्थिक है और विशेष को विषय करनेवाले नय का नाम पर्यायार्थिक है। इन दोनों से अयुतसिद्ध समुदायरूप द्रव्य कहा जाता है। अतएव गुण को विषय करनेवाला तीसरा नय नहीं हो सकता, क्योंकि नय विकल्पों के अनुसार प्रवृत्त होते हैं। सामान्य और विशेष

का समुदित रूप प्रमाण का विषय है, क्योंकि प्रमाण सकलादेशी होता है।

अथवा गुण ही पर्याय है, ऐसा निर्देश करना चाहिए। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हैं, पर्याय नहीं है और उनसे भिन्न गुण नहीं हैं। इसलिए गुण ही पर्याय हैं। ऐसी अवस्था में समानाधिकरण में मनुप् प्रत्यय करने पर 'गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्' यह निर्देश बन जाता है।

आशय यह है कि गुणों का सामान्य में अन्तर्भाव होने पर वे द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं और भेद विवक्षा में गुण और पर्यायों में अभेद स्वीकार करने पर वे पर्यायार्थिकनय के विषयरूप से स्वीकृत किये जाते हैं, इसलिए द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही नय सिद्ध होते हैं, तीन नहीं।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में भी द्रव्य के उक्त लक्षण पर विचार करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं —

नन्वेवमत्रापि पर्यायवद् द्रव्यमित्युक्ते गुणबदित्यनर्थकम्, सर्वद्रव्येषु पर्यायबन्धस्य भावात्। गुणवदिति चोक्ते पर्यायवदिति व्यर्थम्, तत एवेति तदुभयं लक्षणं किमर्थं मुक्तम्।

शंका—जो गुण-पर्यायवाला हो, वह द्रव्य है, इस लक्षण में भी जो पर्यायवाला हो, वह द्रव्य है इतना कहने पर जो गुणवाला है, वह द्रव्य है, ऐसा कहना निरर्थक है, क्योंकि सभी द्रव्यों में पर्यायों की अनुवृत्ति देखी जाती है। और यदि जो गुणवाला हो, वह द्रव्य है— ऐसा कहने पर जो पर्यायवाला हो, वह द्रव्य है-ऐसा कहना व्यर्थ है, क्योंकि सभी द्रव्य गुणवाले देखे जाते हैं, इसलिए द्रव्य का लक्षण उभयरूप किसलिए कहा गया है?

यह एक शंका है, इसका समाधान करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं —

गुणवद् द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद् द्रव्यं क्रमानेकान्तसिद्धये॥२॥ *पृष्ठ ४३८*

जो गुणवाला हो, वह द्रव्य है, यह वचन सह अनेकान्त की सिद्धि के लिए कहा गया है तथा जो पर्यायवाला हो, वह द्रव्य है, यह वचन क्रम अनेकान्त की सिद्धि के लिए कहा गया है॥२॥

आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्य युगपत् अनेक धर्मों का आधार है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों का सद्भाव एक द्रव्य में बन जाता है, इसलिए सह अनेकान्त की सिद्धि के लिए द्रव्य का जो गुणवाला हो, वह द्रव्य है, यह लक्षण योजित किया गया है। परन्तु जो द्रव्याजात है, वह नित्य होने के साथ परिणामी भी है, इस प्रकार क्रम अनेकान्त की सिद्धि के लिए द्रव्य का जो पर्यायवाला हो, वह द्रव्य है, यह लक्षण कहा गया है।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों का आधार होने के साथ कथंचित् (किसी अपेक्षा से) नित्य ही है और कथंचित् (किसी अपेक्षा से) अनित्य ही है, यह सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के अपेक्षा भेद से तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत् और नित्य-अनित्य सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं आती।

शंका—यदि सापेक्षदृष्टि से वस्तु को अनेकान्तात्मक माना जाता है, तो प्रत्येक वस्तुस्वरूप से अनेकान्तरूप है, यह नहीं सिद्ध होता?

समाधान—अनेकान्त यह वस्तु का स्वरूप है, क्योंकि अपने स्वरूप को ग्रहण कर और पर के स्वरूप का अपोहन कर स्थित रहना, यह वस्तु का वस्तुत्व है। इसलिए अपेक्षा भेद से अनेकान्तरूप वस्तु की सिद्धि करना अन्य बात है। स्वरूप की दृष्टि से देखा जाए तो निरपेक्षरूप से वह स्वयं ही अनेकान्तमय है।

१३. स्यात् पद की उपयोगिता

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु स्वयं अनेकान्तस्वरूप कैसे है और इस रूप उसकी सिद्धि कैसे होती है, इसका स्पष्टीकरण करने के बाद अब जय धवला, पुस्तक १, पृष्ठ २८१ के आधार से स्यात् पद की उपयोगता पर विशेष प्रकाश डालते हैं।

रसकषाय किस कहते हैं, इसका समाधान करते हुए आचार्य यतिवृषभ कहते हैं कि कषायरसवाले द्रव्य या द्रव्यों को कषाय कहते हैं। *(जय धवला, पुस्तक १, पृष्ठ २७७)*

इस सूत्र की टीका करते हुए आचार्य वीरसेन कहते हैं कि द्रव्य दो प्रकार के पाये जाते हैं एक कषाय (कसैले) रसवाले और दूसरे अकषाय (अकसैले) रसवाले। इसलिए उक्त सूत्र का यह अर्थ होता है कि जिस एक या अनेक द्रव्यों का रस कसैला होता है, वे स्यात् कषाय कहलाते हैं।

इस पर यह शंका हुई कि सूत्र में 'स्यात्' पद का प्रयोग नहीं किया गया, फिर यहाँ स्यात् पद का प्रयोग क्यों किया गया है। इसका समाधान करते हुए आचार्य वीरसेन कहते हैं कि जिस प्रकार प्रभा दो स्वभाववाली होती है। एक तो वह अन्धकार का ध्वंस करती है और दूसरे वह सभी पदार्थों को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार प्रत्येक शब्द प्रतिपक्ष अर्थ का निराकरण कर इष्टार्थ का ही समर्थन करता है। इसलिए विवक्षित अर्थ के साथ प्रतिपक्ष अर्थ है, इसे द्योतित करने के लिए यहाँ सूत्र में 'स्यात्' पद के प्रयोग का अध्याहार किया गया है। इतना स्पष्ट करने के बाद उक्त तथ्य को ध्यान में रखकर सप्तभंगी की योजना की गयी है। यथा—

(१) द्रव्य स्यात् कषाय है, (२) स्यात् नोकषाय है। ये प्रथम दो भंग हैं। इनमें प्रयुक्त हुआ 'स्यात्' पद क्रम से नोकषाय और कषाय तथा कषाय-नोकषाय विषयक अर्थपर्यायों को द्रव्य में घटित करता है।

(३) स्यात् अवक्तव्य है। यह तीसरा भंग है। यहाँ कषाय और नोकषायविषयक अर्थपर्यायों की अपेक्षा द्रव्य को अवक्तव्य कहा गया है और स्यात् पद द्वारा कषाय-नोकषायविषयक व्यंजनपर्यायों को द्रव्य में घटित किया गया है।

(४) द्रव्य स्यात् कषाय और नोकषाय है। यह चौथा भंग है। यहाँ प्रयुक्त हुआ स्यात् पद द्रव्य में कषाय और नोकषाय विषयक अर्थपर्यायों को घटित करता है।

(५) द्रव्य स्यात् कषाय और अवक्तव्य है। यह पाँचवाँ भंग है। इसमें प्रयुक्त हुआ स्यात् पद द्रव्य में नोकषायपने को घटित करता है।

(६) द्रव्य स्यात् नोकषाय और अवक्तव्य है। यह छटा भंग है। इसमें प्रयुक्त हुआ स्यात् पद कषायपने को घटित करता है।

(७) द्रव्य स्यात् कषाय, नोकषाय और अवक्तव्य है। यह सातवाँ भंग है। इसमें प्रयुक्त हुआ स्यात् पद कषाय, नोकषाय और अवक्तव्य इन तीनों धर्मों की अक्रमवृत्ति को सूचित करता है।

इससे विदित होता है कि प्रमाण सप्तभंगी का प्रत्येक भंग किस प्रकार अपूर्व धर्म के साथ समग्र वस्तु को सूचित करता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो ये सातों भंग अपुनरुक्त हैं, यह सूचित होता है। इसी का नाम स्याद्वाद है। तथा इसी को कथंचित्वाद भी कहते हैं।

१४. अनेकान्त कथंचित् अनेकान्तस्वरूप है।

इसप्रकार प्रमाण सप्तभंगी के द्वारा अनेकान्तस्वरूप वस्तु का कथन करने के बाद अनेकान्तरूप वस्तु सर्वथा अनेकान्तरूप है या कथंचित् अनेकान्तरूप है, इसे स्पष्ट करने के लिए तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय १, सूत्र ६ में शंका—समाधान करते हुए लिखा है —

शंका—अनेकान्त में यह विधि-प्रतिषेध कल्पना नहीं घटित होती। यदि अनेकान्त में भी विधि-प्रतिषेध कल्पना घटित होती है, तो जिस समय प्रतिषेध कल्पना द्वारा अनेकान्त का निषेध किया

जाता है, उस समय एकान्त की प्राप्ति होती है। यदि अनेकान्त में भी अनेकान्त लगाया जाता है, तो अनवस्था दोष आता है, इसलिए वहाँ अनेकान्तपना ही बनने से उसमें सप्तभंगी घटित नहीं होती?

समाधान—नहीं, क्योंकि अनेकान्त में भी सप्तभंगी घटित हो जाती है। यथा —

(१) स्यात् एकान्त है, (२) स्यात् अनेकान्त, (३) स्यात् उभय है, (४) स्यात् अवक्तव्य है, (५) स्यात् एकान्त अवक्तव्य है, (६) स्यात् अनेकान्त अवक्तव्य है, (७) स्यात् एकान्त, अनेकान्त अवक्तव्य है।

शंका—यह कैसे?

समाधान—प्रमाण और नय की मुख्यता से यह व्यवस्था बन जाती है। इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं।

एकान्त दो प्रकार है—सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त। अनेकान्त भी दो प्रकार का है—सम्यक् और मिथ्या अनेकान्त। खुलासा इस प्रकार है।

प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक देश को सयुक्तिक ग्रहण करनेवाला सम्यक् एकान्त है। एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करनेवाला मिथ्या एकान्त है। तथा एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करनेवाला सम्यक् अनेकान्त है और वस्तु को सत्-असत् आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्याकल्पना करनेवाला मिथ्या अनेकान्त है। इनमें से सम्यक् एकान्त नय कहलाता है और सम्यक् अनेकान्त प्रमाण कहलाता है। उक्त तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वयंभू-स्तोत्र में कहते हैं —

अनेकान्तोऽप्यनेकास्तः प्रमाण-नयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥१०३॥

हे भगवान! आपके शासन में प्रमाण और नय के द्वारा साधित होने से अनेकान्त भी अनेकान्तस्वरूप है। प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त -स्वरूप है और विवक्षित नय की अपेक्षा एकान्तस्वरूप है ॥१०३॥

विकलादेश और सप्तभंगी

इस प्रकार विवक्षित नय की मुख्यता से वस्तु के कथंचित् एकान्त -स्वरूप सिद्ध होने पर विकलादेश क्या है और उस दृष्टि से सप्तभंगी कैसे बनती है, इस पर ऊहापोह करते हैं —

एक अखण्ड वस्तु में गुणभेद से अंश कल्पना करना विकलादेश है। इसमें भी कालादि की अपेक्षा भेदवृत्ति और भेदोपचार से सप्तभंगी घटित हो जाती है। यथा 'स्यादस्त्येव जीवः' यह प्रथम भंग है तथा 'स्यान्नास्त्येव जीवः' यह दूसरा भंग है। इसी प्रकार उत्तर पाँच भंग जान लेने चाहिए। सर्व सामान्य आदि किसी एक द्रव्यार्थादेश की अपेक्षा पहला विकलादेश है। इस भंग में वस्तु में यद्यपि अन्य धर्म विद्यमान हैं तो भी कालादि की अपेक्षा भेद विवक्षा होने से शब्द द्वारा वाच्यरूप से वे स्वीकृत नहीं हैं। न तो उनका विधान ही है और न प्रतिषेध ही है। इसी प्रकार अन्य भंगों में भी स्वविवक्षित धर्म की प्रधानता रहती है। तथा अन्य धर्मों के प्रति उदासीनता रहती है। न तो उनका विधान ही होता है, और न प्रतिषेध ही।

शंका—'अस्त्येव जीवः' इसमें एव पद लगाकर विशेषण-विशेष्यभाव का नियमन करते हैं, तब अर्थात् ही इतर धर्मों की निवृत्ति हो जाती है, उदासीनता कहाँ रही?

समाधान—इसलिए इतर धर्मों का द्योतन करने के लिए 'स्यात्' पद का प्रयोग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि एवकार के प्रयोग से जब इतर निवृत्ति का वस्तुतः प्रसंग प्राप्त होता है, तब 'स्यात्' पद विवक्षित धर्म के साथ इतन धर्मों की सूचना दे देता है।

यहाँ भी पहला भंग द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से कहा गया है

और दूसरा भंग पर्यायार्थिकनय की विवक्षा से घटित होता है। द्रव्यार्थिकनय सत्त्व को विषय करता है और पर्यायार्थिकनय असत्त्व को विषय करता है। यहाँ असत्त्व का अर्थ सर्वथा अभाव नहीं है, किन्तु भावान्तरस्वभाव धर्म ही यहाँ असत्त्वपद से स्वीकृत है।

यह प्रमाण सप्तभंगी के साथ नय सप्तभंगी की संक्षिप्त प्ररूपणा है।

१५. मोक्षमार्ग में दृष्टि की मुख्यता है

अब सवाल यह है कि जीवन में मोक्षमार्ग की प्रसिद्धि के अभिप्राय से द्रव्यानुयोग परमागम में आत्मा को जो स्वत:सिद्ध होने से अनादि अनन्त, विशदज्योति, और नित्य उद्योतरूप एक ज्ञायकस्वरूप बतलाया गया है, सो क्यों, क्योंकि जब आत्मा द्रव्य-पर्याय उभयरूप है, तब आत्मा प्रमत्त नहीं है, अप्रमत्त नहीं है, ऐसा कहकर पर्यायस्वरूप आत्मा का निषेध क्यों किया गया है? **यह एक सवाल है, जो उन महाशयों की ओर से उठाया जाता है, जो तत्त्वप्ररूपणा और मोक्षमार्ग प्ररूपणा को मिलाकर देखते हैं। वस्तुतः वे महाशय आचार्यों की दृष्टि में करुणा के मात्र हैं।**

यहाँ यह दृष्टि में नहीं लेना है कि उपयोग लक्षणवाला जीव अनेकान्तस्वरूप कैसे हैं। आत्मज्ञान करते समय यह तो पहले ही हृदयंगम कर लिया गया है। यहाँ तो दृष्टि में लेना है, कि किस रूप में स्वात्मा की भावना करने से हम मोक्षमार्ग के अधिकारी बनकर मोक्ष के पात्र हो सकते हैं। समयसार परमागम में इसी तथ्य को विशदरूप से स्पष्ट किया गया है। हमें समयसार परमागम का मनन इसी दृष्टि से करना चाहिए।

वैसे विचार कर देखा जाए तो वहाँ हमें अनेकान्तगर्भित स्याद्वाद वाणी का पद-पद पर दर्शन होता है, क्योंकि उसमें आचार्य कुन्दकुन्द ने पर से भिन्न एकत्वरूप आत्मा को दिखलाते हुए उस द्वारा उसी अनेकान्त का सूचन किया है। वे यह नहीं कहते कि जिसका कोई

प्रतिपक्षी ही नहीं है, ऐसे एकत्व को दिखलाऊँगा। यदि वे ऐसी प्रतिज्ञा करते तो वह एकान्त हो जाता, जो मिथ्या होने से इष्टार्थ की सिद्धि में प्रयोजक नहीं होता। किन्तु वे प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं कि मैं आत्मा के जिस एकत्व का प्रतिपादन करनेवाला हूँ, उसका पर से भेद दिखलाते हुए ही प्रतिपादन करूँगा। यदि कोई समझे कि वे इस प्रतिज्ञा वचन को ही करके रह गये हैं, सो भी बात नहीं है, क्योंकि जहाँ पर भी उन्होंने आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की स्थापना की है, वहाँ पर उन्होंने पर को स्वीकार करके उसमें पर का नास्तित्व दिखलाते हुए ही उसकी स्थापना की है। इसी प्रकार प्रकृत में प्रयोजनीय अन्य तत्त्व का कथन करते समय भी उन्होंने गौण-मुख्यभाव से विधि-निषेध दृष्टि को साधकर ही उसका कथन किया है। अब इस विषय को स्पष्ट करने के लिए हम समयप्राभृत के कुछ उदाहरण उपस्थित कर देना चाहते हैं —

(१) 'ण वि होदि अपमत्तो ण पमत्तो' इत्यादि गाथा को लें। इस द्वारा आत्मा में ज्ञायकस्वभाव का 'अस्तित्वधर्म द्वारा और उसमें प्रमत्ता-प्रमत्तभाव का नास्तित्वधर्म द्वारा प्रतिपादन किया गया है।' दृष्टियाँ दो हैं—द्रव्यार्थिकदृष्टि और पर्यायार्थिकदृष्टि। द्रव्यार्थिकदृष्टि से आत्मा का अवलोकन करने पर यह ज्ञायकस्वभाव ही प्रतीति में आता है, क्योंकि यह आत्मा का त्रिकालाबाधित स्वरूप है। किन्तु पर्यायार्थिक-दृष्टि से उसी आत्मा का अवलोकन करने पर वह प्रमत्तभाव और अप्रमत्तभाव आदि विविध पर्यायरूप ही प्रतीत होता है। इन दोनों रूप आत्मा है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यहाँ पर बन्धपर्यायरूप प्रमत्तादि क्षणिक भावों से रुचि हटाकर इस आत्मा को अपने ध्रुवस्वभाव की प्रतीति करानी है, इसलिए मोक्षमार्ग में द्रव्यार्थिकदृष्टि (निश्चयनय) की मुख्यता होकर पर्यायार्थिकदृष्टि (व्यवहारनय) गौण हो जाती है। अर्थात् दृष्टि में उसका निषेध हो जाता है। यही कारण है कि यहाँ पर

द्रव्यार्थिकदृष्टि की मुख्यता होने से आत्मा ज्ञायकस्वभाव है, इसकी अस्तित्व धर्म द्वारा प्रतीति करायी गयी है और आत्मा के त्रिकालाबाधित ज्ञायकस्वभाव में प्रमत्तादिभाव नहीं हैं, यह जानकर आत्मा में इनकी नास्तित्वधर्म द्वारा प्रतीति करायी गयी है। तात्पर्य यह है कि प्रकृत में द्रव्यार्थिकनय का विषय विवक्षित होने से विवक्षित का 'अस्तित्व' द्वारा और अविवक्षित का 'नास्तित्व' द्वारा कथन कर अनेकान्त की ही प्रतिष्ठा की गयी है।

(२) अब 'ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स' इत्यादि गाथा को लें। इसमें सर्व प्रथम उस ज्ञायकस्वभाव आत्मा में पर्यायार्थिकदृष्टि से ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य आदि विविध धर्मों की प्रतीति होती है, यह दिखलाने के लिए व्यवहारनय से उनका सद्भाव स्वीकार किया गया है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु द्रव्यार्थिकदृष्टि से उसी आत्मा का अवलोकन करने पर ये भेद उसमें लक्षित न होकर एकमात्र त्रिकाली ज्ञायकस्वभावी आत्मा ही प्रतीति में आता है, इसलिए यहाँ पर भी गाथा के उत्तरार्ध में ज्ञायकस्वभाव आत्मा की अस्तित्व धर्म द्वारा प्रतीति कराकर उसमें अनुपचरित सद्भूतव्यवहार का 'नास्तित्व' दिखलाते हुए अनेकान्त को ही स्थापित किया गया है।

(३) जबकि मोक्षमार्ग में निश्चय के विषय में व्यवहारनय के विषय का असत्त्व ही दिखलाया जाता है, तो उसके प्रतिपादन की आवश्यकता ही क्या है, ऐसा प्रश्न होने पर '**जह ण वि सक्कमणज्जो**' इत्यादि गाथा में दृष्टान्त द्वारा उसके कार्यक्षेत्र की व्यवस्था की गयी है और नौवीं तथा दसवीं गाथा में दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में घटित करके बतलाया गया है। इन तीन गाथाओं का सार यह है कि व्यवहारनय निश्चयनय के विषय का ज्ञान कराने का साधन (हेतु) होने से प्रतिपादन करनेयोग्य तो अवश्य है, परन्तु मोक्षमार्ग में अनुसरण करनेयोग्य नहीं है। क्यों अनुसरण करनेयोग्य नहीं है, इस बात का

समर्थन करने के लिए ११ वीं गाथा में निश्चयनय की भूतार्थता और व्यवहारनय की अभूतार्थता स्थापित की गयी है। यहाँ पर जब व्यवहारनय है और उसका विषय है तो निश्चयनय के समान यथावसर उसे भी अनुसरण करने योग्य मान लेने में क्या आपत्ति है, ऐसा प्रश्न होने पर १२ वीं गाथा द्वारा उसका समाधान करते हुए बतलाया गया है कि मोक्षमार्ग में उपादेयरूप से व्यवहानय अनुसरण करनेयोग्य तो कभी भी नहीं है। हाँ, गुणस्थान परिपाटी के अनुसार वह जहाँ जिस प्रकार का होता है, उतना जाना गया प्रयोजनवान् अवश्य है। इस प्रकार इस वक्तव्य द्वारा भी व्यवहारनय और उसका विषय है, यह स्वीकार करके तथा उसका त्रिकाली ध्रुवस्वभाव में असत्त्व दिखलाते हुए अनेकान्त की ही प्रतिष्ठा की गयी है।

(४) गाथा १३ में जीवादिक नौ पदार्थ हैं, यह कहकर व्यवहारनय के विषय को स्वीकृति देकर भी भूतार्थरूप से वे जाने गये सम्यग्दर्शन हैं, सो प्रकृत में भूतार्थरूप से उनका जानना यही है कि जीवपदार्थ नौ तत्त्वगत होकर भी अपने एकत्व से व्याप्त रहता है, यह कहकर मोक्षमार्ग में एकमात्र निश्चयनय का विषय ही उपादेय है, यह दिखलाया गया है। इसके बाद गाथा १४ में भूतार्थरूप से नौ पदार्थों के देखने पर एकमात्र अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्मा का ही अनुभव होता है, अतएव इस प्रकार आत्मा को देखनेवाला जो नय है, उसे शुद्धनय कहते हैं, यह कहकर व्यवहारनय के विषय को गौण और निश्चयनय के विषय को मुख्य करके पुनः अनेकान्त की प्रतिष्ठा की गयी है।

(५) १५ वीं गाथा में उक्त विशेषणों से उक्त आत्मा को जो अनुभवता है, उसने पूरे जिनशासन को अनुभवा, यह कहकर पूर्वोक्त प्रतिपादित निश्चय मोक्षमार्ग की महिमा गायी गयी है। व्यवहारनय है और उसका विषय भी है, परन्तु उससे मुक्त होने के लिए व्यवहारनय

के विषय पर से अपना लक्ष्य हटाकर निश्चयनय के विषय पर अपना लक्ष्य स्थिर करो। ऐसा करने से ही व्यवहाररूप बन्धपर्याय छूटकर निश्चयरत्नत्रयस्वरूप मुक्ति की प्राप्ति होगी। जिस महान् आत्मा ने व्यवहाररूप बन्धपर्याय को गौण करके निश्यचयरत्नत्रय की आराधना द्वारा साक्षात् निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त किया है, उसी ने तत्त्वतः पूरे जिनशासन को अनुभवा है। सोचिए तो कि इसके सिवा जिनशासन का अनुभवना और क्या होता है। जैनधर्म के विविध शास्त्रों को पढ़ लिया, किसी विषय के प्रगाढ़ विद्वान हो गये, यह जिनशासन का अनुभवना नहीं है। जिनशासन तो रत्नत्रयस्वरूप है और उसकी प्राप्ति व्यवहार को गौण किये बिना तथा निश्चय पर आरूढ़ हुए बिना हो नहीं सकती, अतः जिसे पूरे जिनशासन को अपने जीवन में अनुभवना है, उसे हेय या बन्धमार्ग जानकर व्यवहार को गौण और मोक्षमार्ग में उपादेय जानकर निश्चय को मुख्य करना ही होगा, तभी उसे निश्चयरत्नत्रयस्वरूप जिनशासन के अपने जीवन में दर्शन होंगे। यह इस गाथा का भाव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा द्वारा भी गौण-मुख्यभाव से उसी अनेकान्त का उद्घोष किया गया है।

(६) 'दंसण-णाण-चरित्ताणि' यह सोलहवीं गाथा है। इसमें सर्व प्रथम साधु अर्थात् ज्ञानी को निरन्तर दर्शन, ज्ञान और चारित्र के सेवन करने का उपदेश देकर व्यवहार का सूचन किया है। परन्तु विचार कर देखा जाए तो ये दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्मा को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं हैं, इसलिए इस द्वारा भी तत्स्वरूप अखण्ड आत्मा सेवन करनेयोग्य है, यह सूचित किया गया है। तात्पर्य यह है कि निश्चय का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार द्वारा ऐसा उपदेश दिया जाता है, इसमें सन्देह नहीं, पर उसमें मुख्यता निश्चय की रहती है। इसके विपरीत यदि कोई उस व्यवहार की ही मुख्यता मान ले तो उसे तत्स्वरूप अखण्ड और अविचल आत्मा की प्रतीति त्रिकाल में नहीं हो सकती। इस गाथा का यही भाव है।

इस विषय को स्पष्टरूप से समझने के लिए गाथा के उत्तरार्ध पर ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि गाथा के पूर्वार्ध में जो कुछ कहा गया है, उसका उत्तरार्ध में निषेध कर दिया है। सो क्यों ? इसलिए नहीं कि दर्शन, ज्ञान, और चारित्र आदि पर्यायदृष्टि से भी अभूतार्थ हैं, बल्कि इसलिए कि व्यवहारनय से देखने पर ही उनकी सत्ता है। निश्चयनय से देखा जाए तो एक ज्ञायकस्वरूप आत्मा ही अनुभव में आता है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं। इसलिए इस कथन द्वारा भी एक अखण्ड और अविचल आत्मा ही उपासना करने योग्य है, यही सूचित किया है। इस प्रकार विचार करके देखा जाए तो इस गाथा द्वारा भी व्यवहार को गौण करके और निश्चय को मुख्य करके अनेकान्त ही सूचित किया गया है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार से क्या कहा जाता है और निश्चय से क्या है, इसकी सन्धि मिलाते हुए सर्वत्र अनेकान्त की ही प्रतिष्ठा की है। इतना अवश्य है कि बहुत-सा व्यवहार तो ऐसा होता है, जो अखण्ड वस्तु में भेदमूलक होता है। जैसे आत्मा का ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदिरूप से भेद-व्यवहार या बन्धपर्याय की दृष्टि से आत्मा में नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदिरूप से पर्यायरूप भेदव्यवहार। ऐसे भेद द्वारा एक अखण्ड आत्मा का जो भी कथन किया जाता है, पर्याय की मुख्यता से आत्मा वैसा है, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि आत्मा जब जिस पर्यायरूप से परिणत होता है, उस समय वह तद्रूप होता है, अन्यथा आत्मा के संसारी और मुक्त, ये भेद नहीं बन सकते; इसलिए जब भी आत्मा के ज्ञायकस्वभाव में उक्त व्यवहार का 'नास्तित्व' कहा जाता है, तब भेदमूलक व्यवहार गौण है और त्रिकाली ध्रुवस्वभाव की मुख्यता है, यह दिखलाना ही उसका प्रयोजन रहता है।

परन्तु बहुत-सा व्यवहार ऐसा भी होता है जो आत्मा में बाह्य

निमित्तादि की दृष्टि से या प्रयोजन विशेष से आरोपित किया जाता है। यह व्यवहार आत्मा में है नहीं, पर परसंयोग की दृष्टि से उसमें कल्पित किया गया है, यह उक्त कथन का भाव है। इस विषय को ठीक तरह से समझने के लिए स्थापना निक्षेप का उदाहरण पर्याप्त होगा। जैसे किसी पाषाण की मूर्ति में इन्द्र की स्थापना करने पर यही तो कहा जाएगा कि वास्तव में वह पाषाण की मूर्ति इन्द्रस्वरूप है नहीं, क्योंकि उसमें जीवत्व, आज्ञा, ऐश्वर्य आदि आत्मगुणों का अत्यन्ताभाव है। फिर भी प्रयोजन-विशेष से उसमें इन्द्र की स्थापना की गयी है, उसी प्रकार बाह्य निमित्तादि की अपेक्षा आरोपित व्यवहार जानना चाहिए। बाह्य निमित्तादि की दृष्टि से आरोपित व्यवहार, जैसे कुम्हार को घट का कर्ता कहना। प्रयोजन विशेष से आरोपित व्यवहार, जैसे शरीर की स्तुति को तीर्थंकर की स्तुति कहना या सेना के निकलने पर राजा निकला ऐसा कहना आदि।

विचार कर देखा जाए तो रागादिरूप जीव के परिणाम और कर्मरूप पुद्गल परिणाम ये एक दूसरे के परिणमन में निमित्त (उपचरित हेतु) होते हुए भी तत्त्वतः जीव और पुद्गल परस्पर में कर्तृ-कर्मभाव से रहित हैं। ऐसा तो है कि जब विवक्षित मिट्टी अपने परिणामस्वभाव के कारण घटरूप से परिणत होती है, तब कुम्हार की योग-उपयोगरूप पर्याय स्वयमेव उसमें निमित्त व्यवहार को प्राप्त होती है। ऐसी वस्तु-मर्यादा है। परन्तु कुम्हार की उक्त पर्याय घट पर्याय की उत्पत्ति में व्यवहार से निमित्त होनेमात्र से उसकी कर्ता नहीं होती, और न घट उसका कर्म होता है, क्योंकि अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य के कर्तृत्व और कर्मत्व धर्म का अत्यन्त अभाव है। फिर भी लोक-व्यवहारवश कुम्हार की विवक्षित पर्याय ने मिट्टी की घट पर्याय को उत्पन्न किया, इस प्रकार उस पर मिट्टी की घट पर्याय के कर्तृत्व धर्म का और घट में कुम्हार के कर्मत्वधर्म का आरोप किया जाता है। यद्यपि शास्त्रकारों

ने भी इसके अनुसार लौकिक दृष्टि से वचन प्रयोग किये हैं, परन्तु है यह व्यवहार असत् ही। यह तो बाह्य निमित्तादि की दृष्टि से आरोपित व्यवहार की चर्चा हुई। इसका विशेष खुलासा हम कर्तृ-कर्ममीमांसा प्रकरण में कर आये हैं और वहाँ इसके समर्थन में प्रमाण भी दे आये हैं, इसलिए यहाँ पर इस विषय में अधिक नहीं लिखा है।

अब प्रयोजन विशेष से आरोपित व्यवहार के उदाहरणों का विश्लेषण कीजिए—जितने भी संसारी जीव हैं, उनके एक काल में कम से कम दो और अधिक से अधिक चार शरीरों का संयोग अवश्य होता है। यहाँ तक कि तीर्थंकर सयोगी-अयोगी जिन भी इसके अपवाद नहीं हैं। अब विचार कीजिए कि जीव के साथ एकक्षेत्रा-वगाहीरूप से सम्बन्ध को प्राप्त हुए उन शरीरों में जो अमुक प्रकार का रूप होता है, उनका यथासम्भव जो अमुक प्रकार का संस्थान और संहनन होता है, इसका व्यवहार हेतु पुद्गल-विपाकी कर्मों का उदय ही है, जीव की वर्तमान पर्याय नहीं, तो भी शरीर में प्राप्त हुए रूप आदि को देखकर उस द्वारा तीर्थंकर केवलीजिन की स्तुति की जाती है और कहा जाता है कि अमुक तीर्थंकर केवली लोहित वर्ण हैं, अमुक तीर्थंकर केवली शुक्ल वर्ण हैं और अमुक तीर्थंकर केवली पीतवर्ण है आदि। यह तो है कि जब शरीर पुद्गलद्रव्य की पर्याय है, तो उसका कोई न कोई वर्ण अवश्य होगा। पुद्गल की पर्याय होकर उसमें कोई न कोई वर्ण न हो, यह नहीं हो सकता। परन्तु विचार कर देखा जाए तो तीर्थंकर केवली की पर्याय में उसका अत्यन्त अभाव ही है, क्योंकि तीर्थंकर केवली जीवद्रव्य की एक पर्याय है, जो अनन्त ज्ञानादि गुणों से विभूषित है। उसमें पुद्गलद्रव्य के गुणों का सद्भाव कैसे हो सकता है ? अर्थात् त्रिकाल में नहीं हो सकता। फिर भी तीर्थंकर केवली से संयोग को प्राप्त हुए शरीर में अन्य तीर्थंकर केवली से संयोग को प्राप्त हुए शरीर में वर्ण का भेद

दिखलानेरूप प्रयोजन से यह व्यवहार किया जाता है कि अमुक तीर्थंकर केवली लोहित वर्ण हैं और अमुक तीर्थंकर केवली पीतवर्ण हैं आदि। जैसा कि हम लिख आये हैं कि तीर्थंकर केवली जीवद्रव्य की एक पर्याय है, उसमें वर्ण का अत्यन्त अभाव है। फिर भी लोकानुरोधवश प्रयोजन विशेष-वश तीर्थंकर केवली में उक्त प्रकार का व्यवहार किया जाता है, जो तीर्थंकर केवली में सर्वथा असत् है, इसलिए प्रयोजन विशेष से किया गया यह आरोपित असत् व्यवहार ही जानना चाहिए।

सेना के निकलने पर राजा निकला, ऐसा कहना भी आरोपित असद् व्यवहार का दूसरा उदाहरण है। विचार कर देखा जाए तो सेना निकली, यह व्यवहार स्वयं उपचरित है। उसमें भी सेना से राजा में अत्यन्त भेद है। वह सेना के साथ गया भी नहीं है। अपने महल में आराम कर रहा है। फिर भी लोकानुरोधवश प्रयोजनविशेष से सेना के निकलने पर राजा निकला या राजा की सवारी निकली, यह व्यवहार किया जाता है, जो सर्वथा असत् है, इसलिए प्रयोजन विशेष से किये गये इस व्यवहार को भी आरोपित असद् व्यवहार ही जानना चाहिए।

इसी प्रकार लोक में और भी बहुत से व्यवहार प्रचलित हैं, क्योंकि वे किसी द्रव्य के न तो गुण ही हैं और न पर्याय ही हैं, इसलिए जो व्यवहार विवक्षित पदार्थों में पर्यायदृष्टि से प्रतीति में आता है, वह मोक्षमार्ग में अनुपादेय होने से आश्रय करनेयोग्य नहीं माना गया है, अतएव उसे गौण करके अनेकान्तमूर्ति ज्ञायकस्वभाव आत्मा की स्थापना करना तो उचित है।

किन्तु जो व्यवहार वस्तुभूत न होने से सर्वथा असत् है, मात्र लौकिक-दृष्टि से ज्ञान में उसकी स्वीकृति है, उसका मोक्षमार्ग में सर्वथा निषेध ही करना चाहिए। वस्तु में अनेकान्त की प्रतिष्ठा करते

समय आत्मा में ऐसे व्यवहार को गौण करने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जो व्यवहार भूतार्थ होता है, उसे ही नय विशेष के आश्रय से गौण किया जाता है, किन्तु जिसकी विवक्षित वस्तु में सत्ता ही नहीं है, उसे गौण करने का अर्थ ही उसकी सत्ता को स्वीकार करना है, जो युक्तियुक्त नहीं है। इसलिए जितना भी असत् व्यवहार है, उसे दूर से ही त्यागकर और जितना पर्यायदृष्टि से भूतार्थ व्यवहार है, उसे गौण करके एकमात्र ज्ञायकस्वभाव आत्मा की उपासना ही मोक्षमार्ग में तरणोपाय है, ऐसा निर्णय यहाँ पर करना चाहिए।

यहाँ पर यह **प्रश्न** होता है कि वर्णादि तो पुद्गल के धर्म हैं, इसलिए आत्मा में ज्ञायकस्वभाव के अस्तित्व को दिखलाकर उसमें उनका नास्तित्व दिखलाना तो उचित प्रतीत होता है, परन्तु आत्मा में ज्ञायकभाव के अस्तित्व का कथन करते समय उसमें प्रमत्तादि भावों के नास्तित्व का कथन करना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ये दोनों भाव (ज्ञायकभाव और प्रमत्तादिभाव) एक द्रव्य के आश्रय से रहते हैं, इसलिए एक द्रव्यवृत्ति होने से ज्ञायकभाव के अस्तित्व के कथन से समय इन भावों का निषेध नहीं बन सकता, अतएव इस दृष्टि से अनेकान्त का कथन करते समय 'कथंचित् आत्मा ज्ञायक-भावरूप है और कथंचित् प्रमत्तादिभावरूप है'—ऐसा कहना चाहिए। यह कहना तो बनता नहीं कि आत्मा में प्रमत्तादि भावों की सर्वत्र व्याप्ति नहीं देखी जाती, इसलिए आत्मा में उनका निषेध किया है, क्योंकि कहीं पर (प्रमत्तगुणस्थान तक) प्रमत्तभाव की और आगे अप्रमत्तभाव की व्याप्ति बन जाने से आत्मा में ज्ञायकभाव के साथ इनका सद्भाव मानना ही पड़ता है?

यह एक प्रश्न है! **समाधान** यह है कि इस अनेकान्तस्वरूप प्रत्येक पदार्थ का कथन शब्दों से दो प्रकार से किया जाता है। एक क्रमिकरूप से और दूसरा यौगपद्यरूप से। कथन करने का तीसरा

कोई प्रकार नहीं है। जब अस्तित्व आदि अनेक धर्म कालादि की अपेक्षा भिन्न-भिन्न अर्थरूप विवक्षित होते हैं, उस समय एक शब्द में अनेक धर्मों के प्रतिपादन की शक्ति न होने से क्रम से प्रतिपादन होता है। इसे विकलादेश कहते हैं। परन्तु जब उन्हीं अस्तित्वादि धर्मों की कालादि की दृष्टि से अभेद विवक्षा होती है, तब एक ही शब्द के द्वारा एक धर्ममुखेन तादात्म्यरूप से एकत्व को प्राप्त सभी धर्मों का अखण्डभाव से युगपत् कथन हो जाता है। यह सकलादेश कहलाता है। विकलादेश नयरूप है और सकलादेश प्रमाणरूप। इसलिए वस्तु के स्वरूप के स्पर्श के लिए सकलादेश और विकलादेश दोनों ही कार्यकारी हैं, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। एक ही वचनप्रयोग जिसे हम सकलादेश कहते हैं, यह विकलादेशरूप भी होता है और सकलादेशरूप भी। यह वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर है कि वह विवक्षित वचन प्रयोग किस दृष्टि से कर रहा है। यथावसर उसे समझने की चेष्टा तो की न जाए और उस पर एकान्त कथन का आरोप किया जाए, यह उचित नहीं है। अतएव वक्ता कहाँ किस अभिप्राय से वचनप्रयोग कर रहा है, इसे समझकर ही पदार्थ का निर्णय करना चाहिए।

'कथंचित् जीव है ही' यह वचन प्रयोग सकलादेश भी है और विकलादेशरूप भी। यदि इस वाक्य में स्थित 'है' पद अन्य अशेष धर्मों को अभेदवृत्ति से स्वीकार करता है, तो यही वचन सकलादेशरूप हो जाता है और इस वाक्य में स्थित 'है' पद मुख्यरूप से अपना ही प्रतिपादन करता है तथा शेष धर्मों को 'कथंचित्' पद द्वारा गौणभाव से ग्रहण किया जाता है, तो यही वचन विकलादेशरूप हो जाता है। कौन वचन सकलादेशरूप है और कौन वचन विकलादेशरूप, यह वचन प्रयोग पर निर्भर न होकर वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर करता है। अतएव 'जीव ज्ञायकभावरूप ही है' ऐसा कहने पर यदि इस वचन

में अभेदवृत्ति की मुख्यता है तो यही वचन सकलादेशरूप हो जाता है, और इस वचन में कथंचित् पद द्वारा गौणभाव से अन्य अशेष धर्मों को स्वीकार किया जाता है, तो यही वचन विकलादेशरूप भी हो जाता है, ऐसा यहाँ पर समझना चाहिए।

यद्यपि यह बात तो है कि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान में जहाँ ज्ञायकस्वभाव आत्मा की स्वीकृति है, वहाँ उसमें संसार अवस्था और मुक्ति अवस्था की भी स्वीकृति है। वह जीव की संसार और मुक्त अवस्था का अभाव नहीं मानता। संसार में जो उसकी नर-नारकादि और मतिज्ञान-श्रुतज्ञानादिरूप विविध अवस्थाएँ होती हैं, उनका भी अभाव नहीं मानता। यदि वह वर्तमान में उनका अभाव माने तो वह मुक्ति के लिए प्रयत्न करना ही छोड़ दे। सो तो वह करता नहीं, इसलिए वह इन सबको स्वीकार करके भी, इन्हें आत्मकार्य की सिद्धि में अनुपादेय मानता है, इसलिए वह इनमें रहता हुआ भी इनका आश्रय न लेकर त्रिकाली नित्य एकमात्र ज्ञायकस्वभाव का आश्रय स्वीकार करता है। निश्चयनय और व्यवहारनय के विषयों को जानना अन्य बात है और जानकर निश्चयनय के विषय का अवलम्बन लेना अन्य बात है। मोक्षमार्ग में इस दृष्टिकोण से हेयोपादेय का विवेक करके स्वात्मा और परात्मा का निर्णय किया गया है। यदि लौकिक उदाहरण द्वारा इसे समझना चाहें तो यों कहा जा सकता है कि जैसे किसी गृहस्थ का एक मकान है। उसमें उसके पढ़ने-लिखने और उठने-बैठने का स्वतन्त्र कमरा है। वह घर के अन्य भाग को छोड़कर उसी में निरन्तर उठता-बैठता और पढ़ता-लिखता है। वह कदाचित् मकान के अन्य भाग में भी जाता है। उसकी सार-सम्हाल भी करता है। परन्तु उसमें उसकी विवक्षित कमरे के समान आत्मीय बुद्धि न होने से वह मकान के शेष भाग में रहना नहीं चाहता। ठीक यही अवस्था सम्यग्दृष्टि की होती है। जो उसे वर्तमान में नर-नारक आदि वर्तमान पर्याय मिली

हुई है, वह उसी में रह रहा है। अभी उसका पर्यायरूप से त्याग नहीं हुआ है। परन्तु उसने अपनी बुद्धि द्वारा द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत ज्ञायकस्वभाव आत्मा ही मेरा स्वात्मा है, ऐसा निर्णय किया है, इसलिए वह व्यवहारनय के विषयभूत अन्य अशेष परभावों को गौण कर मात्र उसी का आश्रय लेता है। कदाचित् रागरूप पर्याय की तीव्रतावश वह अपने स्वात्मा को छोड़कर परात्मा में भी जाता है तो भी वह उसमें क्षणमात्र भी टिकना नहीं चाहता। उस अवस्था में भी वह अपना तरणोपाय स्वात्मा के अवलम्बन को ही मानता है। अतएव इस दृष्टिकोण से विचार करने पर सम्यग्दृष्टि का विवक्षित आत्मा स्वात्मा; अन्य परात्मा, यही अनेकान्त फलित होता है। इसमें 'आत्मा कथंचित् ज्ञायकभावरूप है और कथंचित् प्रमत्तादिभावरूप है' इसकी स्वीकृति आ ही जाती है,परन्तु ज्ञायकभाव में प्रमत्तादिभावों की 'नास्ति' है, इसलिए इस अपेक्षा से यह अनेकान्त फलित होता है कि 'आत्मा-ज्ञायकभावरूप है, अन्यरूप नहीं।' आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मा को ज्ञायकभावरूप मानने पर अनेकान्त की सिद्धि किस प्रकार होती है, इसका निर्देश करते हुए लिखा है—

तत्स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यन्तश्चकचकायमानज्ञान-स्वरूपेण तत्त्वात् बहिरुन्मिषदनन्तज्ञेयतापन्नस्वरूपातिरिक्तपर-रूपेणातत्त्वात् सहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशसमुदयरूपाविभाग-द्रव्येणैकत्वात् अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशरूप-पर्यायैरनेकत्वात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावभवनशक्तिस्वभावत्त्वेन सत्त्वात् परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावाभवनशक्तिस्वभाववत्वेनासत्त्वात् अनादिनिधनाविभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात् क्रमप्रबृत्तैक-समयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्त्वेनानित्यत्वात्तदतत्त्वमेकानेकत्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव।

आत्मा के ज्ञानमात्र होने पर भीतर प्रकाशमान ज्ञानरूप से तत्पना है और बाहर प्रकाशित होते हुए अनन्त ज्ञेयरूप आकार से भिन्न पररूप

से अतत्पना है। सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चैतन्य अंशों के समुदायरूप अविभागी द्रव्य की अपेक्षा एकपना है और अविभागी एक द्रव्य में व्याप्त हुए सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चैतन्य-अंशरूप पर्यायों की अपेक्षा अनेकपना है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप होने की शक्तिरूप स्वभाववाला होने से सत्पना है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप नहीं होने की शक्तिरूप स्वभाववाला होने से असत्पना है तथा अनादि-निधन अविभागी एक वृत्तिरूप से परिणत होने के कारण नित्यपना है और क्रमशः प्रवर्तमान एक समयवर्ती अनेक बृत्त्यंशरूप से परिणत होने के कारण अनित्यपना है, इसलिए ज्ञानमात्र आत्मवस्तु को स्वीकार करने पर तत्-अतत्पना, एक-अनेकपना, सद्सत्पना और नित्यानित्यपना स्वयं प्रकाशित होता ही है।

अतएव अनेकान्त के विचार के प्रसंग से मोक्षमार्ग में निश्चयनय के विषय को आश्रय करनेयोग्य मानने पर एकान्त का दोष कैसे नहीं आता, इसका विचार किया। इसके विपरीत जो बन्धु अनेकान्त को एक वस्तु के स्वरूप में घटित न करके 'भव्य भी हैं और अभव्य भी हैं' इत्यादिरूप से या 'कुछ पर्यायें अमुक काल में अमुकरूप हैं और कुछ पर्यायें तद्भिन्न दूसरे काल में दूसरे रूप हैं' इत्यादिरूप से अनेकान्त को घटित करते हैं, उन्हें अनेकान्त को शब्दश्रुत में बाँधनेवाली स्याद्वाद की अंगभूत सप्तभंगी का यह लक्षण ध्यान में ले लेना चाहिए।

प्रश्नवशादेकस्मिन् व तुन्यवरोधेन विधि-प्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी।

प्रश्न के अनुसार एक वस्तु में प्रमाण से अविरुद्ध विधि और प्रतिषेधरूप धर्मों की कल्पना सप्तभंगी है।

सप्तभंगी में प्रथम भंग विधिरूप होता है और दूसरा भंग निषेधरूप होता है। विधि अर्थात् द्रव्यार्थिक तथा प्रतिषेध्य अर्थात् पर्यायार्थिक।

आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्यार्थिक को प्रतिषेधक और व्यवहार को प्रतिषेध्य इसी अभिप्राय से लिखा है। जिस दृष्टि में भेदव्यवहार है, उसके आश्रय से बन्ध है और जिसमें भेदव्यवहार का लोप है या अभेदवृत्ति है, उसके आश्रय से बन्ध का अभाव है, यह उनके उक्त कथन का तात्पर्य है। इस प्रकार अनेकान्त और उसे वचनव्यवहार का रूप देनेवाला स्याद्वाद क्या है, उसकी संक्षेप में मीमांसा की।

●

केवलज्ञानस्वभावमीमांसा

दर्पण में ज्यों लसत है सहज वस्तु का बिम्ब।
केवलज्ञान पर्याय में निखिल ज्ञेय प्रतिबिम्ब॥

१. उपोद्घात

अब जो अपरिमित माहात्म्य से सम्पन्न है, ऐसे केवलज्ञान स्वभाव की मीमांसा करते हैं। यह तो हम इन्द्रियों से ही जानते हैं कि जब जिन पदार्थों का सम्बन्ध स्पर्शन इन्द्रिय से होता है, तब उन पदार्थों के स्पर्श तथा हलके-भारीपन आदि का ज्ञान स्पर्शन इन्द्रिय से होता है। जब जिन पदार्थों का सम्बन्ध रसना इन्द्रिय से होता है, तब उन पदार्थों के खट्टे-मीठे आदि रस का ज्ञान रसनेन्द्रिय से होता है। जब जिन पदार्थों का सम्बन्ध घ्राण इन्द्रिय से होता है, तब उनके गन्ध का ज्ञान घ्राण इन्द्रिय से होता है। जब जो पदार्थ आँखों के सामने आते हैं, तब उनके वर्ण और आकार आदि का ज्ञान चक्षुइन्द्रिय से होता है, और जब जिन शब्दों का सम्बन्ध श्रोत्र इन्द्रिय से होता है, तब उनका ज्ञान श्रोत्रइन्द्रिय से होता है। ये पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में सक्षम है।

साथ ही हम यह भी जानते हैं कि निकटवर्ती या दूरवर्ती, अतीत -कालीन, वर्तमानकालीन या भविष्यकालीन इस्थंभूत या अनित्थंभूत जब जो पदार्थ मन के विषय होते हैं, तब वे मन से माने जाते हैं। उक्त पाँच इन्द्रियाँ तो केवल वर्तमान कालीन अपने-अपने विषयों को ही जानती हैं, जबकि मन वर्तमानकालीन विषयों के साथ अतीतकालीन और भविष्यकालीन विषयों को भी जानता है, क्योंकि जो पदार्थ मन के द्वारा जाने जाते हैं, वे विकल्प द्वारा ही जाने जाते हैं।

इससे हम जानते हैं कि ज्ञान में तो सबको जानने की स्वभावभूत

शक्ति है, मात्र व्यवहार से पराश्रितपने की भूमिका में ही वह युगपत् समग्र विषय को ग्रहण करने में स्वयं समर्थ नहीं होता। क्षयोपशमरूप पर्याय का स्वभाव ही ऐसा है। यह तथ्य है जिसे ध्यान में लेने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जो ज्ञान स्वयं पराश्रितपने से मुक्त होकर जानता है, उसमें पराश्रितपने के आधार पर यह भेद करना सम्भव नहीं है, कि वह इस समय केवल स्पर्श को ही जाने, रसादि को न जाने। या वर्तमानकालीन अर्थ को ही जाने, अतीत-अनागतकालीन अर्थ को न जाने। या निकटवर्ती पदार्थ को ही जाने, दूरवर्ती पदार्थ को न जाने, क्योंकि पराश्रितपने के व्यवहार से मुक्त होने के कारण उसमें उक्त प्रकार से सीमा निर्धारित करना सम्भव ही नहीं है। अत: केवलज्ञान त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जानता है, यह सिद्ध होता है। आगे उसी को बतलानेवाले हैं।

२. चेतन पदार्थ का स्वतन्त्र अस्तित्व

यह अनुभवसिद्ध बात है कि ज्ञान, जड़ पदार्थों का धर्म तो नहीं है, क्योंकि वह किसी भी जड़ पदार्थ में उपलब्ध नहीं होता। वह जड़ पदार्थों के रासायनिक प्रक्रिया का भी फल नहीं है, क्योंकि जहाँ चेतना का अधिष्ठान होता है, वहीं उसकी उपलब्धि होती है। जब हम जड़ पदार्थों का अस्तित्व मानते हैं तो उसके प्रतिपक्षभूत चेतनपदार्थ अवश्य होना चाहिए, अन्यथा पाषाण आदि को जड़ कहना नहीं बनता। जड़ पदार्थों से चेतन पदार्थ स्वतन्त्र हैं, इसकी पुष्टि करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय में कहते हैं —

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसि॥१२२॥

जो जानता-देखता है, सुख की इच्छा करता है और दु:ख से डरता है, कभी हितरूप कार्य करता है और कभी अहितरूप कार्य करता है तथा उनके फल को भोगता है, वह जीव है॥१२२॥

यहाँ जितने विशेषणों द्वारा जीव का स्वरूपाख्यान किया गया है, वे सब धर्म जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व को सूचित करते हैं। विषापहार स्तोत्र में इसी तथ्य को इन शब्दों में उद्घाटित किया गया है —

स्दवृद्धि-निःश्वास-निमेषभाजि प्रत्यक्षमात्मानुभवेऽपि मूढः।
किं चाखिलज्ञेयविवर्तिबोधस्वरूपमध्यक्षमवैति लोकः ॥२२॥

अपनी वृद्धि, श्वासोच्छ्वास और पलकों के उघड़ने-बन्द होने को धारण करनेरूप आत्मा के प्रत्यक्ष अनुभव होने पर भी मूढ़जन क्या समस्त ज्ञेय और उनकी पर्यायों के बोधस्वरूप आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभवते हैं, अर्थात नहीं अनुभवते ॥२२॥

इस प्रकार उक्त कथन से हम जानते हैं कि जानना-देखना, इच्छा करना, सुख-दुःख का अनुभवना, इन सब धर्मों की जड़ के साथ व्याप्ति नहीं है, क्योंकि ये सब धर्म जड़ पदार्थों में दृष्टिगोचर नहीं होते। इनको जड़ पदार्थों के रासायनिक संयोगों का फल भी नहीं कह सकते, क्योंकि जहाँ चेतना का अधिष्ठान होता है, वहीं उनकी उपलब्धि होती है। विश्व में अब तक अनेक प्रकार के प्रयोग हुए। उन प्रयोगों द्वारा अनेक प्रकार के चमत्कार भी सामने आये। हाइड्रोजन बम बने, परमाणु के विस्फोट की भी बात कही गयी। दूरबीन और ऐसी खुर्दुबीज भी बनी जिनसे एक वस्तु को हजार-लाख गुणा बड़ा करके देखने की क्षमता प्राप्त हुई। ऐसे बाण भी छोड़े गये जो पृथिवी की परिधि के बाहर गमन करने में समर्थ हुए। वैज्ञानिकों ने यन्त्रों की सहायता से प्रकृति के अनेक रहस्यों को जानने के नये-नये तरीके खोजे आदि।

किन्तु आजतक कोई भी वैज्ञानिक यह दावा न कर सका कि मैंने चेतना का निर्माण कर लिया है। इतना सब कुछ करने के बाद भी आज भी भौतिकवादियों के लिए चेतना रहस्य का विषय बना हुआ है। वर्तमान काल में ही क्या, अतीत काल में भी वह इनके लिए रहस्य का विषय बना रहा है और हम तो अपने अन्तः साक्षीस्वरूप

अनुभव के आधार पर यह भी कह सकते हैं कि भविष्य काल में भी वह इनके लिए रहस्य का विषय बना रहेगा, क्योंकि जो स्वयं जाननेवाला होकर भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता नहीं वह इन भौतिक पदार्थों के आलम्बन से उसे पकड़ने की जितनी भी चेष्टाएँ करेगा, वे सब विफल होंगी।

जड़ पदार्थों के समान आत्मा का अस्तित्व यह सनातन सत्य है। अतीत काल में ऐसे अगणित मनुष्य हो गये हैं, जिन्होंने उसका साक्षात्कार किया और लोक के सामने ऐसा मार्ग रखा, जिस पर चलकर उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। किन्त शुद्ध भौतिकवादी इस पर भरोसा नहीं करते और नाना युक्तियों-प्रयुक्तियों द्वारा उसके अस्तित्व के खण्डन में लगे रहते हैं। वे यह अनुभवने की चेष्टा ही नहीं करते कि जिस बुद्धि के द्वारा मैं इसके लोप करने का प्रयत्न करता हूँ, बुद्धि का आधारभूत वह मैं पद का वाच्य ही तो आत्मा है, जो शरीर से सर्वथा पृथक् है। दूध में पद्मराग मणि के निक्षिप्त करने पर वह अपनी प्रभा से जैसे दूध को व्याप लेती है, वैसे ही यह आत्मा भी अपने प्रदेशों द्वारा शरीर को व्याप रहा है। है वह शरीर से अत्यन्त भिन्न ही, क्योंकि मुर्दा शरीर से चेतन से अधिष्ठित शरीर में जो अन्तर प्रतीत होता है, वह एकमात्र उसी के कारण प्रतीत होता है। यह अन्तर केवल शरीर में से प्राणवायु के निकल जाने के कारण नहीं होता। किन्तु शरीर को व्यापकर जो स्थायी तत्त्व निवास करता है, उसके निकल जाने के कारण ही होता है। इस प्रकार ऊहापोह द्वारा निर्णय करने पर ज्ञानस्वरूप स्वतन्त्र तत्त्व के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

३. आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं

यद्यपि आत्मा स्वतन्त्र पदार्थ है तो भी वह अनादि काल से अपने अज्ञानवश पुद्‌गलद्रव्य के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध को प्राप्त करने के कारण अपने स्वरूप को भूलकर हीन अवस्था को प्राप्त हो रहा है। किन्तु जब वह अपने स्वस्वरूप के भान द्वारा अपनी इस संयोग

काल में होनेवाली विविध अवस्थाओं का अन्त कर सहज स्वभाव अवस्था को प्राप्त होता है, तब उसके ज्ञान में पर्यायरूप से आयी हुई, न्यूनता या विविधता भी निकल जाती है और इस प्रकार उसके करण, क्रम और व्यवधान का अभाव हो जाने से वह अलोकसहित त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् जानने लगता है।

इसी तथ्य को हेतु पुरस्सर स्पष्ट करते हुए आचार्य पुष्पदन्त-भूतबली वर्गणाखण्ड के प्रकृति अनुयोगद्वार में कहते हैं —

सदं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं बंधं मोक्खं इड्ढिं ट्ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं माणो माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्म सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्स द विहरदि त्ति ॥८२॥

स्वयं उत्पन्न हुए केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त भगवान् देवलोक, असुरलोक और मनुष्यलोक के साथ समस्त लोक की आगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरहकर्म, सब लोकों, सब जीवों और सब भावों को सम्यक् प्रकार से युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं॥८२॥

इस सूत्र के प्रारम्भ में 'सइं' पद आया है, जिससे इस तथ्य की सूचना मिलती है कि पर्यायदृष्टि से भगवान बनने का यदि कोई मार्ग है तो वह मात्र अपने त्रिकाली ध्रुवस्वभाव का आश्रय करना ही है, क्योंकि यह आत्मस्वरूप से भगवान है, इसलिए जो भगवानस्वरूप अपने आत्मा का आश्रय कर उसमें लीन होता है अर्थात् तत्स्वरूप होकर परिणमता है, वही पर्याय में भगवान बन सकता है, अन्य नहीं।

आगम में जो जीव की विभाव पर्याय और स्वभावपर्याय के भेद से दो प्रकार की पर्यायें बतलायी हैं, सो ऐसे बतलाने का जो कारण है, उसे हमें समझना चाहिए। मूलकारण यह है कि जो पर्याय पर के

लक्ष्य से उत्पन्न होती है, वह विभावपर्याय है और जो पर्याय अपने त्रिकाली-स्वभाव के लक्ष्य से उत्पन्न होती है, वह स्वभावपर्याय है। यत: यह जीव अपने भगवस्वरूप स्वभाव के लक्ष्य से भगवान् बनता है, अत: उसके ज्ञान-दर्शन आदिरूप जो भी पर्याय उत्पन्न होती हैं, वे सब स्वभाव के अनुरूप ही होती हैं। उन्हें चाहे स्वभावपर्याय कहो और चाहे परनिरपेक्षपर्याय कहो, दोनों का अर्थ एक ही है। आगम में केवलज्ञान और केवलदर्शन को जो असहाय ज्ञान-दर्शन कहा गया है, सो उसका आशय भी यही है। इस प्रकार जो केवलज्ञान और केवल -दर्शन है, एक तो वह इन्द्रियों के माध्यम से पदार्थों को न जानकर स्वयं जाननक्रियारूप प्रवृत्त होता है, इसलिए तो उसे इन्द्रियातीत कहा गया है; दूसरे, विषय के आलम्बन से उपयोग की पलटन नहीं होती, इसलिए उसे क्रमरहित स्वीकार किया गया है और तीसरे, वह बाह्यान्तर प्रतिबन्धक का अभाव होने पर होता है, इसलिए वह देश और काल आदि के व्यवधान से रहित होकर अलोकसहित त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् जानता है, यह सिद्ध होता है। इसी तथ्य को संक्षेप में स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में कहते हैं —

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्व-पज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहि किरियाहि॥२१॥

केवलीजिन के नियम से अन्य निरपेक्ष ज्ञानपरिणाम होता है, इसलिए उनके सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायें प्रत्यक्ष हैं। वे उन्हें अवग्रह आदि क्रियाओं द्वारा नहीं जानते॥२१॥

केवलज्ञान सम्पूर्ण द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों को युगपत् जानता है, इसे स्पष्ट करते हुए उसी प्रवचनसार में वे पुन: कहते हैं —

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं दु सव्वगयं॥२३॥

आत्मा ज्ञानप्रमाण है; ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहा गया है और ज्ञेय लोकालोक है, इसलिए ज्ञान सर्वगत है अर्थात् ज्ञान समस्त लोकालोक को अपने जाननेरूप व्याप्त करके अवस्थित है।

आचार्य गृद्धपिच्छ भी इसी विषय को स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहते हैं —

सर्वद्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य ॥१-२९॥

केवलज्ञान सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों को जानता है ॥१-२९॥

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं —

जीवद्रव्याणि तावदनन्तानन्तानि, पुद्गलद्रव्याणि च ततोप्य-नन्तानन्तानि अणु-स्कन्धभेदभिन्नानि, धर्माधर्माकाशानि त्रीणि, कालश्चासंख्येयः। तेषां पर्यायाश्च त्रिकालभुवः प्रत्येकमनन्ता-नन्तास्तेषु। द्रव्यं पर्यायजातं वा न किंचित्केवलज्ञानस्य विषयभाव-मतिक्रान्तमस्ति। अपरिमित-माहात्म्यं हि तत्।

जीवद्रव्य अनन्तानन्त हैं, पुद्गलद्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं, उनके अणु और स्कन्ध ये भेद हैं। धर्म, अधर्म और आकाश, ये मिलकर तीन हैं, और कालद्रव्य असंख्यात है। इन सब द्रव्यों की पृथक्-पृथक् तीनों कालों में होनेवाली पर्यायें अनन्तानन्त हैं। इन सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों को केवलज्ञान जानता है। ऐसा न कोई द्रव्य है और न कोई पर्यायसमूह है, जो केवलज्ञान के विषय के बाहर हो। वह नियम से अपरिमित माहात्म्यवाला है।

४. अन्य प्रकार से महिमावन्त केवलज्ञान का समर्थन

केवलज्ञान ऐसा महिमावन्त है, यह केवल अध्यात्म जगत में ही स्वीकार किया गया हो, ऐसा नहीं है; दार्शनिक जगत से भी इसका

समर्थन होता है। स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमांसा में कहते हैं —

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

जो सूक्ष्म पदार्थ हैं, जो अन्तरित पदार्थ हैं और जो दूरवर्ती पदार्थ, हैं, वे किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं, क्योंकि वे अनुमान के विषय हैं। जो अनुमान के विषय होते हैं, वे किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय अवश्य होते हैं। जैसे अग्नि आदि।

यहाँ सूक्ष्म कहने से परमाणु आदि वे पदार्थ लिए गये हैं जो स्वभाव से इन्द्रिय अगोचर होते हैं। अन्तरित कहने से वे पदार्थ लिए गये हैं, जो अतीत-अनागत कालबर्नी होने से इन्द्रिय अगोचर होते हैं। तथा दूर कहने से वे पदार्थ लिए गये हैं, जो क्षेत्र की अपेक्षा दूरवर्ती होते हैं।

ये तीनों प्रकार के पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं। जो-जो अनुमान के विषय होते हैं, वे सब किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय भी होते हैं। जैसे किसी प्रदेश विशेष में अनुमान प्रमाण से अग्नि का सद्भाव जानकर उसे प्रत्यक्ष से उपलब्ध कर लिया जाता है। उसी प्रकार वे सूक्ष्म आदि पदार्थ अनुमान के विषय होने से किसी के प्रत्यक्ष के विषय हैं, यह निश्चित होता है। इससे हम जानते हैं कि जो इन अतीन्द्रिय पदार्थों को साक्षात् जानता है, वही सर्वज्ञ है और वही सातिशय केवलज्ञान-विभूति से सम्पन्न है, क्योंकि इन दोनों में समव्याप्ति है।

बात यह है कि इन्द्रियाँ स्वयं जड़ हैं। वे जानती नहीं, जानता तो स्वयं ज्ञान है। इसलिए जिन पुरुषों ने आत्मपुरुषार्थ को जागृत कर सब प्रकार के बाह्याभ्यान्तर प्रतिबन्धकों के अभावपूर्वक इन्द्रियों को निमित्त किये बिना अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे सूक्ष्मादि पदार्थों को इन्द्रियों को माध्यम किये बिना साक्षात् जानने लगते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

शंका—जबकि आत्मा ज्ञानस्वभाव है और इन्द्रियाँ आत्मा का स्वभाव नहीं है। ऐसी अवस्था में आत्मा स्वरूप से ही सर्वज्ञस्वभाव है, फिर यहाँ उसे सिद्ध करने से प्रयोजन है?

समाधान—जो दर्शन आत्मा से ज्ञान की उत्पत्ति न मानकर पर से ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं, उन्हें लक्ष्यकर यह वचन कहा गया है। उन दर्शनों का नेता मीमांसक है। उसने धार्मिक जगत में वेदों की प्रतिष्ठा करने के अभिप्राय से अपने दर्शन को यह रूप दिया है। किन्तु उसका यह कथन अन्योन्याश्रित है, क्योंकि जिस तर्क से वह ज्ञान को पराश्रित सिद्ध करता है, उस तर्क के पराश्रित सिद्ध होने पर ज्ञान की पराश्रितता सिद्ध होवे और ज्ञान के पराश्रित सिद्ध होने पर ज्ञान को पराश्रित सिद्ध करनेवाले उस तर्क को यदि स्वाश्रित स्वीकार किया जाता है, तो ज्ञान को ही स्वाश्रित मान लेने में क्या आपत्ति है। इस प्रकार जीवस्वभाव को ध्यान में रखकर विचार करने पर यही निश्चित होता है, कि प्रत्येक आत्मा स्वरूप से सर्वज्ञस्वभाव है। संसार अवस्था में जो पराश्रितपना दृष्टिगोचर होता है, वह वस्तु स्वरूप को जानकर तदनुरूप, श्रद्धा, ज्ञान और स्थिति न करने का ही फल है।

५. दर्पण और ज्ञानस्वभाव

ज्ञान का स्वभाव दर्पण के समान है। जैसे स्वच्छ दर्पण के सामने आये हुए अनेक पदार्थ उसमें यथावत्‌रूप से युगपत् प्रतिबिम्बित होते हैं। वैसे ही केवलज्ञान में अलोकसहित तीन लोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ यथावत्‌रूप से युगपत् प्रतिभासित होते हैं। इसीलिए स्वमाी समन्तभद्र ने अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्धमान की मंगलस्तुति करते हुए उनके ज्ञान को दर्पण की उपमा दी है। इसी तथ्य का समर्थन पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहे गये आचार्य अमृतचन्द्र के इस मंगलसूत्र से भी होता है—

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥१ ॥

जिसमें दर्पण के तल के समान समस्त पदार्थ समूह त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों के साथ युगपत् प्रतिबिम्बित (प्रतिभासित) होता है, वह उत्कृष्ट केवलज्ञान ज्योति जयवन्त वर्तो ॥१ ॥

आचार्य अमृतचन्द्र ने केवलज्ञानरूप से परिणत हुए ज्ञानस्वभाव की महिमा क्या है, इसे इस मंगलसूत्र द्वारा पूरी तरह से स्पष्ट कर दिया है।

आशय यह है कि अलोकसहित त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ केवलज्ञान में ऐसे ही प्रतिभासित होते हैं जैसे दर्पण के सामने आया हुआ पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित होता है। यद्यपि दर्पण अपने स्थान पर रहता है और प्रतिबिम्बित होनेवाला पदार्थ अपने स्थान पर रहता है। न तो दर्पण पदार्थ में जाता है और न ही पदार्थ दर्पण में आता है, फिर भी इन दोनों में सहज ही ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि पदार्थ के दर्पण के सामने आने पर स्वभाव से दर्पण की स्वच्छता स्वयं प्रतिबिम्बरूप परिणम जाती है। उसी प्रकार केवलज्ञान का स्वभाव सब द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती सब पर्यायों को जानने देखने का है। दर्पण के समान यहाँ भी न तो सब पदार्थ केवलज्ञान में आते हैं और न केवलज्ञान सब पदार्थों में जाता है। फिर भी केवलज्ञान और सब पदार्थों के मध्य ऐसा सहज ही ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है कि केवलज्ञान के प्रकट होते ही उसी समय से वह सब पदार्थों और उनकी त्रिकालवर्ती सब पर्यायों को सहज ही युगपत् स्वयं जानने-देखने लगता है।

उक्त मंगलसूत्र में आचार्य अमृतचन्द्र ने केवलज्ञान को परमज्योति पद से अभिहित किया है, सो इसका यह आशय है कि जैसे सूर्य लोक में स्थित समस्त पदार्थों को अपने आलोक द्वारा प्रकाशित करता

है, वैसे ही केवलज्ञान भी चराचर समस्त विश्व को प्रकाशित करता है, जानता-देखता है। यहाँ केवलदर्शन से अभेद करके यह कथन किया है।

६. शंका-समाधान

शंका— विश्व के समस्त पदार्थ पर हैं, केवलज्ञान उन्हें कैसे जानता है?

समाधान— केवलज्ञान जानता तो स्वयं को ही है। किन्तु प्रतिसमय जो जाननेरूप पर्याय होती है, वह प्रतिबिम्बरूप आकार को लिए हुए दर्पण के समान सब पदार्थों को जाननेरूप ही होती है। इसलिए प्रत्येक समय में उसके इस प्रकार जाननेरूप होने से व्यवहार से यह कहा जाता है कि केवलज्ञान प्रत्येक समय में सब द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती सब पर्यायों को युगपत जानता है। ज्ञान में ऐसी अपूर्व सामर्थ्य है, इसका भान तो छद्मस्थों को भी होता है। उदाहरणार्थ चक्षु इन्द्रियों को लीजिए। हम देखते हैं कि वह पदार्थों के पास जाती नहीं, फिर भी वह योग्य सन्निकर्ष में स्थित पदार्थों के रूप, आकार आदि के साथ उन पदार्थों को जानती है। इससे सिद्ध है कि वह अपने स्थान में रहकर भी अपने में प्रतिभासित होनेवाले सब पदार्थों को जानता है।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कुन्दकुन्द नियमसार में कहते हैं—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भयवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥१५९॥

केवलीजिन व्यवहारनय से सब पदार्थों को जानते-देखते हैं। किन्तु निश्चयनय से केवलीजिन आत्मा को जानते-देखते हैं॥१५९॥

केवलीजिन के समय-समय जो ज्ञान परिणाम होता है, वह स्वयं होता है। बाह्य पदार्थ हैं, इसलिए वैसा ज्ञान परिणाम होता है, ऐसा भी नहीं है और प्रतिसमय ज्ञान परिणाम होता है, इसलिए वैसे

बाह्य पदार्थ हैं, ऐसा भी नहीं है। प्रतिसमय बाह्य पदार्थ स्वयं हैं और प्रतिसमय ज्ञान-परिणाम का होना स्वयं है। कोई किसी के आधीन नहीं है। इसलिए जब परमार्थ से विचार किया जाता है, तो समय-समय जो केवलज्ञान परिणाम होता है, वह स्वयं को जाननेरूप ही होता है। इसी को निखिल ज्ञेयों की अपेक्षा व्यवहार से यों कह सकते हैं कि जितना कुछ ज्ञेय है, उसको जाननेरूप होता है। इसी तथ्य को यहाँ पर आचार्यदेव ने आत्मज्ञ और सर्वज्ञ पद द्वारा स्पष्ट किया है। वस्तुतः देखा जाए तो स्वयं को जानना ही सबको जानना है। ये दो नहीं है। जब पर की अपेक्षा कथन करते हैं तो वह सबको जानता-देखता है, ऐसा कहा जाता है और जब स्व की अपेक्षा कथन करते हैं तो स्वयं को जानता-देखता है, ऐसा कहा जाता है।

ज्ञेय दो प्रकार का है—अन्तःज्ञेय और बहिःज्ञेय। ज्ञेय को जाननेरूप स्वयं जो ज्ञानपरिणाम हुआ, तत्स्वरूप अन्तःज्ञेय है, इस अपेक्षा केवली जिन स्वयं को जानने-देखते हैं, यह निश्चित होता है। और बहिःज्ञेय लोकालोकवर्ती समस्त पदार्थ हैं। अतः उसी बात को जब इनकी अपेक्षा कथन करते हैं, तब केवलीजिन लोकालोक को जानता-देखता है, यह कहा जाता है। वस्तु एक है, उसका कथन दो प्रकार से किया गया है, यह इसका तात्पर्य है।

केवलज्ञान स्वयं को जानता-देखता है, इसका अर्थ ही यह है कि वह अलोकसहित लोक के समस्त पदार्थों को प्रतिसमय युगपत् जानता-देखता है, क्योंकि सभी पदार्थ ज्ञानगत होने से केवलज्ञान सब पदार्थों को जानता-देखता है, परसापेक्ष यह व्यवहार किया जाता है।

शंका—वस्तुतः यदि ज्ञान स्वाश्रित है, पराश्रित नहीं है तो संसार अवस्था में इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति क्यों मानी जाती है ?

समाधान—किसी भी ज्ञान की उत्पत्ति होती तो स्वयं ही है, इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ हैं।

इसलिए वे चेतन के किसी भी धर्म को उत्पन्न करने में स्वयं असमर्थ हैं। केवल विवक्षित ज्ञान के साथ विवक्षित इन्द्रिय का अविनाभाव देखकर यह व्यवहार किया जाता है, कि चक्षु से रूप की उपलब्धि हुई आदि।

शंका—केवलीजिन के इस प्रकार के व्यवहार को स्वीकार करने में क्या आपत्ति है?

समाधान—ऐसा स्वीकार करने पर संसार और मुक्त ये दो अवस्थाएँ नहीं बनतीं। इतना ही नहीं, किसी भी द्रव्य को परमार्थ से स्वसहाय मानना भी नहीं बन सकता। इसलिए यही मानना उचित है कि अपने-अपने स्वभावानुसार जब जिस द्रव्य का जो परिणाम होता है, वह स्वयं होता है। संयोगकाल में अविनाभावसम्बन्धवश बाह्य पदार्थ मात्र उसका सूचक होता है।

शंका—जीव पदार्थ द्रव्यार्थिकनय से भले ही स्वसहाय रहा आवे। पर वह पर्यायार्थिकनय से भी स्वसहाय है, यह मानना उचित नहीं है?

समाधान—धर्मादि द्रव्यों के समान जीव पदार्थ भी उत्पाद-व्यय ध्रौव्यस्वरूप है। इनमें से ध्रौव्यरूप से वस्तु को स्वीकार करनेवाला द्रव्यार्थिकनय है और उत्पाद-व्ययरूप से वस्तु को स्वीकार करनेवाला पर्यायार्थिकनय है। यह दृष्टिभेद से प्रत्येक द्रव्य को देखने की पद्धति है। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु अखण्ड एक है और परिणामी-नित्य है, इसलिए अपने इस स्वभाव के कारण वह ध्रुव रहते हुए भी प्रति समय स्वयं उत्पाद-व्ययरूप अवस्था को प्राप्त होता रहता है। अतएव जीव पदार्थ स्वयं पराश्रित नहीं है। संयोग के काल में प्रयोजनविशेष से पराश्रयपने का व्यवहार किया जाता है।

शंका—वह प्रयोजन विशेष क्या है, जिससे जीव में इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है?

समाधान—जिस जीव ने अज्ञानवश अभी तक अपने पृथक्

एकत्व को उपलब्ध नहीं किया और विषय-कषाय से अभिभूत हो रहा है, उसकी यह पराश्रितता स्वभाव से जायमान नहीं है, किन्तु अज्ञानवश पर में इष्टा-निष्ट बुद्धि का फल है, यह वह प्रयोजन है, जिसको लक्ष्य में रखकर संसारी जीव को पराश्रित कहा गया है।

शंका—जो जीव परभवसम्बन्धी आयु का बन्ध कर लेता है, उसको नियम से उस भव को धारण करना पड़ता है, यह एक उदाहरण है। ऐसी अवस्था में संसारी जीव को वस्तुतः पराश्रित मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए?

समाधान—जीवशास्त्र का ऐसा नियम है कि इस जीव की जो लेश्या परभवसम्बन्धी आयु के बन्ध में निमित्त होती है, मरण के अन्तर्मुहूर्त पहले तज्जातीय लेश्या के होने पर ही मरणकर वह जीव भवान्तर को प्राप्त करता है। इससे सिद्ध है कि संसारी जीव आयुबन्ध के कारण परभव को नहीं प्राप्त होता, किन्तु उसका मुख्य कारण तज्जातीय लेश्या ही है।

शंका—ऐसा मानने में क्या लाभ है?

समाधान—यह मान्यता नहीं है, वस्तुस्थिति है। यह जीव स्वयंकृत अपराध के कारण संसारी बना हुआ है और अपने सहज स्वभाव को जानकर स्वभाव के अनुकूल पुरुषार्थ करने से अपराधवृत्ति से मुक्त होता है, ऐसा स्वीकार करना, यही लाभ है और यही मोक्ष का उपाय है।

शंका—केवलीजिन छह द्रव्य और उनकी वर्तमान पर्यायों को जानें, इसमें किसी को विवाद नहीं हैं। किन्तु जो अतीत पर्यायें विनष्ट हो गयी हैं, और भविष्यत्पर्यायें उत्पन्न नहीं हुई हैं, केवली जिन उनको भी जानते हैं, ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं है।

समाधान—किन्तु उनकी यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जो सब द्रव्यों को जानता है, वह उनकी त्रिकालवर्ती सब पर्यायों को

भी जानता है, क्योंकि तीनों काल की पर्यायों के तादात्म्यरूप से समुच्चय का नाम ही द्रव्य है, इससे जिसने सभी द्रव्यों को जाना, उसने उनकी सब पर्यायों को भी जाना, यह सिद्ध होता है, क्योंकि पूरे द्रव्य के जानने में उसकी तीनों काल सम्बन्धी पर्यायों का जानना अन्तर्निहित है ही। इस तथ्य को आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने प्रवचनसार गाथा ३७ की तत्त्वप्रदीपिका टीका में अनेक प्रकार से स्पष्ट करके बतलाया है। इसके लिए एक उदाहरण उन्होंने चित्रपट का लिया है। वे लिखते हैं—

चित्रपटीस्थानीयत्वात् संविदः। यथा हि चित्रपट्यामतिवाहिता-नामनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामालेख्याकारः साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते तथा संविद्भित्तावपि।

उपयुक्त ज्ञान चित्रपट स्थानीय है। जैसे चित्रपट में अतीत, अनागत और वर्तमानकालीन वस्तुओं के चित्र साक्षात् एक समय में ही प्रतिभासित होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी भित्ति में भी सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायें प्रतिभासित होती हैं।

इसी तथ्य को वे और भी स्पष्ट करते हुए लिखते हैं —

किंच सर्वज्ञेयाकाराणां तादात्विकाविरोधात्। यथा हि प्रध्वस्तानामनुदितानां च वस्तूनामालेख्याकारा वर्तमाना एव तथा-तीतानामनागतानां च पर्यायाणां ज्ञेयाकारा वर्णमाना एव भवन्ति।

वस्तुस्थिति यह है कि जितने भी ज्ञेयाकार हैं, उन सबके वर्तमान-कालीनरूप से प्रतिभासित होने में कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि जैसे अतीत और अनागत वस्तुओं के चित्र वर्तमान ही हैं, उसी प्रकार अतीत और अनागत पर्यायों सम्बन्धी ज्ञेयाकार वर्तमान ही हैं।

इस तथ्य की पुष्टि छद्मस्थज्ञान से भी होती है। छद्मस्थ के ज्ञान से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो लिए ही गये हैं, अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान का भी ग्रहण होता है। ये दोनों ज्ञान, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव

की मर्यादा के साथ अतीत और अनागत पर्यायों को भी जानते हैं। मतिज्ञान भले ही योग्य सन्निकर्ष में स्थित इन्द्रियों द्वारा वर्तमान विषय को जानता है, पर श्रुतज्ञान मात्र वर्तमान विषय को ही जानता हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जो घटना पहले कभी हो गयी हो, उसका ख्याल आने पर वर्तमान में हो रही घटना के समान उसका प्रतिभास होने लगता है। चाहे अतीत पर्यायें हों या भविष्यत् पर्यायें हों, उनके ज्ञान में प्रतिभास वर्तमानवत् ही होता है, क्योंकि अतीत और अनागत विषय को जाननेवाली ज्ञानपर्याय वर्तमान है, इसलिए विषय की अपेक्षा भले ही विषय को अतीत-अनागत कहा जाए, परन्तु उनको वर्तमान में जाननेवाले ज्ञानपरिणाम को अतीत-अनागत नहीं कहा जा सकता, इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान अतीत-अनागत विषयों को वर्तमानवत् जानता है, यह स्वीकार किया गया है।

७. कुतर्काश्रित मत का निरसन

१. बहुत से मनीषियों का ऐस भी कहना है कि आकाश अनन्त है, अतीत-अनागत काल भी अनन्त है। इसी प्रकार जीव और पुद्गलद्रव्य भी अनन्त हैं। ऐसी अवस्था में केवलज्ञान के द्वारा यदि उन अनन्त पदार्थों का पूरा ज्ञान मान लिया जाता है, तो उन सबको अनन्त मानना नहीं बनता। यदि उनकी इस बात को और अधिक फैला कर देखा जाए तो यह भी कहा जा सकता है कि यदि केवलज्ञान सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों को युगपत् जानता है तो न तो जीव पदार्थ ही अनन्त माने जा सकते हैं और न पुद्गलद्रव्य ही अनन्त माने जा सकते हैं। आकाशद्रव्य तथा भूत और भविष्यत काल अनन्त है, यह भी नहीं कहा जा सकता है।

२. उनका यह भी कहना है कि जब प्रत्येक छह मास और आठ समय में छह सौ आठ जीव मोक्ष जाते हैं, तब एक समय ऐसा भी आ सकता है, जब मोक्ष का मार्ग ही बन्द हो जाएगा। संसार में केवल अभव्य जीव ही रह जावेंगे।

यों तो जो अपने छद्मस्थ ज्ञान के अनुसार अनन्त की सीमा बाँधने में और केवलज्ञान की सामर्थ्य के निष्कर्ष निकालने में पटु हैं, उनके द्वारा इस प्रकार के कुतर्क पहले भी उठाये जाते थे। किन्तु जब से सब द्रव्यों की पर्यायें क्रमनियमित (क्रमबद्ध) होती हैं, यह तथ्य प्रमुखरूप से सबके सामने आया है, तब से वर्तमान में भी ऐसे कुतर्क उन विद्वानों के द्वारा उपस्थित किये जाने लगे हैं, जिनके मन में यह शल्य घर कर गयी है कि केवलज्ञान को सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों का ज्ञाता मान लेने पर सोनगढ़ के विरोध में जो हमारी ओर से हल्ला किया जा रहा है, वह निर्बल पड़ जाएगा। वे नहीं चाहते कि आम जानता में सोनगढ़ का प्रभाव बढ़े, इसलिए वे केवलज्ञान की सामर्थ्य पर ही उक्त प्रकार के कुतर्क करने लगे हैं। किन्तु वे इस प्रकार के कुतर्क करते हुए यह भूल जाते हैं कि जैनधर्म में तत्त्वप्ररूपणा का मूल आधार ही केवलज्ञान है। उस केवलज्ञान के द्वारा जानकर ही केवलीजिन ने अपनी दिव्यध्वनि द्वारा यह प्ररूपणा की कि जीव अनन्तानन्त हैं, वे संसारी और मुक्त के भेद से दो प्रकार के हैं। पुद्गलद्रव्य उनसे भी अनन्त गुणे हैं। धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य एक-एक हैं। काल द्रव्य असंख्यात हैं आदि। उन्होंने यह भी बतलाया कि इनमें से प्रत्येक द्रव्य के गुण और पर्यायें भी अनन्त हैं। यह वस्तुस्थिति होते हुए भी उन महाशयों द्वारा वही केवलज्ञान वर्तमान समय में कुतर्क का विषय बनाया जा रहा है। इसे समय की विडम्बना ही कहनी चाहिए कि जो केवलज्ञान की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते, उनके द्वारा तो यह कहा नहीं जा रहा है, किन्तु जो इन्द्रियातीत निरावण केवलज्ञान की सत्ता स्वीकार करते हैं, उनकी ओर से ऐसे कुतर्क किए जा रहे हैं, यह आश्चर्य की बात है।

हम यह तो मानते हैं कि केवलज्ञान के सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों को जाननेवाला होने पर भी क्रमनियमित पर्यायों की सिद्धि मात्र केवलज्ञान के आधार से ही न करके कार्य-कारण परम्परा को

ध्यान में रखकर भी की जानी चाहिए, जैसा कि हम क्रमनियमित पर्याय मीमांसा अध्याय में कर आये हैं। परन्तु केवल पर्यायों की क्रमनियमितता न सिद्ध हो जाए, मात्र इस डर से केवलज्ञान की सामर्थ्य पर ही कुतर्क करना उचित नहीं है, क्योंकि जैसा कि हम पहले लिख आये हैं कि केवलज्ञान एक निरावरण स्वच्छ और सांगोपांग दर्पण के समान है। जिस प्रकार उक्त प्रकार के दर्पण के सामने जितने पदार्थ होते हैं, वे सब उसमें अखण्डभाव से प्रतिबिम्बित होते हैं। ठीक यही स्वभाव केवलज्ञान का है, क्योंकि वह छह द्रव्य और उनकी सब पर्यायों को प्रतिभासित करने में समर्थ है। अतीत और अनागत पर्यायें पर्यायदृष्टि से विनष्ट और अनुत्पन्न कही जा सकती है, द्रव्यरूप से नहीं। इसलिए जबकि केवलज्ञान प्रत्येक द्रव्य को पूरी तरह से जानता है तो उसने तीनों काल सम्बन्धी सब पर्यायों के साथ ही प्रत्येक द्रव्य को जाना, यह सुतराँ सिद्ध हो जाता है। जानने की अपेक्षा अतीत-अनागत पर्यायें वर्तमान में जानी गयी, इसलिए वे वर्तमान के समान ही हैं।

जैसे क्षेत्र की अपेक्षा मेरु आदि अन्तरित पदार्थ केवलज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, क्षेत्र का व्यवधान होने पर भी इसमें कोई बाधा नहीं आती। वैसे ही काल की अपेक्षा अन्तरित पदार्थ भी केवलज्ञान में प्रत्यक्ष प्रतिभासित होते हैं, इसमें भी कोई बाधा नहीं आती। यदि ज्ञान क्षेत्र की अपेक्षा अन्तरित पदार्थों को जान सकता है, तो वह काल की अपेक्षा अन्तरित पदार्थों को क्यों नहीं जान सकता, अर्थात् अवश्य जान सकता है। छद्मस्थों के परोक्ष ज्ञान से भी इसकी पुष्टि होती है। यदि ऐसा न माना जाए तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमानज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अतीत पर्यायों का संधारण करने पर ही ये सब ज्ञान उत्पन्न होते हैं। यदि वर्तमान समय में अतीत पर्याय लक्ष्य में न आवे तो इन ज्ञानों की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी,

अर्थात् नहीं हो सकेगी। इससे सिद्ध है कि जब हम छद्मस्थों का ज्ञान अतीत और अनागत पर्यायों के जानने में समर्थ है, तब केवलज्ञान को ऐसी सामर्थ्यवाला मानने में आपत्ति ही क्या हो सकती है।

वस्तुस्थिति यह है कि केवलज्ञान की प्रत्येक समय में जो पर्याय होती है, वह अखण्ड ज्ञेयरूप प्रतिभास को लिए हुए ही होती है और ज्ञान का स्वभाव जानना होने के कारण केवलज्ञान अपनी उस पर्याय को समग्रभाव से जानता है, इसलिए केवलज्ञानी अपने इस ज्ञान परिणाम द्वारा छह द्रव्य और उनकी सब पर्यायों का ज्ञाता होने से सर्वज्ञ संज्ञा को धारण करता है।

दर्पण और ज्ञान में यह अन्तर है कि दर्पण में अन्य पदार्थ प्रतिबिम्बित तो होते हैं, परन्तु वह उनको जानता नहीं। किन्तु केवलज्ञान में अन्य अनन्त जड़-चेतन सभी पदार्थ अपने-अपने शक्तिरूप और व्यक्तरूप सभी आकारों के साथ प्रतिभासित भी होते हैं, और वह उनको जानता भी है, इसलिए केवलज्ञान ने आकाश की अनन्तता को जान लिया, या तीनों कालों की अनन्तता को जान लिया, अत: उनको अनन्त मानना ठीक नहीं, यह प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जो पदार्थ जिसरूप में हैं, उसीरूप में वे केवलज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, ऐसा नियम है। इसी तथ्य को शंका—समाधानपूर्वक स्पष्ट करते हुए आचार्य अकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय ५ सूत्र ९ में लिखते हैं —

अनन्तत्वादपरिज्ञानमिति चेत्? न, अतिशयज्ञानदृष्टत्वान्। स्यादेतत् सर्वज्ञेनानन्तं परिच्छिन्नं वा अपरिच्छिन्नं वा। यदि परिच्छिन्नं उपलब्धावसानत्वात् अनन्तत्वमस्य हीयते। अथापरिच्छिन्नम्, तत्स्वरूपानवबोधात् असर्वज्ञत्वं स्यात्? तन्नं, किं कारणम्? अतिशय-ज्ञानदृष्टत्वात्। यत्तत्केवलिनां ज्ञानं क्षायिकं अतिशयवत् अनन्ता-नन्तपरिमाणं तेन तदनन्तमवबुध्यते साक्षात्। तदुपदेशादितरैरनुमानेनेति न सर्वज्ञत्वहानिः। न च तेन परिच्छिन्नमित्यर्थः सान्तम्, अनन्तेना-नन्तमिति ज्ञातत्वात्।

आकाश के प्रदेश अनन्त हैं, इसलिए उनका ज्ञान नहीं हो सकता, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सातिशयज्ञान के द्वारा उसकी अनन्तता ज्ञात है।

शंका—सर्वज्ञ ने अनन्त को जाना या नहीं जाना? यदि जान लिया तो अनन्त का अवसान (छोर) उपलब्ध हो जाने से अनन्त की अनन्तता की हानि होती है और यदि नहीं जाना तो अनन्त के स्वरूप का ज्ञान नहीं होने से सर्वज्ञता की हानि होती है।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अतिशयज्ञान के द्वारा सर्वज्ञ अनन्त को जानते हैं। जो यह केवलियों का ज्ञान है, वह क्षायिक, अतिशयसहित और अनन्तानन्त परिमाणवाला है, इसलिए वह (ज्ञान) अनन्त को साक्षात् जानता है। तथा सर्वज्ञ के उपदेश से दूसरे मनुष्य अनुमान से जानते हैं, इसलिए सर्वज्ञत्व की हानि नहीं होती। तथा सर्वज्ञ ने अनन्त को जान लिया, इसलिए अर्थ शान्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान स्वयं अनन्तरूप है, इसलिए उसके द्वारा अर्थ अनन्त है, यह ज्ञात हो जाता है।

यहाँ जो कुछ कहा गया है, उसका सार यह है कि किसी वस्तु का अन्त उसकी उत्तरोत्तर हानि होने से ही होता है, जानने से उसका अन्त नहीं होता। ज्ञान का तो काम है कि जो जिसरूप में है, उसे उसीरूप में जाने। एक को एकरूप में जाने, संख्यात को संख्यातरूप में जाने, असंख्यात को असंख्यातरूप में जाने और अनन्त को अनन्तरूप में जाने। जो जिसरूप में अवस्थित है, उसको उसीरूप में जान लिया, इसलिए अन्त हो गया, ऐसा नहीं है। द्रव्यप्रमाणानुगम (संख्याप्ररूपणा) में प्रत्येक गुणस्थान और मार्गणास्थान में जीवों की संख्या का निर्देश करते हुए श्री षट्खण्डागम में जिस गुणस्थान या मार्गणास्थान में जीवों की संख्या अनन्त है, उसका काल की अपेक्षा निर्देश करते हुए बतलाया है कि अनन्त काल के द्वारा भी यदि इस गुणस्थान या मार्गणास्थानवर्ती

जीवों की संख्या को उत्तरोत्तर कम करते जाएँ तो भी उसका अन्त प्राप्त होना सम्भव नहीं है, इसलिए इस गुणस्थान या मार्गणास्थानवर्ती जीवों की संख्या अनन्त है।

श्री धवलाजी प्रथम पुस्तक के अन्त में शंका-समाधान करते हुए बतलाया है कि अनादि काल से अब तक जितने जीव मुक्त हुए, संसार राशि में से उतने जीवों के कम होने पर भी संसार राशि पूर्ववत् अनन्तानन्त बनी हुई है। प्रमाण में यह वचन पर्याप्त होगा —

एयणिगोदसरीरे दव्वपमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण विदीदकालेण॥

निगोद जीवों के एक शरीर में सर्वज्ञदेव ने सिद्धों से और पूरे अतीत काल से अनन्त गुणे जीव देखे हैं।

कहीं-कहीं शास्त्रकारों ने अर्धपुद्गल परिवर्तन काल का प्रमाण अनन्त बतलाया है। इस पर शंका-समाधान करते हुए मूलाचार (आचारांग) की टीका में लिखा है कि अर्धपुद्गल परिवर्तन काल का वास्तविक प्रमाण असंख्यात ही है, अनन्त नहीं। अनन्त तो उस प्रमाण का नाम है, जिसमें से उत्तरोत्तर हानि होने पर भी कभी उसका अन्त नहीं प्राप्त होता।

इस प्रकार उक्त आगम प्रमाणों के प्रकाश में हम जानते हैं कि छह माह आठ समय में ६०८ जीवों के मोक्ष जाने पर भी न तो अनन्त संख्या-प्रमाण संसार राशि का ही कभी अन्त प्राप्त होता है और न ही केवलज्ञान के द्वारा अनन्त का ज्ञान हो जानेमात्र से वह अपने अपरिच्छिन्न प्रमाण को छोड़कर परिच्छिन्न प्रमाणवाली हो जाती है। ज्ञान का काम मात्र इतना है कि जो जिसरूप में है, उसको उसीरूप में जाने।

देखो, केवलज्ञान की ऐसी अपरिमित सामर्थ्य है कि वह छह

द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायरूप जितना भी बहि:ज्ञेय है, उसे अपने ज्ञानपरिणाम में अन्तर्लीन करके पृथक्-पृथक्‌रूप से प्रत्यक्ष जानता है। बाह्य और आभ्यन्तर ऐसा कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं रहता जो उसकी इस सामर्थ्य का व्याघात करने में सफल हो सके। इसके लिए हमें द्विरूपवर्गधारा के प्रसंग से त्रिलोकसार में वर्णित कथन पर दृष्टिपात करना चाहिए। जब दो अंक को आदि कर उत्तरोत्तर वर्ग करते हुए प्रवाहरूप से उत्पन्न हुई राशियों का विचार किया जाता है, तब वह द्विरूपवर्गधारा कहलाती है। जैसे २ का वर्ग २×२=४ होता है और ४ का वर्ग ४×४=१६ होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर वर्ग करते हुए उत्पन्न हुई राशियों का विचार द्विरूपवर्गधारा में किया जाता है। इसी प्रसंग से उस अन्तिम राशि का भी निर्देश किया गया है, जहाँ जाकर द्विरूपवर्गधारा का अन्तिम विकल्प प्राप्त होता है और वह राशि है, प्रत्येक समय में होनेवाले केवलज्ञान के अनन्तानन्त अविभाग -प्रतिच्छेद।

प्रत्येक द्रव्य या गुण की प्रत्येक समय में जो पर्याय होती है, वह यद्यपि अखण्ड और एक ही होती है। पर आगे-पीछे होनेवाली पर्यायों के तारतम्य को ध्यान में रखकर बुद्धि से विचार करने पर वह पूर्व पर्याय से कितने अंश में बड़ी या छोटी है, यह अविभाग प्रतिच्छेदों के द्वारा जाना जाता है। इस प्रकार प्रत्येक पर्याय में तारतम्य को लक्षित कर जो जघन्य अंश की कल्पना की जाती है, उसका नाम अविभाग-प्रतिच्छेद है। इस दृष्टि से समस्त ज्ञेय को सामने रखकर केवलज्ञान का विचार करते हैं, तो विदित होता है कि जितने भी ज्ञेय हैं, उनसे केवलज्ञान अपने अविभाग प्रतिच्छेदों (जानन में समर्थ पर्यायशक्त्य) की अपेक्षा अनन्त गुणा है। त्रिलोकसार के द्विरुपवर्गधारा प्रकरण में इसी तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट करके बतलाया गया है —

तिविह जहण्णाणंतं वग्गसलादलछिदी सगादिपदं।
जीवो पोग्गल काला सेढी आगास तप्पदरं ॥६९॥

धम्माधम्मागुरुलघु इगजीवस्सागुरुलघुस्स होंति तदो।
सुहुमाणि अपुण्णणाणे अवरे अविभागपडिच्छेदा॥७०॥

अवरा खाइयलद्धी वग्गसलागा तदो सगद्धछिदी।
अइसगछप्पणतुरियं तदियं विदियादि मूलं च॥७१॥

सइमादिमूलवग्गे केवलमंतं पम्गणजेट्ठमिणं।
वरखइयलद्धिणामं सावग्गसला हवे ट्ठाणं॥७२॥

द्विरूप वर्गधारा में उत्तरोत्तर वर्गरूप स्थानों के क्रम में तीन प्रकार के जघन्य अनन्तरूप वर्गस्थान उत्पन्न होते हैं। उसके बाद जीवराशि सम्बन्धी वर्गक्षलाका अर्धच्छेद और प्रथम वर्गमूल उत्पन्न होता है। उसके बाद प्रथम वर्गमूल को प्रथम वर्गमूल से गुणा करने पर जीवराशि उत्पन्न होती है। पश्चात् जीवराशि से अनन्त वर्गस्थान आगे जाने पर पुद्गलराशि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर अनन्त अनन्त वर्गस्थान आने-जाने पर क्रम से काल के समय, श्रेणीरूप आकाश उत्पन्न होता है। पश्चात् जगच्छ्रेणि को जगच्छ्रेणि से गुणा करने पर जगतप्रतर उत्पन्न होता है। उसके बाद अनन्त वर्गस्थान आगे जाने पर धर्म-अधर्मद्रव्य के अगुरुलघु अविभागप्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। उनसे अनन्त वर्गस्थान आगे-जाने पर एक जीव के अगुरुलघु अविभाग-प्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। उससे अनन्त वर्गस्थान आगे जाने पर सूक्ष्म निगोद लब्ध्य-पर्याप्तक जीव के जघन्य पर्यायज्ञान के अविभाग-प्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। उनसे अनन्त वर्गस्थान आगे जाने पर तिर्यंच अविरत सम्यग्दृष्टि के जघन्य क्षायिकलब्धि के अविभागप्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। उसके बाद वर्गशलाका आदि के क्रम से आगे जाने पर केवलज्ञान के अर्धच्छेदों का क्रम से आठवाँ, सातवाँ, छठा, पाँचवाँ, चौथा, तीसरा, दूसरा और पहला वर्ग मूल उत्पन्न होता है। पश्चात् इस प्रथम वर्गमूल को प्रथम वर्गमूल से गुणा करने पर केवलज्ञान के अर्धच्छेद उत्पन्न होते हैं। यही उत्कृष्ट-क्षायिकलब्धि है तथा यही द्विरूप वर्गधारा का अन्तिम स्थान है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो केवलज्ञान के विषय के बाहर है। उसका माहात्म्य अपरिमित है। इसी माहात्म्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में कहते हैं —

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा॥४८॥
दव्वं अणंतपज्जयमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि॥४९॥

जो तीन लोक और त्रिकालवर्ती पदार्थों को युगपत् नहीं जानना, वह समस्त पर्याय सहित एक द्रव्य को नहीं जान सकता। इसी प्रकार जो अनन्त पर्याय सहित एक द्रव्य को तथा अनन्त द्रव्य समूह को यदि युगपत् नहीं जानता तो वह सबको कैसे जान सकेगा॥४८-४९॥

यह एक ऐसा प्रमाण है जिससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि जो अपनी समग्र पर्यायसहित स्वयं को पूरी तरह से जान लेता है, वह अलोक सहित तीन लोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जानने में पूरी तरह से समर्थ है। इसलिए जो महाशय अपने छद्मस्थज्ञान के बल पर यह कल्पना करते हैं कि केवलज्ञान वर्तमान पर्यायों को तो समग्र भाव से जानता है, अतीत और अनागत पर्यायों को वह मात्र शक्तिरूप से ही जानता है, उनकी यह कल्पना सुतराँ खण्डित हो जाती है। विज्ञेषु किमधिकम्।

कुछ महाशय यह भी प्रचारित करते रहते हैं कि केवलज्ञान में अनागत पर्यायें नितय क्रम से ही प्रतिभासित मान ली जाए तो इससे एक तो एकान्त नियतिवाद का प्रसंग आता है, दूसरे आगे किये जानेवाले कार्यों के लिए पुरुषार्थ करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। इसलिए अनागत पर्यायों के विषय में यही मानना उचित है कि जब जैसी सामग्री मिलती है, कार्य उसी के अनुसार होता है और केवलज्ञान भी ऐसा ही जानता है।

अब देखना यह है कि उन महाशयों का यह कहना कहाँ तक तर्क-संगत है, क्योंकि उनके इस कथन को स्वीकार करने पर पूरी की पूरी तत्त्वव्यवस्था गड़बड़ा जाती है, क्योंकि उनके इस कथन को स्वीकार करने पर एक तो वस्तुगत योग्यता का अभाव मानना पड़ता है, जो युक्तियुक्त नहीं है। जो भी कार्य होता है, वह वस्तुगत योग्यता के अनुसार ही होता है, इसे समन्तभद्र आदि सभी आचार्यों ने दृढ़ता से स्वीकार किया है। यदि आचार्य समन्तभद्र रचित आप्तमीमांसा की 'बुद्धिपूर्वापेक्षायाम्' इस कारिका पर ही ध्यान दिया जाए तो मालूम पड़ेगा कि उन्होंने जीव के प्रत्येक कार्य के प्रति पुरुषार्थ और दैव (योग्यता[१]) को गौण-मुख्यभाव से स्वीकार कर प्रकारान्तर से पुरुषार्थ के साथ सम्यक् नियति का ही समर्थन किया है।

दूसरे इन महाशयों के उक्त कथन को स्वीकार करने पर कार्यों के प्रति पुरुषार्थ के लिए भी कोई स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि जब उनके मतानुसार अनियम से सामग्री की प्राप्ति स्वीकार कर उसके अधीन कार्य की उत्पत्ति मानी जाती है, तब पुरुषार्थ को मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। परन्तु उनका यह मानना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जीवों के योग से जो भी कार्य होता है, उसमें कहीं मुख्यरूप से और कहीं गौणरूप से पुरुषार्थ है ही, इसका भी समन्तभद्र आदि सभी आचार्यों ने दृढ़ता से समर्थन किया है, यह 'बुद्धिपूर्वा-पेक्षायाम्' इसी कारिका से स्पष्ट हो जाता है।

इसलिए यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य होता तो वस्तुगत योग्यता के अनुसार ही है। और जिस समय योग्यतानुसार जो कार्य होता है, उस समय अपनी-अपनी सुनिश्चित योग्यतानुसार अन्य सामग्री का योग भी मिलता है। कथन में गौण-मुख्यभाव हो सकता है, पर वस्तुस्थिति यही है। इसलिए भविष्यकालीन पर्यायों का होना

१— यहाँ योग्यता पद से द्रव्य-पर्याय उभयरूप योग्यता ली गयी है।

अपने-अपने काल में सुनिश्चित होने से केवलज्ञान उनको सुनिश्चित -रूप में ही जानता है, यह सिद्ध हो जाता है।

माना कि केवलज्ञान मात्र जानता है और सकल पदार्थ उसके ज्ञेय हैं, इसलिए केवलज्ञान से जैसा जानते हैं, मात्र इसी कारण पदार्थों का वैसा परिणमन नहीं होता, क्योंकि केवलज्ञान ज्ञापक है, कारक नहीं। पदार्थों का परिणमन अपनी-अपनी कार्य-कारणपरम्परा के अनुसार ही होता है और उन पदार्थों का जैसा परिणमन होता है, केवलज्ञान उसी रूप में जानता है। केवलज्ञान उन्हें परिणमाता हो, यह भी नहीं है, और वे परिणमन करते हैं, इसलिए केवलज्ञान जानता है, यह भी नहीं, क्योंकि जहाँ प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमन करने में स्वतन्त्र हैं, वहाँ केवलज्ञान उनको जानने में स्वतन्त्र है। इससे यह अवश्य ही फलित होता है कि प्रत्येक वस्तु का जैसा परिणमन होता है, उसी प्रकार केवलज्ञान जानता है। इसी को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि जिस प्रकार केवलज्ञान जानता है, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का परिणमन होता है। इसीलिए फलितार्थरूप में भैया भगवतीदास ने जो यह वचन कहा है —

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहुँ न होसी काहे होत अधीरा रे॥

सो ठीक ही कहा है। सम्यग्दृष्टि की ऐसी ही श्रद्धा होती है। तभी उसके जीवन में वस्तुस्वभाव की दृढ़ प्रतीति के साथ केवलज्ञान स्वभाव की प्रतीति दृढ़मूल होकर वह उसके उत्थान में सहायक बनती है। हमें वस्तु-स्वभाव की दृढ़ प्रतीति के साथ पर्यायरूप में ऐसे केवलज्ञान स्वभाव की शीघ्र ही प्राप्ति होओ, यही कामना है।

●

परिशिष्ट

उपादान-निमित्तसंवाद

[भैय्या भगवतीदास जी]

मंगलाचरणपूर्वक उपादान-निमित्तसंवाद कथन की प्रतिज्ञा —

पाद प्रणमि जिनदेव के एक उक्ति उपजाय।
उपादान अरु निमित्त को कहूँ संवाद बनाय॥१॥

जिनेन्द्रदेव के चरणों को प्रणाम कर तथा एक उक्ति को उपजाकर उपादान और निमित्त का संवाद बनाकर कहता हूँ॥१॥

प्रश्न

पूछत है कोऊ तहाँ उपादान किह नाम।
कहो निमित्त कहिए कहा कबकें हैं इह ठाम॥२॥

संवाद के प्रारम्भ में कोई पूछता है कि उपादान किसका नाम है, और बतलाओ निमित्त किसे कहते हैं। ये दोनों इस लोक में कबके हैं॥२॥

समाधान

उपादान निज शक्ति है, जिय को मूल स्वभाव।
है निमित्त परयोग तैं बन्यो अनादि बनाव॥३॥

उपादान अपनी शक्ति का नाम है, वह जीव का मूल स्वभाव है, तथा पर संयोग का नाम निमित्त है। इन दोनों का यह बनाव अनादि काल से बन रहा है॥३॥

निमित्त की ओर से प्रश्न

निमित्त कहै मोकों सबै जानत हैं, जगलोय।
तेरो नाव न जान ही उपादान को होय॥४॥

निमित्त कहता है कि जग के सब लोग मुझे जानते हैं, परन्तु उपादान कौन है, इस प्रकार तेरा नाम भी कोई नहीं जानते ॥४॥

उपादान की ओर से उत्तर

उपादान कहै रे निमित्त तू कहा करै गुमान।
मोकों जानैं जीव वे जो हैं सम्यक् वान ॥५॥

उपादान कहता है, हे निमित्त! तू क्या गुमान करता है, जो जीव सम्यग्दृष्टि हैं, वे मुझे जानते हैं ॥५॥

निमित्त की ओर से प्रश्न

कहैं जीव सब जगत को जो निमित्त सोई होय।
उपादान की बात को पूछे नाहीं कोय ॥६॥

जगत के सब जीव कहते हैं कि जो (जैसा) निमित्त होता है, वही (वैसा ही) कार्य होता है। उपादान की बात तो कोई नहीं पूछता ॥६॥

उपादान की ओर से उत्तर

उपादान बिन निमित्त तू कर न सके इक काज।
कहा भयौ जग ना लखै जानत हैं जिनराज ॥७॥

उपादान के बिना हे निमित्त! तू एक भी कार्य नहीं कर सकता। इसे जगत नहीं देखता तो क्या हुआ, यह सब जिनराज जानते हैं ॥७॥

[यहाँ पर निमित्त में कर्तृत्व का आरोप कर कविवर ने उपादान के द्वारा यह कहलाया है कि उपादान के बिना हे निमित्त! तू एक भी कार्य नहीं कर सकता।]

निमित्त की ओर से प्रश्न

देव जिनेश्वर गुरु यती अरु जिन आगम सार।
इह निमित्त तैं जीव सब पावत हैं भवपार ॥८॥

जिनेश्वर देव, दिगम्बर गुरु और उत्कृष्ट जिनागम, इन निमित्तों से सब जीव इस लोक में संसार से पार होते हैं॥८॥

उपादान की ओर से उत्तर

यह निमित्त इस जीव के मिल्यो अनन्तीबार।
उपादान पलटयो नहीं तो भटक्यो संसार॥९॥

ये निमित्त इस जीव को अनन्त बार मिले है, किन्तु उपादान नहीं पलटा, अत: संसार में भटकता रहा॥९॥

निमित्त की ओर से प्रश्न

कै केवलि कै साधु के निकट भव्य जो होय।
सो क्षायिक सम्यक् लहै यह निमित्त बल जोय॥१०॥

या तो केवली भगवान के निकट या साधु (श्रुतकेवली) के निकट जो भव्य जीव होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, इसे निमित्त का बल जानना चाहिए॥१०॥

उपादान की ओर से उत्तर

केवलि अरु मुनिराज के पास रहे बहु लोय।
पै जाकौ सुलट्यो धनी क्षायिक ताकों होय॥११॥

केवली भगवान और मुनिराज के पास बहुत से लोग रहते हैं, परन्तु जिसका आत्मा सुलट जाता है, उसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है॥११॥

निमित्त की ओर से प्रश्न

हिंसादिक पापनि किये जीव नर्क में जाहिं।
जो निमित्त नहिं काम को तो इम काहे कहाहिं॥१२॥

जो निमित्त कार्यकारी नहीं है, तो यह क्यों कहा जाता है कि हिंसादिक पाप करने से जीव नरक में जाते हैं॥१२॥

उपादान की ओर से उत्तर

हिंसा में उपयोग जहाँ रहे ब्रह्म के राच।
तेई नर्क में जात हैं, मुनि नहिं जाहिं कदाच ॥१३॥

जहाँ आत्मा का उपयोग हिंसा में रममाण होता है, वही नरक में जाता है, मुनि (भावमुनि) कदापि नरक में नहीं जाते ॥१३॥

निमित्त की ओर से प्रश्न

दया दान पूजा किये जीव सुखी जग होय।
जो निमित्त झूठौ कहो यह क्यों माने लोय ॥१४॥

दया, दान और पूजा करने से जीव जग में सुखी होता है। यदि निमित्त को झूठा कहते हो तो लोग इसे क्यों मानते हैं ॥१४॥

उपादान की ओर से उत्तर

दया दान पूजा भली जगत माहिं सुखकार।
जहं अनुभव को आचरण तहं यह बन्ध विचार ॥१५॥

दया, दान और पूजा भली है तथा जगत में सुख की करनेवाली है। किन्तु जहाँ पर अनुभव के आचरण को ऊहापोह करते हैं, उस अपेक्षा विचार करने पर यह बन्धरूप ही है, ऐसा जानना चाहिए ॥१५॥

[दया, दान और पूजादिरूप रागांश सांसारिक सुख कारण भले ही हो, परन्तु स्वानुभवरूप आचरण की दृष्टि में वह बन्ध का ही कारण है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।]

निमित्त की ओर से प्रश्न

यह तो बात प्रसिद्ध है सोच देख उर मांहि।
नरदेही के निमित्त बिन जिय मुक्ति न जांहि ॥१६॥

यह बात प्रसिद्ध है कि मनुष्य देह के निमित्त बिना जीव मुक्ति को नहीं प्राप्त होता, सो क्यों? इसे तू (उपादान) अपने मन में विचार कर देख ॥१६॥

उपादान की ओर से उत्तर

देह पींजरा जीव को रोकै शिवपुर जात।
उपादान की शक्ति सों मुक्ति होत रे भ्रात ॥१७॥

हे भाई! देहरूपी पिंजरा जीव को शिवपुर जाने से रोकता है[१] मात्र उपादान की शक्ति से मोक्ष होता है ॥१७॥

निमित्त की ओर से प्रश्न

उपादान सब जीव पै रोकनहारौ कौन।
जाते क्यों नहिं मुक्ति में बिन निमित्त के हौन ॥१८॥

उपादान तो सब जीवों में है, उन्हें रोकनेवाला कौन है? जब बिना निमित्त के मुक्ति होती है, तो फिर वे मोक्ष में क्यों नहीं जाते ॥१८॥

उपादान की ओर से उत्तर

उपादान सु अनादि को उलट रह्यौ जगमाहि।
सुलटत ही सूधे चलैं सिद्धलोक को जांहि ॥१९॥

जगत में उपादान अनादि काल से उल्टा हो रहा है, उसके सुलटते ही वह सीधे (सच्चे) मार्ग पर चलने लगता है और सिद्धलोक को जाता है ॥१९॥

निमित्त की ओर से प्रश्न

कहुं अनादि बिन निमित्त ही उलट रह्यौ उपयोग।
ऐसी बात न संभवै उपादान! तुम जोग ॥२०॥

अनादि काल से कहीं बिना निमित्त के ही उपयोग उल्टा हो रहा है? ऐसी बात हे उपादान! तुम्हारे लिए योग्य नहीं ॥२०॥

१— देह पिंजरा जीव को रोकता है, यह व्यवहार कथन है। आशय यह है कि जीव शरीर की ओर झुकाव करके शरीरममत्व द्वारा स्वयं विकार में रुक जाता है, तब देहपिंजरा जीव को रोकता है, ऐसा उपचार से कहा जाता है।

उपादान की ओर से उत्तर

उपादान कहै रे निमित्त! हम पै कही न जाय।
ऐसी ही जिन केवली देखे त्रिभुवन राय॥२१॥

उपादान कहता है हे निमित्त! वह बात मेरी कही हुई नहीं है। तीन लोक के स्वामी केवली जिनेन्द्र ने इसी प्रकार देखा है॥२१॥

निमित्त की ओर से प्रश्न

जो देख्यो भगवान ने सो ही सांचो आहिं।
हम तुम संग अनादि के बली कहोगे कांहि॥२२॥

जो भगवान ने देखा है, वही सच है। किन्तु हमारा और तुम्हारा सम्बन्ध अनादि काल से हो रहा है, इसलिए अपन दोनों में से बलवान किसे कहना। दोनों समान हैं, ऐसा तो मान लो॥२२॥

[निमित्त के कहने का तात्पर्य यह है कि जब हमारा और तुम्हारा अनादि काल से सम्बन्ध हो रहा है, तो केवल स्वयं को बलवान नहीं कह सकते। कार्य उत्पत्ति में दोनों का स्थान बराबर है।]

उपादान की ओर से उत्तर

उपादान कहै वह बली जाकौ नाश न होय।
जो उपजत विनसत रहे बली कहातैं सोय॥२३॥

उपादान कहता है कि जिसका नाश नहीं होता, वह बलवान है। जो उत्पन्न होता है और विनाश को प्राप्त हो जाता है, वह बलवान कैसे हो सकता है॥२३॥

निमित्त की ओर से प्रश्न

उपादान! तुम जोर हो तो क्यों लेत आहार।
पर निमित्त के योग सों जीवत सब संसार॥२४॥

हे उपादान! यदि तुम बलवान हो तो आहार क्यों लेते हो? सब संसारी जीव पर निमित्त के योग से जीते हैं॥२४॥

उपादान की ओर से उत्तर

जो आहार के जोग सों जीवत है जगमाहिं।
तो वासी संसार के मरते कोऊ नाहिं॥२५॥

यदि आहार के योग से जगत में सब जीव जीत हैं, तो संसारवासी कोई भी जीव नहीं मरता॥२५॥

निमित्त की ओर से प्रश्न

सूर सोम मणि अग्नि के निमित्त लखें ये नैन।
अन्धकार में कित गयो उपादान दृग दैन॥२६॥

ये नेत्र सूर्य, चन्द्रमा, मणि और अग्नि के निमित्त से देखते हैं। यदि बिना निमित्त के देखा जा सकता है, तो दृष्टि प्रदान करनेवाला उपादान अन्धकार में कहाँ चला जाता है॥२६॥

उपादान की ओर से उत्तर

सूर सोम मणि अग्नि जो करे अनेक प्रकाश।
नैनशक्ति बिन ना लखैं अन्धकार सम भास॥२७॥

सूर्य, चन्द्रमा, मणि और अग्नि अनेक प्रकार का प्रकाश करते हैं, तथापि देखने की शक्ति के बिना दिखलायी नहीं देता, सब अन्धकार के समान भासित होता है॥२७॥

निमित्त की ओर से प्रश्न

कहै निमित्त वे जीव को मो बिन जग के मांहि।
सबै हमारे वश परे हम बिन मुक्ति न जाहिं॥२८॥

निमित्त कहता है कि जगत में वे जीव कौन हैं, जो मेरे बिना हों? सब जीव हमारे वश पड़े हुए हैं। मेरे बिना मोक्ष भी नहीं जाते॥२८॥

उपादान की ओर से उत्तर

उपादान कहै रे निमित्त! ऐसे बोल न बोल।
तोको तज निज भजत हैं ते ही करें किलोल॥२९॥

उपादान कहता है कि हे निमित्त! ऐसी वाणी मत बोल। जो तुझे त्यागकर अपने आत्मा का भजन करते हैं, वे ही किकोल करते हैं— अनन्त सुख का भोग करते हैं ॥२९॥

निमित्त की ओर से प्रश्न

कहै निमित्त हमको तजैं ते कैसे शिव जात।
पंच महाव्रत प्रगट है और हु क्रिया विख्यात॥३०॥

निमित्त कहता है कि जो हमारा त्याग कर देते हैं, वे मोक्ष कैसे जा सकते हैं? मुक्ति के लिए निमित्तरूप से पाँच महाव्रत तो प्रगट हैं ही और दूसरी क्रियाएँ भी प्रसिद्ध हैं ॥३०॥

उपादान की ओर से उत्तर

पंच महाव्रत जोग त्रय और सकल व्यवहार।
परकौ निमित्त खपाय के तब पहुँचे भव पार॥३१॥

पाँच महाव्रत, तीन योग और सकल व्यवहाररूप जो परनिमित्त है, उसे खपा करके ही यह जीव संसार से पार होता है ॥३१॥

[यहाँ पर पाँच महाव्रत आदिरूप बाह्य व्यापार से चित्तवृत्ति हटाकर अन्तर्दृष्टि होना ही निमित्तों को खपा देना है।]

निमित्त की ओर से प्रश्न

कहै निमित्त जगमें बड़्यौ मोतें बड़ो न कोय।
तीन लोक के नाथ सब मो प्रसाद तें होय॥३२॥

निमित्त कहता है कि जगत में मैं बड़ा हूँ, मुझसे बड़ा कोई नहीं है, जो-जो तीन लोक के नाथ होते हैं, वे सब मेरे प्रसाद से होते हैं ॥३२॥

उपादान की ओर से उत्तर

उपादान कहै तू कहा चहुँ गति में ले जाय।
तो प्रसाद तें जीव सब दुःखी होहिं रे भाय॥३३॥

उपादान कहता है कि तू कौन है ? तू ही तो चारों गतियों में ले जाता है। हे भाई! तेरे ही प्रसाद से सब जीव दुःखी होते हैं ॥३३॥

[निमित्ताधीन दृष्टि होने से यह जीव चारों गतियों में परिभ्रमण करता है औरर अनन्त दुःखों का पात्र होता है, यह दिखलाने के लिए यहाँ पर ये कार्य व्यवहारनय से निमित्त के कहे गये हैं।]

निमित्त की ओर से प्रश्न

कहै निमित्त जो दुख सहै सो तुम हमहि लगाय।
सुखी कौन तें होत है ताको देहु बताय॥३४॥

निमित्त कहता है कि जीव जो दुःख सहता है, उसका दोष तुम हमी पर लगाते हो। किन्तु किस कारण से जीव सुखी होता है, उस कारण को भी तो बतलाओ॥३४॥

उपादान की ओर से उत्तर

जो सुख को तूं सुख कहै सो सुख तो सुख नाहिं।
ये सुख दुख के मूल हैं सुख अविनाशी माहिं॥३५॥

जिस सुख को तू सुख कहता है, वह सुख, सुख नहीं है। ये सांसारिक सुख, दुःख के मूल (कारण) हैं। सच्चा सुख अविनाशी आत्मा की प्राप्ति में है॥३५॥

निमित्त की ओर से प्रश्न

अविनाशी घट-घट बसे सुख क्यों विलसत नाहिं।
शुभ निमित्त के योग विन परे परे विललाहिं॥३६॥

अविनाशी आत्मा घट-घट में निवास करता है, फिर सुख प्रकाश में क्यों नहीं आता? शुभ निमित्त का योग न मिलने से परे परे बिललाते है अर्थात् दुःखी होते हैं॥३६॥

उपादान की ओर से उत्तर

शुभ निमित्त इस जीव को मिल्यो कंइ भवसार।
पै इक सम्यग्दर्श बिन भटकत फिन्यो गँवार॥३७॥

इस जीव को शुभ निमित्त कई भवों में मिले, परन्तु एक सम्यग्दर्शन के बिना यह मूर्ख हुआ भटक रहा है॥३७॥

निमित्त की ओर से प्रश्न

सम्यग्दर्श भये कहा त्वरित मुक्ति में जाहिं।
आगे ध्यान निमित्त है ते शिव को पहुँचाहिं॥३८॥

सम्यग्दर्शन होने से क्या जीव शीघ्र ही मोक्ष में चले जाते हैं? आगे ध्यान निमित्त है। वह मोक्ष में पहुँचाता है॥३८॥

उपादान की ओर से उत्तर

छोर ध्यान की धारणा मोर योग की रीत।
तोरि कर्म के जाल को जोर लई शिव प्रीत॥३९॥

जो जीव ध्यान की धारणा को छोड़कर और योग की परिपाटी को मोड़कर कर्म के जाल को तोड़ देते हैं, वे मोक्ष से प्रीति जोड़ते हैं अर्थात् मोक्ष जाते हैं॥३९॥

निमित्त की हार में उपादान की जीत

तब निमित्त हार्यो तहाँ अब नहिं जोर बसाय।
उपादान शिवलोक में पहुँच्यो कर्म खपाय॥४०॥

तब वहाँ निमित्त हार जाता है। अब उसका कुछ जोर नहीं चलता। और उपादान कर्मों का क्षयकर शिवलोक में पहुँच जाता है॥४०॥

उपादान जीत्यो तहाँ निज बल कर परकास।
सुख अनन्त ध्रुव भोगवे अंत न वरन्यो तास॥४१॥

उस अवस्था के होने पर अपने बल (वीर्य) का प्रकाश कर

उपादान जीत जाता है और उस अनन्त शाश्वत सुख का भोग करता है, जिसका अन्त नहीं कहा गया है ॥४१ ॥

अन्तिम निष्कर्ष

उपादान अरु निमित्त ये सब जीवन पै वीर।
जो निज शक्ति सम्भार ही सो पहुँचे भवतीर॥४२॥

उपादान और निमित्त, ये सभी जीवों के हैं, किन्तु जो वीर अपनी शक्ति की सम्हाल करते हैं, वे संसार से पार होते हैं ॥४२ ॥

उपादान की महिमा

'भैया[१]' महिमा ब्रह्म की कैसे वरनी जाय।
वचन अगोचर वस्तु है, कहि वो वचन बताय॥४३॥

हे भाई ! ब्रह्मा (आत्मा) की महिमा का कैसे वर्णन किया जाए ? वचन-अगोचर वस्तु है, उसको वचन बनाकर कही है ॥४३ ॥

संवाद का फल

उपादान अरु निमित्त को सरस बन्यौ संवाद।
समदृष्टि को सरल है, मूरख को बकवाद॥४४॥

उपादान और निमित्त का यह सरस संवाद बना है। यह सम्यग्दृष्टि के लिए सरल है। परन्तु मूर्ख (अज्ञानी) के लिए बकवाद प्रतीत होगा ॥४४ ॥

संवाद की प्रामाणिकता का निर्देश

जो जानै गुण ब्रह्म के सो जानै यह भेद।
साख जिनागमसो मिलै तो मत कीज्यो खेद॥४५॥

जो ब्रह्म के गुणों को जानता है, वही इसके रहस्य को जान सकता है। इस (संवाद) की साक्षी जिनागम से मिलती है, इसलिए खेद नहीं करना॥४५ ॥

१— 'भैया' यह कविवर को स्वयं की उपाधि है। वे इस दोहे में अपने को सम्बोधित करके कह रहे हैं।

ग्रन्थकर्ता का नाम और स्थान

नगर आगरा अग्र है जैनी जन को वास।
तिह थानक रचना करी 'भैया' स्वमति प्रकाश ॥४६॥

आगरा नगर मुख्य है। जहाँ जैनी लोगों का निवास है। उस स्थान में भैया भगवतीदास ने अपनी मति के प्रकाश के अनुसार यह रचना की है ॥४६॥

रचनाकाल

संवत विक्रम भूप की सत्तरहसै पंचास।
फाल्गुन पहले पक्ष में दशों दिशा परकाश ॥४७॥

विक्रम सम्वत् १७५० के फाल्गुन मास के प्रथम पक्ष में दशों-दिशा में प्रकाश के अर्थ इस संवाद की रचना की गयी ॥४७॥

कविवर भैया भगवतीदास ने उपादान और निमित्त का यह संवाद लिखा है। यह केवल संवाद ही नहीं है, किन्तु इसमें उन्होंने विवेचन का जो क्रम रखा है, उससे प्रतीत होता है कि संसारी जीव के मोक्षमार्ग के सन्मुख होने पर उसके मन से निमित्त का विकल्प किस प्रकार हटकर उपादान का जोर बढ़ जाता है। उनके विवेचन की खूबी यह है कि बाह्य में कहाँ किस अवस्था के होने में कौन निमित्त है, इसे भी वे बतलाते जाते हैं और साथ ही वे यह भी बतलाते जाते हैं कि उपादान की तैयारी किये बिना तदनुरूप अन्तरंग अवस्था का प्रकाश होना त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है, इसलिए जो उपादान की तैयारी है, वही उस अवस्था के प्रकाश का मुख्य हेतु है। यदि उपादान की वैसी तैयारी न हो तो उस अवस्था के अनुरूप बाह्य निमित्त भी नहीं मिलते, इसलिए कार्य सिद्धि में मुख्य प्रयोजक उपादान को ही समझना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जीव को इस सत्य का दर्शन हो जाता है, इसलिए वह अपने अन्तरंग की तैयारी को हो कार्य का प्रयोजक

मानकर उसी की उपासना में दृढ़ प्रतिज्ञ होता है। वह बाह्य निमित्तों के मिलाने की फिक्र को छोड़ देता है। निमित्त पर हैं, उनमें से कब कौन पदार्थ किस कार्य के होने में निमित्त होनेवाला है, यह साधारणतया छद्मस्थ के ज्ञान के बाहर है, क्योंकि जो पदार्थ लोक में लघु माने जाते हैं, वे भी कभी-कभी उत्तम कार्य के होने में निमित्त होते हुए देखे जाते हैं। साथ ही जो पदार्थ लोक में अमुक कार्य के होने में निमित्तरूप से कल्पित किये गये हैं, उनके सद्भाव में वह कार्य होता ही है, यह निर्णय करना भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार जहाँ बाह्य निमित्तों के विषय में यह स्थिति है, वहाँ उपादान के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस उपादान से जो कार्य होता है, वह निश्चित है। इसलिए जो मोक्षमार्ग के इच्छुक प्राणी हैं, उन्हें बाह्य निमित्तों मिलाने की किक्र छोड़कर अपने उपादान की सम्हाल की ओर ही ध्यान देना चाहिए। उसकी सम्हाल होने पर बाह्य निमित्तों की अनुकूलता अपने आप बन जाती है। उनके लिए अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

उदाहरणार्थ—मान लो एक आदमी को शव देखने से वैराग्य धारण करने की इच्छा हुई, दूसरे आदमी को अपना सफेद केश देखने से वैराग्य को धारण करने की इच्छा हुई, तीसरे आदमी को घर की कलह से ऊबकर वैराग्य को धारण करने की इच्छा हुई और चौथे आदमी को दूसरे का वैभव देखने से वैराग्य के धारण करने की इच्छा हुई। अब यहाँ पर विचार कीजिए कि ये सब वैराग्य को धारण करने की इच्छा के अलग-अलग निमित्त होते हुए भी इनमें से किस निमित्त को बुद्धिपूर्वक मिलाया गया है। यहाँ यही तो कहा जाएगा कि उन मनुष्यों के वैराग्य के योग्य भीतर की तैयारी थी, इसलिए वैसी इच्छा होने में ये निमित्त हो गये और यदि उस योग्य भीतर की तैयारी न होती तो ये होते हुए भी निमित्त नहीं होते।

उदाहरणार्थ—कोई मनुष्य बाह्यरूप में मुनिलिंग को स्वीकार करता है, पर उसके भावलिंग नहीं होता। इसके विपरीत कोई मनुष्य जिस काल में भावलिंग को स्वीकार करता है, उस काल में उसके द्रव्यलिंग होता ही है। इससे स्पष्ट है कि उपादान के साथ कार्य की व्याप्ति है, निमित्त के साथ नहीं। इसलिए इससे यही तो निष्कर्ष निकला कि कार्य की सिद्धि में जैसा उपादान का नियम है, वैसा बाह्य निमित्त का कोई नियम नहीं है और जो जिसका नियामक नहीं, वह उसका साधक नहीं माना जाता। अतएव कार्य अपने योग्य उपादान से ही होता है, यही निर्णय करना चाहिए। सम्यग्दृष्टि का यही भाव रहता है, इसलिए वह संसार से पार हो जाता है और मिथ्यादृष्टि बाह्य निमित्तों की उठाधरी में लगा रहता है, इसलिए वह संसार में ही गोते लगाता रहता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीव बाह्य निमित्तों की उठाधरी की फिक्र से मुक्त होकर एकमात्र अपने उपादान की सम्हाल करता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

जिस प्रकार पण्डितप्रवर भैया भगवतीदासजी ने इस अन्तरंग रहस्य को प्रकाश में लाने के लिए यह संवाद लिखा है, उसी प्रकार पण्डितप्रवर बनारसीदासजी ने भी इस विषय की मीमांसा करते हुए सात दोहे लिखे हैं, जो इस प्रकार है —

[पण्डित प्रवर बनारसीदास]

निमित्त की ओर से अपना समर्थन

गुरु उपदेश निमित्त बिन उपादान बलहीन।
ज्यों नर दूजे पाँव बिन चलवे को आधीन॥१॥

हो जाने था एक ही उपादान सों काज।
थकै सहाई पौन बिन पानी मांहि जहाज॥२॥

जैसे आदमी दूसरे पैर के बिना चलने के लिए पराधीन है, उसी प्रकार गुरु के उपदेश के बिना उपादान भी बलहीन है॥१॥

अकेले उपादान से ही कार्य हो जाना चाहिए था। (परन्तु देखने में तो ऐसा आता है कि) पानी में पवन की सहायता के बिना जहाज थक जाता है ॥२ ॥

उपादान की ओर से उत्तर

ज्ञान नैन किरिया चरण दोऊ शिवमग धार।
उपादान निश्चय जहाँ, तहाँ निमित्त व्यवहार ॥३ ॥

सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र और सम्यक्चारित्ररूपी पग ये दोनों मिलकर मोक्षमार्ग को धारण करते हैं। जहाँ उपादानस्वरूप निश्चयमोक्षमार्ग होता है, वहाँ उसके निमित्तस्वरूप व्यवहारमोक्षमार्ग होता ही है ॥३ ॥

उक्त तथ्य का पुनः समर्थन

उपादान निजगुण जहाँ तहं निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परमाणविधि विरला बूझे कोय ॥४ ॥

जहाँ पर उपादानस्वरूप आत्मगुण होता है, वहाँ परपदार्थ निमित्त स्वतः होता है। यह भेदज्ञानरूप प्रमाण की विधि है। इसे कोई विरला (भेदज्ञानी) जीव ही जानता है ॥४ ॥

[निश्चयनय केवल उपादान को स्वीकार करता है और व्यवहारनय बाह्य निमित्त को स्वीकार करता है। यह भेदविज्ञान को प्रमाण करने की विधि है। तात्पर्य यह है कि जहाँ पर उपादान कार्यरूप परिणत होता है, वहाँ पर परपदार्थ, स्वयमेव निमित्त होता है। उसे जुटाना नहीं पड़ता।]

कार्य का विवेक

उपादान बल जहं जहाँ नहिं निमित्त को दाव।
एक चक्र सों रथ चले रवि को यहै स्वभाव ॥५ ॥

जहाँ तहाँ उपादान का बल है। निमित्त का दाव नहीं लगता, क्योंकि सूर्य का यही स्वभाव है कि उसका रथ एक चक्र से चलता है ॥५ ॥

[यहाँ उक्त कथन द्वारा यह दिखलाया गया है कि उपादान स्वयं कार्यरूप होता है। कार्यरूप होने में निमित्त को कोई स्थान नहीं। वह कार्य के होने में निमित्त है, इतने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि उससे कार्य होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर वस्तु व्यवस्था का कोई नियामक नहीं रह जाता।]

सधै वस्तु असहाय जहां तहां निमित्त है कौन।
ज्यों जहाज परवाह में तिरै सहज बिन पौन॥६॥

जिस प्रकार पानी के प्रवाह में जहाज बिना पवन के सहज चलता है, उसी प्रकार जहाँ प्रत्येक कार्य को दूसरे की सहायता के बिना सिद्धि होती है, वहाँ बाह्य निमित्त कौन होता है॥६॥

[यहाँ पर वस्तु का असहाय स्वभाव बतलाया गया है। उत्पाद और व्यय यह पानी का प्रवाह है तथा वस्तु यह जहाज है। जिस प्रकार पानी के प्रवाह में जहाज स्वभाव से गमन करता है, उसी प्रकार वस्तु अपनी योग्यता से सदृशपने ध्रुव रहकर उत्पाद-व्ययरूप प्रवाह में बहती है। अन्य की सहायता मिले तो यह परिणमन हो और अन्य की सहायता न मिले तो परिणमन न हो, ऐसा नहीं है। इसलिए वस्तु स्वभाव की दृष्टि से प्रत्येक परिणमन स्वभाव से ही होता है। ऐसा समझना चाहिए]

उपादान विधि निरवचन है निमित्त उपदेश।
वसै जु जैसे देश में धरे सु तैसे भेष॥७॥

उपादान निरुक्तिसिद्ध विधि है और बाह्य निमित्त कथनमात्र है। जो जैसे देश में (जिस अवस्था में) निवास करता है (रहता है), वह उसी भेष को (उसी अवस्था को) स्वयं धारण करता है॥७॥

●